सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[ग्रन्थांक ४३]

पूर्वाचार्यविरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति – संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)



SINGHI JAIN SERIES

[NUMBER 43]

JAYAPĀYADA NIMITTASĀSTRA

(A WORK OF THE SCIENCE OF PROGNOSTICS MAKING PROPHESIES ON THE BASIS OF THE LETTERS OF SPEECH)

कलकत्ता निवासी

साधुचरित-श्रेष्ठिवर्य श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी पुण्यस्मृतिनिमित्त

प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथात्मक-इत्यादि विविधविषयगुम्फित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर, राजस्थानी आदि नानाभाषानिबद्ध सार्वजनीन पुरातन वाङ्मय तथा नूतन संशोधनात्मक साहित्य प्रकाशिनी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद् डालचन्दजी सिंघीसत्पुत्र

स्व॰ दानशील साहित्यरसिक संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी



प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिनविजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

*

ऑनररी डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

ऑनररी मेंबर जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, जर्मनी; भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (दक्षिण); गुजरात साहित्यसभा अहमदाबाद (गुजरात); विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होशियारपुर (पंजाब)

*

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

प्रकाशनकर्ता—

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन, बम्बई

प्रकाशक—जयन्तकृष्ण ह. दवे, ऑनररी रजिस्ट्रार, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई, नं. ७
मुद्रक—लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, निर्णयसागर प्रेस, २६-२८ कोलभाट स्ट्रीट, बम्बई, नं. [illegible]

पूर्वाचार्य विरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति – संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)

•

जेसलमेरदुर्गस्थ प्राचीनजैनग्रन्थभाण्डागारोपलब्ध
ताडपत्रीयपुस्तकानुसार

संपादनकर्ता

आचार्य, जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

ऑनररी मेंबर – जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, जर्मनी; भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट
पूना, (दक्षिण); गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात); विश्वेश्वरानन्द वैदिक
शोध प्रतिष्ठान, होशियारपुर (पंजाब)

ऑनररी डायरेक्टर
राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर – भारतीय विद्याभवन, बम्बई



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

विक्रमाब्द २०१५] प्रथमावृत्ति–५०० प्रति [ख्रिस्ताब्द १९५८

ग्रन्थांक ४१]

[मूल्य रू० ५/६०

SINGHI JAIN SERIES

Works in the Series already out

अद्यावधि मुद्रितग्रन्थनामावलि

१ मेरुतुङ्गाचार्यरचित प्रबन्धचिन्तामणि मूल संस्कृत ग्रन्थ.
२ पुरातनप्रबन्धसंग्रह बहुविध ऐतिह्यतथ्यपरिपूर्ण अनेक निबन्ध संचय.
३ राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोश.
४ जिनप्रभसूरिकृत विविधतीर्थकल्प
५ मेघविजयोपाध्यायकृत देवानन्दमहाकाव्य
६ यशोविजयोपाध्यायकृत जैनतर्कभाषा.
७ हेमचन्द्राचार्यकृत प्रमाणमीमांसा.
८ भट्टाकलङ्कदेवकृत अकलङ्कग्रन्थत्रयी.
९ प्रबन्धचिन्तामणि – हिन्दी भाषांतर
१० प्रभाचन्द्रसूरिरचित प्रभावकचरित.
११ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायरचित भानुचन्द्रगणिचरित.
१२ यशोविजयोपाध्यायविरचित ज्ञानबिन्दुप्रकरण.
१३ हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश
१४ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग.
१५ हरिभद्रसूरिविरचित धूर्ताख्यान (प्राकृत)
१६ दुर्गदेवकृत रिष्टसमुच्चय (प्राकृत)
१७ मेघविजयोपाध्यायकृत दिग्विजयमहाकाव्य
१८ कवि अब्दुल रहमानकृत सन्देशरासक. (अपभ्रंश)
१९ भर्तृहरिकृत शतकत्रयादि सुभाषितसंग्रह.
२० शान्त्याचार्यकृत न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति
२१ कवि धाहिलरचित पउमसिरीचरिउ. (अप)
२२ महेश्वरसूरिकृत नाणपंचमीकहा (प्रा)
२३ भद्रबाहुआचार्यकृत भद्रबाहुसंहिता.
२४ जिनेश्वरसूरिकृत कथाकोषप्रकरण (प्रा)
२५ उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदयमहाकाव्य
२६ जयसिंहसूरिकृत धर्मोपदेशमाला. (प्रा)
२७ कोऊहलविरचित लीलावई कहा (प्रा०)
२८ जिनदत्ताख्यानद्वय (प्रा)
२९ स्वयम्भूविरचित पउमचरिउ भाग १ (अप)
३० ,, ,, ,, २
३१ सिद्धिचन्द्रकृत काव्यप्रकाशखण्डन
३२ दामोदरपण्डितकृत उक्तिव्यक्तिप्रकरण.
३३ मिश्रमित्र भिन्नकृत कुमारपालचरित्रसंग्रह
३४ जिनपालोपाध्यायरचित खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि.
३५ उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा (प्रा)
३६ गुणपालमुनिरचित जंबुचरियं. (प्रा)
३७ पूर्णाचार्यविरचित जयपाहुड-निमित्तशास्त्र (प्रा)
३८ भोजनृपतिरचित शृङ्गारमञ्जरी. (संस्कृत कथा)

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr G H Bühler's Life of Hemachandrāchārya.
Translated from German by Dr Manilal Patel, Ph. D

1 स्व. बाबू श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ [भारतीयविद्या भाग ३] सन १९४५.
2 Late Babu Shri Bahadur Singhji Singhi Memorial volume. BHARATIYA VIDYA [Volume V] A. D 1945
3 Literary Circle of Mahāmātya Vastupāla and its Contribution to Sanskrit Literature By Dr Bhogilal J Sandesara, M. A., Ph. D (S.J.S.33.)
4-5 Studies in Indian Literary History Two Volumes. By Prof. P K. Gode M. A. (S J S. No. 37-38.)

Works in the Press.

संप्रति मुद्र्यमाणग्रन्थनामावलि

१ विविधगच्छीयपट्टावलिसंग्रह
२ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह भाग २
३ विज्ञप्तिलेखसंग्रह विज्ञप्ति महालेख विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि अनेक विज्ञप्तिलेख समुच्चय.
४ कीर्तिकौमुदी आदि वस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह.
५ गुणचन्द्रविरचित मंत्रीकर्मचन्द्रवंशप्रबन्ध.
६ नयचन्द्रविरचित हम्मीरमहाकाव्य
७ महेन्द्रसूरिकृत नर्मदासुन्दरीकथा. (प्रा)
८ कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र सटीक. (कतिपयअंश)
९ गुणप्रभाचार्यकृत विनयसूत्र. (बौद्धशास्त्र)
१० धनसारगणीकृत-भर्तृहरिशतकत्रयटीका.
११ रामचन्द्रकविरचित-मल्लिकामकरन्दादिनाटकसंग्रह.
१२ [illegible]प्रभाचार्यकृत [illegible]लोकादि.
१३ [illegible]सूरिकृत [illegible]-सटीक
१४ हेमचन्द्राचार्यकृत छन्दोऽनुशासन
१५ स्वयंभूविरचित पउमचरिउ. भा २
१६ ठक्कुर फेरुरचित ग्रन्थावलि (प्रा)

जेसलमेरमें प्राप्त प्रतिके आद्य पत्र

ना. आचार्य जिनविजय ज्ञान भं... ८ जयपुर

जेसलमेरमें प्राप्त ताडपत्रीय प्रतिके अन्तिम पत्र

किंचित् प्रास्ताविक

*

प्रस्तुत जयपायड[1] नामक निमित्त शास्त्रकी ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति हमको जेसलमेरके ज्ञान भण्डारमें प्राप्त हुई थी। इससे पूर्व, हमारे दृष्टिगोचर यह ग्रन्थ नहीं हुआ था, इसलिये हमने उसकी प्रतिलिपि करवा ली, और फिर इसका विषयावलोकन करनेसे हमें यह एक महत्त्वकी रचना ज्ञात हुई, अतः इसको इस सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित करनेका हमने संकल्प किया।

जेसलमेरमें प्राप्त यह ताडपत्रीय पुस्तिका, जैसा कि इसके अन्तमें लिखा हुआ है — विक्रम संवत् ११२६ में लिखी गई थी अर्थात् आजसे कोई ६८० वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। इस पुस्तिकाके कुल मिलाकर २२७ ताडपत्र हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, पर कहीं कहीं स्याही घिस जानेसे अक्षर अवाच्यसे हो गये हैं। लिपिकर्ता विषय और भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण प्रतिका पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्टस्वरूप-वाला लिखा गया है।

ग्रन्थको प्रेसमें छपनेके लिये देना निश्चित हुआ तब इसका कोई दूसरा प्रत्यन्तर कहीं से मिल सके तो पाठसंशोधनमें विशेष सहायक हो सके इस विचारसे, पूना, पाटण, अहमदाबाद, बडोदा आदिके प्रसिद्ध जैन भण्डारोंमें इसकी खोज की गई, पर उसमें सफलता नहीं मिली। पीछेसे भावनगरके भण्डारमें एक कागज पर लिखी प्रति प्राप्त हुई, पर, वह जेसलमेरवाली प्रतिसे भी अधिक भ्रष्ट पाठवाली निकली; अतः संशोधनमें उसका कोई खास उपयोग नहीं हुआ। तब हमने केवल उक्त भ्रष्ट पाठवाली प्रतिके ऊपरसे ही यथामति पाठ संशोधन आदि करके प्रस्तुत आवृत्तिको, इस स्वरूप में प्रकट कर देनेका प्रयत्न किया है।

ग्रन्थके अवलोकन मात्रसे ही विशेषज्ञ विद्वानको ज्ञात हो जायगा कि इसका पाठसंशोधन करनेमें हमको कितना श्रम उठाना पड़ा है। पुस्तिकाकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति भ्रष्ट पाठवाली प्रतीत हो रही है। न मालूम मूलप्रति लेखककी अज्ञानताके कारण ऐसा पाठभ्रष्ट हुआ है अथवा किसी भ्रमवश ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा गया है। ग्रन्थगत विषय बहुत ही गोपनीय माना जाता रहा है। कोई विरल ही व्यक्ति इसका अध्ययन-मनन कर सके — ऐसी रहस्यमयी भावना, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके विषयमें प्राचीन कालसे चली आ रही है अतः इसकी दुर्लभता और अप्रसिद्धि स्वाभाविक है।

ग्रन्थका विषय निमित्तशास्त्रान्तर्गत प्रश्नविद्या विषयक है। अतः इस रचनाका अन्य नाम प्रश्नव्याकरण ऐसा दिया गया है। प्रश्नचूडामणी, प्रश्नप्रकाश आदि नामके इस विषयके कई प्राचीन ग्रन्थोंका उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसी आवृत्तिके अन्तमें ज्ञानदीपक नामक एक संक्षिप्त चूडामणिसार शास्त्र भी मुद्रित किया गया है जो इसी विषयकी एक संक्षिप्त रचना है। यह रचना भी हमें जेसलमेरके एक भण्डारमें फुटकल पन्नोंमें मिली है।

*

---

1 जेसलमेरमें जो पुस्तिका प्राप्त हुई उसकी पत्रिकापर 'जयपाहुड' ऐसा नाम लिखा हुआ था इसलिये हमने ग्रन्थके मुखपृष्ठमें मुख्य शिरोलेख इसी नामसे अंकित कर दिया; पर पीछेसे विचार करने पर 'जयपाहुड' नहीं परंतु 'जयपायड' ऐसा नाम समुचित मालूम दिया। अतः हमने मुखपृष्ठ पर इसी नामका उपयोग करना उचित समझा है। मूल ग्रन्थकी टीकाकी भाषामें इसी प्रकार प्रयोग किया गया है

हमारे पूर्वज मनीषियोंने अज्ञात तत्त्वों और भावोंको जाननेके लिये एवं कई प्रकारकी गूढ विद्याओंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, नाना प्रकारके चिन्तन, मनन और निदिध्यासन किये हैं। इनके फलस्वरूप जो ज्ञातव्य उन्हें प्राप्त हुए उनको वे संक्षेपमें एवं सूत्ररूपमें ग्रथित करके ग्रन्थ या प्रकरणके रूपमें निबद्ध करते रहे जिससे भावी सन्ततिको उसका ज्ञान प्राप्त होता रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ एक ऐसे ही अज्ञात तत्त्व और भावोंका ज्ञान प्राप्त करने करानेका विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या विद्वान्को अच्छी तरह अवगत हो, वह इसके आधारसे, किसी भी प्रश्नकर्ताके लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि की बातोंके विषयमें बहुत निश्चित और तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और प्रश्नकर्ता को बता सकता है।

प्राचीन ब्राह्मी लिपि, जो हमारी भारतीय लिपियोंकी माता या मूल प्रकृति मानी जाती है, उसकी वर्णमाला या अक्षरमातृकामें मुख्य रूपसे ४५ अक्षर हैं। इनमें

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः

ये १२ स्वर हैं, और—

क ख ग घ ङ — क वर्ग
च छ ज झ ञ — च वर्ग
ट ठ ड ढ ण — ट वर्ग
त थ द ध न — त वर्ग
प फ ब भ म — प वर्ग
य र ल व — य वर्ग
श ष स ह — श वर्ग

इस प्रकार ७ वर्गोमें विभक्त ३३ व्यंजन हैं। १२ स्वरोंका १ वर्ग है जिसकी संज्ञा 'अ' है। बाकीके ३३ व्यंजनोंकी 'क. च. ट. त. प. य. श.' इस प्रकार क्रमशः ७ संज्ञाएं हैं।

इस प्रकार संपूर्ण वर्णमाला ८ वर्गोमें विभक्त की गई है। प्रस्तुत शास्त्रमें इन वर्गगत अक्षरोंके अनेक प्रकारके भेद—उपभेद बताये गये हैं। ये अक्षर अनेकानेक गुण और धर्मोंके वाचक और सूचक हैं। प्रत्येक अक्षर विशिष्ट प्रकारके स्वभाव और स्वरूप का सूचक है और फिर वह जब किसी दूसरे अक्षरके संयोगमें आता है तब, वह उस संयोगके कारण और भी अनेक प्रकारका स्वभाव और स्वरूप बतलानेवाला बन जाता है। अक्षरोंके स्वभाव और स्वरूपका निदर्शन करानेके लिये अभिधूमित, आलिंगित, दग्ध आदि संज्ञाएं बताई गई हैं। इन अक्षरोंमें कुछ अक्षर जीवसंज्ञक हैं, कुछ धातुसंज्ञक हैं और कुछ मूलसंज्ञक हैं। इस प्रकार कई तरहसे अक्षरोंके स्वभाव, गुण और धर्मोंका प्रतिपादन इस शास्त्रमें किया गया है। यह एक बहुत विलक्षण और अद्भुत रहस्यमय शास्त्र है इसमें कोई शंका नहीं है।

प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें इस रहस्यमय भविष्यात्मक शास्त्रीय विषयका उल्लेख बहुत जगह मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालके जैन आचार्य इस विषयका बहुत ही विशिष्ट ज्ञान रखते थे। इस विषयका निरूपण करनेवाले छोटे-मोटे अनेक ग्रन्थ एवं प्रकरण जैनाचार्यों द्वारा बनाए गये प्रतीत होते हैं जो प्राय अब विलुप्त-से हो रहे हैं।

इस विषयके ज्ञाताओं और शास्त्रकारोंका अभिमत है कि जिन अज्ञात और गूढ तत्त्वोंका परिज्ञान, सर्वज्ञ केवलज्ञानी अपने आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान द्वारा अनुभूत कर सकता है वैसा ही परिज्ञान, इस शास्त्रका विशिष्ट ज्ञाता, इस शास्त्र द्वारा अनुभूत कर सकता है और इस लिये इस विषयके शास्त्रको 'अर्हच्चूडामणि,' 'केवली चूडामणि,' 'केवली परिज्ञान' आदि नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है।

इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली बहुत कुछ साहित्यिक सामग्री हमारे पास संगृहीत हो गई है, पर उसका विस्तृत रूपसे आलेखन करनेका यथेष्ट अवकाश हमें प्राप्त नहीं हो रहा है। अतः अभी तो हमने इस ग्रन्थको, इस प्रकार, केवल मूल रूपमें ही प्रकट कर देनेका यत्न किया है, जिससे इस विषयके जिज्ञासुओंको इस शास्त्रका कुछ आभास प्राप्त हो सके।

इसकी पुनरावृत्ति, विशिष्ट रूपसे करनेका हमारा मनोरथ है, जिसके साथ इस प्रकारकी कुछ अन्य रचनाएँ भी संकलित की जायेंगी और इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली अनेक सम्पूर्ण बातें भी आलेखित की जायेंगी।

विजयादशमी संवत् २०१४
(२१ अक्टूबर, १९५८)
अनेकान्तविहार, अहमदाबाद

– मुनि जिन विजय

जयपायड निमित्तशास्त्रगत विषयानुक्रम

क्रम	विषय	पृ.
१	सामासिक क्रियाप्रकरण	१–७
२	संकट–विकट प्रकरण	८
३	उत्तराधर प्रकरण	८–१२
४	अभिघात प्रकरण	१२–१६
५	जीवसमास प्रकरण	१६–१८
६	मनुष्य प्रकरण	१८–२०
७	पक्षि प्रकरण	२०–२१
८	चतुष्पद प्रकरण	२१–२२
९	जीवचिन्ता	२२
१०	धातुप्रकृति	२२–२५
११	धातुयोनि	२५–२७
१२	मूलभेद	२७–२९
१३	मूलयोनि	२९
१४	मुष्टिविभाग प्रकरण	३०–३१
१५	वर्ण-रस-गंध-स्पर्श प्रकरण	३१–३३
१६	द्विपदादि द्रव्य चिह्न प्रकरण	३३–३४
१७	नष्टिकाचक्र	३४–३८
१८	चिन्ताभेद प्रकरण	३८–३९
१९	लेखगंडिकाधिकार संख्याप्रमाण	३९–४४
२०	फल प्रकरण	४४–४६
२१	लाभगंडिका प्रकरण	४६–५०
२२	वर्गगंडिका	५०–५१
२३	नक्षत्रगंडिका	५१–५२
२४	व्यंजन विभाग	५२–५७
२५	स्ववर्गसंयोगप्रकरण	५७–५८
२६	परवर्गसंयोगप्रकरण	५८
२७	सिंहावलोकितप्रकरण	५८–५९
२८	चतुर्भेद गजविलुलित	५९–६३
२९	गुणाकार प्रकरण	६३–६५
३०	उत्तराधरविभाग प्रकरण	६५
३१	स्ववर्ग प्रकरण	६५–६७
३२	व्यंजन-स्वर प्रकरण	६७–६८
३३	स्वभावप्रकृति	६८–६९
३४	उत्तराधरसंपत्प्रकरण	६९–७३
३५	वर्गाक्षरसंयोगोत्पादन	७४–८०
३६	सर्वतोभद्र	८०–८१
३७	संकट–विकट प्रकरण	८१–८२
३८	अग संबंधी अक्षविभाग प्रकरण	८२–८४
३९	स्वरक्षेत्रभवन	८४
४०	तिथिनक्षत्रकाल	८४–८५
४१	व्याधि-मृत्युविषयक प्रश्न	८५–८६
४२	ज्ञानदीपक चूडामणिसारशास्त्र	८७–९६

प्रश्नव्याकरणाख्यं

जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम् ।

॥ ओं नमः सर्वज्ञाय ॥

*

करकमलकलितमौक्तिकफलमिव कालत्रयस्य विज्ञानम् ।
यो वेत्ति लीलयैव हि, तं सर्वज्ञं जिनं नमत ॥ १ ॥

मन्थकृन्(ता) प्रश्नाख्यस्य जयपाहुडस्य निमित्तशास्त्रस्यारम्भे अशेषदुरितमपायार्थं चामि प्रेतार्थसिद्ध्यर्थमिष्टदेवतानमस्कार(रः) कर्तव्यः । तदर्थमाह –

सिद्धमरूयमणिंदियमकि(क)यमणवन(ज्ज)मच्चुयं वीरं ।
णमिऊण सयलतिहुयणमत्थयचूडामणी(णिं) सिरसा ॥ १ ॥

वीरं शिरसा प्रणम्येति । किंविशिष्टमित्युच्यते – सिद्धं । यत्र शुभाशुभकर्मविमुक्तः [प १ प १] सिद्धः । नास्य रूपं विद्यत इत्यरूपः । रूपं शु(शु)क्ल-कृष्णादयात्मकम् । श्रोत्रादी-नीन्द्रियाणि शब्दाद्यर्थविषये न प्रवर्तन्(न्ते) इत्यनीन्द्रियम् । न कृ(कि)यत इत्यकृतकः, द्रव्यरूपेण नित्यत्वात् । नावद्यमनवद्यः । अवद्यं पापम्, अपापं अगर्ह्यं इत्यर्थः । न च्यवनात् अच्युतमिति इत्युच्य(च्यु)तः । अशेषकर्मविदारणात् वीरः । वीरो देवताविशेषः । तं शिरसा प्रणम्येति सम्बन्धोऽयम् । अथवा यं न(ा) एव सिद्धः अत एवासावरूपी अनिन्द्रिय अकृतक अनवद्य अच्युतः वीरः इति अमूम(न)स एव सकलत(त्रि)भुवनमस्तकचूडामणि[ः] लोकाग्रे [प १ पा १] निवासित्वात् । अतस्तं देवताविशेष महावीराख्यं सि(शि)रसा प्रणम्य प्रश्नव्याकरणं शास्त्रं व्याख्यामीति वाक्यशेषाध्याहारमिति । नाराद्युपकारित्वात् ॥ १ ॥

सुयदेवय पणमिमो, जस्स पसाएण गहियव(ध)रियस्स ।
सुयस्स अत्थपरिमियसपा(मा?)दरो वीरए काउ ॥ २ ॥

श्रुत सात्र(शास्त्र) ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । तदेव श्रुत देवता श्रुतदेवता । तां श्रुतदेवतां प्रणवा-(मा)मि । यस्याः प्रसादेन । प्रसाद इत्यनुग्रहोऽभिमुखपरितोष इत्यु[च्य]ते । गृहीतस्य धृ(ध)तस्य च तस्य सूत्रस्यार्थः । सूत्रार्थः भाष्यादरः शक्यते कर्तुमिति ॥ २ ॥

मइमाहा[प १ पा १]प्पुप्पाय, भुवणब्भतरपयत(यच)यासार ।
अइसयपुण्ण णाण, पण्ह जयपायस योच्छ ॥ ३ ॥

मति(तिः) बुद्धि(द्धिः) प्रज्ञेति पर्यायाः । बुद्धिप्रभावोत्पत्तिमूलमित्यर्थः । कलया बुद्धे(देः) प्रभावः । नष्ट-मुष्टिचिन्ता-लाभालाभ-सुख-दुःख-जीवित-मरणाभिव्यञ्जकत्वम् । किञ्च भुवनाभ्य न्तरप्रपञ्चव्यापारम् । व्यापारसत्कृतपदार्थोपलम्भनम् । अतिश(श)यपूर्णं ज्ञानम् । यदन्यसा(धा)-

स्वानुपलभ्यं सोऽस्तिस(स्त)या । अस्तिर्य(स्तय)नाम निमित्तशास्त्रमु(दु)पलभ्यत इत्यस्तिस(स्त)यः । अतीतानाग[त]वर्तमाननिमित्ताद्यनेकप्रकारं नष्ट-मुष्टिचिन्तादिविकल्पाद्यस्तिस(स्त)यपूर्वं प्रमाण जगत्[प १ प १]प्रकटने हेतुभूत जगत्प्रकटनं व्याख्यास्यामीति ॥ ३ ॥

अ क च ट त प य श पुव्वे, वग्गो लक्खेज्ज पण्हमादीए ।
उत्तरधरा य तेसिं, जाणे वग्गक्खरसराण ॥ ४ ॥

इह शास्त्रे द्विधा वर्गक्रमः प्रोक्त(क्तः) । अष्टवर्गी क्रम(मः) पञ्चवर्गी क्रमश्चेति । तत्र प्रथम् । तथा शास्त्रे व्यवहारदर्शनात् । तत्राद्यमष्टवर्गक्रमः – 'अ क च ट त प य श' इत्येतेऽष्टौ प्रथमा वर्णा वर्गाणां सूचका इति । प्रश्ना(श्ना)द्यादौ प्रश्ना(श्न)मातृकायां या मात्रिकेत्यनेकार्थोपसङ्ग्रह स्यात् । वर्गाणां अक्षराणां स्वराणां च उत्तरत्वमधरत्वं च वक्ष्यमाणं अवगच्छ ॥ ४ ॥

जेत्तियमित्ते सद्दो, [प २ पा १] घेप्पु पण्हक्खरे परमुहाओ ।
ते सव्वे ठावेउ, तेसिं पढमक्खरपाहुदिं ॥ ५ ॥

यावन्मात्रान् प्रश्नाक्षरान् परमुखात्(द्) गृहीतु शक्तः नैमित्तिकः । ते सर्वे स्थापयितव्याः प्रथमाक्षरात् प्रभृति तेषामक्षराणाम् ॥ ५ ॥

सजुत्तमसजुत्त, अणभिहय अभिहय च जाणित्ता ।
आलिंगियाभिधूमिय, दड्ढाणि य लक्खए तेसिं ॥ ६ ॥

तेषां वाक्याक्षराणां पूर्वस्थापितानां संयुक्तमसंयुक्तं इति । तत्र संयोगोऽनेकधाऽभिधास्यति । सकाय-सवर्ग-परवर्ग इति । असमानो वर्णोऽसंयुक्तः । तथाभिघातो वक्ष्यमाणलक्ष(क्षि)- तिपः [प ४ पा १] । आलिङ्गित-अभिधूमित-दग्धलक्षणः । अनभिहतः अभिघातः(त)रहित- मे(मि)ति ॥ ६ ॥

मोचो(त्तु) पढमालाव, णेमित्ती अप्पणो य पडिपण्ह ।
सेसेसु जीवमादीपरिचिंत्त धागरे मइम ॥ ७ ॥

पृच्छकस्य सम्भाषणादिकं प्रथमालापं मुक्त्वा प्रश्न(श्न)प्रारम्भित् प्रतिप्रश्ना(श्ना)दात्मीयां (यं) च मुक्त्वा अन्यस्मात् प्रश्न(श्नं) गृहीत्वा धातु-मूल-जीवानां प्रथमवाक्यमेव प्रयुज्य जीव-मूल- धातु[ष]राणा(णां) प्रश्नानां येऽभिलक्षसंख्यातेजी(जी)वधातुमूलयोनि निर्देश्यम् ॥ ७ ॥

पढमो य सत्तमसरो, क च ट त प य शा य पढमओ वग्गो ।
विदि-अट्ठमसरसहिया, ख छ ठ था[प ४ प १]फ र षा बितीओ य ॥८॥

पंच-वर्गक्रम इदानीं कथ्यते — अकारः प्रथमः स्वरः । एकारः सप्तमः स्वरः । 'क च ट त प य श' सहितो प्रथमो वर्गः । आकारो द्वितीयः स्वरः । ऐकारोऽष्टमः स्वरः । 'ख छ ठ थ फ र ष' समेतो द्वितीयो वर्गः ॥ ८ ॥

तइओ णवमेण सम, ग ज ड द ब ल सा य तइयओ वग्गो ।
चउ-दसमसरेण सम, घ झ ढ ध भ व हा य चउत्थो उ ॥ ९ ॥

इकारस्तृतीयः । उ(ओ)कार(रो) नवमः । 'ग ज ड द ब ल स' सहितो तृतीयो वर्गः । ईकारश्चतुर्थः । औकार(रो) दशमः । 'घ झ ढ ध भ व ह(ष)' समेतो चतुर्थो वर्गः ॥ ९ ॥

अणुणासिया य [प ५ पा १] पच सि, पचम-छट्ठा सरा य योघया ।
दो चरिमसरा य तहा, पण्हक्खरमूलवत्थुस्स ॥ १० ॥

'ङ ञ ण न माः' पञ्च अनुनासिकाः । 'उ ऊ' पञ्चमषष्ठौ । 'अं अः' द्वौ चरिमस(स्व)रौ च । एते पंच वर्गाः प्रश्नाक्षरमूलवस्तूनि ॥ १० ॥ वर्गरचना समाप्ता ॥

इदानीं जीव धातु-मूलाक्षराणां विभागोपदर्शनार्थमाह—

आइल्ला तिण्णि सरा, सत्तम णवमो य बारसे जीव ।
पचम-छट्ठ-सरस्स[य], धाउ सेसेसु तिसि(सु) मूल ॥ ११ ॥

आद्याः स्वरास्त्रय 'अ आ इ' । सप्तम 'ए'कारः । नवम 'ओ'कारः । 'अः' द्वादशमः । एते षट् स्वराः जीवस्वराः वि[प ५ पा २]ज्ञेयाः । 'उ'कार[ः] पञ्चमः । 'ऊ'कारः षष्ठः । 'अं' एकादशमः । त्रय एते धातुस्वराः । चतुर्थ 'ई'कारः । दशम 'औ'कारः । 'ऐ'कारोऽष्टमः । एते त्रयोमूलस्वराः ॥ ११ ॥

क च ट चउक्के जीय, अट्ठम-पढमतिमे यकारे य ।
त प [य ?] चउक्के धाउ, य से य मूल तु सेसेसु ॥ १२ ॥

'क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ' इत्येते पूर्वनिर्दिष्टा[ः] प्रथमवर्गस्य । अष्टमः स(श)का[प ६ पा १]रः, अन्त्यो हकारः, यकारश्च । जीवाक्षरा एते । 'त थ द ध, प फ ब भ' इत्येतेऽष्टौ । वकारः सकारश्चेत्येते धात्वक्षराः । ङ ञ ण न मा[ः] तथा रकारः, लकारः, षकारश्च इत्येते मूलाक्षरा(राः) ॥ १२ ॥

जीवाद्यक्षराणामुपसंहारार्थं स्वराणां गाथामाह—

जीवक्खरेक्कवीसा, तेरह धाउक्खरा मुणेयव्वा ।
एयारस मूलगया, पणयाला होंति सव्वे वि ॥ १३ ॥ [प ६ पा २]

पूर्वनिर्दिष्टाः स्वराः षट् 'अ आ इ ए ओ अः, क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, य श ह' एते जीवाक्षराः एकविंशतिः २१ । पूर्वोक्ता धातुस्वरास्त्रयः 'उ ऊ अं' इत्यन्ये 'त थ द ध प फ ब भ व सा' एते धात्वक्षरास्त्रयोदश १३ । 'ई ऐ औ, ङ ञ ण न मा, र ल षा' एते मूलाक्षराः एकादश ११ । जीव-धातु-मूलसमेताः पंचचत्वारिंश(श)दक्षराणि भवन्ति ॥ १३ ॥ [प ७ पा १]

पढमस(स्स)रसंजुत्ता, सव्वे लहुअक्खरा य अणभिहया ।
इच्छंति जीवचिंता मि(म)त्तासु विवज्जिया जाव ॥ १४ ॥

उत्सर्गसिद्धानां जीवाक्षराणामपवादः । अकारः प्रथमस्वरः येषामक्षराणामन्त्यमूर्ता, ते जीवाक्षराः प्रथमस्वरसंयुक्ताः । अथवा अकारेण युक्ताः 'क च ट य श ग ज ड' एते(ते)ऽष्टौ लघ्वक्षराः अनभिहता मात्रारहि[प ७ पा २]ताश्च जीवचिन्तां कथयन्ति । अयुक्ता अपि धातु-

(सु)मूलबिम्बाभ्यां गाथाया[म]न्तर्भूतावे वेत्युच्यन्ते । 'व ह प ष स' इत्येते पञ्च मात्राक्षराः अम मिद्धाः क्षपयो मात्रारहिताश्च जीवधातुबिम्बौ कथयन्ति । अकार एक एव मूलाक्षरो लघुः । अनमिद्धो मात्राविवर्जितः स सजीवमूलबिम्बौ कथयति ॥ १४ ॥

मत्तासु जो विअप्पो, जो वि य आलिंगिओ वि अभिघाओ ।
त सव्व वण्णेह, अहक्कम आणुपुव्वीए ॥ १५ ॥

मात्रासु यो विकल्प इति वक्ष्यमाणोपन्यासार्थगाथा । विकल्पग्रहणेन मात्राभेद कथ्यते । स च[ए] तिर्यग्मात्रा अधोमात्रा इति । [प ८ पा १]आलिंगिताम्(भि)धूमितदग्धकक्षणोपघा-ता[त] त(त्रि)धा । तदेतत् सप्रपंचं यथाक्रममानुपूर्व्या कथयिष्यामः ॥ १५ ॥

पढमो तइओ य सरो, सत्तम णवमो य तिरियमायाओ ।
मूलसर उद्ध(ड्ढ)मत्ता, पंचम-छट्ठा अहोमत्ता ॥ १६ ॥

अकारः प्रथमः स्वरः, इकारः तृतीयस्वरः, एकारः सप्तमस्वरः, ओकारो नवमस्वरः—एते चत्वारः स्वरास्तिर्यग्मात्राः । एतेषु मूलयोनौ कथ्यायां तिर्यग्गतायां चर्या(ह्या) शालायां वा संबन्धि मुष्टिगृहीतं किमपि कथयन्ति । नष्टप्रश्नेऽप्यन्यदपि तिर्यग्भागस्थितद्रव्यमेव एव स्वराः कथयन्ति । ईकारश्चतुर्थः, ऐकारोऽष्टमः, औकारो दशमः । [प ८ पा १] एते त्रयः स्वरा ऊर्ध्व-मात्राः । मूलयोनौ कथ्यायां वृक्षस्योर्ध्वभागसंबन्धि किमपि मुष्टिगृहीतं कथयन्ति । नष्टप्रश्ने ऊर्ध्व-भागस्थितद्रव्यमेते त्रयः स्वराः कथयन्ति । पंचमः उकारः, षष्ठः ऊकारः, एतौ द्वौ स्वरौ अधोमात्रौ मूलयोनौ कथ्यायां वृक्षस्याधोभागसंबन्धि किमपि मुष्टिम(गृ)हीत(तं) कथयत(तः) । नष्टप्रश्नेऽप्यधोभागव्यवस्थिता(त)मेतावेव स्वरौ कथयतः ॥ १६ ॥ [प ९ पा १]

जीवाईसद्धाण, णियमा द[रि]संति उद्ध(ड्ढ)मत्ताओ ।
घ(चि)त्तरीय अहोमत्ता, णायव्वा जीव धाऊण ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वमात्रा वि(पि)मिद्धाक्षरयुताः स्वराः । ते जीवाक्षराणां पंचपञ्चानामुपरिगता जीवमूल-संस्थानं दर्शयन्ति । कार्ये मूलमुच्यते । तस्मिन्मुत्कीर्णप्राणिगणसाम्यवत् जीवमूलसंस्थानमुच्यते इति । अधोमात्रो(त्रौ) द्वौ स्वरयुक्तो(क्तौ) तौ यदा जीवाक्षरसंयुक्तौ दृश्य(श्ये)ते तदा जीवधा-तुं दर्शयतः । [प ९ प २] को जीवधातुरित्यत्रोच्यते—सुवर्णरूप्यताम्रा(म्र)ऽऽरकांस(स्य)पाष-णादिष्वेवंविधेषु धातुपु(पू)त्कीर्णो जीवाकृतिसंस्थानः सकलप्राणिगणो जीवधातुरित्युच्यते ॥१७॥

मूलक्खरा उ सव्वे, धाउ दुसंति जे अहोमत्ता ।
दुसंति तिरियमत्ता, परपक्खगया उभयपक्खत्त ॥ १८ ॥

मूलाक्षराः 'क च ट त प य श ग ज' इत्यादयो एते अ(अ)धोमात्रा(त्राः) स्वरद्वयमेतौ यदा दृश्यन्ते तदा धातुद्रव्यं दर्शयन्ति । तिर्यग्मात्राभि[प १ प १]रुपलक्षिताः जीवस्वराः, ते मूलाक्षराणामुपरिगता जीवमूलं दर्शयन्ति । जीवमूलस्य आकारः । पूर्वोक्तमेव । धात्वक्षराणा-मुपरिगताश्चैते यदा जीवस्वराश्चत्वारो दृश्यन्ते तदा जीवधातुं दर्शयन्ति । जीवधातुसंस्थानं पोक्तमेव ॥ १८ ॥

सविसग्ग-बिंदुसहिया, जीवाइ णिदि[दि]सति सट्ठाण ।
अट्ठमचलक्खण पुण, सव्वेसिं सकायगुरुयाण ॥ १९ ॥

सविसर्ग-बिन्दुसहित[ः] — विसर्गो द्व्यक्षरः(क्षः) स्वरः, बिन्दुरेकाक्षरः(क्षः)। [प १ ,प १] एतौ द्वौ जीवाक्षरसहितौ जीवयोनिं कुरुतः। यदा च द्वावेतौ स्वरौ मूलाक्षरसहितौ दृश्येते, तदा मूलयोनिं कुर(रु)तः। धात्वक्षरसहितौ धातुयोनिं कुर(रु)तः। अथोमात्रलक्षणमष्टमेन पंच भण्यन्ते। तद्यथा — सकायगुरु[ः], स्ववर्गसंयोगः, परवर्गसंयोगः, अर्द्धोकान्तं, त्र्यक्षरसंयोग इति। तत्र तावत् सकायगुरोर्लक्षणमुच्यते — द्वौ ककारौ संयुक्तौ, द्वौ गकारौ, द्वौ ङकारौ, एवं सर्ववर्गेषु ज्ञातव्या। सकायगुरवो जीवयोनौ पृच्छायां प्रष्टुः सकायचिन्तां कथयन्ति। धातु-योनौ पृच्छायां [प ११ प १] आत्मार्थे धातुचिन्तां कथयन्ति। मूलयोनौ पृच्छायां आत्मार्थे मूलचिन्तां कथयन्ति। स्ववर्गसंयोगस्य लक्षणमुच्यते — ककारस्योपरिगतः ककारः, गकार स्योपरिगतो गकारः, एवं वर्गे द्वौ द्वौ स्ववर्गसंयोगौ भवतः। जीवयोनौ पृच्छायां प्रष्टुः स्वबन्धुचिन्तां कथयति(न्ति)। एतौ धातुयोनौ पृच्छायां स्वकृते धातुचिन्तां कथयन्ति। मूलयोनौ पृच्छायां स्वकृते मूलचिन्तां कथयन्ति। परवर्गसंयोगस्य लक्षणमुच्यते — ककारस्य उपरिगतः चकार(रः), गकारस्य उपरिगतो जकारः, ङकारस्योपरिगतो(तः) ञकारः, इत्येव मादयोऽन्येऽपि परवर्गसंयोगा जीवयोनौ पृच्छायां [प ११ प १] प्रष्टुः पर[प]क्षचिन्तां दर्शयति(न्ति)। धातुयोनौ पृच्छायां परपक्षकृते धातुचिन्तां कथयन्ति। अर्द्धोकान्तस्य लक्षणमुच्यते — उपरियेवृजोया(उपर्यधोऽ)क्षराणां तुल्यसंख्यया स्तो अर्द्धोकान्तमित्युच्यते। निदर्शनं यथा — 'क्व-क्व-म' इत्येवमादयः। चिन्तायां जीवयोनौ लब्धे स्त्री-पुरुषचिन्तां दर्शयन्ति। [प १२ प १] धातु-योनौ लब्धे स्त्रीसंबन्धेन धातुद्रव्यं लभ्यत इत्यादेश्यम्। मूलयोनौ लब्धे स्त्रीसंबन्धेन मूलद्रव्यं लभ्यत इत्यादेश्यम्। त्र्यक्षरसंयोगस्य लक्षणमुच्यते — त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैर्योगः त्र्यक्षरयोगः। यथा — 'क्षि-क्ष्णि-न्धि-त्थि-र्त्से-न्स्य(?)' एवमादयोऽन्येऽपि जीवयोनौ पृच्छायां पृष्टे(प्रष्टुः) [प १२ प १] अपत्यचिन्तां कथयति(न्ति)। मूलयोनौ पृच्छायां अपत्यार्थे मूलचिन्तां कथयन्ति। धातुयोनौ पृच्छायां अपत्यार्थे धातुचिन्तां कथयति(न्ति) ॥ १९ ॥

अभिहयगुरुअक्खरया, रेफ यकार उ ज(ऊ)कारसंजुत्ता ।
सव्वे य अहोमत्ता, णायव्वा अप्पसत्थाणा य ॥ २० ॥

'रेफ य(यो)कार उकार ऊकार' एतेषा[प ११ प १]मन्यतमेनाभियोगतेन जीवधातुमूलाक्षराणां अन्यतमो(मो)ऽक्षरः संयुक्तमु(क्त उ)च्यते। तैरेवाभियोगतैः अभिहत उच्यते। तैरेवाभियोगतैर प्रधानमुच्यते। जीवयोनौ पृच्छायां यस्य कस्यचिदक्षरस्य तले यदा रेफो दृस्य(श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्यार्थे पृच्छति तस्याथः का[प० ११ प १]मि स(का)मचार आदेश्यः। जीवयोनौ पृच्छायां यस्य कस्यचिद् अक्षरस्य तले यदा यकारो दृस्य(श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्यार्थे पृच्छति तस्य स्त्रीनिमित्त मग्यममादेश्यम्। जीवयोनौ पृच्छायां कस्यचिदक्षरस्य तले उकारो दृस्य(श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्यार्थे पृच्छति तस्य मूलमादेश्यम्। जीवयोनौ पृच्छायां यस्य कस्यचिद् अक्षरस्य तले ऊकारो दृस्य(श्य)ते तदा प्रष्टा यस्य कृते पृच्छति तस्य [प १४ प १] दीर्घकाले बन्धनमादेश्यम्। एते चापी यद्यपि गाथायां नोक्तास्तथाप्येते द(द्र)ष्टव्याः ॥ २० ॥

जाणे मवग्गगरू(गुरु)ए, जोणी जा जस्स अप्पणातणिय ।
परवग्गमक्खरठाए, जो उवरिं तस्स सा जोणी ॥ २१ ॥

जानीहि स्ववर्गाक्षरेणाक्षरो गुरुय(र्यो)त्र यथा–'क्ख ग्घ' आभ्यां जीवो वक्तव्या । 'च छ' आभ्यां धातुव(र्व)क्तव्यः । 'छ झ ञ्ज झा(ीं)' एवमादिभिर्मूलम् । परवर्गेणापि योऽक्षरो गुरुर्य्वं उपरिस्थितस्त[प १४ पा १]स्य सा योनिः । मिश्रेन–'ग्ग त्थ छ(ी)' इत्येवमादयो यथासंख्येन जीवधातुमूलानि ॥ २१ ॥

आइल्ला चत्तारि सि, जीवा पयडी हवंति ठाणाइं ।
पचमछट्ठा धाओ, मूलपयडी य दो चरिमा ॥ २२ ॥

आद्या जीवस्व[ः] चत्वारः । 'अ इ ए उ'कारो वर्णागत एवानो(तो) न गृहीतः । एते जीवाक्षराणामुपरिगता मि(मिः)[प १५ पा १]संस(स)र्ग जीवमेव दर्शयन्ति । एता(ते) एव जीवस्वराः जीवप्रकृत्या धात्वक्षराणामुपरिगता जीवधातुं कुर्वन्ति । मूलाक्षराणामुपरिगता जीव मूलं दर्शयन्ति । जीवमूल-जीवधात्वोर्लक्षण मागुक्तमिति । पंचम एकार(रः), षष्ठ ऊकारः, एतौ द्वौ धातुस्वरौ धात्वक्षराणामयोगतौ धातुमेव दर्शयतः । [प १५ प २] 'अं' धातुस्वरसदृशः केवलो धातुमेव कथयति । 'अः' चरिमो जीवस्वरः केवलो जीवमेव कथयति । पूर्वोक्तानां जीव(वा)क्षराणामुपरिगतो चरिमसंज्ञानुस्वारो जीवमेव कथयति । तत्रस्थस्वरात्मको भवति । धात्व क्षराणामुपरिगतोऽनुस्वारो धातुमेव कथयति । मूलाक्षरोपरिगतोऽनुस्वारो मूलं दर्शयति । 'अः' चरिमसंज्ञो विसर्ग[ः] जीवाक्षराणामन्यतमस्यामश्रित(तो)जीवमुपदर्शयति । धात्वक्षरामतो धातुं दर्शयति । मूलाक्षराणामन्यतमस्यामतो व्यवस्थितो विसर्गः [मूल]मेव दर्शयति । चरिमसंज्ञत्वं ए(मि)त्यपि सर्व[प १६ पा १]स(र्व) भवतीति । सामान्ययोनि(निः) समाप्ता ॥ २२ ॥

सी(शि)क्षाप्रविभागार्थं प्रयोजनत्वात् तदुपन्यासः–

उर-कंठ-जीहमूला तालव्वा तह य उद्धतालव्वा ।
दंता उट्ठा अणुणासिया य मुद्धखा(मुद्धस्स)रा चेय ॥ २३ ॥

नव स्थानानि वर्णानां तदोत्पत्तेः । उराः(उरस्याः), कण्ठ्याः, जिह्वामूलीयाः, तालव्याः, ऊर्ध्वतालव्याः, दन्त्याः, ओष्ठ्याः, अनुनासिकाः, मूर्धन्याश्चेति नवस्थानान्यक्षराणीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

सविसग्गो य अकारो, उकारो (?उरो) इकारो य जो हवइ हस्सो ।
हस्सस(स्स)रा य कंठा, जीहामूला क ख ग घा य ॥ २४ ॥

सर्व(वि)सर्गः, अकारः, इकारश्च, ह्रस्वौ उ(र)स्यौ तालव्यौ । ह्रस्वस्वराः [प १६ पा २] अ इ ए उ स्वरादयोऽप्येते कण्ठ्याः । 'क ख ग घ' इत्येते चत्वार(रो) जिह्वामूलीयाः ॥ २४ ॥

सत्तट्ठआ(मा)ण पढमा, तालव्वा च छ ज झा य चत्तारि ।
ट ठ ड ढ बीओ य सरो, हवंति खलु मुद्धतालव्वा ॥ २५ ॥

प्रथमवर्गस्य सप्तमो यकार(रः), यद्वा सप्तमवर्गस्य प्रथमो यकारः, अष्टमवर्गस्य प्रथमः

स(श)कारः । 'च छ ज झ' इत्येते चत्वारस्तालव्याः । 'ट ठ ड ढ' इत्येते [प १७ पा १] चत्वारः, द्वितीयस्वर आकारः, पञ्च एते मूर्धतालव्याः ॥ २५ ॥

त थ द ध सा पु(प)ण दंता, प फ ब भ धातुस्सरा वकारोट्ठा(ट्ठा) ।
वग्गचरिमाणुणासी, मुद्धण्णा सेसया सव्वे ॥ २६ ॥

'त थ द ध सा' इत्येते पञ्च दन्त्या[ः] । 'प फ ब भ' इत्येते चत्वार(रः), धातुस्वरौ च द्वौ पञ्चमषष्ठौ उ ऊ, 'व' कारश्च, सप्तैते औष्ठ्याः । वर्गचरिमग्रहणेन पञ्चमानुनासिका 'ङ ञ ण न माः' गृह्यन्ते । [प १७ पा २]अथवा वर्गग्रहणेनानुनासिकाः, स्वराणां च मध्ये चरिमो ऽनुनासि[को] बिन्दुः, 'अं' इत्येते च षडनुनासिका । शेषाः-स्वराः के ते ? 'ईएऐओ' त्रयः । शेषास्त्व(श्च)स्वराः 'र ळ षा' इत्येते त्रयः । एकत्र षड् मूर्धन्याः । सि(शि)क्षाप्रकरण समाप्तम् ॥ २६ ॥

अत्रावसरप्राप्ता अक्षरलब्धिः, [तां] नामप्रकरणेऽभिधास्यति । इह तु(तु) मात्रिमात्र-मुच्यते । तदर्थं गा[प १८ पा १]थामाह-

ठाणं ठाणं एक्केक्कय तु आलिंगिथा(या)इ ह्रायति ।
उरसादी ठाणाणं, तालव्वे उवरिमो ठाइ ॥ २७ ॥

स्थानं स्थानमेकैकमालिंगितामिधूमितदग्धास्त्यक्षरमिति । उरस्या जिह्वास्ताळव्ये[न] इत्येवं क्रम अभिहत इति । अभिहतग्रहणेनालिंगितामिधूमितदग्धा वच्यन्ते । उरस्यो(उरस्यो)ऽन भिहतो असंयुक्त उरस्य एव लभते [प १८ पा २] आक्षरम् । उरस आलिंगितकण्ठस्थान लभते । उरसोऽमिधूमितो जिह्वामूलीय लभते । उरस्यो दग्धस्ताळव्य लभते । कण्ठ्योऽनभिहतासंयुक्तः कण्ठ्यं एव लभते । कण्ठ्य आलिंग्य(गि)तो जिह्वामूलीय लभते । कण्ठ्योऽभिधूमितस्ताळव्य लभते । कण्ठ्यो दग्धो मूर्धताळव्यं लभते । जिह्वामूलीयोऽनभिहतासंयुक्तो जिह्वामूलीय लभते । स एवालिंगितस्ताळव्यं [प १९ पा १] लभते । स एवाभिधूमित ऊर्ध्वताळव्य लभते । स एवा(वा)-दग्धो दन्त्य लभते । ताळव्यो अनभिहतासंयुक्तस्ताळव्यं लभते । स एव दग्धो दन्त्य लभते । ताळव्यो(व्य) आलिंगितः ऊर्ध्वताळव्य लभते । स एवाभिधूमितो दन्त्यं लभते । स एव दग्धो(ग्ध) उ(औ)ष्ठ्य लभते । मूर्धताळव्योऽनभिहतासंयुक्तः स्वस्थान लभते । स एवालिंगितो दन्त्यं लभते । स एवाभि[धूमि]त उ(औ)ष्ठ्य लभते । स एवा(वा)दग्धो अनुनासिक लभते । दन्त्यो अनभिहतासंयुक्त(क्तः)स्वस्थान लभते । स एवालिं[प १९ प २]गित औष्ठ्य लभते । स एवाभिधूमितो अनुनासिक लभते । स एव दग्धो मूर्धन्य लभते । औष्ठ्यो अ(ऽ)नभिहतासंयुक्तः स्वस्थान लभते । स एवालिंगितोऽनुनासिक लभते । औष्ठ्योऽभिधूमितो मूर्धन्यं लभते । दग्ध उरस्य लभते । अनुनासिको अनभिहतासंयुक्तः स्वस्थान लभते । आलिंगितो मूर्धन्यं लभते । [प २ प १] अभिधूमित उरस्यं लभते । दग्धः कण्ठ्यं लभते । मूर्धन्यो अनभिहतासंयुक्तः स्वस्थान लभते । आलिंगित उरस्य लभते । अभिधूमितः कण्ठ्यं लभते । स एव दग्धो जिह्वामूलीय लभते ॥ २७ ॥

॥ एष स(सा)मासि(सि)क शिक्षाप्रकरण समाप्तम् ॥

पढमो तइओ य सरो, सत्तम णवमो य सकडा हस्सा ।
वियडा अंतरदी[प १ प २]हा वि चउत्थो पचमो चेव ॥ २८ ॥

अकार इकार-एकार ओकारा, चत्वारोऽमी संकटसंज्ञाश्च ह्रस्वाश्च । प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा संकटस्वराणां बाहुल्यं भवति तदा प्रष्टा यस्यार्थे मोक्षं पृच्छति आत्मनो(नः) परस्य वा बद्धस्य तदा मोक्षो [न] भव[ती]त्यादेश्य(श्यम् ।) लाभमपि न लभते । दुर्गमहाणिक न प्राप्नोतीत्यादेश्य(श्यम्) । एतद् व्यतिरिक्तमन्यद् यदा [प ११ प १] पृच्छति तदे(दे)षां संकटसंज्ञानां स्वराणां बाहुल्ये सर्व मेव कल्पय इत्यादेश्यम् । विकटा अन्तरदीर्घाः । के इत्यत्रोच्यते — द्वितीय आकारः, चतुर्थ ईकारः, पंचम-ऊकारः, एते विकटसंज्ञा अन्तरदीर्घाश्च । प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा विकटसंज्ञानां स्वराणां बाहुल्यं भवति तदा प्रष्टा यस्य कस्यचित् परस्यात्मनो वा बद्धस्य मोक्षं [प ११ प १] पृच्छति तदा मोक्षो भवतीत्यादेश्यम् । लाभमपि लभते । दुर्गादिगमश्च सिध्यति, इत्यादेश्यम् । एतद् व्यतिरिक्तं यदन्यत्तु(त्) कामादिकं पृच्छति तत्र भवतीत्यादेश्यम् ॥ २८ ॥

सकडा(ड)विअडा सेसा, सह्ना[व]दीहा य तिण्णि णि[य]मेण ।
छट्टट्ठमा य वेण्णि विसमस्सरो च्चेय णामयो ॥ २९ ॥

संकट-विकटाः शेषाः स्वभावदीर्घाश्च । षष्ठ ऊकारः, ऐकारोऽष्टमः, औकारो दशमः, इत्येते त्रयः । शेषमद्धयात् बिन्दु-विसर्जनीयौ । प्रश्नाक्षराणां मध्ये संकट-विकटसंज्ञानां बाहुल्यं भवति तदा प्रष्टा यदात्मनो यदि वा परस्यार्थे बद्धस्य मोक्षं [प ११ प १] पृच्छति तदा भेदेन मुच्यत इति वक्तव्यम् । लाभमपि किंचिन्मूल्यं भेदेनैव लभ्यते । दुर्गभंगोऽपि भेदेनैव भवती त्यादेश्यम् । यदन्यदेतद् व्यतिरिक्तं शुभमशुभं वा पृच्छति तन्मध्यम भवतीत्यादेश्यम् ॥ २९ ॥

पढमा(म त)इया य वियडा, बीय चउत्या य सकडा वग्गा ।
सेसा क(सं)कड वियडी(डा), अ ड ई वडस्स भेदतिय ॥ ३० ॥

प्रथमाः — 'क च ट त प य श(सा), [तृतीयाः] ग ज ड द ब ल स'(सा)' एतौ विकटसंज्ञौ । प्राग्वत् फलम् । द्वितीय(याः) — 'ख छ ठ थ फ र ष(षाः)'; चतुर्थ(र्थाः) — 'घ झ ढ ध भ व ह' एते संकटसंज्ञाः । पूर्ववत् फलम् । शेषमद्धया[न्] 'ङ ञ ण न म' एते उभयसमभावाः । एवं त्रिभेद प्रश्नमुच्यते ॥ ३० ॥ [प ११ प १]

॥ एवं संकट विकटप्रकरणं समाप्तम् ॥

वग्गे गणणादेसे, म(व)ग्गेसु य उत्तराहरो होइ ।
वग्ग(ग्गु)त्तरा य नियमा, अ च त य वग्गंत(ग्गुत्त)रा चउरो ॥ ३१ ॥

उत्तराधरं चतुर्विधं — वर्गोत्तरं गणनोत्तरं आदेशोत्तरं द्रव्योत्तरं चेति । अस्य च संकल्पः आर — ११११ देवेश उत्तर अद्दा य तेसिं जाणे वमाणसमगाणं' । तदर्थं प्राग् वर्गोत्तरमु च्यते — [प ११ प १] 'अ च त य' एते चत्वारः वर्गाः । उत्तरा प्रधाना इत्यर्थः । तन्मध्ये(ध्ये) 'क ट प श' संज्ञाश्चत्वारः अधरा अप्रधानाश्चेति ॥ ३१ ॥

एतदेवाह –

सेसा हवंति अहरा, वग्गा चत्तारि कटपसा जाण ।

एक्केक्कमि चउक्के, पुणो वि इणमो कमो णेओ ॥ ३२ ॥

अ[ष्ट]वर्गक्रम एव, चत्वारो वर्गा अधराः । के ते ? 'कटपसा(शा)' शेषग्रहणाद् भण्यते ॥ ३२ ॥

गाथापश्चार्द्धस्यान्य[प २३ प २]गाथया विभाषा क्रियते –

एक्केक्कनि(मि) चउक्के, पुणो पि(वि) इणमो कमो उ विण्णेओ ।

दो उत्तरा उ तेसिं, दो चिअ अहराधरा विदिए ॥ ३३ ॥

निरूपितं उत्तरचतुष्कं अधरचतुष्कं चेति । तत्र चतुष्कद्वये भूय[ः] प्रधानाप्रधानत्वेनायं क्रमोऽन्य विज्ञातव्यः । उत्तरचतुष्के द्वौ पश्चा – अ च वर्गौ प्रागुत्पन्नत्वाद् । द्वौ च इति द्वितीयचतुष्कमाह । तथान्यौ द्वौ वर्गौ 'प स' अधराधराविति मन्तव्यौ । अथवा द्वितीयवर्गौ द्वौ अ[ध]राविति । द्वौ अधरौ 'क ट' संज्ञौ । द्वौ अधराधरौ 'प स (श)' संज्ञौ । एवं वा नेयम् ॥३३॥

अनु(मु)मेवार्थं विशेषयन्नाह –

दो चेव उ [प २४ प १]त्तरोत्तर, तेसिं दो उत्तराधर(रा) पढमे ।

अधरुत्तरा य दोण्णि य दोण्णि य अहराहरा विदिए ॥ ३४ ॥

तत्र उत्तरचतुष्के पूर्वोत्पन्नत्वात् प्रधानत्वाच्च 'अ च' वर्गौ उत्तरोत्तरौ । आभ्यामनन्तरप्र[व]त्तत्वात् 'त य' एतौ उत्तराधरौ एव प्रथमचतुष्के । द्वितीये तु 'क ट' इत्येतौ अधरोत्तरौ । अधरचतुष्कत्वादधरौ प्रागुत्पन्नत्वादुत्तरौ । द्वौ अधराधरौ । 'प स[श]' संज्ञौ अधरचतुष्क(त्वा)दधरौ । 'क ट' वर्गाभ्यां पश्चादुत्पन्नत्वाद् अधराधराविति । एवं अष्टवर्गक्रमेण वर्गोत्तरमुक्तम् ॥ ३४ ॥

पंचवर्गोत्तिं(व्यसेवत् ?–) ।

पढम-तइया उ वग्गा, पञ्चस्स य उत्तरक्खरा होंति ।

बितिय-चउत्था अहरा, अ[हरा]हर हो[प २४ प २]ति अणुणासी ॥३५॥

प्रथमवर्गो[ः] – 'क च ट त प य स (श)' इति । तृतीयो – 'ग ज ड द ब ल ह स' । एतौ वर्गौ उत्तरोत्तरौ, उत्तराभिसंर्यः । द्वितीय[ः] – 'ख छ ठ थ फ र ष' चतुर्थः – 'घ झ ढ ध भ व ह'; इत्येतौ वर्गौ अधरसंज्ञौ । 'ङ ञ ण न म' इत्येषो(ष) वर्गः अधराधरसंज्ञः । एवं वर्गोत्तरम् ॥३५॥

साम्प्रत गणनोत्तरम्, तदर्थं [गाथा] –

गणणाए छा[प २५ प १] इल्ला, सरुत्तरा छस्सराधरा इयरे ।

विसमा वि उत्तरा वंजणेसु अहरा समा भणिया ॥ ३६ ॥

गणना-अनुक्रमो भण्यते । तत्र स्वराणामाद्याः षड् उत्तराः, पूर्वोत्पन्नत्वात् । 'अ आ इ ई उ ऊ' । पश्चादुत्पन्नत्वाद् अधरा 'ए ऐ ओ औ अं अः' । यद्वाऽन्यथा गणनोत्तर(रे) स्वराणाम् 'अ इ उ ए ओ अं' इत्येतेषां प्रागुत्प[प २५ प २]न्नत्वादेते उत्तराः । पश्चादुत्पन्नत्वाद् 'आ ई ऊ ऐ औ अः' इत्येते अधराः । यत इदमाह –

"विसमा वि उत्तरा वंजणेसु अहरा समा भणिया ।"

इहापि गमनमेवाङ्गीकृत्योच्यम् । विषमा[ः]—प्रथम-तृतीय-पंचम-वर्गीया वर्णाः । द्वितीय चतुर्थाः समा इति । विषमवर्गीया उत्तराः, समवर्गीया अधरा इति । एवं गमनोत्तरम् ॥३६॥

हस्सा अयारसहिया, सरुस्सरादेसओऽधरा इयरे ।
क च ट त प य सा णुगओ य अकारो उत्तरो पढमो ॥ ३७ ॥

आदेशोत्तरमेवम्—ह्रस्वाः स्वरा अकारसहिता इति । 'अकार इकार उकार एकार ओकार अं' इत्येते उत्तरत्वेनो[प २६, पा १]दिष्टाः । एतेषां यद्यपि मध्ये उकारो अप्रधानो दाहात्मकः, तथाप्युत्तर एव द्रष्टव्यः । उकारो यद्यप्युत्तरं वहति स उत्तर एव । यद्यधरं वहति स अधरो द्रव्यः उत्तरो भवति । शेषाः षड् अधराः पूर्वोक्ता अपि भेदोत्तरेण पुनरादिष्टाः । आ ई ऊ ऐ औ अः, अ क च ट त प य शेष्वन्तर्भूतोऽप्यकार उत्तर(रो) द्रष्टव्यः पृथगात्तो ॥ ३७ ॥

क ग च ज ट ड त द प ब य ल, अट्ठमवग्गस्स पढम तइओ य ।
एते [य] उत्तरा वजणेसु सेसा अ(ऽ)धरादेसे ॥ ३८ ॥

'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराः । प्रथमवर्गस्याष्टमः स(श)-कारः । तस्मात् तृतीयः [प २६ पा २] 'स'कारः । एते सर्वे उत्तरत्वेनादिष्टाः । शेषा अधरा इति । 'ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ र व ष हा' इत्येते द्वितीय चतुर्थवर्गाक्षराः अधरा आदिष्टाः ॥ ३८ ॥

उत्तरसरसजुत्ता, वग्गे लहु अक्खर(रु)त्तरादेसे ।
अहरसरेसु य अहरा, हवंति ये उत्तरा लहुया ॥ ३९ ॥

संयोग प्रति उत्तरस्वरसंयुक्ता[ः] । के ते उत्तरस्वराः ? उच्यन्ते—'अ इ उ ए ओ अं' [प २७ पा १] एते । प्रथम-तृतीय-वर्गप्रतिबद्धा ये अक्षरास्ते उत्तराः । के ते ? उच्यन्ते—'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते । अनन्तरोक्त उत्तरस(स्व)रसंयुक्त उत्तरा एवादिश(श्य)न्ते । एत एव 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' उत्तराधरस्वरैः 'आ ई ऊ ऐ औ अः' इत्येते(तैः) संयुक्त अधरा इत्यादिश(श्य)न्ते । एवमादेशोत्तरम् ॥ ३९ ॥

दवेसु जे पहा[प २७ पा २]णा, पुप्फ(प्फु)ल्ला य उत्तरा सव्वे ।
अधरा य अप्पहाणा, पच्छुप(पच्छुप्प)ण्णा य जे दवा ॥ ४० ॥

द्रव्यान्तरेषु ये प्रधानतमाः पूर्वोत्पन्नाश्च प्रथम-तृतीयवर्गाक्षरास्ते उत्तराः प्रधाना ज्ञातव्याः । अधराश्च पश्चादुत्पन्नाः । के ते ? द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराः । अप्रधाना ज्ञातव्या अधराश्चेति ॥४०॥

णा(णे)मित्तिएण जे [प २८ पा १] या, उत्तरबुद्धीए अप्पणो गहिया ।
ते तस्स उत्तराणि उ, सेसा अहरीकया अहरा ॥ ४१ ॥

चत्वारो ये विकल्पा उत्तराधरप्रकरणे प्रकाशीकृतास्तस्य, या क(का)श्चित्तं विधानमुत्पत्ति इत्थं विकल्पान्तरस्य चोपदर्शनार्थं आदिष्टसंस्कारस्य निमित्तज्ञानवतो प्राग्गिति पुरुषुत्पादः । उत्तरेषु अपरेषु[प २८ पा २]ष्टिः, अधरेषु उत्तरबुद्धिया पश्चोत्पन्ना फलतोऽपि लाटगा(गे)वासो । यथा—मातङ्गकुक्कुटादिषु गोत्रयोर्गुणादिपूर्वोत्तरसमाश्रितेषु वदद् विधासमुद्धियमिति ॥ ४१ ॥

॥ एष चतुर्विधम(मु)त्तराधरं समाप्तम् ॥

'अहवा इमं अट्ठविह उत्तराधरं होइ' सूत्रवचन(न)मेतत्। अथवाऽष्टप्रकारमेवत्तुत्तराधरं भवतीति वचनसार्थं ।

अक्खरसरसंजोए, बलाबलविसेसओ भणति(हि)याए ।
तत्तो य उत्तरोत्तर, अहराअ(ऽ)हर अट्ठम जाणे ॥ ४२ ॥

साम्प्रतं गाथार्थमु(र्थ उ)च्यते–स्वरोत्तरं प्रथमं, अक्षरोत्तरं द्वितीयं, संयोगोत्तरं, बलाबलोत्तरं, विभागोत्तरं, अनभि[प १९ पा १]हतोत्तरं, [उत्तरं,] उत्तरोत्तरं चेति। एवमधरमपि अष्टप्रकारमेव समप्रतिपक्षत्वात् तद्यथा(नः)स्वराधरं, अक्षराधरं, संयोगाधरं, [बलाबलाधरं, विभागाधरं] अनभिहताधरं, अधरं, अधराधरं चेति ॥ ४२ ॥

हस्सस(स्स)रुत्तर अक्खरुत्तर उत्तराख(रक्ख)रा सव्वे ।
हस्सस(स्स)रसंजुत्ता, संजोएणुत्तरा लहुया ॥ ४३ ॥

अत्र स्वरोत्तरमुच्यते गाथाया अवयवेनाधेन। ह्रस्वस्वरोत्तरम्। के ह्रस्वाः स्वराः? 'अ इ ए ओ' इत्येते चत्वारः। अक्षरोत्तरं उत्तराक्षरा सर्वे। कते (के) च ते? प्रथम-तृतीय-वर्गीया गृह्यन्ते। साम्प्रतं संयोगोत्तरमुच्यते–ह्रस्वस्वरसंयुक्ता ला(ल)घवो वर्णाः 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श स' इत्येते। यथा–[प १९ पा २] 'क कि के को, ग गि गे गो, च चि चे चो, ज जि जे जो' इत्यादि संयोगोत्तरम् ॥ ४३ ॥

इदानीं विभागोत्तरं क्रमप्राप्तमुच्यते, संयोगस्य प्रकान्तत्वात्–

गरुयक्खरा य सव्वे, उत्तरसरसंजुआ विभाएण ।
सो ठवइ उत्तरो खलु, होंति अ से तिण्णि या(आ)देसा ॥ ४४ ॥

गुर्वो(र्व)क्षरा उक्त द्वितीय-चतुर्थवर्गीयाः। ते उत्तरस्वरसंयुक्ताः, । यथा–'ख खि खे खो घ घि घे घो'। इत्यादिविभागेनोत्तराः। विभागो नाम अंश(श) इत्यनर्थान्तरम्। यावता ह्रस्वस्वरसंयोगः। तावता अंशे(शे)नोत्तरत्वं भजन्तो गुरुवत्वमापद्य च। तस्मात् स्वर आदेशत्रयनिर्मा[प २ पा १]णेन भवति। लघुस्वराः, ह्रस्वाः, उत्तराश्चेति। शेषा दु(दी)र्घाः, गुरु(र)वः, अधराश्चेति। एवं विभागोत्तरम् ॥ ४४ ॥

जो उत्तरेण अहरो, अभिहण्णतो ठ(य) उत्तरो होइ ।
अहरेण उत्तरो वा, बलाबल उत्तरं एय ॥ ४५ ॥

य उत्तरेणाधरः अभिहतः। उत्तरप्रावल्यात्। तद्यथा–'ख क'। अत्र खकारः आलिङ्गितः, कका(का)रस्याऽऽलिङ्गितत्वात्। एका संख्या ह्रसति। इसी(सि)तैकसंख्या(ख्य)श्च, खका र(रः) के(क)कारो भवति। प्रतिपक्षत्वोत्तरभावं खकारो(रः,) अधरत्वात्। [त]था अधरेणाभिहन्यमान उत्तरोत्तरो भवति। यथा–'ग घ'। अत्र घकारोऽभिधूमितः। गकारस्य संख्या-द्[प २ पा २]वयमपनयति(ति)। त(त्रि)संख्यत्वा[द्] गकारस्य। ह्रसिते च संख्याद्वये अधरत्वात्। गकारः ककारत्वमापन्न इति। एवमन्यत्रापि बलाबलोत्तरं परमम् ॥ ४५ ॥

साम्प्रतमनभिघातोत्तरमुच्यते–

पढमस(स्स)रसंजुत्ता, अणभिहया जे तु ते अणभिहया ।
उत्तरमधरं वेंति य, सजोण्णेव दो चरिमा ॥ ४६ ॥

प्रथमस्वरसंयुक्ताः । कः प्रथमस्वरः ? अकारः । तेन अकारेण संयुक्ताः । के ते ? व्यञ्जनाक्षराः अनभिहता भण्यन्ते । 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल श सा' इत्येते अनभिहता(त)संज्ञाः । शेषवर्गास्त्वभिहतसंज्ञा इति प्रतिपक्षत्वाल्ल(ल)भ्यन्ते । पतदनभिहतोत्तरं उत्त[प ११ पा १]रेण चरिमेण बिन्दुना युक्तोऽक्षर उत्तरत्वं प्रजाति । अपरेण विसर्जनीयेन युक्तोऽक्षरः अधरत्वं प्रजतीत्यर्थः । एवं षष्ठो भेदस्ततोऽयम् । उत्तरा उक्ताः । उत्तरोत्तरमोक्षाः । उत्तरप्रतिपक्षेणाधरा [अ]युक्ताः । उत्तरोत्तरप्रतिपक्षेणाधराधराः मोक्षाः । इत्येवं अक्षरसमुच्चयपरम्पराख्यानम् ॥ ४६ ॥

एव सचराचरादिसु, यलायल सव्वओ पलोएउ ।
चिन्तादीए भावे, जीवाइ व(वि?)णिद्दिसे मइम ॥ ४७ ॥

इत्यक्षरो इत्यपरं(?) चलाचल सर्वतो विलोक्य चिन्ता-नष्ट-मुष्टि-जीव-धातु-मूलयोनिं वा विलोक्य प्रज्ञाभिज्ञेनाक्षरे(रा)णामादिशेत्प्रतिमान् ॥ ४७ ॥

जीव जाणसु दोसुत्तरेसु [प ११ पा २] अहरेसु दोसु मण धाओ(उं) ।
अहरुत्तरेसु मूल, उत्तरमधरे तहा धाउ ॥ ४८ ॥

जीवं जानीहि । प्रश्नाक्षराणामादौ पतिते उत्तराक्षरद्वये जीवं, प्रश्नाक्षराणां आदौ पतिते अधराक्षरद्वये धातुं, प्रश्नाक्षराणां आदौ पतिते अधरे द्वितीये चोत्तरेऽनन्तरं पतिते मूलमव गच्छ । [प ११ पा १] प्रश्नाक्षराणा[मा]दौ यदा उत्तरो दृश्यते ततोऽनन्तरं धा(चा)धरः । तदाऽपि धातुमेवागच्छ ॥ ४८ ॥

॥ इत्येष उत्तराधरं प्रकरणं समाप्तम् ॥

दुविहो खलु अभिघाओ, सद्दगओ चेव अक्खरा(र)गओ य ।
सद्दगओ तिविगप्पो, मद्दो मज्झो य तिव्वो य ॥ ४९ ॥

द्विविधोऽभिघातः शब्दगतोऽक्षरगतश्च । तत्र श(प ११ पा १)ब्दगतो अक्षरात्मको ऽनेकप्रकारः पटह-सं(शं)ख-भेरी-कुम्भपवन मुरज-आकाशाभिघातादिलक्षणः । स त्रि(त्रि)विकल्पः (म)न्दो मध्यमो महाघोषे(ष्विति) । प्रमदाः(दाः) आलिंगितादिभूमितद्व्यवलक्षणः । अक्ष-[र]गतमभिघातमुपरिष्टाद् वक्ष्यति ॥ ४९ ॥

एक्केक्को पुण दुविहो, होइ पसत्थो य अप्पसत्थो य ।
[अ॰]पसत्थो मदावी, कुणइ आलिंगियादीणि ॥ ५० ॥

स शब्दो द्विविधः–प्रशस्ता(स्तोऽ)प्रशस्तश्च । वीणा-वेणु-सं(श)ख-भेरी-पटहादिगता प्रशस्तः । कुम्भपत[न]-भाण्डादिभङ्ग-रासभादिशब्दाप्रशस्तः । यः शब्दोऽत्र आलिंगितः प्रश-

स्तो वाऽप्रशस्तो वेति। मध्यमो यः शब्दो [प ११ पं १]ऽभिधूमितसंज्ञः प्रशस्तः, अप्रशस्तो वा। एव प्रशस्तः, अप्रशस्तो वा यः शब्दस्तीव्रः स दग्धसंज्ञः। प्रशस्तो यः शब्दोऽल्पः सोऽल्प फलं ददाति, स्थिरं च करोति। प्रशस्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यमफलं ददाति, मध्यमं स्थैर्यं करोति। प्रशस्तो यः शब्दस्तीव्रः स महत् फलं करोति, स्थैर्यं च तस्याल्पकालमिति। अप्रशस्तः यः शब्दोऽल्पः सोऽल्पमान्द्यं करोति, स्थैर्यं च तस्य मान्द्यं करोति। अप्रशस्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यममान्द्यं करोति, मध्यमं च स्थैर्यं मान्द्यस्य करोति। अप्रशस्तो यः शब्दः तीव्रः स महामान्द्यं करोति, अवस्थानं च त[प १२,पं १]स्य मान्द्यस्याल्पकालमित्येतदपि शुभाशुभमल्प-मध्यम-महत्त्वेन द्र[ष्ट]व्यम्। एवं शब्दाभिघातः ॥ ५० ॥

अक्षराभिघातार्थः –

बि-चउत्थ-पचमाणं, वग्गाण अक्खरा अभिहणति।
एक्कुत्तरिया य सरा, अणभिहया सेसया वग्गा ॥ ५१ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चमवर्गैः प्रथम-तृतीयौ वर्गावभिहन्ये[प १४ पं १]ते। एकान्तरिता-स(श्च) स्वरा[:] के मध्यन्ते? इत्यत्रोच्यते – यद्यप्येकान्तरिता बहवः, तथापि 'आ ई ऊ' अरत्र एते त्रय एकान्तरिता[:] प्रथम-तृतीयौ वर्गा[व]भिघ्नन्ति। प्रथम-तृतीयवर्गौ इत्यत्राश्च चत्वार एते परस्परं नाभिघ्नन्ति ॥ ५१ ॥

अणभिहया अनि(ष्वाभि)हया वा, पिच्छिज्जता उ आभिघा[प १४ पं १]तीहि।
आलिंगियाभिधूमितदड्ढ(ड्ढ) य लहति ते नाम ॥ ५२ ॥

अनभिहता वर्गा उक्ता अभिहताश्च एते अनभिहता वा के ते प्रश्नाक्षरा[:]? तेषां प्रश्नाक्षराणां स्थापितानां किमपि घातोऽस्ति नास्ति च इति चिन्त्यम्। यदा प्रश्नाक्षराणां परस्पराभिघातं लभ्यते तदा [१]प्रथमाक्षरद्वितीयाक्षरत्रि(तृ)तीयाक्षरमभिहन्ति। तृतीयाक्षरं चतुर्थाक्षरं अभिहन्ति। एवं चतुर्थाक्षरं पञ्चमाक्षरं, पञ्चमं षष्ठः, षष्ठं सप्तमः, सप्तमो(?)ऽभिहन्त्यभिघाते सति। यो पश्चान्स्वरं स वमिति[१]। अभिघातस्यालिङ्गिताभि[धूमि]तदग्धलक्षणमनुपर्दि[प १५,पं १]ष्टाद् विस्तरेण व्याख्यास्यति। यदा प्रश्नाक्षराः सर्वे परस्परमभिहताः, तदा अप्रधाना निष्क(ष्क)लस(श्च) भवन्तीति ॥ ५२ ॥

प्राङ् तावत् स्वराभिघाता उच्यन्ते –

अणभि(भि)ह[य] अभिहया वा, अंतरवीहस(स्स)रेहि सजुत्ता।
अभिधूम(मि)यति लहुया, दहति गरुया वि ते चेव ॥ ५३ ॥

अनभिहता अभिहता वा ये प्रश्नाक्षराः। अथवा प्रथम-तृतीयौ वर्गावनभिहतसंज्ञौ। शेषास्त्वभिहतसंज्ञाः। एते अन्तरदीर्घा(घ)स्वरयुक्ताः। के ते अन्तरदीर्घस्वराः? आकारः, ईकारः, ऊकारश्चेति एते त्रयः। एतैरन्तरदीर्घस्वरैः संयुक्ता अभिधूम्यन्ते [प १५,पं १] अमतो वाम(न)न्तरमवस्थितैः। के ते लघ्वक्षराः? 'क ग च ज ट ड त द प ब य ल स सा' इत्येते चतुर्दश। आकारेण ईकारेण ऊकारेण च संयुक्ता अमतो वाऽनन्तरमवस्थितैर्दह्यन्ते गुर्वो(र्व)-

१–१ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो प्रक्षिप्तो लक्ष्यते।

क्षराः । के ते गुर्वो(र्वि)क्षराः ? 'ख छ ठ थ फ र षा' इत्येते सप्त । आकारेण ईकारेण ऊकारेण च [प १६,पा १] संयुक्ता भवन्तो वाऽन्यतमयुक्तैर्भवन्ते(न्ते) परेण । गुर्वो(र्वि)क्ष)राः के ते ? 'घ झ ढ ध भ व हा' इत्येते सप्त ॥ ५३ ॥

आलिंगियन्ति ह्रस्ससरा(स्सरा) हु दीहस्सरा रि(इ)ह दहति ।
पच्छक्खरा उ सव्वे, संजुत्ता आणुपुव्वीए ॥ ५४ ॥

आलिङ्गयन्ते ह्रस्वस्वराः । के ते ह्रस्वस्वराः 'अ इ ए ओ' ते चत्वारः । के ते आलि-ङ्गयन्ते(न्ते) 'ख छ ठ थ [प १६,पा २] फ र षाः, घ झ ढ ध भ व हा' इत्येते द्वितीय-चतुर्थवर्गा-क्षराः सप्त । 'घ झ ढ(ढ) ध भ व हा' चतुर्थवर्गाक्षरा दह्यन्ते चतुर्भिः स्वरैः । के ते चत्वारः 'ओ औ अं अः' । एवं संयुक्ताः आनुपूर्व्या आलिङ्गयन्ते, अभिधूम्यन्ते, दह्यन्ते च ॥ ५४ ॥

अमुमेवार्थं गाथान्तरेण प्रतिपादयन्नाह—

अंतरदीहा अभिधूमियंति आलिंग(गि)यंति जे ह्रस्सा ।
टिट्ठ(दिट्ठ)न्तो चरिमसरा, अ(स)हावदीहाणुणासीया ॥ ५५ ॥

अन्तरदीर्घे(र्घा) यथा 'आ ई ऊ' एतेऽभिधूमितसंज्ञा[ः] । ह्रस्वा यथा 'अ इ ए ओ' एते आलिङ्गितसंज्ञाः । [ऐ औ] द्वौ स्वरौ चरिमसंज्ञौ वा अ(आ)मेयौ तौ दहतः । [प १७ पा १] स्वभावदीर्घाः 'ऊ ऐ औ' अनुनासिका 'ङ ञ ण न माः' इत्येते ॥ ५५ ॥

अथास्य(स्ये)वा विवरणार्थमन्यगाथा(थ)या प्रस्तुयते—

आलिंगिया य आलिंगियंति अभिधूमिया य धूमेंति ।
दड्ढा(ड्ढा) य दहति सरा, तेसिं जुत्तं च चरिय(मं)च ॥ ५६ ॥

आलिङ्गितसंज्ञा, के ते 'अ इ ए ओ' एतैश्चतुर्भिः स्वरैः ये आलिङ्ग्यन्ते । द्वितीय-चतुर्थ-व[र्गा]क्षराः यथा एव । अभिधूमितसंज्ञास्तथ 'आ ई ऊ' एतैरभिधूम्यन्ते । प्रथम-तृतीयवर्गाक्षरा-स्तेऽभियुक्ताः । एवं दग्धसंज्ञा 'उ ऊ अं अः' एते प्रथम-तृतीयवर्गा दहन्ति । पश्चदुक्तम् । 'ओ औ अं अः' एते चत्वारस्ते स्वरैः संयुक्तस्वराः[प १७ पा २] प्रथम-तृतीय-चतुर्थवर्गाक्षरा दहन्ति । इत्येवमुक्तमपि पुनरुक्तम् । 'ऐ औ' एतौ द्वौ स्वरौ प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गा दहन्ति । इत्येवमु-क्तम् । एतैर्द्वमात्मकैर्यः संयुक्तोऽक्षरस्तु दहन्ति पूर्वाक्षरं नाभ्यन्तरमिति संयोगभावे सति ॥ ५६ ॥

एवं स्वराभिघात उक्तः । इदानीं वर्गाभिघातः—

बीओ य पढम-तइय, पढम-तइया य आयवो(जे य बु?) चउत्थ ।
आलिंगियंति वग्गा, चउत्थ पुण पंचम वग्गं ॥ ५७ ॥ [प १८ पा १]

द्वितीयो वर्गः प्रथमवर्गं तृतीयं चालिङ्गयति । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गश्च द्वितीयवर्ग-मालिङ्गयतः(ति) । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गश्चतुर्थवर्गमालिङ्गयति । तदुक्तम्—प्रथम-तृतीयौ दोन्निय द्वितीयश्चचतुर्थं [इ]ति । चतुर्थवर्गः पञ्चममालिङ्गयति । अत्र प्रथमवर्गः पृथिव्यात्मकः । द्वितीयो वाया(प्या)त्मकः । तृतीय तेजात्मकः । चतुर्थ आकाशा(शा)त्मकः । पञ्चमः आत्मात्मकः । इत्येवं पञ्चमहा[प १८ पा २]भूतात्मकं जगति[ति] ॥ ५७ ॥

अभिधूमेइ चउत्थो, आइमवग्गे उ तिण्णि नियमेण ।
पंचम-चउत्थवग्गो, दोण्णि य अभिधूमये बितिओ ॥ ५८ ॥

अभिधूमयति चतुर्थो वर्गः प्रथमवर्ग(र्गं) त(द्वि)तीयवर्गं तृतीयवर्गं च । द्वितीयवर्गश्चतु-र्थवर्गं पञ्चमवर्गश्चे(र्गं चे)ति ॥ ५८ ॥

आइल्ला चत्तारि वि, डज्झति पंचमेण वग्गेण ।
पंचमओ पुण डज्झइ, पढम-तइज्जेसु दोसु पि ॥ ५९ ॥

प्रथम-द्वितीय-[तृतीय]-चतुर्थवर्गा दह्यन्ते पञ्चमवर्गेण अन्त्यात्मकत्वात् । पञ्चमवर्गस्तु दह्यते मिलाभ्य(द्वय)ते प्रथम-तृतीयो(यैः) पृथिव्यो(व्यु)दकात्मकैः ॥ ५९ ॥

जे जे समाभिलावा, अण्णो[प २१ पा १]ण्ण ते उ ण अभिहणवे(ति)त्ति ।
जह क ग च ज मादीया, दो दो लहुआ गुरुआ अण्णा ॥ ६० ॥

जे जे(ये ये) समानसी(शी)ला कगचज मादेये(?) कचचः अन्योन्याना(न्)भिघ्नन्ति । के ते समानसी(शी)लाः, ते कथ्यन्ते–'क ग च ज ट ड त द प ब य ल स (श) सा' इत्येते । प्रथम-वर्गस्(तृ)तीयवर्गश्च लघुसंज्ञौ । अनयोरासनौ(न्नौ) द्वितीय-चतुर्थवर्गौ गुरुसंज्ञौ भवतः । पर स्पराभिघातकौ चेति ॥ ६० ॥

अभिहणमाणे दिट्ठो(ट्ठे), जोणीसंठाणवण्णमाईणि ।
अभिहण्णमाणस्स ऊ(?) भवे, ण जो उ अभिहण्णए तस्स ॥ ६१ ॥

अभिहन्यमाने दृष्टे । कोऽभिहण्यन्ते(न्यते) । यो(यो)नि[प २१ पा २]रूपसंस्थानमपि पुनरु-च्यते–पूर्वं(र्व)पूर्वोक्तयोऽभिमेयाक्ष(रा)रेण पाठमेन पाठक इति । पूर्वोक्त योऽभिहन्ति तस्याभिघ-तु(हन्तुः) योनि-स्थान-वर्णप्रमाणादीनि वक्तव्यानीति । कस्मात्कारणादित्युच्यते–येन सर्वोऽभि हन्ति बलीयानीति (बलवान् इति) ॥ ६१ ॥

परवग्गेण उ वग्गो, जो जेण अभिहण्णए उ तो तस्स ।
अभिघ(घा)य जाणेज्जा, राजादिसंघ(घ)यणा(ण्णा)ण ॥ ६२ ॥

परवर्गेण वर्गो यो येनाभिहन्यत इति । परवर्गस्य इत्यक्षरस्य संज्ञा । परतु प्र(पृ)च्छ-(कृ)च सा(सा)त् । पराक्षरेण(?) योऽक्षरोऽभिहन्यन्ते(ते) तस्याभिहन्त्वं[प ४ पा १]मानस्य पराजयो(यो) वक्तव्यः । अभिहन्तु(न्तु)र्जयो वक्तव्यः । एवं आदमाभिवर्णानां राजन्यस्य वा युद्धे विवादे वा जय(यः)पराजयो वाच्य इति । आदिश्य(श्य)ते भागहानिः । अभिधूमित-अभिघाते द्वे हानिः क्षयो वा । दग्धे मिश्रे(श्रे)पराजयो मृत्युर्वा ॥ ६२ ॥

आलिंगियम्मि जीवं, मूलं अभिधूमियम्मि पण्हंमि ।
दड्ढ(ड्ढे)मि मणसु धाउ, एसो उद्द जहा बोच्छ ॥ ६३ ॥

प्रश्नाभक्षस्य ये शब्दा[ः] पटहदुन्दुभ्यपतमालिंगवाले पूर्वोक्ता [प ४ पा २]आलिंगि-ताभिधूमितदग्धलक्षणाः । तत्रालिङ्गिते शब्दे [जीव आदेशः । अभिधूमिते प्रश्ने] मूलमादे-शम् । दग्धे शब्दे धातुरादेशः(शः) । तस्मात् पूर्वे(र्वं) 'भये'ति वक्ष्यमाणकं प्रश्नम् ॥६३॥

आलिंगियमि फलहो, मंद अभिधूमियमि पण्हमि ।
दड्ढमि मणसु मरण, एत्तो उड्ढ जहा वोच्छ ॥ ६४ ॥

अस्मिन(म)पि प्रश्नात्मप्रश्नाक्षरस्य एवामक्षररूपो व्यमिरपिहत्वा(सो)परिहम् ॥ ६४ ॥

॥ अभिघातप्रकरण समाप्तम् ॥

वग्गाण जइ पढमा, णिरंतर वा तिण्हि पण्हमाइए ।
तो सुण्णं जाणेज्जा, [ण]वि किंचि वि चिंतिय तये(त्थ) ॥ ६५ ॥

वर्गाणां यदि [प ४१ प १] प्रथमा इति प्रथमग्रहणेन व(स्व)राणां प्रथमः अकारः, 'क' वर्गस्य च प्रथमः ककारः, 'च' वर्गस्य च प्रथमच(श्च)कारः । एते त्रयो यदा निरन्तरं प्रश्नादौ दृश्यन्ते तदा शू(शू)न्यं जानीयात् । न किञ्चिदपि चिन्तितं तत्रेति । तथा मण्डुकिकायाम् ॥६५॥

अभिहयधिंदुविसग्गे, चिंता मुट्ठी य सुण्णिया होइ ।
वग्गेक्कबहुलवण्णो, तत्थ ण कज्ज मुणेयव्वा(व) ॥ ६६ ॥

अ(य)त्र प्रश्नाक्षरा आरम्भादेव बिन्दुविसर्गोपमिहताः । तत्र चिन्तायां मुष्टौ च (शू)न्यम् । यथा एकवर्गीया नैरन्तर्येण बहवो वर्णास्तत्रापि न कार्यं शू(शू)न्यमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

मीसेसु [प ४१ प १] अत्थि चिंता, आधाराधेयमिस्सय[ति]दुविहा ।
धम्माधम्मागासा आहारा तिण्णि विसेया ॥ ६७ ॥

प्रश्नाक्षराणां मध्ये 'अ क चा' न्तान्यवर्णै[ण] सहिता दृश्य(श्य)न्ते तदाऽस्ति चिन्ता । सा च त्रिविधा आधारविषया, आधेयविषया च । तस्य[प ४१ प १]विषयाऽपि संभवा द(त्रि)विधा भवतीति । आधारा [अ]क्षराणि, आधि(धे)या मात्रा । अक्षर-मात्राभेदेन द्विविधा चिन्ता । धातु-योनौ इत्यादाम् । धातुस्त(त्रि)विधो धाम्यः, अधाम्यः, धाम्यसमिति — एवं केचिद् व्याख्या-भवन्ति । तदेतदुपरिणामतया स[प ४१ प १]द् विरुध्यते । तस्मादन्यथा व्याख्यायते—आधारस्त्र(त्रि)विधः—धर्माधर्माकाशाख्यो [ऽ]मूर्त्ताः । तत्र धर्माधर्मौ लोकव्यापिनौ । आकाशस्तु लोकालोक-व्यापी । तत्र गतिलक्षणो धर्मास्तिकायो गतिमतां जीवानां पुंग(द्ग)लानां च गत्युपग्रहे वर्त्तते । स्थितिलक्षणाः(णः) अधर्मास्तिकायः स्थितिमतां स्थितिहेतुः । अवगा(गा)हलक्षणमाकाशं, अव-गाहिनामवगा[ह]हेतुरिति । एते त्रयोऽपि अमूर्त्ता जीव-मूल-धातूनां आधारं, आधेया जीवधातुमूला इति [प ४१ प १] ॥ ६७ ॥

एतद(व्यक्त) यथाह—

जीव धाउ मूल, आधेय तत्थ पढमओ जीवो ।
न(ए)इदीसइ सो दुविहो, जीवाजयवो य जीवो भा ॥ ६८ ॥

जीव[ः], प्रथम[ः] धातुपदार्थो द्वितीय[ः], मूलपदार्थस्तृतीयः । एवं त(त्रि)भिः पदार्थैस्त्रा(स्त्रो)र्स जगदिति । त्रिविधेन योनिर्भवति । तत्र तावत् प्रथमो जीवपदार्थः । स च द्विविधो दृश्यो जीवो [जी]वापयवेति ॥ ६८ ॥

जीवे दिट्ठे जीव, जीवावयव च तत्थ नायव ।
पुणरवि उत्तरसहिए, पण्हे जीव हवे नियमा ॥ ६९ ॥

जीवाक्षरेष्वभिहितेषु [प ४३ पा १] जीव इत्यादेश्यम् । तेष्वेवाभिहितेषु जीवावयवो वक्तव्यः । पुनरप्युत्तराक्षरैरक्षरैर्वा बहुले प्रश्ने जीवेनैव तिसंस(निस्संश)यं भवितव्यम् ॥ ६९ ॥

अक्खरसहिए उ पयो(ण्हे), जीव वावयव जु(? तु) मुणिज्जासु ।
जीवे लद्धमि पुणो, दुवय-अपदाद्दि(इ)पभेवा [य] ॥ ७० ॥

अधराक्षुतो (अधरसहिते?) प्रश्ने जीवावयव(व) जानीहि । जीवयोनौ लब्धायां द्विपद-चतुष्पदापदपादसंकुल भेदा वक्ष्यमाणाश्चिन्त्याः ॥ ७० ॥

लोमाणि तया रुहिर, मेदो मस ट्ठि-मज्ज-सुक्काइ ।
जीवावयवा [य] पदे, जीवा सिद्धा असिद्धा य ॥ ७१ ॥

रोमाणि त्वग् रुधिरं मांसं मेदोऽस्थि[प ४४ पा १]मज्जाशुक्रान्य(ण्य)ङ्गानीति जीवावयवाः । जीवाः सिद्धा असिद्धाश्च द्विविधा मण्यन्ते ॥ ७१ ॥

सिद्धा एगवियप्पा, [अ]सिद्ध संसारिणो चउवियप्पा ।
दुपया चउप्पयावि य, अपया पयसकुला चेव ॥ ७२ ॥

तत्र सिद्धा एकभेदाः संसारविनिर्मुक्ताः । असिद्धाः संसारिणः । ते चतु [र्विकल्पाः] । चतुरो भेदाश्चा(ना)ह—देवगतिः, मनुष्यगतिः, तिर्यग्गतिः, नारकगतिश्चेति । द्विपद-चतुष्पद अपदाः[पद]संकुलाश्चेत्यमरचतुर्भेदा (श्चेत्यपरचतुर्भेदाः) ॥ ७२ ॥

दुपया माणुस्स(स)देवा, पक्खी तह नारया मुणेयव्वा ।
मणुया हु चउवियप्पा, णायवा पण्हइचेहि ॥ ७३ ॥

द्विपदा मानुष(षाः) देवाः [प ४४ पा २] पक्षिणो नारकाश्चेति वक्तव्याः । मनुजाश्चतु र्भेदाः ॥ ७३ ॥

तेषामभ्यगाथया चतुरो भेदा[न्] वक्ष्यति—

पढमो ह बम्भणाण, बीओ वग्गो य हवइ वेसाण ।
तइओ [य] खत्तियाण, सेसा वो होंति सुद्दाण ॥ ७४ ॥

प्रथमो वर्गः 'क च ट त प य सा (शा)' इति ब्राह्मणाः(णां) ज्ञेयाः(यः) । द्वितीयो वर्गः 'ख छ ठ थ फ र षा' इति भवति वेस्सा(वैश्या)नाम् । तृतीयवर्गो(र्गः) 'ग ज ड द ब ल सा' क्षत्रियाणाम् । चतुर्थो वर्गः 'घ झ ढ ध भ व हा' [प ४५ पा १] शूद्राणाम् । 'ङ ञ ण न मा' पञ्चमो वर्ग[ः] सं(सं)करजातीनाम् ॥ ७४ ॥

दुविहा एते णेया, इत्थी पुरिसा पुणो वि ते तिव(तिवि)हा ।
बाला तरुणा थेरा, उत्तम-मज्झा-धमा तिविहा ॥ ७५ ॥

ये एते चतुर्विधा मात्रार्णाश्रय उक्ताः तेष्वेव पूर्वोक्तवर्गेषु प्रथमो वर्गस्तृतीयवर्गो(र्गं)श्च पुमान् ज्ञेयः । द्वितीय-चतुर्थवर्गौ स्त्रीसंज्ञौ । पञ्चमो वर्गो नपुंसकसंज्ञः । तत्र पुमांस्त्र(स्त्रि)विधो बाल-तरुण-स्थविर इति । योषि[प ४५ पा २]दपि त्रिविधा बाला तरुणी स्थविरा चेति । नपुंसकमिति(मपि) त्रिविधमेव बालं तरुणं स्थविरं चेति । स्त्री-पुं-[नपु]सकान्येतानि प्रत्येकं त्रिविधान्युत्तममध्यमाधमत्वेन द्रष्टव्यानि । विशेषमेषां वक्ष(क्ष्य)माणलक्षणगाथया दर्शयिष्यति ॥ ७५ ॥

तह चेय कम्मभ्मा(भू)मा, अकम्मभूमा य अंतरदी(दी)वा ।
एदे कमेण सव्वे, सणामणिदे(द्दे)सठ(ओ) जाण ॥ ७६ ॥

तथा चैक(वं) कर्मभूमयः । देवाः प्रथमवर्गाक्षराः, अन्तरद्वीपस्वरैर्युक्ताः । कर्मभूमयो मनुष्या भवन्ति । अन्तरद्वीपस्वराश्च 'आ ई ऊ' । [प ४६ पा १]एतेऽवश्य[वा] उक्ता अपि स्फुटाः पुनरुक्ताः । तृतीयवर्गाक्षराः अन्तरद्वीपस्वरैर्युक्ता अकर्मभूमयो भवन्ति देवाः । एषां कर्मभूमिकानां अकर्मभूमिकानां योनि[ः] स्वभाव[ः] चेष्टा च वर्णाकृतिः प्रमाणमिति वक्तव्यानि । अन्तरद्वी(द्वी)पानां षट्पञ्चाश(श)तां एकोरुकादीनां प्रपञ्चो नेयर्था(ऽनेकधा?) । तेषां च स्वनामनिर्देशा[त्] परिज्ञानं कर्तव्या(व्य)मिति ॥ ७६ ॥

॥ जीवसमा[स]प्रकरण समाप्तम् ॥

धातुस्सरा सहस्सा, कमादिवग्गाणुरासिया दुपए ।
बीओ दसमो य सरो, चउप्पए साइवग्गो य ॥ ७७ ॥

प्रथ प्रथ-[प ४६ पा २]तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराणिय(ण्यपि)के प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाणामेवाक्षरा एकस्मिन् अकारेण धातुस्वरेण ह्रस्वेन युक्तो(क्ताः) तेषामेवान्यतमसाम्यतो वाऽन्यतरम सहितेन द्विपदजीवचिन्ता विज्ञेया । प्रश्ने द्वितीयवर्गाक्षरबहुले द्वितीय आकारे दशम औकारे(र)त्वयोरन्यतरेण द्वितीयवर्गाक्षरेषु युक्तेषु प्रश्नो वा चतुष्पदचिन्ता विज्ञातव्या ॥७७॥

अपयाण घ झ ढ खलु, पयाकुल्याण(ल्लाण च) घ भ ध ह्रा चउरो ।
चउरठ्ठमबारसमा, [प ४७ प १] सरा य बोद्धमि सामण्णा ॥ ७८ ॥

घ झ ढ बहुले प्रश्ने ईकारे ऐकारे अःकारेण च सविसर्गेण एभिस्त्र(स्त्रि)भिः स्वरैर्युक्तेषु । एषो चान्यतमाक्षरस्थानान्तरात्मकान्तस्वराणामन्यतमोऽप्यतोऽन्यतरसहिते अपदा ज्ञेयाः । घ भ ध ह्रा प्रस्तारः, एतैरेव स्वरैस्त्रिभिर्युक्ताः पूर्वोक्ता(क्त)न्यायेन पादसंकुलाः प्राणिनो ज्ञेया इति ॥ ७८ ॥

जइ पढम-तइय-पञ्चम-वग्गे पण्हक्खराइ दीसंति ।
तो दुपय-जीवचिंता, चउप्पयाणं पि [थि]चउत्थे ॥ ७९ ॥

अन्य[प ४७ प १][द]पि परिपाट्या उक्तमपि किञ्चिद्विक्षेपमधिकृत्योच्यते—प्रथमवर्गस्य तृतीयवर्गस्य पञ्चमवर्गस्य च सम्बन्धिनो यदा प्रश्नाक्षरा बाहुल्येन दृश्यन्ते तदा द्विपदजीवचिन्ता ज्ञातव्या । द्वितीयचतुर्थवर्गाक्षराणां बाहुल्ये चतुष्पदा ज्ञेया[ः] ॥ ७९ ॥

भवणवइ-वाणवंतर-जोइस-वेमाणिया तहा देवा ।
तेसि दस अट्ठ पच य, ब(बा)रस णव पच य वियप्पा ॥ ८० ॥

दश प्रकारा भवनवासिनः, तद्यथा — असुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णा-ऽग्नि-वात-स्तनितो-दधि द्वीप-दिक्कुमाराः । अष्ट प्रकारा व्यन्तरा — किंनर-किंपुरुष-[प ४८ पा 1]महोरगा(ग)-गान्धर्व यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः । पञ्च भेदा ज्योतिष्का — सूर्य चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च । वैमानिका अनेकप्रकाराः — सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रार-आनत-प्राणत-आरण-अच्युताख्या द्वादशकल्पोपपन्नकाः । अपरे नवग्रैवेयकाः—अधोमध्यमोपरि विभागस्थाः । तथाऽनुत्तरविमानवासिनः पञ्चप्रकाराः — विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजिताः सर्वार्थ सिद्धसंज्ञाः । एवं समासनिर्देशतो विज्ञातव्याः ॥ ८० ॥

सिद्धाण आदिवग्गो, देवाण होंति तिण्णि वग्गाओ(उ) ।
दो चेव मानुसा(णुसा)ण, [प ४८ पा २] सेसा तिरियास(ण) वग्गा हु ॥८१॥

लोकाग्रे व्यवस्थिताः सिद्धा अशेषविमुक्ताश्च अकारबहुले प्रश्ने । [क च ट बहुले प्रश्ने ?] वैमानिका देवा ज्ञेयाः । त प बहुले प्रश्ने मनुष्या ज्ञातव्याः । य श बहुले प्रश्ने उत्कृष्टाति(स्थि)र्य-गादयो ज्ञेयाः ॥ ८१ ॥

दुपयक्खरेसु दिट्ठे, सव्वे दुपयक्खरा मणुस्साण ।
जे पुण चउप्पयाण, ते नियमा होंति देवाण ॥ ८२ ॥

द्विपदाक्षरा । के ते ? प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराः । एतद्बहुले प्रश्ने मनुष्या द्रष्टव्याः । अकर्मभूमिकान्तरद्वीपकाश्च । चतुर्थ[प ४९ पा १]वर्गो(र्गी ?)याश्चतुष्पदाक्षराः, ते(तैः ?) उपरस्तरचतुर्भेदभवनपतिव्यन्तरा ज्ञेया इति ॥ ८२ ॥

अपदाण जो गमओ, सो चेव य होंति नारयाण पि ।
बहुपायाण तइओ, सर(ता)वयवो होइ पक्खीण ॥ ८३ ॥

अपदाक्षरा य श ष पूर्वोक्ताः । द्विपद-योनौ कथायां य र ल वा नामत्रयसोप(?)स्थाभि व्यञ्जको भवति । तदा पक्षमे(क्षिणो?) सत्त्वा भवन्ति ॥ ८३ ॥

मणुअक्खरेसु मणुआ, इत्थीए सेसएसु नायव्वा ।
हस्स[स्स]रा य णिद्धा, सेसा ल(लु)क्खा सरा सव्वे ॥ ८४ ॥

मनुष्याक्षराः मानुषाः । विशेषोपद[प ४९,पा २]र्शनार्थं पुनरभ्यासः । प्रश्ने मनु ष्याक्षरबहुले मनुजा ज्ञेयाः । के ते मनुजाक्षरा ? । प्रथम-तृतीयवर्गप्रविष्टाः । द्वितीयवर्गाक्षर बहुले प्रश्ने स्त्री ज्ञातव्या । ह्रस्वस्वराः, के ते ? अ इ उ ए ओ पञ्च(?)स्निग्धाः । एतद्बहुले प्रश्ने पुरुषा [का]रकाः । शेषाः दीर्घाः सप्त स्वराः । एतद्बहुले प्रश्ने स्त्रिया(यो) वक्तव्याः ॥ ८४ ॥

सरुध(घ ?) मादिणो य वग्गा, पच य अणुणासिया भवे लुक्खा ।
णिद्धा कगादिवग्गा, तत्थ य कज्ज तु सयणगया(? यं) ॥ ८५ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चम-वर्गा एते त्रयो वर्गा रूक्षा(रूक्षाः) । प्रथम-तृतीयवर्गौ[स्निग्धौ] । स्निग्धवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने स्व-जनसम्बन्धे कृते कार्य द्रष्टव्यम् । रूक्षाक्षरबहुले प्रश्ने पर-जनसंबन्धे कृतं कार्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८५ ॥ एतदेवाह—

परजणकय [प ५ पा १] च कज्ज, मुणेह सव लुक्खएस(क्खरेसु) पि(?) ।
मिस्से पमयासहिय, कज्ज तह [पुत्त]मडकय ॥ ८६ ॥

रूक्षाक्षरबहुले प्रश्ने पर जनकृतं कार्यम् । स्निग्धरूक्षाक्षरबहु[लि] प्रश्ने प्रमदासंयोगार्थे मार्या-पुत्रकार्यं च ज्ञातव्यम् ॥ ८६ ॥

पढमक्खरेसु बाला, मज्झेसु य जोव्वणम्मि वट्टंता ।
अतिगएसु म थेरा, जीवा पण्हेसु णायव्वा ॥ ८७ ॥

प्रथमवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने बाल्य[ः], पुमा(मान्) स्त्री नपुंसकं च भवति । तृतीयवर्गाक्षरे स्वभिहतेषु दृष्टेषु एतान्येव स्त्री-पु-नपुंसकानि सर्वयौवनान्यादेश्या(श्या)नि । पञ्चमवर्गाक्षरा(रे)स्व-भिहतेषु दृष्टेषु व(वृ)द्धानि द्रष्टव्यानि । द्वितीय चतुर्थवर्गाक्षराधिके दृष्टे एतान्येव मध्यमवयान्या-देश्यानि ॥ ८७ ॥

सामा कण्हस्सामा, गोरी णील य रत्तसामाचेव(सामा य ?) ।
एव पच [प ५ पा १] वि वग्गा, कमसो पण्हम्मि य विभत्ता ॥ ८८ ॥

प्रथमवर्गः श्मा(श्या)मः । द्वितीयो वर्गः कृष्णश्यामः । तृतीयो वर्गो गौरः । चतुर्थो वर्ग(र्गो) नीलः । पञ्चमो रक्तश्यामः । एवं पञ्चाप्येते वर्णाः क्रमश(शः) प्रविभक्ताः । प्र[वि]र्षां मध्ये येषां [वर्णानां] बाहुल्यं भवति तैः वर्णैः(र्णो)निर्देश्य(श्यः) कार्यः ॥ ८८ ॥

जारिसय(ये) परपक्ख, संजुत्ता तारिसा तहिं सामा ।
हीणा समाऽहिया वा, सेसा परपक्खसजुत्ता ॥ ८९ ॥

यादृशः परपक्षः । कोऽसौ परपक्ष ? इत्यभिहन्या भण्य[ते] । वर्गाभिहताः यादृशा रूक्षा(क्ष्या)मार्ग[प ५१ प १]स्तो वर्णा येऽभिहता[ः] तादृशा(शाः)स्ते ज्ञेयाः । हीना(नाः) समा [अ]धिका(काः) वा ते वर्णोत्त(ति)थिताः । तत्र हीना आलिङ्गिताः, समा अभिधूमिताः, अधिका दग्धाः । परपक्षग्रहणेन च पूर्वोभिहता आलिङ्गिता [अ]भिधूमिता दग्धाः ॥ ८९ ॥

॥ मनुष्यप्रकरण समाप्तं समाप्तम् ॥

पक्खी चिट्ठे सत्तमसरे य वग्गे य पढमए जलया ।
दसमसरे य कवग्गे, थलया पसी(क्खी) हु णायव्वा ॥ ९० ॥

सप्तमस्वरः एकारः । प्रथमवर्गे अकार(रः), तस्माभि(भ्याभिध्ये ?)के प्रश्ने जीवयोनौ प्रमथे(मध्ये) जल[प ५१ प १]जः पक्षी ज्ञेयः । दशमस्वर औकारः कवर्गग्रहणेन ककारः केवल लभ्यते । औकारे ककारस्योपरिगतोऽधोवाऽनन्तरमभिहते जीवयोनौ प्रश्नायां स्थलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः ॥ ९० ॥

नवमसरे वग्गमि, तइएँ पक्खिणो तह्ना जलया ।
थलया बारस अट्ठम, सरे चउत्थे टवग्गमि ॥ ९१ ॥

नवमस्वर ष(ओ)कारस्तृतीयवर्गगकारस्योपरिगतोऽग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितं जलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः । द्वादशमस्वरः अकार' सविसर्गः, अष्टमस्वरः ऐकारश्चतुर्थवर्गः टकारः । टकारेण च स्थलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः पूर्वोक्तन्यायेनेति ॥ ९१ ॥

अणुणा[प ५२ पा २]सिएसु पचसु, तीसु य धाउस्सरेसु णायव्वा ।
पक्खीओ कुक्किआ खलु, वायसगिद्धा य चडया य ॥ ९२ ॥

ङ ञ ण न म बहुले प्रश्ने एषामन्यतमे धातुस्वरास्त्रयोऽन्यतमयुक्ते जीवयोनौ कुक्कुटे पक्षिणो ग(हि)श्रा[ः] मा(षा)सारचटका गृध्रा वायसाश्च ज्ञेयाः। धातुस्वराः के? उ ऊ अं इत्येते त्रयः॥९२॥

॥ समाप्तं पक्षिप्रकरण समाप्तम् ॥ ॥

संसि(सिं)गी कयाइवग्गे, गजा[इ]वग्गे चउप्पया ख(खु)रिणो ।
दुस्स[र]सरा हु सव्वे, सिंगीखुरीण तु सामण्णा ॥ ९३ ॥

ककारस्य चकारस्योपरिगतो(गते)म चतुर्णां ह्रस्वस्वराणामन्यतमेन तयोरेव ककार चकार योरग्रतोवाऽवस्थितेन, मा [प ५२ पा १] नरा[ः] शृंगिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः । के ते ह्रस्वस्वराः ? अ इ उ ए । अपरस्वरेण ऐकारेण औकारेण च युक्तस्य ककारस्य च च(चा)कारस्य वा तयो(यो)-ऽर्वाक् स्थितयोः एकारैकारयो आरण्याः शृंगिणो ज्ञेयाः । गकारस्य जकारस्योपरिगतो ह्रस्वस्वराणामन्यतमेग(न) तयोरेव गकार-जकारयोरग्र(म)तो वाऽवस्थिते खुरिणश्च(श्च)तुष्पदा ज्ञेयाः । गकारे जकारे वा अपरस्वरसंयुक्ते खुरिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः । गाथयाऽनुक्तमप्येव[इ] व्याख्यातम् ॥९३॥

बितिउ(ओ) वसमो य सरो, खछादिवग्गमि चेव वतीओ ।
अणुणासिएसु पंचसु, णहिणो धातुस्सरेसु च ॥ ९४ ॥

द्वितीय [प ५१ पा २] आकारः, ऊ(औ)कारो दशमः, खकार-ठ(छ)कारस्योपरि गतस्तयोरेव ख-छयोरग्रतो वा व्यवस्थिते आकारे औकारे वा दन्तिनो ज्ञेयाः । ङ ञ ण न मे सु(पु) पञ्चसु धातुस्वरयुक्तेषु ङ ञ ण न मा मा वाऽग्रतोऽनन्तरमवस्थितेषु नखिनो(नो) ज्ञेयाः । धातुस्वराः उ ऊ अं ॥ ९४ ॥

घ झ ढे सु होइ वाली, दती तह थस(ध न) व हे सु णायव्वा ।
चउरट्ठमबारसमस(स्स)रो य दोण्ह पि सामन्ना ॥ ९५ ॥

घ झ ढा धातुपरिगते इ(ई)कारे [प ५४ पा १] ए(ऐ)कारे सविसर्गे अ(अ)कारे घ झ ढा मा ममस्थितेषु वा ईकाराविषु वालि(द्धि)नः सूकरादयो ज्ञातव्याः । थ न ब हा धातुपरिगते(तै)स्तैरेव समि(म)स्तैरग्रतो वा व्यवस्थितैर्दन्तिनो ज्ञातव्याः । के त्रयः स्वराः ? ई ऐ अः ॥ ९५ ॥

विट्ठे चउप्पयमि य, पण्हे जय दीसए उवरि मत्ता ।
सो सिंगिणो इ भणिया, खुरिणो अह मत्तया होंति ॥ ९६ ॥

गोर्विकारः क्षीरदध्यादिकः जीवावयव एव गाथया अनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः । [प ५४ प १] शृंगिषु सिद्धेषु भराद्यरामिव्यञ्जको म(व)द्विकारो ज्ञेयः । चतुष्पदयोनौ लब्धे यदोपरिमात्राबाहुल्यं दृश्यते तदा शृंगिणो ज्ञेयाः । तस्मिन्नेव चतुष्पदयोनौ लब्धे यदा अधोमात्राबाहुल्यं दृश्यते तदा खुरिणो ज्ञेयाः । तस्मिन्नेव चतुष्पदयोनौ लब्धे उकारबाहुल्यं खुरिणो ज्ञेयाः । ऊ(ओ)कारा-कारयोस्तुल्ययोर(र)परिगतस्य साप(सर्प)योनिः । ऊ(ओ)कारयो(स्यो)परिस्थितस्य नखिनो(नो) ज्ञेयाः । [प ५५,प १] तत्रोत्तरेणाधरेण दृष्टेनोत्तम मक्षिन खुरिण वा लक्षयेत् । अधरेणाधर्म(धम ?)मक्षिनं खुरिणं वा लक्षये[त्] ॥ ९६ ॥

॥ चतुष्पदप्रकरण समाप्तम् ॥

सिंगिससा(मा ?) किण्हादी, हत्थि(दन्ति)समा राइला(नायरा?) मुणेयव्वा ।
सेसा तिण्णि वि वग्गा, मण्णतरियाण सप्पाण ॥ ९७ ॥

येषु शृंगिणोऽभिहतास्तेष्वेव कृष्णपौरा द्रष्टव्याः । उत्तरस्वरैर्नागराः, अधरस्वरैरारण्याः । येषु दन्तिनोऽभिहतास्तेष्वेव मियह(?) द्रष्टव्याः । शेषा वोपकारेणा(?)[प ५५,प २]मपि(अव?)-शिष्टानां म व ह ा नां बाहुल्ये वर्णान्तरिको(काः) चित्रकायाः सर्पा द्रष्टव्याः । लब्धानां अपरेषु च लब्धेषु, वर्णविशिष्टो वाच्य इति ॥ ९७ ॥

॥ जीवचिन्ता समाप्ता ॥

अथ तत्थ धाउचिंता, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
धम्मा[ऽ]धम्मा [य] तहा, धम्म(म्मा) लोह अलोह च ॥ ९८ ॥

धातुचिन्ता द्विविधा यथानुपूर्व्या धाम्या [अधाम्या] च । तत्र धाम्या लोहलक्षणा, अधाम्या तुष्कमयास्मादिलक्षणा ॥ ९८ ॥

कंचणरयय तंब, तउ सीसं आर कंस लोहं च ।
लोह अट्ठवियप्प, प्प(प)धाण तह अप(प्प)हाण च ॥ ९९ ॥

काञ्चनं, रजतानां (रजतं), [प ५६ प १] ताम्रं, त्रपु, सीसकं=वंगं, आरं=त्र(म)च पीरिकं एवं लोहं च, कंसं कृष्णलोहानि(हमि)त्यष्टमेदम् । उत्तरा[धर]बहुले प्रभ लोहमुत्तमं सुवर्णादि ज्ञेयम् । अह(ध)राक्षरबहुले प्रभे लोहमधमं त्रपु-सीसक-कृष्णलोहादि ॥ ९९ ॥

इट्टा य मट्टिया सक्करा य धम्मा इमे य लोहा य ।
रयणा य पत्थरा पुढवि मट्टिया चेव णो धम्मा ॥ १०० ॥

इष्टका स्थूरकर्परा, [मृत्तिका], स(श)र्कराश्च धाम्याः । त्रीण्येतान्यपि । छोहामि(मि) । रमाणि(नि) पाषाणा[ः], पृथीवि(वी), मृत्तिका चापाम्या धातवश्चत्वारः ॥ १०० ॥

रयणा य इंदनीला, मरगय तह वेरुलीयजाजी(ती)या ।
अयकंत-सूरकंता, [प ५६ पा २] चंदकंता य नायव्वा ॥ १०१ ॥

इन्द्रनील-महानील-मरकत-वैडूर्याः, अयस्कान्ताः, सूर्यकान्ताः, चन्द्रकान्ता च(श्च) रत्न विशेषा ज्ञेयाः ॥ १०१ ॥

मोत्तिय-पवालमाई, भवंति एवंविहा [तहा] अन्ने ।
ते ससा(सा)रा णिस्सार(रा), य होंति पुण संखमादीया ॥ १०२ ॥

मौक्तिक-प्रवालाः । एवंविधा[ः] तथाऽन्ये सद्भावर्तिमो (पि शङ्खादयो) विमलकादय[ः] ते सारा असार(रा)श्च । तत्रोत्तराक्षरबहुले प्रश्ने धातुयोनौ अन्ये ससारा मुक्ता-प्रवालादयो ज्ञेयाः । अधराक्षरबहुले प्रश्ने निःसारा विमल-संख(शङ्ख)-सु(शु)क्ति-कपर्दकप्रभृतयः ॥ १०२ ॥

सीय-दहा य [स]मुदा(द्दा), णदी तडागा [प ५७ पा १] तहेव पस्सव(स्सव)णा ।
एक्केक्क त दुविह, थिरं चल चेय नायव्व ॥ १०३ ॥

सीतजला(? शीतह्रदा)नि समुद्रा नदी तडाकानि प्रस्र(स्र)वणमेकैकम् । तेषां द्विविध– स्थिरं चलं चेति । तत्र स्थिरमप्प्रमाणोदा(पं) चोत्तराक्षरैः ग्रहण्यम् । यच्च वहति क्षुभ्यति च तच्चल- मधराक्षरैर्ग्रहण्यम् । नामाक्षरछाये(पे)न वस्तु विचार-स्थान सन्निवेसा(वेशा)दि ज्ञेयम् ॥ १०३ ॥

उण्हंगारा तह मोमुणा(मुम्मुरा) य अण्णा य एवमाईया ।
उक्का विज्जा(ज्जू) अव(स)णी णिग्घाउ(ओ) सूरकंताउ ॥ १०४ ॥

उष्णा[ङ्]गाराश्च मुम्मु(र्मु)रमहणेन कुकूलमुच्यते । एतौ च धान्यधातुसंज्ञौ वान्या- क्षरैर्ज्ञेयौ [प ५७ पा १]ज्यौ । उल्का विद्युदशनि(निः) निर्घातः सूर्यकान्त एतेऽधान्यधातु सम्भवाः । वान्याक्षरो(र)नामतो ज्ञेयाः ॥ १०४ ॥

एसा(गा?) पत्थरजी(जाई), से(सा) सवियप्पा पधाण अप्प(प)हाणा ।
सा परिकम्मि(म्मि)[य अ]परा, णामध(वं) ज जहिं कमइ ॥ १०५ ॥

पाषाणजातिसामान्यादेका पाषाणजातिः । सा द्विभेदा भवति । प्रधाना अप्रधाना च । तत्र उत्तराक्षर(रैः) परिकर्म(र्मि)ता पाषाणजातिश्र(जातिर्)ग्रहण्या । अप्रधाना च अधराक्षरैः अपरिकर्म(र्मि?)तपाषाणजाति(र्)ग्रहण्या । [प ५८ पा १] अप्रधाना च । यथायोग च स्तु(स्त)म्भः कार्यैः स्वनामभि । परिकर्मिता [ट]कघटिता । देशतश्च विभागाभ्या अर्थंस्थापा भारता[ः] ज्ञेयाः । द्रोणमुखाः, के ? यत्रागन्य याममात्रान(ण्य)वतिष्ठते(न्ते) ते देशा द्रोणमुखसंज्ञाकराः (संज्ञकाः?) । खेटकाः, के ? यत्रप्रवेशबहुले भूभागे यो निवसते जनपद: स खेटकलोकः । पृथिव्या एते भेदा भवन्ति । व्याख्यामि मृत्तिकाभेदमिति वक्ष्यमाणोपन्यासः ॥ १०५ ॥

हरियालमब्भपडल, [प ५८ पा २] मणसि(स्सि)ला पारय च बोधव्व ।
तह च(चु)ण्णपारदो वि य, मट्टि(ट्टि)यभेदा मुणेयव्वा ॥ १०६ ॥

हरितालम्, अभ्रपट(ट)लम्, मनःशि(शि)ला, पारय(द), चूर्णपारद(द) । मृत्तिकाभेदाः पञ्च । तत्र चूर्णपारद(द) इति द्वितीयपार[द]स्यापि चूर्णाकारं ग्रहण्यम् ॥ १०६ ॥

पण्हक्खरेहि एते, णायव्वा जे जहा समुद्दि(द्दि)ट्ठा ।
अधरोत्तरक्क(क्क)मेण य, सणामनिद्दो(द्दे)सतो यावि ॥ १०७ ॥

प्रश्नाक्षरैरेतैर्यथोक्ता भेदा विज्ञेयाः । यथा(था) यथा प्रधान्य(नताऽ)प्रधानता अधरोत्तर क्रमेण ज्ञेया । चापस्वनामनिर्देश इति ॥ १०७ ॥

ख छ ठ थ फा य श[स] वि य, दिट्ठे धाउम्मि होइ धम्माओ ।
अट्ठक्खरा हु एते, सेसमधम्मस(क्ख)रा सव्वे ॥ १०८ ॥

ख छ ठ थ फ(फ) य श स नामेषा[मक्षरा]णां बाहुल्येन धातुयोनौ लभ्यायां धातुप्र(प्र)श्न(श्नो) मान्यः । शेषाश्च [प ५९,पा १] 'र य व म य हा' इत्येते यद् गृह्यन्ते । ना(वा)म्येव धातुयोनौ लभ्यायां यथा यण्णां बाहुल्येन धातुरधाम्य आदेश्य इति ॥ १०८ ॥

पढमेकारवररस(नसचार)समसरे य कणय तु क ख ग घेसु च ।
पचट्ठमयसरेसु, पढमेऽणुणासिए य तउ ॥ १०९ ॥

पढ(प्रथ)मस्वर अकारः, एकारस्वरः अकारः सानुस्वारः, अकारः सविसर्गो(र्गो) अष्ट स(म)स्वरः । एतद्युते प्रश्ने धातुयोनौ लभ्ये कनक ज्ञेयम् । क ख ग घ(घा) नामन्यतमस्योपरि गतो(वि)नैतेषामन्यतमेन स्वरेण क्रमेणैव ज्ञेयम् । क ख ग घा नामन्यतमाक्षरेण एकारेण युक्ते धातुयोनौ लभ्यायां त्रपु ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

च छ ज झ य र ल व एसु य, रयय बीयस(स्स)रसत्तमेसु च ।
अणुणासिए य वितीए, छट्ठे य सरे [प ५९ पा १] हवइ सीसं ॥ ११० ॥

च छ ज झ [य] र ल व षु च प्रश्ने बहुत्वे(लि)ष्वेषामेषामन्यतमाक्षरे द्वितीयस्वरेण सप्तम स्वरेण च युक्ते धातुयोनौ लभ्यायां रजतं ज्ञेयम् । च छ ज झ [य] र ल वेषु च,[ए]षामन्यतमाक्षरा(र)बहुले प्रश्ने अनुनासिके च द्वितीये धातुयोनौ लभ्यायां अ(ष)कारेण च युक्ते शीसकं ज्ञे[प ६ पा १]यम् ॥ ११० ॥

ट ठ ड ढ ई कारस्सि(म्मि) य, तय कसं पुण त थ द ध(धे)सुं च ।
प फ ब भ णवमे य सरे, पउत्य अणुणासिए आर ॥ १११ ॥

ट ठ ड ढ(ण)नामन्यतमाक्षरबहुले प्रश्ने चतुर्थस्वरेण युक्त धातुयोनौ लभ्यायां ताम्र(म्र)मादेश्यम् । तथा इमो(मौ) त थ द धा नां पञ्चानां बहुले प्रश्ने, त थ द धा नां वाऽन्यतमाक्षरे [प ६ पा २]ण चतुर्थस्वरेण युक्त कांस्यमादेश्यम् । प(प) फ ब भ इत्येषां पञ्चानामन्यतमाक्षर बहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमाक्षरेण नवमस्वरेण अ(ओ)कारेण युक्ते धातुरादेश्य आरं अथ रीतिका महलोह वा ॥ १११ ॥

हत(व)इ मकारे लोह, दसमसरे अट्ठममि धग्गमि ।

एते उ धम्मभेया, अधम्मभेया इमे योच्छा(च्छ) ॥ ११२ ॥

मकारेपयुक्ते प्रश्ने शकारोऽष्टमा(मा)क्षर(रः) तद्युक्ते च, औकारः दशमः स्वरः, तेन यु युक्ते मकारे शकारे वा धा

*न पवालं हेममातिण्णो(?मोत्तिय) ।

रतमाण(स मणि च)काय सीसट्ठाण चाय(च?) नीसास(र) ॥ ११३ ॥

अयाम्यधातुयोनौ छायायां रजताक्षरा ये ककारेषु दृष्टेषु मौक्तिकं प्रष्टव्यम् । सुवर्णाक्षरा ये टकारेषु दृष्टि(दृष्टेषु?) स्वराश्च येऽभिहिता तेस(ष्व)धाम्यधातुयोनौ छायायां प्रवालक वक्तव्यम् । कसाक्षरा येऽभिहिता स्वरयुक्ते(क्ता) आ(अ)धाम्यधातुयोनौ छायायां तेषु मणयो निसा(स्सा)रा ज्ञातव्याः । कायमाविका येऽक्ष(ऽक्ष)रेषु सीसकं प्रष्टव्यम् । तेष्वेव अधाम्यधातुयोनौ छायायां निःसा[राम]मणयो वि[म]ल्लकादयो विज्ञातव्याः ॥ ११३ ॥ [प ११ पा २]

॥ धातुप्रकृतिः समाप्ता ॥

धम्ममि दिट्ठपुव्वे, [घडियम]घडिय च तत्थ णायव ।

दुविहं च होइ त पुण, णाणय अण्णाणय चेव ॥ ११४ ॥

धाम्यधातौ दृष्टे तद् घटितमघटितं चेति । यच्च घटितं त[द्] द्विविधम्—केयूररूपक- प्रभाति, यत्तद(च्च) [नाणकम्] । अनाणकम्—कुंडलनूपुररसनाकेयूरकटकादिकम् ॥ ११४ ॥

दिट्ठमि णाणयमि [प १२ पा १] य, सम्मिस्सं होइ [तह य] उम्मिस्सं ।

इतर पि होइ दुविहं, आहरण भायणवि[य]प्प ॥ ११५ ॥

अक्षरसम्प्रधातके (अप्यधिके?) प्रधुरादौ नाणके । तद(च्च) नाणकं द्विविधम्—मिश्रमभिश्र चेति । तत्र मिश्रं सुवर्णरजताभ्यां मिश्रितं(मिश्रिमिरिव?)रेषां द्वयेन वा यत् क्रियते तन्मिश्रम् । परसुवर्णेनैकेन रजतेन वा क्रियते नाणकं तदमिश्रम् । सुवर्णा[प १२ पा २]दिद्विविधं भांजन- (ष्टा?)थमाभरणं चेति ॥ ११५ ॥

आभरणमि य दिट्ठे, त दुविहं देवमाणुसाभरण ।

हिट्ठमि(ट्ठिम)उवरिमकाए, एक्केक त पुणो दुविहं ॥ ११६ ॥

अक्ष[र]नाभेनाभरणं यद् दृष्टं तद् द्वि[वि]धमाभरणं दैवाभरणीसानुषादरणाकारा (दैवा- भरणं मानुषाभरणं वा ।) तत् पुनर्द्विविधम्—एकैकम्—अधःकाय(यि)कं उपरिकायिकं चेति । तदुपरिष्टा(ष्टि)दोषत[ः] कथयिष्यामः ॥ ११६ ॥

पसुय-मपुयय(मपशुय) वा, एक्केक त पुणो दुहा होइ ।

पयोविए वि दिट्ठे, मोत्तिय-माणिक्क-उम्मिस्सा[1] ॥ ११७ ॥

---

* अत्र मूलगाथायां एव मौक्तिकं वैविध्यरत्नानां मिश्र...ऽप्यत्र याथाकाशिकास्तत्र मिश्रम् नामान्येवात्र तत्प्रदत्त प्रश्नः पाठो मिश्रः ।

[1] अत्रैव मौक्तिकं अन्यमिश्रम् ‘...’ इति मुद्रितप्रत्यये दृश्यते ।

मि ए ४

हरियालमब्भपडल, [प ५८ पा २] मणसि(स्सि)ला पारय च बोधव ।
तह य(चु)ण्णपारदो वि य, मट्ट(ट्टि)यभेदा मुणेयव्वा ॥ १०६ ॥

हरितालम्, अभ्रपट(ट)लम्, मनःसि(शि)ला, पारय(द), चूर्णपारद(द) । मृत्तिकाभेदाः पञ्च । तत्र चूर्णपारद(द) इति द्वितीयपार[द]स्यापि चूर्णाकारं द्रष्टव्यम् ॥ १०६ ॥

पञ्चक्खरेहि एते, णायव्वा जे जहा समुदि(द्दि)ट्ठा ।
अक्खरोत्तरक(क्क)मेण व, सणामनिद्दो(द्दे)सतो यावि ॥ १०७ ॥

प्रभाक्षरैरेतैर्पञ्चोक्ता भेदा विशेषाः । यथा(था) यथा प्रधान्य(नता)प्रधानता उत्तराधर क्रमेण ज्ञेया । स्वस्वनामनिर्देश इति ॥ १०७ ॥

ख छ ठ थ फा घ झ[ढा] वि य, दिट्ठे धाउमि होइ धम्मासो ।
अट्ठक्खरा उ एते, सेसमधम्मख(क्ख)रा सव्वे ॥ १०८ ॥

ख छ ठ थ फा(फ) घ झ ढा नामेषा[मक्षरा]णां बाहुल्येन धातुयोनौ लभ्यायां धातु(र्धे)ध-म्य(र्म्यो) धात्वः । शेषास्तु [प ५९ प १] ‘य घ घ भ ष ढा’ इत्येते पट् गृह्यन्ते । ना(ता)न्येव धातुयोनौ लभ्यायां यथा यथा बाहुल्येन धातुराख्य आदेश्य इति ॥ १०८ ॥

पढमेकारवररस(रसवार)समसरे य कणय तु क ख ग घेसु च ।
पचट्ठमयसरेसु, पढमेऽणुणासिए य तउ ॥ १०९ ॥

पढ(प्रथ)मस्वर अकारः, एकादशस्वरः अकारः सानुस्वारः, अकारः सविसर्गो(र्गो) द्वाद स(श)स्वरः । एतद्युक्ते प्रश्ने धातुयोनौ लभ्ये कनकं ज्ञेयम् । क ख ग घ(घा) नामन्यतमस्योपरि गतो(ते)नैतेषामन्यतमेन स्वरेण कनकमेव ज्ञेयम् । क ख ग घा नामन्यतमाक्षरेण एकारेण युक्ते धातुयोनौ लभ्यायां त्रपु ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

च छ ज झ य र ल व एसु य, रयय बीयस(स्स)रसत्तमेसु च ।
अणुणासिए य बितीए, छट्ठे य सरे [प ५८ पा १]हवइ सीसं ॥ ११० ॥

च छ ज झ[य]र ल वे पु च प्रश्ने बहुल्ये(ले ?)ष्वेषामेवान्यतमाक्षरे द्वितीयस्वरेण सप्तम-स्वरेण च युक्ते धातुयोनौ लभ्यायां रजतं ज्ञेयम् । च छ ज झ [य] र ल वे पु च,[ए]षामन्यतमाक्षर-(रे)बहुले प्रश्ने अनुनासिके च द्वितीये धातुयोनौ लभ्यायां ष(छ)कारेण च युक्ते सीसकं ज्ञे[प ६ प १]यम् ॥ ११० ॥

ट ठ ड ढ ई कारम्मि(म्मि) य, तय कसं पुण त थ द ध(धे)सु य ।
प फ ब भ णवमे य सरे, चउत्थ अणुणासिए आर ॥ १११ ॥

ट ठ ड ढ(ढा)नामन्यतमाक्षरबहुले प्रश्ने चतुर्थस्वरेण युक्ते धातुयोनौ लभ्यायां ताम्र(म्र)-मादेश्यम् । तथा इमो(मौ) त थ द धा नां पञ्चानां बहुले प्रश्ने, त थ द धा नां माऽन्यतमाक्षरे [प ६ प १]ण चतुर्थस्वरेण युक्ते कसमादेश्यम् । प(प) फ ब भ इत्येषां पञ्चानामन्यतमाक्षर बहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमाक्षरेण नवमस्वरेण ष(ओ)कारेण युक्ते धातुरादेश्य आरं अथ रीतिका पद्कोर्द वा ॥ १११ ॥

घाउस्सराणुणासी, छिद्दा णिढि(च्छि)द्द सेसया यण्णा ।
छिद्देसु जाण छिद्दे, णि(मि?)स्सेसु य खुम्मिय दी(द)व ॥ १२४ ॥

धातुस्वरे द्वौ वकारो(र ऊ)कारौ, ङ ञ ण न माः पञ्चानुनासिकाः, छिद्रा[ः] । प्रथम[प १५ पा २]वर्गः तृतीयवर्गप्रान्त्या(न्त्या?) याणाचेया(परछया?) वर्णा(र्णा?) मि(छि?)द्रा ये च ग्रहण्या[ः] । द्वितीय चतुर्थवर्गौ निछिद्रो(द्रौ) ग्रहण्यौ । छिद्राक्षरबहुले प्रश्ने छिद्रे(द्रो) धातुरादेश्यः । घना-क्षरबहुले घन(नः), छिद्राछिद्रेषु मिश्रेषु दृष्टेषु खुमिर्वं धातु ग्रम्यमादेश्यम् ॥ १२४ ॥

॥ धातुयोनिः समाप्तः(प्ता) ॥

रुक्खा(क्खा) ग(गु)च्छा गुम्मा, लया य वल्ली य पव्वया चेव ।
तण[प १६ पा १]वलय-हरित-ओसहि-जलरुह-कुहणा भवे मूले ॥१२५॥

वृक्ष-ग(गु)च्छ-लता-गुल्म-वल्ली(ल्ली)-पर्वक-तृण-वलय-हरितौ-षधि-जलरुह-कुहणा इति मूलभेदा द्वादस(श) ॥ १२५ ॥

एगट्ठिय बहुवीया, रुक्खाण चेव होंति दो भेदा ।
सेसा वि ग(गु)च्छमादी, वण्णाण कमेण णायव्वा ॥ १२६ ॥

तत्रैकास्थि-बहुबीजाश्च द्विविधा वृक्षा भवन्ति । शेषा अपि [प १६ पा २] ग(गु)च्छाद्या वर्णाक्षरप्रमाणादिभिरनुक्रमेण ज्ञातव्या[ः] ॥ १२६ ॥

तय-मूल-कंद-साहा-पल्लव फल-कुस(सु)ममेव णिज्जासो ।
रस-छीर-पसाहाओ, [य] मूलजाईम(सु) भेयाई(?) ॥ १२७ ॥

त्वग्-मूल-स्कंद(ध)-शाखा-पल्लव-फल-कुसुम-बीज-रस-भेदाश्च मूल-जातिषु विशेषाः । को गुणभेदः ? । सुरभि[ः][प १७ पा १] दुर्गंधिश्चेति । को वा रसनेषा (भेदः ?) मधुर-लवण कटुक-कषायाम्लसमः ॥ १२७ ॥

ग(गु)च्छा बहुप्पयारा, कप्पास-करीर-पुप्फग(गु)च्छा य ।
गुम्मादिया य जाती-कुज्जय-कणवीर-वल्ली य ॥ १२८ ॥

ग(गु)च्छा बहुप्रकाराः । के ते ? कप्पा(र्पा)स-करीर-पुष्पग(गु)च्छाश(श्च) । के पुष्प ग(गु)च्छा भण्यन्ते ? । ये पुष्प केवलं प्रय[प १७ पा २]च्छन्ति न च(च) फलं ददन्ते । तत्र गुल्म(ल्मा) जाति(ती) कुब्जका कणवीरं मल्लिका चेति ॥ १२८ ॥

चपय-असोय-चूया, कुवलयाओ य होंति त्रिविहाओ ।
तंबोल-लवलि-पिप्पलि-मिरिया वि य होंति क(व)ल्लीओ ॥ १२९ ॥

चंपकासो(शो)कचूता लतासंज्ञकाः । कुवलयं लतासंज्ञः । तांबो(ताम्बू)ल-पिप्पलि-मरीचाद्या वल्ल्याः(ल्ल्यः) ॥ १२९ ॥

दूर्वा(दुब्बा)कुसतणवव्वपय(?)यवसालिकगुगोधूमादीया ।
जलसंभवा य हरिया, गवेणुयादि मुणेयव्वा ॥ १३० ॥

दूर्वा-कुस(श)-तृण-वल्वज(?)-वन-सा(शा)लि-कङ्गु-गोधूमाद्याः तृणसंज्ञा[ः] । अन्येऽपि तृणा एव । हरितसंज्ञाश्च गंधेलुकाद्या वेसिकाः ॥ ११० ॥

वलया साहा विडवा, वल्कवलसरलधम्मणा(मा)दीया ।
तिलमुग्गमासपचण[प १८ पा १] या[इय ओ]सहिओ मुणेयव्वा ॥ १११ ॥

वल्ला(ल्ल)या शाखा म(प)ल्लव कंदल-सरल-धम्मनाद्या तिलमुद्गमाषचणकाद्या ओषधयः ॥ १११ ॥

पउम(मु)प्पलकुमुयाई, से(से)वालकसे(से)रुया य जलपत्तुणा ।
मो(नाणा?)विहा य अण्णा, सिंघा[ड]गवल्लि(वल्लि)यादीया ॥११२॥

पद्मोत्पलकुमुदसेवालकसेरुकाः नमो(नाना?)विधाश्चान्ये शृंगाटकवल्ल्याद्या जलज ॥ सेवकाः ॥ ११२ ॥

हो(हो)त्ति कुहणा अबीया, वसुधार(धाए?) संभवा य जे अण्णे ।
तत्थ कुहणा च(व) इयरे, भूमीरसकदली उप्फु ॥ ११३ ॥

अबीजाः प्रावृट्(ड्)काल आसन्ने वसुधा यतो(लि) पवाम्ब[र]सं गृहीत्वा वर्ष(र्षे)भवाच्छत्रका[ः] कुहणा[ः], अपरेऽपि वसाद्भवो ये वसधान्ये कुर(हु?)संज्ञा[ः] भूस्यमेति ॥ ११३ ॥

इक्खण-वेणुय-वेता-सरकंडसयगपव्वगे हे(णे)या । [प १८ पा २]
बारसविभास(धा य) मूला, कहिया जिणसासणंमि सया ॥ ११४ ॥

इक्षुवेणुवेत्रसरकांडैर्गंगाश्च नलशालि(?) मण्यन्ते । एते पर्वगं(वंग?)संज्ञाः । पर्वणि पर्वस्थ्यकेभ्योऽन्ये(गे)भ्य उत्पद्यन्त इति पर्वगाश्च मण्यन्ते । द्वादश(दश)विभासि(नि) मूलानि(नि) कथितानि जिनशा(शा)स्त्रे ॥ ११४ ॥

मूला कंदा य तया, साह य(प)वाला य तह य पत्तफलं ।
पुप्फाणि य [बीया]णि य, जाणिज्जा ज जहिं कम्मइ ॥ ११५ ॥

मूल-कंद-त्व[क्-]शाखा-प्रवाल-पत्र-फल-पुष्प-बीजा[नि] [प १९ पा १] संज्ञानीति । यथा यच(दु)[प]दिश्यम(इ)स्यति ॥ ११५ ॥

भक्खाऽभक्खा य पुणो, भ[क्खा] तित्ताकिया य पव[र]मा(सा) ।
गामारण्णा जल-थलय पहाणा अप्पहाणा य ॥ ११६ ॥

भक्ष्या अ(भ)भक्ष्या(क्ष्या) विविधाश्चैव । तत्र भक्ष्या(क्ष्या)तिक्त(क्त)कटुककषायाम्लमधुराः पञ्चरसाः । ग्राम्या आरण्याश्च । पुनरपि(हि)विधा जलजाः स्थलजाश्च । प्रधाना [अप्रधाना]श्चेति ॥ ११६ ॥

पञ्चक्खमरेहिं एते, णायव्वा जे जहा समुदि(दि)ट्ठा ।
अधरुत्तरक्क(क्क)मेण य, सणामणिदे(दि)सओ आवि ॥११७॥ [प १९ पा १]

ये यथा वक्ष्यते तथा उत्तराधर(र)स्थाने क्रमे मधुरमात्रा[ः] स्निग्धस्वच्छा(?) सुगंधिनः सुरभीविपुला इष्टाः । अपराधरस्थाने क्रमेऽपि एवं पूर्वोक्त अल्पमात्रा इष्टा(ईष्या)दुर्गंधाः

मीरसाः ह्रस्वाश्च भवन्ति । तैरेव अक्षरै[ः] याव[द्]ज्ञेया याव[द्] नामनि(नि) दष्ट इति [प ७ पा १] ॥ १३७ ॥

॥ मूलभेदाः समाप्ताः ॥

संजुत्ते फलमेदे, खाघण्णे रिक्ख(क्खर?)मि णिप्फु(प्फ)ला भणिया ।
उवरिल्ले उवरिल्ला, अघरा [अ]घरेसु नायव्वा ॥ १३८ ॥

संयुक्ताक्षरबहुले प्रश्ने सफला वृक्षा ज्ञातव्याः । के ते संयुक्ताक्षराः ? क्ख च्छ ट्ठ त्थ प्फ ग्घ ज्झ ड्ढ द्ध ब्भ स्व इत्येते । [प ७ पा २] ह्रस्वस्वरैश्च(र्य)ुक्तैरिक्षरै(रैः) सफला वृक्षाः । उवरिल्ले उवरिलाक्षरैरुत्तराक्षरैरित्यर्थः । तैरक्षराणामुपरिगतैर्(तैः)ऐ(ए)कारादीनामुपरि भागे फलं इत्यादेश्यः(इयम्) । अधराक्षरैः उत्तराक्षराणामुपरिगते दृष्टे इत्यादि(दी)नामधोभागे फलं वक्तव्यम् ॥ १३८ ॥

पढमे नवमे य सरे, कन्चाविवग्गमि चेव रुक्खाओ ।
बितिय-दसमे य सरे, लताओ ख छ ठ क्खरेसु च ॥ १३९ ॥

ककार चकारबहुले प्रश्ने [प ७१ प १] ककारस्य चकारस्योपरिगते अकारे ओ(ओ?)कारे वा अन्यतरस्मादतो वाऽनन्तरमवस्थिते वृक्षा ज्ञेयाः । ख छ ठ बहुले प्रश्ने ख छ ठा नामेकस्मिन् द्वितीयेन आकारेण दशमेन औकारेण वा युक्तेऽप्यतोवाऽनन्तरमवस्थितानामन्यतरस्य लता[ः] प्रत्येतव्याः ॥ १३९ ॥

थ फ र स एसु वल्ली, तण च धातुस्सराणुणासीया ।
चउरट्ठमबारसमे, सरंमि ग(गु)च्छा य घ झ ढे सु ॥ १४० ॥

थ फ र स(पौ) [प ७१ प १]बहुले प्रश्ने वल्ली । ङ ञ ण न माक्षरबहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमे धातुस्वरान्यतमयुक्ते तेषामेवान्यतमस्या(स्मा)दतो वाऽनन्तरमवस्थिते धातुस्वरे तृणं ज्ञेयम् । धातुस्वराः ॠ ऌ ॡ । घ झ ढ बहुले प्रश्ने घ झ ढा नामेकस्मिश्चतुर्थ(र्थे)नाष्टमेन द्वादसे(शे)न वा स्वरेण युक्ते घ झ ढा नामेकस्मादतो वाऽनन्तरमवस्थितेन ग(गु)च्छा ज्ञेयाः ॥ १४० ॥

गुम्मा य घ म ष हे सु, ग ज डे वलया हु णवम-तइएसु ।
सत्तमसरे सह ओ[सहीओ]भणिया द ध [ल] से सु ॥ १४१ ॥

घ स (म) ष ह बहुले प्रश्ने गुल्मा भवति(न्ति) । ग ज ड [प ७२ पा १]बहुले प्रश्ने ग ज डा नामेकस्मिन्नवमस्वरेण औकारेण तृतीयेन इकारेण वा युक्तेन ग ज डानां त्रयाणामेकस्मादतो वाऽनन्तरमवस्थितेन वलया ज्ञेयाः । वलयग्रहणे च ताल-खजू(र्जू)र-पूगफल-वृक्षादय उच्यन्ते । द ध ल स बहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमेन सप्त[म]स्वरेण एकारेण युक्ते एतेषामेवान्यतम्य(म)स्मादतो वाऽनन्तरमवस्थितेन सप्त[म]स्वरेण ओषधयः प्रत्येतव्याः ॥ १४१ ॥

॥ एष मूलयोनिः समाप्ता ॥

जीवक्खरेसु मूल, जीव मूलक्खरेपु(सु) सु(धु)ट्ठेसु ।
मुट्ठीए नायव, धातु [प ७१ प १] धाउख(क्ख)रेसु च ॥ १४२ ॥

अनया गाथया योनिप्राप्तमा(प्रभमे)यमुच्यते । इदानीं प्रत्येकमागतस्वरयुक्तेषु जीवाक्षरा-येऽभिहता[ः] तेषु संख्यापितेषु मूलं ज्ञेयम् । [मूला]क्षरा येऽभिहतास्तेष्वपि संख्यापितेषु मुष्टौ जीवो ज्ञेयः । धात्वक्षरा येऽभिहतास्तेष्वप्यभिकृसंख्येषु मु(मु)ष्टौ धातु ज्ञेयम् ॥ १४२ ॥

जीवक्खरेसु मूल, उत्तरसरसज्जुएसु मुट्ठीए ।
अध[र]सहिए[सु] धाउ, जीवं च समावदीहेसु ॥ १४३ ॥

युताः स्वरसहिता[ः] । के ते उत्तरस्वराः ? 'अ इ ए ओ' एते चत्वारः । त एव जीवाक्षरा(रैः) युक्ता मुष्टौ मूलं कुर्वन्ति । एते स्वरा जीवाक्षरा अधरस्वरसंयुक्ता मुष्टौ धातु कुर्वन्ति । कोऽसौ(कौ तौ च)धरस्वरे(रौ) ? । 'आ अः' इत्येतौ द्वौ । तान्यो युक्त(क्ते)ते । त एव जीवाक्षराः समाव-दीर्घस्वरैर्युक्ता मुष्टौ जीवं कुर्वन्ति । के ते समावदीर्घाः स्वराः ? 'ई ए(ऐ) औ' इत्येते स्वराः ॥ १४३ ॥ [प ७१ प १]

अहरस्सरसंजुत्ता, मूलं धाउक्ख(क्ख)रा उ मुट्ठीए ।
उत्तरसरसंजुत्ते, धाउ धातुख(क्ख)रेसु य ॥ १४४ ॥

धातु(त्व)क्षरा अधरस्वरसंयुक्ता मुष्टौ मूलं कुर्वन्ति । अधरस्वराः 'आ ई [ऐ] औ' इत्येते चत्वारः । धात्वक्षरा उत्तरस्वरैर्युक्ता मुष्टौ धातु कुर्वन्ति । के ते उत्तराः ? 'अ इ ए ओ' एते उत्तराः ।

"अधरस्सरसंजुत्ता मूलं धाउक्खरा उ मुट्ठीए । सेसा उ अधर थासं धाउं धातुक्खरे धाउ" ॥

पाठान्तरं वा । मात्रा उत्तम एव 'अ इ ए ओ' ॥ १४४ ॥

इदानीं मूलाक्षरेषु मासिद्ध(रु)च्यते । [प ७१,प १]

अहरस(स्स)रसंयु(जु)त्ते, धाउ मूलक्खरेसु मुट्ठीए ।
उत्तरसहिए मूल, जीव सहावदीहेसु ॥ १४५ ॥

अधरस्वरे । के(कौ)तौ ? 'आ अः' इत्येतौ द्वौ धातु ज्ञेया भवति । उत्तरा 'अ इ ए ओ' धातुमूलाक्षरसहि(हि)तेषु मूलं ज्ञेयम् । मूलाक्षरा मुष्टौ जीव कुर्वन्ति । के ? समाव दीर्घाः 'ई ऐ औ' इत्येते त्रयः ॥ १४५ ॥

हिट्ठम्मि म(अ)धोमत्ते,[प० ७४ प १] धाउ मूलक्खरा उ सुट्ठी(मुट्ठी)ए ।
सेसासु(उ) सव्वमत्ती(त्ता), करन्ति(न्ति) मूलक्खरे जीव ॥ १४६ ॥

मूलाक्षरा अधोमात्राभियुक्ताः । का अधोमात्राः ? समावदीर्घस्वरयुक्ताः मुष्टौ जीव कुर्वन्ति धातुकत्वात् । शेषाः सर्वमात्राः । काश्च ताः सर्वमात्रा उत्तम एव 'ऐ औ(ी)' एतावित्स वान्ये(न्या ए)व गृह्यते(न्ते) । "सेसवियप्पा जहा पुव्वं"इति वचनकमेतत् । धातु-[प ७४ प १] जीव-मूलनामस्मरणमेऽस्मिन् दृष्टे द्वाभ्यां त्रिसृणां वा युग्मानां नामाक्षराण्य(ण्य)संखे(ख्ये)या

मिथ्यात्वसुखया(?) द्रव्यरूपत्वप्राधान्यं ज्ञात्वा शेषे प्रपञ्चधातु-धान्याधान्यविकल्पात्मिकः जीवोऽत्र(प्रश्न)-द्विपदो वा द्विपदान्यतमस्य मूल वृक्षगुच्छगुल्मलतादिकं एव समर्पयेत् विज्ञाय मुष्टौ यथाऽऽदेशः कार्य इति ॥ १४६ ॥

॥ मुष्टिविभागप्रकरणं समाप्तम् ॥

दो दीह वट्टदीहा, वट्टो तसो य वट्टदीहा वि ।

[अत्र व्यस्तौ तु वट्टो दीहो वि तसो य' एतदक्षो द्वितीयपदस्थो प्रतपाठे दृश्यते ।]

चतुरस्सो वि य वट्टो,[प ७५ पा १]होइ तह यायणावि(ता वि?)ण्णि॥१४७॥

अकार इकारश्च द्वौ ह्रस्व(?)दीर्घौ । आकारश्च ईकारश्च द्वौ [वृत्त?]दीर्घौ । उकारो वृत्तः । ऊ(ऋ)कारस्त्र्यस्रः (त्र्यस्रः) । एकारश्च ओकारश्च पुनर्द्वौ वृत्तदीर्घौ । ऐकार औकारश्च दीर्घौ । अंकार अः सविसर्गः दीर्घचतुरस्रे(स्रौ) । मतान्तरेण चतुरस्रेषा (चतुरस्रावेव) । एतेषां मध्ये ॥ यस्य बाहुल्यं तेन तद्वानीयम् । पूर्वनिर्दिष्टा दीर्घा विज्ञेय(याः) ॥ १४७ ॥

दीह(हा) वट्टा तसा, चतुरसा आय(या?)ता य संठाणे ।

क-खमादिणो य वग्गा, मीसामीसेसु [प ७५ पा २] नायव्वा ॥ १४८ ॥

क च ट त प य शाः सप्त दीर्घाः । ख छ ठ थ फ र षाः सप्त वृत्ताः । ग ज ड द ब ल साः सप्त त्र्यस्रा(स्राः) । घ झ ढ [ध] भ व हाः सप्त चतुरस्राः । ङ ञ ण न माः पञ्च दीर्घचतुरस्राः । ॥ प्रश्नाक्षराणां मध्ये यस्याक्षरबाहुल्यं भवति तेन तद्[व]स्तु निर्देश्य(श्यम्) । वृत्तदीर्घाक्षरस्तु यदि बाहुल्येन दृश्यते तदा वृत्तदीर्घवस्तु निर्देश्यः(श्यम्) । एवमन्येऽपि मिश्रा ज्ञेयाः ॥ १४८ ॥

पढम-तइया य छि[प ७६ पा १]द्दा, सीया य वणोसिणा अ पि(बि) चउत्था।

पचमओ पुण वग्गो, होतिदोसु (उण्होछिद्दो?) या(य घा?) मीसो ॥१४९॥

प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गश्च, एतौ द्वौ छिद्रौ क-गादिकौ सी(शी)तौ च । द्वितीय चतुर्थौ ॥ ख-घादिकौ घनौ उष्णौ च । पञ्चमो वर्गो उष्णो घनछिद्रः । प्रश्ने एतेषां येन बाहुल्यं तेन निर्देश[ः]कार्यः ॥ १४९ ॥

दो सेया धूमलओ, रत्तो चित्तो य किण्हवण्णो य ।

ये ठ(ए ओ) य पुणो सेओ, दो नीला पीयला [प ७६ पा २] चरिमा॥१५०॥

अकार इकारश्च द्वौ वर्णौ श्वेतौ । आकारो धूम्रः । ईकारो लोहितः । उकारश्चित्रकः । ॥ ऊकारः कृष्णः । एकार ओकारश्च द्वौ श्वेतौ । ऐकारो नीलः । औकारो(रः)पीत(मी)लः । एवं अं अः पीतौ । प्रश्ने एतेषां मध्ये यस्या(स्य)क्षरबाहुल्यं भवति तेन वर्णनिर्देश[ः] कार्यः ॥ १५० ॥

सेया किन्हा रत्ता, नीला तह पीयला य वण्णेण ।

कखमादीओ वग्गा, मीसा मीसेसु णायव्वा ॥ १५१ ॥

कादिवर्गः श्वेतः । खादिवर्गः कृष्णः । गादिवर्गो रक्तः । घादिवर्गो नीलः । ङ ञ ॥ ण न माः पीतकाः । एतेषां यस्याक्षर बाहु[प ७७ पा १]ल्यं प्रश्ने [तस्य वर्ण]निर्देशः कार्यः॥१५१॥

सुरमी मद्दो सुरभि(भी), मद्दो सुग(दुग्ग)धिया तहा दोण्णि ।
सुरमी मद्दो सुरमी, [मद्दो] दुग्गधियो सुरमी ॥ १५२ ॥

अकारः सुरभिः । आकार ईषत्सुरभिः । इकारः सुरभिः । ईकार ईषत्सुरभिः । उ ऊ द्वौ दुर्गंधी । एकारः सुरभिः । ऐकारोऽप्यसुरभिः । ओकारः सुरभिः । औकारोऽप्यसुरभिः । अं दुर्गंधिः । [अः सुरभिः] । प्रश्नाक्षराणां मध्ये सुगंधिस्वरबाहुल्यं भवति तदा सुगंधफल-कुसुमादिकं ज्ञेयम् । दुर्गंधाल्पे(धीष्वे)वमेव ॥ १५० ॥

सुरमी क-गादियग्गो, गगा(ग-जा)दिवग्गो य तह य नायव्वो ।
सेसा [प ७७ पा २] तिण्णि वि वग्गा, दुग्गधिय(धं)जणा होंति ॥ १५३ ॥

क-गादि[ग-जादि?]वर्गौ द्वौ सुरमी । शेषवर्गत्रयं ट-प्रादि दुर्गंधि । प्रश्ने एतेषां बाहुल्ये पूर्व[व]त् सुगंधादयो ज्ञेयाः ॥ १५३ ॥

एतस्मिन्नेवार्थे संवादकारिणो(ण्यः) अन्यमतस्य गाथा लिख्यन्ते । तद्यथा—

दो कम्मा(इ) दो सीहा, [दो संखा दो य होंति चउ]रंसा । दोण्णि य होंति तिकोणा, दो वह(वट्ट) जाणि नायव्वा ॥
'अ इ'चउरं 'ऍ ई' सीहा 'उ ए' ले(ते)सा 'ऊ ऐ' चउरंसा ।
'उ(ओ) औ'तिकोणा । 'अं अः' वट्टि(वट्टा) नायव्वा ॥ १ ॥ [प ७८ पा १]
वहे बाल सुवण्णं सीहेसु कणयं वियाणाहि । संखेण होइ सुवण्णं(रुप्पं?) चउरंसे कंसयं जाण ॥ २ ॥
तिकोणा(णेहि)हि य तिवका(ड) लोहं, तउयं सीसयं च सिसेहि । [आदर्शे 'सिसेहि नायव्वं' इति पाठः]
वहे(वट्टे)सु होइ इ(सु)वर्ण सीहेसु कप्परयं च नायव्वं ॥
संखेसु होइ रुप्पं कसु(त)म्मं होइ चउरंसे ॥
तिको(णो)णेहि य पंसं सीसं नायव्वं य वस्सि ।
वहेसु होइ गुम्मा, सीहेसु कया सुनेयव्वा ॥
संखेसु होइ व्ही, चउरंसे कम(ण्ण)ं [प ७८ पा १] भणियं । [ज्ञायते?]
तिकोणेहि य सुक्कर्ण कर्णए (उवं कई) य होइ भणियं ॥ [पूर्णर्थः?]
जं जं नक्खमइ सरो तम्मा वण्णं तह जाणसामियहत्ते । तं तं नायइ नामं, केवलमिभकार वोन्हार ॥
कसवेसु मिहत्यं मज्झामहियसु चत्त(ज)रे जाण । विसुसहियसु चारं विसम्मसहियसु चारे(हे)रे जाण ॥
कंपरस[र]संडुले अक्षर तह पंजले सयोहमि । अक्षरतरसंठुले, चाहरल(ज)रे जाण समजमिह ॥
परवत्ताभिहएसं अवसमजमोहे वर्ण वुच्चं । कसवेसु अ नाये मज्झसहियसु जाण चवरेसु ॥
विदु सहियसु भई, [प ७९ पा १] विसमसहियसु चलसामो चि(?) ॥
दो अंगा दो इम्मा दो लोहा दो वहिता । दो इम्मा दो तिवाय् दो अमा मुवेयव्वा ॥
पोरवम्हार भरिया भरिजाल तह चेव जलमरियामि(?) ।
मरमान्न वे बहु, भरिया नायव्वा पोरवम्हार(?) ॥ अन्यमतस्य गाथान्तरम् ॥

पढमो णवमो य सरो, क-गादिवग्गो य सीय ल[हु]ओ [य] ।
कस(क्स)ह लुक्खा य घसा(स-धा?), विदियदसम वा[रस]सरो य॥१५४॥

प्रथमस्वरः अकारः । न(न)वम ओकारः । (क-गा)दिवर्णाः—क ख ग घ च छ ज झाः, ग ज ड द ब स सा अ(अ) । सी(शी)ता अपमाम । ट ठ ड ढ क ट पाः, प फ ब भ म य हाम । द्वितीयस्वर आकारः । दशम औकारः । द्वादशो अकारः सविसर्गः । एते कर्कशा(शा) रूक्षाम । एता-दृक्षानां प्रश्ने अक्षरा[प ७९ पा १]णाबाहुल्यं तदीयं सी(शी)तादिकं वाच्यम् ॥ १५४॥

तइओ [य] सत्तम(म)सरो, कमा(गा)दिवग्गो य मि(नि)द्धनिद्धाओ ।
लुक्खा उण्हा गरुया, खघा सरा य चउरट्ठमा दि(दो)ण्णि ॥ १५५ ॥

तृतीयः स्वर इकारः, सप्तम एकारः, क(क)गादिवर्गौ च द्वौ । एतेषां बाहुल्ये स्निग्ध-द्रव्यमादेश्यम् । ख[घा]विसर्गः, चतुर्थस्वर ईकारः, अष्टम ऐकारः । एते रूक्षाः उष्णा [गुरुकाः ।] एतदक्षरस्वरबाहुल्येन तद्भवति ॥ १५५ ॥

धातुस्सरा य दोण्णि त्ति, पञ्चम(यी) अणुणासिया मउअ सीदा ।
धामिस्सा पुण सव्वे, मिस्सामिस्सा मुणेयव्वा ॥ १५६ ॥

धातुस्वरौ 'उ ऊ', पञ्चानुनासिकाः, सर्वतः सी(शी)तभावाः । मि[श्र]स्वराक्षरै[ः] भाजिग्धो न(ना?)स्थो(स्त) आदेश्यः । मृदु-कर्कशा(शा)क्षरेण(णा?) मृदु-कर्कशो(श) आदेश्यः । [प ८ पा १] उष्ण-सी(शी)ताक्षरै[ः] न उष्णो न सी(शी)त आदेश्यः । यथोक्ताक्षरबाहुल्येनैतद् भवति ॥ १५६ ॥

तित्तो कडुय कसाओ, अंबो(बो) महुरो य आणुपुव्वीए ।
को(का)दीण वग्गाण, सरपरिमाण(णो) मुणेयव्वो ॥ १५७ ॥

कादिवर्गो तिक्तः । गादिवर्गो(गः) कटुकः । कादिवर्गः कषायः । मादिरम्लः । कादि-वर्गो मधुरः । अनयोरानुपूर्व्या यथोक्तवर्गोऽक्षरबाहुल्ये स(स्वर)परिणामो(मणो) वाच्यः । एवं वर्गाणां स्वराणां संस्थाने च ॥ १५७ ॥

॥ वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शप्रकरण समाप्तम् ॥

वितिय चउत्थो य सरो, पढमो अणुणासिओ चयज(क ख ग)घा य ।
एते व(अ)ग्गेईए, अकगा पुव्वसा तिण्णि ॥ १५८ ॥

'च(क) ख ज(ग) घ ङ(ङ)' इत्येषां पंचानां अन्यतमबाहुल्ये आ(आ)कारेण इ(ई)कारेण वा युक्ते एते[प ८ प १]मामभवो वाऽनन्तरमवस्थिते आकारेण इ(ई)कारेण वा आग्नेयो(य्यां) दिशिगद् वस्तु विज्ञेयम् । अकगाक्षरबाहुल्ये अकारेण इकारे[ण वा युक्ते]ष्वभे पूर्वस्यां दिसि(शि) तद् वस्तु विज्ञेयम् १५८ ॥

ट छ ढ(घ छ ज)झ तइओ य सरो, वितिओ अणुणासिओ य जम्माए ।
अट्ठमसरो प(य) ट ठ ड ढ, हवसि णं(ण)कारो य णिरईए ॥ १५९ ॥

ट ठ ड(घ छ ज) झाक्षरचत्वारोऽक्षराः, तृतीयस्वरः इकारः, द्वितीयानुनासिकश्च ञ(ञ)कारः । एतैः पूर्वोक्तन्यायेन याम्यायां दिशि तद् वस्तु विज्ञेयम् । अष्टमस्वर एकारः, ट(ट) ठ ड ढा चत्वारोऽक्षराः, [प ८१ प १]णकारश्च(श्च) । एभिर्नैऋ(र्नैऋ)त्यां दिसि(शि) द्रव्यं से(शे)षं पूर्वोक्तन्यायेनेति ॥ १५९ ॥

अघरेण सत्तमसरो, चउत्थ अणुणासिओ अ प थ(त थ द)धा य ।
दसमसरो सप(म)कारो, अघरुत्तरतो फ भ म मा(प फ य मा) य ॥ १६० ॥

यथधघाय(दमपधन)बहुले प्रश्ने एतेषामेवान्यतमस्वामवो ओ(ए)कारेण युक्ते एषामेवान्यतमस्वामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन एकारेण पश्चिमायां दिसि(शि) द्रव्यं ज्ञेयम् । धफब(पफबभम)बहुले प्रश्ने एतेषामेवान्यतमस्वामतो वाऽनन्तरमवस्थिते[न] ओकारेण वायव्यां ज्ञेया(यम्) ॥ १६० ॥

धातुरसा[प ८१ पा २]रा य स ष ह(हा), णायव्वा तह य उत्तरद(दि)साए।
चरिमो णवम्मे(मो)य सरो, ईसाणीए स र पा(य र ला)य ॥ १६१ ॥

धातुरसौ द्वौ व ऊ, स ष हा अ प्रयोऽक्षराः, एभिः पूर्वोक्तन्यायेन उत्तरस्यां दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् । चरिमो द्वौ अं अः । नवमस्वर ओकारः । य र पा (य र ला)श्च प्रयोऽक्षराः । एभिः पूर्वोक्तन्यायेन ऐशान्यां दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् । एष महत्य द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६१ ॥

॥ द्विपदादे(दि)द्रव्यस्य दिसि(शि)[प ८१ पा १]प्रकरण समाप्तम् ॥

उत्तरसरेसु गामे, जाणे अहरेसु बाहिरओ [य] ।
उत्तरसरसंजुत्ते, गेहे अहरक्खरेसु च ॥ १६२ ॥

उत्तराक्षरेषूत्तरस्वरयुक्तेषु यत्किंचित् पृ(प्र)ष्टा प(पृ)च्छति ग्रामे वर्तते ज्ञेयम् । एषां बाहुल्ये । उत्तराक्षराम पूर्वोक्ता एव । अधरस्वरसंयुक्तेषूत्तराक्षरेषु दृष्टेषु यत्किंचित् पृच्छति तद्(द्)ग्रामस्मिति वक्तव्यम् । एतेषां बाहुल्येन । उत्तरस्वरयुक्तेष्वधराक्ष[प ८२,पा १]रेषु यत्किंचित् पृच्छति तस्मि[न्]गृहे ज्ञेय पूर्वोक्त्ता(न्या)येन । उत्तरस्वराम पूर्वोक्ताः ॥ १६२ ॥

उत्तरसरसजुत्ते, अहरे त चेव होइ सयणघरे ।
परवग्गहए वग्गे, असयणवग्गो हवइ दव्वं ॥ १६३ ॥

उत्तरस्वरसंयुक्ते अधराक्षरे ज्ञातीहि स्वजनगृहे द्रव्यम् । परवर्गहते वर्गे द्रव्यं परगृहे असवर्णीतादेरयम् । आलिंगिताभिधूमितदग्धाख्येते वर्गोऽभिमन्थि । यथैते वर्गा [प ८१,प १] अभिमन्थि यथा पूर्वोक्तयानो(नो)पमिति ॥ १६३ ॥

जाणे सयारय(याम)गहए, अप(प्प)णगेहम्मि ठवियय(ठाविय) दव्व ।
परघग्गाभिहण्ण, सयणग(गि)हे हो(हो)ति त दव्व ॥ १६४ ॥

तत्र स्वराद्यगुरुवर्गो[प ८१ प १]ऽत्र यो भवति । क ट ग त प य श इ इ ए ण इत्यादि । एतद्बहुले प्रश्ने स्वगृहे द्रव्यम् । परवर्गगुरुभिम(र)भिहतैः स्वजनगृहे द्रव्यम् ॥१६४॥

पढमे चरमे [य] सरे, दिट्ठे पत्थू य हो(हो)ति पुच्छेण ।
पितियमरे य वग्गे, अग्गेहिंए हवइ पत्थू ॥ १६५ ॥

स्वगृहे परगृहेऽन्यत्र वा मनम् । एता(ा) प्रथमस्वरो अकारः, अ[ः]कारो द्वादशम[स]्वरः । आभ्यां केवलाभ्यां प्रश्ने यत्किंचित् पृच्छति तद् गृहाभ्यन्तरे पूर्वेण ज्ञेयम् । द्वितीयस्वरे आकारे तवर्गोत्तरस्वरसंयुतेऽथवा वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किंचित् पृच्छति तदपि गृहस्याभ्यन्तरे पूर्व[प ८० प १]दिग्विभागेन द्रव्यम् ॥ १६५ ॥

तइए णवमे य सरे, तइए वग्गे हवइ जम्माए ।
ईकारेकारंमि य, चउत्थवग्गे य निरईए ॥ १६६ ॥

तृतीयवर्गस्य चकार(रः), तस्योपरिगतेन तृतीयस्वरेण इकारेण नवमस[रेण] ओकारेण वा चकारस्य चाऽग्रतोऽनन्तरमवस्थितेन द्वयोरन्यतरेण दृष्टेन यत्किञ्चित् पृच्छति तद्गृहस्याभ्यन्तरे दक्षिणस्यां दिसि(शि) ज्ञेयम् । चतुर्थवर्गस्य टकारस्योपरिगते[न] ईकारेण ए(ऐ)कारेण वा टकारस्याग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन स्वरद्वयस्याभ्यन्तरेण दृष्टेन यत्किञ्चित् पृच्छति तद्गृहस्याभ्यन्तरे नैरइया(नैर्ऋत्यां) दिसि(शि)[प ८४ पा २] ज्ञेयम् ॥ १६६ ॥

एकार सत्तस(म)सरे, पचमवग्गे य वारुणीए उ ।
छट्ठे दसमसरे [वा], वायव्वाए उ णायव्व ॥ १६७ ॥

एकादश स्वरः ऐ, सप्तम एकारः, ताभ्यां तकारयुक्तस्याग्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन पञ्चमवर्गतः स्थिताभ्यां वा वारुण्यां द्रव्यं ज्ञेयम् । तथा षष्ठे वर्गे यकारे दशमस्वरेण युक्तेऽग्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते वायव्यां [प ८५,पा १] दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६७ ॥

पचमरसे(सरे) य वग्गे, सत्तमए हवति सत्तमदिसाए ।
अट्ठमवग्गे छट्ठ[ट्ठे], सरे य ईसाणिए जाण ॥ १६८ ॥

सप्तमवर्गस्या(स्य) यकारस्याधोगते उकारे पकारस्योपरिगते वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किञ्चित् पृच्छति तद् गृहस्याभ्यन्तरे सोम्यां(सौम्यायां) दिशि द्रव्य ज्ञेयम् । अष्टमवर्ग[स्य]सकारस्याधो गतो(ते) पञ्चस्वर ऊकार(रे)[प ८५,पा २] सकारस्यानन्तरमवस्थिते पृच्छकस्य तद्गृहाभ्यन्तरे ऐशान्यां दिसि(शि) द्रव्य ज्ञेयम् ॥ १६८ ॥

अट्ठसरा आइल्ला, अट्ठ य वग्गा य आणुपुव्वीए ।
इदाणीण दिसाण, कमसो वग्गेसु पविभत्ता ॥ १६९ ॥

उक्तार्थे(र्थे)व गाथाऽनन्तरप्रपञ्चेन ॥ १६९ ॥

सव्वे सट्ठाणाओ, सप(प्प)डिहता हवति चउत्थाओ ।
उत्तर अह(हो) सवण्णा, हसति पुव्वावर वग्ग ॥ १७० ॥

प्रभायां पूर्व(र्व)दिग्(ग)क्षरसन्निभैः पश्चिमदिगक्षरैस्तुल्यैर्द्वयोरपि दिशोर्म(र्म)ध्ये द्रव्य मादेश्यम् । यदि पूर्वदिगा(ग)क्ष[प ८६ पा १]राणां बाहुल्यं तदा पूर्वस्या(स्यां) दिसि(शि) । पश्चिमदिगा(ग)क्षराणां बाहुल्य तदा पश्चिमादिक्समीपे द्रव्यमादेश्यम् । दक्षिणदिगा(ग)क्षरै रुत्तरदिगा(ग)क्षरसन्निभैस्तुल्यैद्व(र्द्व)योरपि दिशोरनयोम(र्म)ध्ये द्रव्य ज्ञेयम् । दक्षिणदिग-क्षराणां बाहुल्ये दक्षिणदिक्समीपे द्रव्यमवतिष्ठति । पूर्वदिगक्षरैराग्नेयादिगक्षरैः सन्निभैम(र्म)ध्ये द्वयोरपि दिगिव(शि)शोरन्यतराद्वे द्रव्य तिष्ठतीति वक्तव्यम् । पूर्वदिगक्षराणां बाहुल्ये पूर्वस्यां दिसि(शि) समीप[प ८६ पा २]मि द्रव्य तिष्ठतीति आदेश्यम् । आग्नेयाक्षरबाहुल्ये आग्नेयायां दिशि समीपे द्रव्यं तिष्ठतीति निर्देश्यम् । दक्षिणदिगा(ग)क्षरैराग्नेयादिगा(ग)क्षरसन्निभैस्तुल्यैर्दक्षिणस्यां

निसि(शि) द्रव्यम् । आग्नेयायां च मध्ये द्रव्यमादेश्यम । यदा द्वयोरनयोर्वि(र्दि)ग्विदिशोर(र्य)-क्षराधिक्ये पर्छं तदा तस्य(स्याः) समीपे द्रव्यमादेश्यम् । दक्षिणदिगक्षरैनैर(नैर्ऋ)त्याक्षरमिश्रै-स्तुस्मयोद्व(र्द्व)योरनयोर्वि(र्दि)ग्विदिशोरन्तराले द्रव्यमपविष्टव इत्या[प ८७ प १]देश्यम् । द्वयोरनयोर्दिग्विदिशोर्यस्य यदक्षराधिक्या[द्] पक्षमधिका(कं) तस्याः समीपे द्रव्य ज्ञेयम् । पश्चिमदिगक्षरैनैर(नैर्ऋ)त्याक्षरमिश्रैस्तुस्मैव(र्द्व)योरनयोर्वि(र्दि)ग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यं वक्तव्यम् । यदा द्वयोरनयोर्दिग्विदिशोर्यस्या [अ]क्षराधिक्याद् पक्षमधिकं तदा तस्य[स्याः] समीपे द्रव्यं ज्ञेयम् । पश्चिमदिगक्षरैर्मि(र्मि)श्रैस्तुस्वे(स्तै)रनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमादेश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्वि(र्दि)ग्विदिसो(शो)र्यस्या दिशो विदिशो वाऽक्ष[प ८७ प २]राधिक्याद् पक्षमधिकं तदा तस्याः समीपे द्रव्यमादेश्यम् । उत्तरदिगक्षरैर्वा(र्वा)यव्यादिगक्षरमिश्रैस्तुस्तैरनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये अन्तरिक्षे द्रव्यमित्यादेश्यम् । यदा द्वयोरनयोर्वि(र्दि)ग्विदिसो(शो) यस्याक्षराधिक्याद् [प० ८८ प १] पक्षमधिकं तदा तस्याः समीपे द्रव्यं विष्ठतीत्यादेश्यम् । उत्तरदिगक्षरैरीसा(ऐशा)न्याक्षरमिश्रै-स्तैरनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमपविष्ठतीत्यादेश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्वि(र्दि)ग्विदिसो(शो)-[र्यस्य दिशो विदिशो]वाऽक्षराधिक्याद् पक्ष[प ८८ प २]मधिकं तदा तस्य(स्याः) समीपे द्रव्यमादेश्यम् । पूर्वदिगक्षरैरैसा(शा)न्याक्षरमिश्रैस्तुस्तैरनयोर्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमपविष्टव इत्या-देश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्वि(र्दि)ग्विदिशोर्यस्या दिशो विदिशो वाऽक्षराधिक्याद् पक्षमधिकं तदा तस्या निकटे द्रव्यं वक्तव्यम् । [प ८९ प १] पूर्वदिगक्षरैर(रै)ग्नेयाक्षरमिश्रैस्तुस्तैरनयो-र्दिग्विदिशोर्मध्ये द्रव्यमादेश्यम् । यदा द्वयोरप्यनयोर्दिशोर्यस्या अक्षराधिक्याद् पक्षमधिकं तदा तस्या निकटे द्रव्यमादेश्यम् । मध्याक्षराणां मध्ये अक्षरदिग्विदिविद्दिया(विदिग)क्षरबाहुल्येनैवो वि(दि)त्यादेश्य(श्यः) तैज्ञैः ॥ १७० ॥ [प ८९ प २]

बितिय चउत्थे वग्गे, सब्भि(ब्भि)तर-बाहिर भवे गेहं ।
अधरसरेसु(सु) य प(प)हिया, अधरस(स्स)रसंजु(जु)त्तेसु च ॥ १७१ ॥

द्वितीयवर्गः — 'ख छ ठ थ फ र षाः', भाषा [न्ते] । एतद्बहुले प्रश्ने बहिर(र्गे)ह[द्] द्रव्यं ज्ञेयम् । चतुर्थवर्गी(र्गः) — 'घ झ ढ ध भ व ह' इत्येते अभ्यन्तराः । एतद्बहुले प्रश्ने गृहाभ्यन्तरे द्रव्यं ज्ञेयमिति । द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरबहुले गृहाद् बहिर(र्गे)हाभ्यन्तरे द्रव्य ज्ञेयम् । अधर स्वरसंयुक्तेष्वि(ष्वि)त्यपभेदार्थः ॥ १७१ ॥

सगिहम्मि य जं दव्व, तं पच्च[प ९ प १]क्खस भवे परोक्खस वा ।
दिट्ठ(ट्ठ)म्मि परोक्ख(क्ख)म्मि ओ(उ), उड्ढ(ड्ढ)महो तिरियभागे वा ॥१७२ ॥

स्वगृहे यं (यद्)द्रव्यं स्थापितं मया च तत् प्रत्यक्षं च परोक्षं चेति प्रश्नप्रश्नमितरर्थः । उत्तमचतुर्थाक्षरबहुले प्रश्ने स्वयं त्वया स्थापितमिति प्रष्टा वाच्यम् । अधवर्गसंयोगाक्षरैरधो(र्धोः) द(र्दृ)ष्टैः स्त्रिया स्थापितमितिवाच्यम् । पश्चात्पश्चा(श्चा)त्पितृव्येनेनेतिरमादिभिः स्थापितं द्रव्यमिति वाच्यम् । अर्द्धस्वरस्त(स्वा)क्षरै-पञ्चमिः स्त्रियते । ऊर्द्धमागऽधोना(भा)गे तिर्यग्भागे वा द्रव्यस्थापितस्य उपरितमवा गाथाया निर्णय(र्णयं) वच्य(स्य)ति ॥ १७२ ॥

मूलस(स्स)रेसु उड्ढ(ड्ढं), अहो [य] धातुस्सरेय(सु) सवेसु ।
सेसेसु तिरि[य]भागे, गेहे वत्थ(व) तु[ह?] परोक्ख ॥ १७३ ॥

मूलस्वराः 'ई ऐ औ' एतेषु दृष्टेषु प्रश्ने ऊर्ध्वभागे द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । धान्यधातुस्वरौ यौ 'इ ऊ' आभ्यां दृष्टाभ्यां अधोभागे द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । शेषेषु—'अ आ इ ए ओ' एषां पञ्चानां अन्यतमाधिक्ये तिर्यग्भागे द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । स्वगृहे संचय द्रव्यं नष्टं तदेभिः स्वरैः[प ११ पा १]ज्ञा(ज्ञे)यम्यमिति ॥ १७३ ॥

जल देवय अग्गिख(घ)र, दिट्ठे वत्थुमि ति[नि?] नि(ति)ट्ठाण ।
लक्खेज्ज जीव धाउ, मूलाण य तिनि(न्नि) वाणइ(ठाणा)इ ॥ १७४ ॥

क च ट त प य सा(शा)[नाम]न्यतमाधिके प्रश्ने जलगृहे द्रव्यमादेश्यम् । ख छ ठ थ फ र ष णां चतुर्थवर्गसंज्ञकानां चान्यतमाधिके प्रश्ने गोशालायां द्रव्यमिति ज्ञेयम् । ग ज ड द ब ल सा नामन्यतमाधिके प्रश्ने देवगृहे द्रव्यमादेश्यम् । ङ ञ ण न माधिके प्रश्ने अग्निगृहे द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । मिश्रेषु यत्स्थानाधिनोऽक्षरा बहव[ः] तस्मिन् द्रव्यमिति ज्ञेयम् । जीवयोनौ लब्धायां जीवो नष्टमि(ष्ट इ)त्यादेश्यः । मूलयोनौ लब्धे मूलम्, धातुयोनौ लब्धे धा[प ११ पा २]तुद्रव्यम(र्थं न)ष्टमित्यादेश्यम् । एवं त्रिस्थे(ष्वे)व स्थानेष्विति तद्विकासगृह कल्प्यम् ॥ १७४ ॥

छिद्दे तत्थरिपं(रत्थतरियां?), परवत्थु(त्थु)मणतर घणे दिट्ठे ।
जो चिय वत्थु निवेसे, गमओ सो चेव रत्थासु ॥ १७५ ॥

क-चादीनां प्रथम-तृतीयवर्गीयानां छिद्रसंज्ञकानां अन्यतमाक्षराधिके प्रश्ने रथ्यान्तरितं द्रव्यमादेश्यम् । ख-घादीनां वर्गाक्षराणां घनसंज्ञ[प ११ पा १]कानां अन्यतमाधिकानां प्रश्ने स्वगृहस्थानन्तरं परगृहे [तस्मिन्]द्रव्यमित्यादेश्यम् । एवं [व]स्तुनिवेशविधिक्रमः । पूर्वाऽऽग्नेयी दक्षिणे(णा) नै(नै)ऋत्या वायव्योत्तरेशानी चेति [दिक्] । वैरक्षरैगृ(र्गृ)हान्यन्तरे एतासु दिक्षु द्रव्यमभिहत वैरेवाक्षरैरनेनैव प्रकारेण रथ्यास्वपि ग्रहण्यम् ॥ १७५ ॥

हस्सेसु सम ठाण, सहावदीहे[प ११,पा २]सु उण्णय जाणे ।
पचम छट्ठे य सरे, दोसु वि ण्णि(णि)ण्ण मुणेयव ॥ १७६ ॥

ह्रस्वानां 'अ इ ए ओ' एतेषामन्यतमाधिके प्रश्ने समस्थाने द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् । स्वभावदीर्घाणां '[ऊ ऐ]औ' एषामन्यतमाधिके प्रश्ने उन्नते भूभागे द्रव्यमवतिष्ठत इति वाच्यम् । पञ्चमस्वर[उकार], षष्ठस्वर ऊकारः, अनयोर्द्वयोर्नि(नि)म्नोन्नतभूभागे द्रव्यं तिष्ठतीत्यादेश्यम् ॥ १७६ ॥

ततियस्सरो वि रत्थ, कवे(ये)सि जइ वजा[प ११ पा १]णे य संजुत्तो ।
उप्पर-वंजणसहिते, सितिए उर्ध्वं हवइ ठाण ॥ १७७ ॥

तृतीयस्वर इकारः, स उत्तम्भनमाक्षरोपरिगतो रथ्यायां द्रव्यमाचष्टे । द्वितीयस्वर आकारः, सोऽमिहतोत्तराधर(रा)न्यतमसंयुक्तो रथ्यायामेव द्रव्यं कथयति ॥ १७७ ॥

सविसग्गेसु चउक्क, साणुस्सारेसु अघरसरठाण ।
लोइय-लोउधरिय, घणक्खरे वेउल लक्खे ॥ १७८ ॥

सविसर्गः 'अः'कारः, स यदा प्रश्ने अन्यतमाक्षरपार्श्वे[प ५२ पा १]तो दृश्यते केवलो वा तदा चतुष्पथे द्रव्यमादेश्यम् । एकादशमोऽनुस्वारः 'अं' यदाऽन्यतमाक्षरोपरिगतो दृश्यते केवलो वा तदा तस्य चतुष्पथस्य पश्चिमदिग्भागे द्रव्यमवसितम् इत्यादेश्यम् । घनाक्षराणां 'ख छ ठ थ फ र ष धा नां, घ झ ढ ध भ व ह ा नां' चान्यतमयुक्ते प्रश्ने लौकिकदेवकुले द्रव्यमादेश्यम् । [प०५४ पा १] लौकिकं देवकुलं चण्डायतनादिकम् । एतेष्वेव घनाक्षरेषूत्तरस्वरसंयुक्तेषु लोके-

५ त्तरदेवकुले द्रव्यमादेश्यम् । लोकोत्तरिकदेवकुले(ल)मिति अर्हदायतनं वक्तव्यम् ॥ १७८ ॥

सव्वत्थ [य] जीव-धातु-मूलाण लक्खए तउद्वा(ओ ठा)णा ।
एसो य गामदक्को, एसो वि य बाहिरो वक्को ॥ १७९ ॥

सर्वत्र जीव-धातु-मूलानां यदेतस्था[प ५४ पा १]न लक्ष्योक्तं तत्र जीव(वं) धातु(तुं) मूलं चेति लक्ष(मे)तत्कार्यतैव कार्यं इति । तत्र तत्र स्थाने एव दक्को बहिरभ्यन्तरे च ग्राम-

५ स्तोकः । दक्षनेन च अर्थं च(अ)नमुख्यते ॥ १७९ ॥

॥ नष्टिको(क्स)धमं समासम् ॥

एवो(त्तो) चिंतविमागो, मुट्ठिविसेसेण अक्खरुप्पत्ती ।
गेहिरिला(गहरिक्ला)ण तया, सव्वेसिं उवगयविसेसो ॥ १८० ॥

अतः परं चिन्तावि[प ५५,पा १]भागस्य मुष्टिविशेषस्य मध्यानां नक्षत्राणां च सूचन केसो-

५ (सो)रेखेन यथाक्षरस्तुत्यपिरवर्तन तथाक्षरोत्पादनं च मुख्या गहरि(क्ष)णानां च वर्णना-(नीता)मुपगतविशेषमिति बस(स्य)माणोपन्यासार्थना(ता) । कथतः सम्यग्मासपर्यायाः ॥१८०॥

तह सद्दणिण्णओ वि[य], सव्वे भावा य सव्वघाणं ।
णट्ठावरे जोए, सत्त नियप्पा [प ५५,पा १] हुवंति इमे ॥ १८१ ॥

पठद्वारकोटिर-कुटपतनाविभक्तो भावमध्येन निन(र्ण)यवर्णोक्तमिसमायादीनि भण्यन्ते ।

५ सर्वभावा अष्टरप्रतिबद्धाः 'लाभालाभ-सुखदुःख-जीवितमरण' इत्याद्यक्षरप्रतिबद्धाः । सकल-द्रव्याणां मण्डिकावर्णान्ये(त्मे) करणे सप्त भेदा भवन्तीति वक्ष्यमाणोपन्यासः ॥ १८१ ॥

तथा चैतत्—

पढमो चिंतामेदो, तस्स य मेदा हवंति अट्ठ इमे ।
जीवाईण ओणी, तिविहो पढमो हवति भेदो ॥ १८२ ॥

तेषां सप्तानां भेदानां [प ९६ पा १] मध्ये प्रथमचि(श्चि)न्ताभेदः । तस्य भेदा अग्र-स्तष्टो वक्ष्यमाणाः । जीव धातु-मूलानां योनिस्त्रिविधा या सा प्रथमचिन्ताभेदे पतति ॥ १८२ ॥

गुरु-लहुय अक्खराण, सजोओ बितियओ हवसे(वति) भेदो ।
तितीओ पीडासद्दि(हि)ओ, ततो(चो) अभिघातिता तिन्नि ॥ १८३ ॥

गुरु-लघ्वक्षराणां संयोगो द्वितीयो भेदः । पीडाभेदस्तृतीयकः । क(कः) पुनरसौ ? अधा-(धो)मात्रा अग्रयाता येऽभिहताः रेफ-मकार-धकार ऊकार-सहिताः । आलिंगितश्चतुर्थः । अभि-धूमितः पंचमः । दग्धः षष्ठो भेद [प ९६ प २] इति ॥ १८३ ॥

एक्को पयडिविसेसो, सत्तमओ सक्कडाइ अट्ठमओ ।
एत्तो चिंताभेदा, पणयालीअक्खरप(प्प)ण्णा ॥ १८४ ॥

एकः प्र[कृ]तिविशेषकः । कु(कः)पुनरसौ ? जीवप्रकृति-धातुप्रकृति-मूलप्रकृति[रूपः] स-प्तमो भेदः । संकट-विकटभेदा(दो)ऽष्टम एव एव । एते चिन्ताभेदाः पंचचत्वारिंशदक्षरप्रति-बद्ध इति ॥ १८४ ॥

॥ चिन्ताभेदप्रकरण समाप्तम् ॥ [प ९७ पा १]

दुग दुग तिग तिग य चउ, चतुक्क पण पण छ सत्त बसु णवया ।
णामक्खराण य सरा, हव(हों)ति आ(अ)काराविण कमसो ॥ १८५ ॥

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
२	२	३	३	४	४	५	५	६	७	८	९

अकारो द्विसंख्यः । आकारोऽप्य(पि) द्विसंख्य एव । [प ९७ प २] इकारस्त्र(स्त्रि)संख्यः । ईकारोऽपि त्र(त्रि)-संख्या(ख्य) एव । उकारच(श्चतुः)संख्या(ख्यः) । ऊकारश्चतुःसंख्या(ख्य) एव । एकार[ः] पञ्च-संख्या(ख्यः।) ऐकारोऽपि पञ्चसंख्या(ख्य) एव । ओकार[ः] षट्संख्या(ख्यः) । औकार[ः] सप्तसंख्या(ख्यः) । अंकारः सा(सा)नुस्वारोऽष्टसंख्यो(ख्यः) । अकारः सविसर्गो नवसंख्या(ख्यः) । अकारादय[ः] स्वरा द्वादश अक्षरैर्युक्ता [प ९८ पा १] यथोक्तसंख्या ज्ञातव्या इति ॥ १८५ ॥

द्वितीयप्रकारः—

चउ ति ति चउक्क चउत्थ, चउ सत्त वयुट्ठण(ठुऽट्ठ णवय)वमा च ।
संखापरिमाणे तस(स्स)राणऽगाराइण कमसो ॥ १८६ ॥
एगावीया पच उ, कमादी(दि) अणुणासियावसाणाण ।
कमसो णाम ए(प)माण, पंचण्ह(चाण) वि आणुपुव्वीए ॥ १८७ ॥

ककार एकसंख्या(ख्यः) । गकार[रो] द्विसंख्या(ख्यः) । गकारस्त्र(स्त्रि)संख्या(ख्यः) । घकारचतु(श्चतुः)संख्य[ः] । ङकार[ः] पञ्चसंख्य इति । एव क-गादि-ङकारपर्यवसानानां क्रमशः (शः) [प ९८ प २] संख्याऽभिहतेति ॥ १८७ ॥

तृतीयमक्षर इकारः, स उक्तान्यतमाक्षरोपरिग आकारः, सोऽपि द्वितीयोत्तराक्षर(रा)न्यतमसंयुक्तो रप्याभ

सविसग्गेसु चउक्क, साणुस्सारेसु ८
लोइय-लोउत्तरिय, घणक्खरे देउ

सविसर्गः 'अ'कारः, स यदा प्रश्ने अन्यत वा यदा चतुष्पथे द्रष्टव्यमाधेयम् । एकाक्षरमो केवलो वा यदा तत्र चतुष्पथस्य पश्चिमदिग 'क ख ठ ब क र प ष, प स ड प म ब ह ण' ८ [१ ६४ पा १] लौकिकं देवकुलं लक्ष्यवस्तु वरोपकुले द्रष्टव्याऽऽधेयम् । लौकोत्तरिकमेव

सव्वत्थ [य] जीव-धातु-मू
एसो य गामदसो, एसो

सर्वत्र जीव-धातु-मूलानां मूलं चेति प्रथम(मे)वाक्यार्थोद्देशः लोकः । एतक्रमेण च मई च(ध)

॥

एतो(त्तो) चिंता
गेहिरिखा(ग

अतः परं चिन्त
(सो)देशेन यथायरा
(नाडिका)मुपगतचि

ताह
णद्

प
सथमाधा
द्रष्टव्यामी

क	का	कि	की	कु	कू	के	कै	को	कौ	कं	कः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
ख	खा	खि	खी	खु	खू	खे	खै	खो	खौ	खं	खः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ग	गा	गि	गी	गु	गू	गे	गै	गो	गौ	गं	गः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१
घ	घा	घि	घी	घु	घू	घे	घै	घो	घौ	घं	घः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११
ङ	ङा	ङि	ङी	ङु	ङू	ङे	ङै	ङो	ङौ	ङं	ङः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१	११	१२
								(१)			
च	चा	चि	ची	चु	चू	चे	चै	चो	चौ	चं	चः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
छ	छा	छि	छी	छु	छू	छे	छै	छो	छौ	छं	छः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ज	जा	जि	जी	जु	जू	जे	जै	जो	जौ	जं	जः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१
झ	झा	झि	झी	झु	झू	झे	झै	झो	झौ	झं	झः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११
ञ	ञा	ञि	ञी	ञु	ञू	ञे	ञै	ञो	ञौ	ञं	ञः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१	११	१२
								(१)			
ट	टा	टि	टी	टु	टू	टे	टै	टो	टौ	टं	टः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
ठ	ठा	ठि	ठी	ठु	ठू	ठे	ठै	ठो	ठौ	ठं	ठः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ड	डा	डि	डी	डु	डू	डे	डै	डो	डौ	डं	डः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१
ढ	ढा	ढि	ढी	ढु	ढू	ढे	ढै	ढो	ढौ	ढं	ढः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११
ण	णा	णि	णी	णु	णू	णे	णै	णो	णौ	णं	णः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१	११	१२
								(१)			
त	ता	ति	ती	तु	तू	ते	तै	तो	तौ	तं	तः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
थ	था	थि	थी	थु	थू	थे	थै	थो	थौ	थं	थः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९

द	दा	दि	दी	दु	दू	दे	दै	दो	दौ	दं	दः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१०
ध	धा	धि	धी	धु	धू	धे	धै	धो	धौ	धं	धः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११
न	ना	नि	नी	नु	नू	ने	नै	नो	नौ	नं	नः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१	११	१२
								(१)			
प	पा	पि	पी	पु	पू	पे	पै	पो	पौ	पं	पः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
फ	फा	फि	फी	फु	फू	फे	फै	फो	फौ	फं	फः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ब	बा	बि	बी	बु	बू	बे	बै	बो	बौ	बं	बः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१
भ	भा	भि	भी	भु	भू	भे	भै	भो	भौ	भं	भः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११
म	मा	मि	मी	मु	मू	मे	मै	मो	मौ	मं	मः
५	५	७	७	६	६	८	८	९	१०	११	१२
								(१)			
य	या	यि	यी	यु	यू	ये	यै	यो	यौ	यं	यः
१	१	३	३	२	२	४	४	५	६	७	८
र	रा	रि	री	रु	रू	रे	रै	रो	रौ	रं	रः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
ल	ला	लि	ली	लु	लू	ले	लै	लो	लौ	लं	लः
३	३	५	५	४	४	६	७	७	८	९	१०
व	वा	वि	वी	वु	वू	वे	वै	वो	वौ	वं	वः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११
श	शा	शि	शी	शु	शू	शे	शै	शो	शौ	शं	शः
१	१	३	३	२	२	४	४		६	७	८
ष	षा	षि	षी	षु	षू	षे	षै	षो	षौ	षं	षः
२	२	४	४	३	३	५	५	६	७	८	९
स	सा	सि	सी	सु	सू	से	सै	सो	सौ	सं	सः
३	३	५	५	४	४	६	६	७	८	९	१
ह	हा	हि	ही	हु	हू	हे	है	हो	हौ	हं	हः
४	४	६	६	५	५	७	७	८	९	१	११

तत्र संयोगो(गे) आलिंगिताभिधूमितदग्धसंख्या कथ्यते— विशेषसंख्या कथ्यते । विशेषसंख्यमानमा(संख्यानाम) प्रमाणमादेशयम् ।—

पढमक्खरससखाए, जाणसु णामक्खराण परिमाण ।
आलिंगि[१ १ १ ण १]याइ तत्तो, एक्कोत्तरिया हवइ हाणी ॥ १९४ ॥

प्रमाक्षराणां प्रथमाक्षरस्य या संख्या स्यस्य(स)ति । अभिधूमिता द्वे, दग्धाग्निमा (स्ता) संख्या स्मन्ति ॥ १९४ ॥

सेसं उ णामसखा, णिस्सेसमणतरस्स संखाए ।
तत्तो नामपमाण, पढमिल(ल्ल)क्रमेण णेयव्व ॥ १९५ ॥

जो दे(ये)व कवग्गकमो, चादीण सेसयाण सो चेव ।
वग्गाण होइ गमओ, जाव ण केण(णा)वि संजुत्तो ॥ १८८ ॥

य एव संख्यां प्रति [क]वर्गस्य क्रम[ः], स एव चादीनां वर्गाणां क्रमो ज्ञेयः । स्वरेणाक्षरेण वा असंयुक्तानां अनभिहतानां चेति ॥ १८८ ॥

जावतिया सजुत्ता, पच्चे पत्तेसि(वि?) मेलिया सखा ।
आलिंगियाइ तत्तो, विसुद्धसेसा हवइ सखा ॥ १८९ ॥

स्वरेणाक्षरेण वा युक्ते(क्तो) वर्णेन वा अमतो वाऽनंतरमभिमिलितेन यः पूर्वाक्षर[ः] स संयुक्त इत्युच्यते । स संयोगो येन कृतः स आ[प ११ पा १]लिंगयमालिंगयति, अभिधूम-यं(ति)त्यभिधूम[य]ति, दग्धमर्थं दहतीति । आलिंगिताभिधूमितदग्धप्रकाराश्च पूर्वोक्ताः । आलिंगिताभिधूमितदग्धानां मध्ये यो(या) विद्यते संख्या तां सो(शो)धयित्वा विशुद्ध(द्धाऽ)वशि(षि)ष्टा संख्या भवति तथा शेष(षः) कार्यः प्रश्न[ः] सा अ[प ११ पा २]ख्यते ॥ १८९ ॥

एक्क[क] तिय तिय दुय दुय, चतु चतु पण छक्क सत्त दस(सु)ह च ।
कमसो अक्खरमाणं, अवग्गजोए ककारस्स ॥ १९० ॥

एवं सर्ववर्गेषु ज्ञेयम् । एकः [एकः] त(त्रि)कः [त्रिकः द्विकः द्विकः] चतुष्कः चतुष्कः पंचा(च) षट् सप्ताष्टौ अकारादिभिः स्वरैः सविसर्गाक्षरपर्यन्तैश्च(न्तैर्ये)रक्षमिरन्वितानां ककारादीनां अक्षराणां ज्ञेया संख्या क्रमेण यावत् द्वादश इति ॥ १९० ॥

एमेव(वं) [प ११ पा २] सेसाण, खाएही(वी)णणुणासिय(या)वसाणाणं ।
णामपमाण(णं) कमसो, उत्तरवड्ढी(ड्ढि)ए नायव्वो(वं) ॥ १९१ ॥

एवमेव शेषाणामपि यथा ककारस्य अकारादिद्वादशस्वरयोगेन संख्या विहिता तथा खादीनामपि अनुनासिकपर्यन्तानि(नां) नामप्रमाणं क्रमशः(शः) । तवो(थो?)त्तरवृद्ध्या(द्ध्या) ज्ञातव्यमिति पूर्वगाथायामेव प्रसंगेनोक्तमिति ॥ १९१ ॥

चो (जो) चेव [प ११ पा १] कवग्गकमो, होति उ सो च्चेव सेसवग्गाण ।
णामपमाण(णं) गमओ, अवग्गजोएण निप्फन्नो ॥ १९२ ॥

य एव कवर्गस्य क्रमो भवति स एवावशि(शि)ष्टानां चादिवर्गाणां सवर्गपर्यन्तानां नाम-प्रमाणे गमनतां अवर्गयोगेन निष्पन्न इति । अकारादीनां स्वराणां हकारान्तानां संयुक्तानां या संख्या सा पूर्वगाथायाः प्रसंगेन व्याख्याता ॥ १९२ ॥ [प ११ पा २]

जह उ अवग्गेण सम, कवग्गमादीण सव(व्व)वग्गाण ।
एव चिय संजोओ, परोप(प्प)रं सेसयाण पि ॥ १९३ ॥

व्यक्तार्थैव गाथा । यथा अवर्गेण सह कवर्गादीनां सप्तानि(सप्तानां) वर्गाणां संयोगो(गः) एव[मेव] परस्परं(रं) कादीनां हकारपर्यंतानां अक्षराणामपि संयोगो ज्ञेयः ॥ १९३ ॥

क का	कि की	कु कू	के कै	को कौ	कं कः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
ख खा	खि खी	खु खू	खे खै	खो खौ	खं खः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९
ग गा	गि गी	गु गू	गे गै	गो गौ	गं गः
१ १	५ ५	४ ४	६ ६	० ८	९ १
घ घा	घि घी	घु घू	घे घै	घो घौ	घं घः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१ ११
ङ ङा	ङि ङी	ङु ङू	ङे ङै	ङो ङौ	ङं ङः
५ ५	० ०	६ ६	८ ८	९ १	११ १२
				(१)	
च चा	चि ची	चु चू	चे चै	चो चौ	चं चः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
छ छा	छि छी	छु छू	छे छै	छो छौ	छं छः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९
ज जा	जि जी	जु जू	जे जै	जो जौ	जं जः
१ १	५ ५	४ ४	६ ६	० ८	९ १
झ झा	झि झी	झु झू	झे झै	झो झौ	झं झः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१ ११
ञ ञा	ञि ञी	ञु ञू	ञे ञै	ञो ञौ	ञं ञः
५ ५	० ०	६ ६	८ ८	९ १	११ १२
				(१)	
ट टा	टि टी	टु टू	टे टै	टो टौ	टं टः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
ठ ठा	ठि ठी	ठु ठू	ठे ठै	ठो ठौ	ठं ठः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९
ड डा	डि डी	डु डू	डे डै	डो डौ	डं डः
१ १	५ ५	४ ४	६ ६	० ८	९ १०
ढ ढा	ढि ढी	ढु ढू	ढे ढै	ढो ढौ	ढं ढः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१ ११
ण णा	णि णी	णु णू	णे णै	णो णौ	णं णः
५ ५	० ०	६ ६	८ ८	९ १	११ १२
				(१)	
त ता	ति ती	तु तू	ते तै	तो तौ	तं तः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
थ था	थि थी	थु थू	थे थै	थो थौ	थं थः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९

द दा	दि दी	दु दू	दे दै	दो दौ	दं दः
१ १	५ ५	४ ४	६ ६	० ८	९ १०
ध धा	धि धी	धु धू	धे धै	धो धौ	धं धः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१ ११
न ना	नि नी	नु नू	ने नै	नो नौ	नं नः
५ ५	० ०	६ ६	८ ८	९ १०	११ १२
				(१ ०)	
प पा	पि पी	पु पू	पे पै	पो पौ	पं पः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
फ फा	फि फी	फु फू	फे फै	फो फौ	फं फः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९
ब बा	बि बी	बु बू	बे बै	बो बौ	बं बः
१ १	५ ५	४ ४	६ ६	० ८	९ १०
भ भा	भि भी	भु भू	भे भै	भो भौ	भं भः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१० ११
म मा	मि मी	मु मू	मे मै	मो मौ	मं मः
५ ५	० ०	६ ६	८ ८	९ १०	११ १२
				(१)	
य या	यि यी	यु यू	ये यै	यो यौ	यं यः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
र रा	रि री	रु रू	रे रै	रो रौ	रं रः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९
ल ला	लि ली	लु लू	ले लै	लो लौ	लं लः
१ १	५ ५	४ ४	६ ०	० ८	९ १०
व वा	वि वी	वु वू	वे वै	वो वौ	वं वः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१ ११
श शा	शि शी	शु शू	शे शै	शो शौ	शं शः
१ १	१ १	२ २	४ ४	५ ६	० ८
ष षा	षि षी	षु षू	षे षै	षो षौ	षं षः
२ २	४ ४	१ १	५ ५	६ ०	८ ९
स सा	सि सी	सु सू	से सै	सो सौ	सं सः
१ १	५ ५	४ ४	६ ६	० ८	९ १
ह हा	हि ही	हु हू	हे है	हो हौ	हं हः
४ ४	६ ६	५ ५	० ०	८ ९	१ ११

अत्र संयोगो(गे) आलिंगिताभिधूमितदग्धसंख्या कथ्यते— विशेषसंख्या कथ्यते । विशेषसंख्यमानामा(संख्यामाम) प्रमाणमाह्वयम् । —

पढमक्खरसंखाए, जाणसु णामक्खराण परिमाणं ।
आलिंगि[१ १ १ पा १]याइ तत्तो, एक्कोत्तरिया हवइ हाणी ॥ १९४ ॥

प्रथमाक्षराणां प्रथमाक्षरस्य या संख्या अस्स(स)ति । अभिधूमिता है, दग्धास्त्रिमा (स्मः) संख्या ग्रसति ॥ १९४ ॥

सेसं तु णामसरला, णिस्सेसमणतरस्स संखाए ।
सत्तो नामपमाणं, पदमिल(ल्ल)क्कमेण णेयव्वं ॥ १९५ ॥

नि पा १

यस्माद(द)क्षराद(द)भिघातसुद्धायाः(द् या) ज्ञेया समानाक्षरसंख्या निर्दिष्टा(ष्टा) यदा पूर्णाक्षरो(रा)भिघात(ते)न सकल(ला?) छुद्यति तदा तस्मा[:] पूर्वस्थानस्वरादभिघातछुद्धाय:(द्य:) शेष[:] स[नो] मामसंख्या ज्ञेया। तस्मान्मामाक्षरस्य [प १ २ प १] प्रमाण क्रमेण मातव्यमित्युक्तम् ॥ १९५ ॥

पढमो(मा) तइया सपत्कराओ थोव च संखमिच्छंति।
चितिय-चउत्था तेसिं, विपत्करा ते य अहुसखा ॥ १९६ ॥

प्रथमा: – क च ट त प य शा:। तृतीया: – ग ज ड द ब ल सा:। तेषां संपत्कुर्वन्ति यो(स)-मकरा[:] अनुमेस्व(य)र्यपितायाः प्रभुः। कालतस्तु स्वल्पकालं भवति। तत्कुले प्रमेऽल्पनामाक्षर संख्या ज्ञेया। द्वितीयो वर्गः–ख छ ठ थ फ र षा:। चतुर्थो वर्गः–घ झ ढ ध भ व हा:। एते विपक्ष(क्ष)रा अशुभकरा न शुभकरा इत्यर्थः। अस्पष्टत्व बहुकालिकं च कुर्वन्ति। तत्कुले प्रभे महती मामाक्षरसंख्या ज्ञातव्या ॥ १९६ ॥

एस सराण गमओ, वग्गाण सत्तमट्ठा(ट्ठमा)ण च।
थिसमक्खरम(व)ग्गाण, चरिमाणं थोविआ संखा ॥ १९७ ॥

एष स्वराणां विधिरिति यदु(दु)क्त द्दलस्वराः संपत्करास्ते महति(तीं) विभूतिं कुर्वन्ति। शामकराश्च। नामसंख्याकराश्च(?) स्वल्पां कुर्वन्ति। शेषस्वरा विपत्करा अशुभ करा:। मामाक्षरसंख्यां महतीं कुर्वन्ति। अनुमेयाथ पूर्वोक्तं निर्दिशति। एष स्वरवर्ग उक्तः। कादयस्तु पंच पार्श्वे वर्गा उक्ताः। सप्तमस्याष्टमवर्गस्य च वर्गसंख्या इद(दं)योक्त अष्टवर्गक्रमे। विषमाक्षरवर्गा ये, क ? क च ट त प य शाः, ग ज ड द ब ल सा स(श)। चरिमा स(श।)षवर्गेण 'ङ ञ ण न मा' स(श)। चरिमो च 'अं अः' अनयोरप्यल्पसंख्या ज्ञेया ॥१९७॥

जे जे जहा सपक्खा, तेसिं दोण्ह पि मेलिया संखा।
अभिहयसुद्धा दुगुणा, काऊण निदि(द्दि)से सखा ॥ १९८ ॥

प्रभारो योऽक्षरस्तस्य ये स्वपक्षा उच्यन्ते। येऽभिघात(प १ ४ प १)स्याक्षरस्य तत्(कि)यते। न चानभिघातकः। स्वपक्षितोऽप्यपक्षितस्तु न दोषः। तयोर्द्वयोर्मिलितयोर्या संख्या तया(या ?)मामनिर्देश[:]भय:। इत्यागाथकारिकाया व्याख्यानम्। एतत्तु विरुद्धम्। यत आरागमम्–"पढमक्खरसंखाए जाणे नामक्खराण परिमाणं। आलिंगियाउ वग्गो, एकत्तरिया हवइ हाणी य" इत्यनेन। उच्यते–अत्र वरगर्गाभिहितो यो(ऽर्थ) विधिः। इद स्वपरपक्षा(स्वपक्षाः)। करसगारचाराथ सूत्रोपदेश [प १ ५ प १] इति। मार्गेणाभिहि(ह)तस्य पक्षे द्वयसंख्यायोगे संख्या मामाक्षरगणामभिहता। यथा स्वपक्षो अभिहतो भवत्यत्र शस्त्राभिघाते अभिघातोऽक्षसंख्या(ख्यां) विशोध्य शेषा(षां) द्विगुणीकृत्य यदा प्रमाण (वर्तमाणो) मामनिर्देशः कार्यः ॥१९८॥

परपक्खाण सेसं, अभिहयसुद्धं परोप्परं गुणए।
मुण्णेण(ण) विहिऊण, दयाण निद्दिसे संखं ॥ १९९ ॥

यदा धातु-मूल-जीव-संख्या विज्ञातव्या। स्थितपरिमाणमिति। यदा स्वपक्षसंख्या मार्गी(र्गी)-त(कि)यते। परपक्षसंख्येयाणी(णी)कर्तव्या। अत्राप्युक्त(क्त) एव विधिः। प्रमादो योऽक्षरः,

योऽभिघातकः । तस्य यो व्यवहितोऽव्यवहितान्यः । अयव्यवहितोक्ता(तोक्ता)भ्यामभिघातस्तु(स्तु)-याभ्यां परस्परं गुणिने(ते)ति संख्यारूपमिधोच्यते । परस्परं संख्या [याः ?] एकपिंडमापाद्य तस(स)मिर्गुणय(यि)त्वा प्रश्न(श्ने)ष्वसंख्यानिर्देशः कार्यः ॥ १९९ ॥

बहुसख-अप्पसखा, बहु(हु)इ हाइति य अप्पसखाओ ।

सोहे[प १०९ पा १]तु अप्पसख, दवाण निद्द(द्दि)से सख ॥ २०० ॥

अथ द्रव्य अल्प[बहु]संख्याया आनयनोप(पा)यः प्रकारान्तरेण कथ्यते—सकलां प्रश्नां एव । बहुसंख्या हि चतुर्थ-वर्गाक्षराः, अल्पसंख्या प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराः । तेषां विद्यमानाभिघातद्व(द्वा)नामधसि(शि)ष्टसंख्यापिंड स्थापयेत् । बहुसंख्यानामपि विद्यमानाभिघातद्वानां संख्यापिंडमवस्थापयेत् । द्वयोरनयोः संख्यापिंडयोर्या यत्र शुद्ध्यति तां [प १ ६ पा २] तत्र सोध(शोध)यित्वा या परिशिष्टा नां(तां) शून्येन विना द्रव्यसंख्या ज्ञेया ॥ २०० ॥

जह चेव दवसखा, भणिया तह चेव कालपरिमाण ।

एक्कमणसो करेज्जा, पुवाइतिउ(रिओ)वएसेण ॥ २०१ ॥

यथैव द्रव्यसंख्याऽभिहिता तथा तेनैव प्रकारेण तस्या द्रव्यसंख्याया[ः] कालपरिमाणं कुर्यात् । अनन्यमना नैमित्ति(त्तिक)पूर्वाचार्योपदेशेनेति । तत्र कालपरिणाम(मानं) कालप्रकरणे यथा भव(स्य)तीति नोक्तमिहेति ।

अन्ये पठन्ति 'तहेव कालपरिमायण' यथा द्रव्यस्य कालपरिमाणं उपचयापचयं वा प्रति । यथा पृष्टः(ष्टुः) [प १०७ पा १] आयु[ः]प्रमाणमपि वक्तव्यम् । तदुच्यते—दैवकी(दैविकीं) प्रश्नां परिगृह्य मानसिं(षी) वा सैवाकालप्रमोच्यते । प्रष्टुस(के)व्यकर्मनक्षत्रसंख्यामभिघातद्वयामेकत्र संपिंड्य विसो(शो)धरत(श)तमभ्यात्सो(च्छो)ध्यः । शेषं मध्यः । परमायुरेकांते स्थाप्य त[ः] प्रत्येकं गर्भरि(क्ष)क्षसंख्यां मेलयित्वा । स च एकोनविंशतमो मासः । प्रभाव प्रत्येकं यो(या) यत्र शुद्ध्यति तां विशोध्य पश्चे(च्छे)षं तत्पूर्वकव्यपरमायुम(र्म)ध्याच्छोध्यम् । अधुना(धुना)मासर्यं सप्तकल्पां गणयित्वा छो(शो)धयेत् । शेषाः स्फुटाः परमायुःपिंडक इति । [प १ ७ प २] गतकालपरिज्ञानाय उद्यनक्षत्रसंख्याभिघातद्वयां संपिंड्यैकत्र द्विगुणं कुर्यादेकान्ते अवस्थाप्य ततः जन्मकर्मगर्भरी(क्ष)क्षायाक्षरसंख्यामभिघातरहितां संपिंड्य(ड्या)नन्तरं द्विगुणीकृत्य संख्यां विशोध्य(?) भूय सकलां मामाक्षरां सो(शो)धयित्वा शेषेण अतीतकाल इति । परमायुःपिंडाद्वि शोध्य शेषभागा[प १ ८ प १]मिमी भवतीति । एव नैमित्तिकपूर्वाचार्योपदेशेनान्यमानां (? व्यायुष्यमानं) कुर्यादिति ॥ २०१ ॥ तथा लेखाक्षरसंख्यापरिज्ञानार्थम्—

अक्खरमीस दुग(गु)ण, वग्गेयव सया पयत्तेण ।

पणपण्णभागसेस, तमि गुणा म(अ)क्खर जाणे ॥ २०२ ॥

प्रश्नाक्षराणां या यस्य स्वरसंख्याऽभिहिता तां संख्यां सकलामेकीकृत्वा द्विगुण कृत्वा ततो वर्गमित्यां[प १ ८ प २]शुच्छा(प्रश्ना)पयेत् । तस्य च प्र(प्र)स्थापितस्य द्वि क्रिय भवतः । तत्रैका लेखाक्षरसंख्यापरिज्ञानक्रिया, द्वितीया च वर्गानयनक्रिया । तत्र तावत(त्)ग्यारत(स)स्य संख्या-क्रिया भण्यते—वर्गेये(गयि)त्वाऽऽदर्यं स्थापितं माद्धतमस्थितस्य(स्यां) पञ्चपंचाश(श)त्रा भागमपहास्

यच्छ(ष्ठ)मं तत्पृथक् स्थापयेत् । तस्मिन्न पृथक् स्थापिते पूर्वपिंडीकृत(ता)क्षरसंख्यां क्षोभयित्वा पचपचाशदवभागावसि(शि)ष्टाच तत्रैव स्थिता छेत्ताक्षरसंख्या भण्यन्ते ।

सो(सा)म्प्रतं कवर्गादिवर्गानयनक्रियोच्यते—तत्र पूर्ववर्गितां[प १११ पा १]मवशादितं, तस्य पंचपंचाशत्या भागमपहृ(हा)त्य यच्छ(ष्ठ)म्य तत्पृथक् स्थापयित्वाऽवशिष्टस्य चाष्टभि मा(भा)गऽपहृते यच्छ(ष्ठ)म्यते तद्वर्गककारादिपंचमपरमवशिष्टं, तदपि ककारादिरेव वर्गः । यदा सब शुद्धस्ति तदा स्वरो लभ्यते । अकारपृथक्स्थापित अष्टसप्ताधिकं यदि भवति तद् स[प्त]मिरेव भाजितव्यम् । स(य)दा न सप्ताधिक तद्भवति तदा तस्यापि ककारादिरेव वर्गः । एवं मासर्सख्याप्रमाणेन अवर्गान्(नु)त्पादेय(द्ये)त् मतिमानिति ॥ २०२ ॥

॥ इति छेत्तवर्गदिकाधिकारः(रे) सख्याप्रमाण [प १११ पा १] समाप्तम् ॥

दिणपक्खमाससवत्स(च्छ)रक्खरा जे हवंति बहुसत्ता ।
तय(प्प)ह स[त्ता] गुणए, तस्स सनामा हवइ सत्ता ॥ २०३ ॥

क च ट त प य श ह्राः—दिवसाः । ख छ ठ थ फ र ष पाः—पक्षाः । ग ज ड द ब ल सा—मासाः । घ झ ढ ध भ व ह ह्राः—संवत्सराः । ङ ञ ण न म माः—मासाः । दिनपक्षमाससंवत्सरान्यतमाक्षरबाहुल्ये प्रश्नेऽभिघात शोभयित्वा ये(से)षा[प ११ पा १]मधिका संख्या दृश्यते तां गणयेत् । दिवससंज्ञा(ज्ञ)कवर्गस्याधिक्यसंख्यस्य दिवसैरेवावधि(धिः) भवतीति शुभाशुभफलादेशः कार्यः । एव पक्षाक्षराणां, मासाक्षराणां, संवत्सराक्षराणां चाधिक्य(क्ये) संख्या वक्तव्येति ॥ २०३ ॥

सत्तम-णवमे य सरे, सुक्कदिणे पढम-तितियवग्गे य ।
बितियवग्गे दसमे, सरे य पक्खो हवइ बहुले(लो) ॥ २०४ ॥

सप्तमस्वरेण ऐकारेण, नवमस्वरे[ण] तु उ(ओ)कारेण, क च ट त प य श ह्रा नां, ग ज ड द ब ल सा नां चपरिगतेन केवलेन वा स्थापितेन शुक्लपक्षो भवति । द्वितीयो वर्गः—ख छ ठ थ फ र ष पाः, दे(दश)म उ(औ)कारेण च कृष्णपक्ष आदेशः ॥ २०४ ॥

अट्ठमसरम्मि सवत्स(च्छ)रा ह वग्गे(ग्गे) य तह य चउत्थम्मि ।
चरिमे घातुस्स(स)रेसु य, मासा अणुणासिये य तहा ॥ २०५ ॥

घ झ ढ ध भ व ह ह्रा नामन्यतमाधिष्ठे प्रश्ने अष्टमा[प १११ पा १]स्वरेण ऐकारेण युक्त, एका(एते)पा(मन्यतमाक्षरे केवले ऐकारे वा यत्र तत्रावस्थिते यत्किंचित् पृच्छति तत् 'संवत्सरेण प्राप्यते'—इति वक्तव्यम् । बहुमिता इति । चरिमाभ्यां सविसर्ग-विसर्गाभ्यां, च ळ ज (ऋ ॠ ऌ ॡ), अनुनासिका ङ ञ ण न माः, एभिरष्टैमास्या(मा) आदेश्याः । पूर्वोक्तस्यापवादः ॥ २०५ ॥

पढमे य सत्तमसरे, पाडिवओ होइ सुक्कपक्खस्स ।
कायकस्सरेसु सत्तसु, बितियाई अट्ठमी जाव ॥ २०६ ॥ [प १११ पा १]

प्रथमस्वर अकारः । सप्तमस्वर ऐकारः । एतद्बहुले प्रश्न शुक्लपक्षस्य प्रतिपद्भवति । ककारबहुले प्रश्न द्वितीया, चकारबहुले तृतीया, टकारबहुले चतुर्थी तकारबहुले पंचमी, पकाराधिके षष्ठी, यकाराधिके सप्तमी, [शकाराधिके अष्टमी ।] एवं शुक्लपक्ष ॥ २०६ ॥

तइए णवमे य सरे, पाडिवओ [प ११२ पा १] होइ सुक्कपक्खस्स ।
गायक्खरेसु सत्तसु, णवमादी पुण्णिमा जाव ॥ २०७ ॥

तृतीयस्वर इकारः, नवमस्वर ओकारः। एतद्बहुले शुक्लपक्षस्य प्रतिपदा भवति। गकारबहुले प्रश्ने नवमी। जकारबहुले दशमी। डकारबहुले एकादसी(शी)। दकाराधिक्ये द्वादशी। बकाराधिके त्रयोदशी। लकाराधिके [प ११२ पा २] चतुर्दशी। सकारबहुले पूर्णमासी ॥ २०७ ॥

अट्ठम-वितिए य सरे, पाडिवओ होइ किण्हपक्खस्स ।
खादक्खरेसु सत्तसु, बितियादी अट्ठमी जाव ॥ २०८ ॥

द्वितीयस्वर आकारः। अष्टमस्वर ऐकारः। एतद्बहुले प्रश्ने कृष्णपक्षस्य प्रतिपद् भवति। खकाराधिके द्वितीया। छकाराधिके तृतीया। ठकाराधिके चतुर्थी। थकाराधिके पञ्चमी। फकाराधिके षष्ठी। रकाराधिके सप्तमी। षकाराधिके अष्टमी। तस्यैव कृष्णपक्षस्य ॥ २०८ ॥

दसम-चउत्थे य सरे, निदि(द्दि)ट्ठे तह य कण्हपाडिवओ ।
घादक्खरेसु सत्तसु, णवमादी [प ११३ पा १] सोलसी जाव ॥ २०९ ॥

दशमस्वर औकारः। चतुर्थः स्वर ईकार। एतदधिके प्रश्ने कृष्णपक्षप्रतिपद् भवति। घकारबहुले नवमी। झकारबहुले दशमी। ढकारबहुले एकादशी। धकाराधिके द्वादशी। भकाराधिके त्रयोदशी। वकाराधिके चतुर्दशी। हकाराधिके अमावास्या। एतास्तस्यैव कृष्णपक्षस्य ॥२०९॥

पञ्चमवग्गे पचम-सरे [य] एकादसी तहा होइ ।
अणुणासिएसु दोसु वि, सेसा तिहिणो य चत्तारि ॥ २१० ॥

पञ्चमो ह्रिस्वभावः। अतः उभयपक्षस्यापि शुक्ल-कृष्णाख्यस्य माहको भवतीति। पञ्चमवर्गप्रसिद्ध ङकारर्ण[प ११३ पा २]बहुले प्रश्ने उभयपक्षस्यापि पञ्चमी। ञकाराधिके षष्ठी। णकाराधिके सप्तमी। नकाराधिके अष्टमी। मकाराधिके नवमी। मकाराधिके दशमी। मकारबहुले एकादशी। अकारः सानुस्वारः, तदधिके प्रश्ने द्वादशी च त्रयोदशी। अकारः सविसर्गः, तद्बहुले प्रश्ने चतुर्दशी पञ्चदशी चेति। एताश्चितस्रः ह्रिस्वभावत्वा(त्वा)दक्षराणां पक्षद्वयस्य विज्ञेयाः ॥ २१० ॥

त्रितिया अणुणासाईं, एव तिहिणो कमेण चत्तारि ।
दिट्ठमि कण्हपक्खे, एव तिहिणो य(प)विभागो य ॥ २११ ॥

उक्तार्थे वा अतिदेशार्थकारिका। पूर्वोक्तदृष्टे च कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे च। एवमुक्तन्यायेन तिथीनां प्रविभागः कर्तव्य ॥ २११ ॥

संवत्स(च्छ)रंमि दिट्ठे, वितिए वग्गमि [प ११४ पा १] जाण हेमत(त) ।
तइयमि गिम्हकाल, चउत्थे(चउत्थए) पाउम जाण ॥ २१२ ॥

संवत्सराक्षरे प्रथमवर्गाक्षरे दृष्टे द्वितीयवर्गाक्षरे च तदनन्तरं भवतो दृष्ट हेमन्तकालो ज्ञेयः। संवत्सराक्षराः—च ज ट ब भ य दाः, द्वितीयवर्गाक्षराश्च—ख छ ठ थ फ र षाः। तस्य

संवत्सराक्षरस्य प्रश्नाक्षराणामाद्यो स्थितस्य यदा ग ज ड द ब ल सा नामन्यतमाक्षरोऽनन्तरमेवाग्रतो दृश्यते तदा ग्रीष्मकाल आदेश्यः । तस्य संवत्सराक्षरस्य आद्यो स्थितस्य यदा घ झ ढ ध भ व हा नामन्यतमाक्षरो दृश्यते तदा प्रावृट्कालो वाच्यः ॥ २१२ ॥

पचमयमि य वरिसा, वसतकाल च पढमकादीसु ।
आयक्खरेसु पचसु, सरओ सेसेसु चढ(ठ)थ पि ॥ २१३ ॥

तस्यैव संवत्सराक्षरस्य, प्रश्नाक्षराणामाद्यस्य [प ११५ ए २] ङ ञ ण न मा[ना]मन्यतमाक्षरो यदाऽनन्तरमेवाग्रतो दृश्यते तदा वर्षाकालो(ल:) । तस्यैव संवत्सराक्षरस्य प्रश्नाक्षराणामाद्यस्य क च ट त प इत्येतेषां पञ्चाना[म]नन्तरमेवाग्रतो दृश्यते तदा वसन्तकालो(ल) आदेश्यः । तस्यैव संवत्सराक्षरस्य प्रश्नाद्यक्षराणामाद्यस्य ख छ ठ थ फा(सां) इत्येतेषां चतुर्णां केचित् मन्यते न द्वाभ्यां यकार-स(श)काराभ्यां तदा प्रथमपञ्चके 'अ-इ' स्वरद्वय न गम्यते । क च ट त प इत्येते तद् गण्यन्ते । यदा यथाऽन[प ११६ ए १]न्तरमेवाग्न्यतमाक्षरो दृश्यते तदा शरत्काल आदेश्यः । पौष-माघौ हेमन्तः । फाल्गुन-चैत्रौ वसन्तः । वैशाख-ज्येष्ठौ ग्रीष्मः । आषाढ-श्रावणौ प्रावृट्कालः । भाद्रपद-अश्वयुजौ वर्षाकालः । कार्त्तिक मार्गशीर्षौ शरत् । एवं क्रमः । गाथा-बंधानुलोमतया यथा तथोक्तः ॥ २१३ ॥

पढमस्स पढमतइए, फग्गू चित्तो य दोसु चाईसु ।
दोस(सु) य कत्तियमासो, मग्गसिरो दोसु चरिमेसु ॥ २१४ ॥

प्रथमवर्गस्य प्रथम-द्वितीय-तृतीये च [प ११६ ए २] अ-इ-क फाल्गुनः । प्रश्नादौ स्थित(त)स्वरैरनन्तरोक्तानां त्रयाणां मासाक्षराणामन्यतमो यदा दृश्यते तदा फाल्गुनो मासः । एव क्रमेण चकार-टकारौ चैत्रः । तकार-पकारौ कार्त्तिकः । य-श(स) मार्गशीर्षः ॥ २१४ ॥

एमेव सेसयाण, उदुवग्गाण पच चउरो(त्था) य ।
मासक्खरा उ कमसो, पोसादी जाव अस्सजुज्जो(जो) ॥ २१५ ॥

आ ऐ ख छ ठ पौषः । थ फ र ष माघः । इ ओ ग ज ड वैशाखः । द ब ल स ज्येष्ठः । ई औ घ झ ढ आषाढः । ध भ व ह श्रावणः । [प ११७ ए १] ङ ञ ण न भाद्रपदः । म अं अः अश्वयुजः । एवं पौषादिरश्वयुजपर्यवसा[न]मिति । तत्र चतुर्थवर्गाक्षरा ये च स्वस्वर ज(रा)श्रयाः । पंचमवर्गाक्षराः ङ ञ ण न मा मासाक्षराः । ते मासाक्षराः संवत्सराक्षराणामुपरि गता क्रमतो वा व्यवस्थितानां वर्तते । तत्रेषु तेषु यथाक्षरा मासाक्षरा भवन्ति । तैर्मासादेशः कार्यः । अश्वयुजमासाक्षरस्य वर्षप्रवृत्तिः, समाप्तिश्च तस्य भाद्रपदमासे । एवं मासक्रमः उक्तः । अनेन क्रमात्प्रश्न[प ११७ ए २]-सुखदुःख-गमनागमन-जीवितमरण-गर्भजातकादिषु संवत्सर अन्यथा प्रश्नाक्षरैः काल आदेश्यः सुसमाहितेन निमित्ते(त्त)ज्ञानर्ज(च)तेति ॥ २१५ ॥

॥ कालप्रकरणं समाप्तम् ॥

लामदि(द्दि)यस्स लाभ, बधिज्ज जइ उत्तरा हु अणभिहया ।
अहरेसु णत्थि लाहो, जे वि[य] अहराहरा चउरो ॥ २१६ ॥

[प ११८ प १] अनभिहतोत्तराक्षरबहुले प्रश्ने प्रभूत(ला)भ आदेश्यः । अधराक्षराधिके नास्ति लाभः । येऽपि चाधराधरा[ः] चत्वारः स्वराः प्रागुक्ता[ः] तेऽप्यलाभकराः । 'आ ई ऐ औ' एतेष्वधिकेषु लाभो नास्तीति ॥ २१६ ॥

लब्भइ लहु(हु) सजोणुत्तरेसु[प]रजोणि उत्तरे लाभ ।

लब्भइ विलम्बियकाले, सपरिके(क्के)स [प ११८ पा २] अहरएसु ॥२१७॥

उत्तरजीवाक्षरबहुले प्रश्ने अभिप्रेतमर्थ(र्थं) क्षिप्र लभते स्वजना[त्], तैरेव जीवाक्षरैरधिकेषु प्रश्ने उत्तरधात्वक्षराभिप्रेषु उत्तरमूलाक्षराभिप्रेषु वा परत(स)काशाल्लाभो वाच्य(च्यः) । एषामेव जीवधातु-मूलाक्षरा[णा]मुत्तराणामधिकानां आलिङ्गिताभिधूमितानां चिरात् परिक्लेशेन वाऽभिप्रेतार्थमर्थं प्राप्नोति । यतः छ(अ)तभिद(र)ग्धेनैवास्ति लाभ इति ॥ २१७ ॥

जह चेव य अभिघाते, तह चेव य उत्तराहरेसु पि ।

चातुस्सरा य चरिमा, [प ११९ पा १] समावदीहा य अहरहरा ॥२१८॥

शुभाशुभ पृच्छतः अभिघातया(ता)लिङ्गिताभिधूमितदग्धलक्षण उत्तराक्षरेणाधरेण आलिङ्गितो(ते) उत्कृष्टात् सकाशात्स्वल्पक्लेशो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाधरो(रा)क्षरेणाभिधूमित उत्कृष्टात् सकाशान्मध्यक्लेशो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाधरो(रा)क्षरे दग्धे सत्युत्कृष्टात् सकाशान्महाक्लेशो भवति । अधराक्षरेणोत्तराक्षरे आलिङ्गिते धर्माद्स्वल्पदुःखमवाप्नोति । अधराक्षरेणोत्तराक्षरे अभिधूमिते धर्म(र्मान्)मध्यम दुःखमवा[प ११९ पा २]प्नोति । अधराक्षरेण उत्तराक्षरे दग्धे धर्मान्महा[द्]दुःखमवाप्नोति । एवं शुभाशुभ पृच्छतो वाच्यम् । चातुस्वरौ द्वौ 'ऊ ऊ', चरिमौ 'अं अः', ङ ञ ण न म । समावदीर्घाश्चयः स्वराः 'ई ऐ औ' । एतेषां मध्ये 'ई औ' अधराधरो(रौ) चतुर्थवर्गप्रतिबद्धत्वात् । एते बाधा ददन्ति, न लाभं कुर्वन्त्यधिकाः प्रश्ने । लाभ(भा)श्च पूर्वोक्ता एव ॥ २१८ ॥

अहरेसु अत्थि लाभो, जइ उत्तरवज्जणेण अणुवलिओ ।

अहरबलाणुबलेण, पुणो(?) भणिज्ज लाभ तु णत्थि त्ति ॥ २१९ ॥

अध(ध)रेषु लाभः प्रतिषद्धः अपि चाधार्म भवत्यधरेषु लाभो यदु[प १२ ,प १]त्तरे रुत्तुवलिता भवन्ति । यदा त्वधराः अधरानुबलाधि(ब)ला भावत्येव लाभ इति ॥ २१९ ॥

जइ अक्खरअणभिहया, पण्हे दसीति उत्तरा लहुआ ।

तो भणसु रायलाभ, अहराहरसजुए णत्थि ॥ २२० ॥

प्रश्नायां उत्तराः अथवा जीवाक्षराः अनभिहता दृश्या यदा लघवः, तदा क्षत्रियस्य पार्थिवो राज्यलाभः । शेषवर्णानां यथासमर्थलाभो वाच्यः । योनिषि(वि)शेषाक्षराणां यथा वैश्यम् । 'अधराधर' इति अधरैः अधरस्वरयुक्तैर्नास्ति लाभ इति प्रागुक्तमेवेति ॥ २२० ॥

लाभम्मि पढमदिट्ठे, [प १२ पा १] तिविहं काल तु निद्दिसे तस्स ।

अतिगतमेस्स वट्टन्त पंचवग्गाणुमाणेण ॥ २२१ ॥

लाभाधिकार एवायम्—लाभे प्रथमं दृष्टे त(त्रि)विधे कालमतीतमनागत वर्तमानं च । वर्गाणां परिणामेन निर्दिशेदिति एतत्सूत्रमुपरि गाथा(थ)या व्याख्यास्यति ॥ २२१ ॥

पढमतइया हु वग्गा, वट्टते वितईअ(बियई)ओ अईअंमि ।
सेसा दोन्नि वि वग्गा, कालंमि अगामिय(य आगमि)स्संमि ॥ २२२ ॥

प्रथमवर्गोक्षरा[प १२१ पा १]णां क च ट त प य शा नाम्, तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नाम्, अभ्यन्तमाधिके प्रश्ने वर्तमानकालमवगच्छ । द्वितीयवर्गाक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा नामभ्यन्तमाधिके अतीतकालमवगच्छ । शेषवर्गाक्षराणां घ झ ढ ध भ व हा नाम्, ङ ञ ण न मा नां चाभ्यन्तमाधिके भविष्यत्कालमवगच्छ । यदुक्त वर्तमानकालाधिके प्रश्ने प्रत्युव(र्व)र्तमानश्चो(ले) लाभः । अतीताक्षरे[प १२१ पा २]बहुले प्रश्ने आसीजा(? अतीतका)भः । भविष्यत्कालाधिके प्रश्ने भविष्यति लाभः ॥ २२२ ॥

जा जस्स पुव्वभणिया, जोणी तस्सक्खराइ लक्खेज्जा ।
तस्सेव वड्ढे लाभ, वा पाविय णिद्दिसे तेणं ॥ २२३ ॥

या यस्य जीव-धातुमूलानां योनिरुक्ता तस्याधिकियाया यो (योनेः) प्रश्नाक्षराणां मध्ये यदा जीवाक्षरा अधिका भवन्ति तदा जीव लभ्यत इति [प १२१ पा १]प्रज्ञाता(दुर्वा)च्यम् । द्विपद-चतुष्पदस्य वा अक्षरानुमानेन पूर्वोक्तक्रमेणैव ज्ञेयम् । एवं धा(तु)स्वक्षरा यदा बहव[ः] तदा धातुं प्राप्स(प्स्य)तीति प्रत्युवा(वो)च्यः । यदा मूलाधिकः, तदा मूलद्रव्य-मवाप्नोतीति वक्तव्यम् ॥ २२३ ॥

तदा वक्तव्य इति गाथान्तरेणाह–

पण्हक्खरेसु पढमो, जारिसओ उदिसिज्ज जीवाई ।
तारिसयस्स य लाभो, धायाति य [प १२१ पा २] णिद्दिसे तेण ॥२२४॥

व्यक्तार्थेव गाथा ॥ २२४ ॥

पढमाइ बमणाण, बीओ वग्गो हवइ वेसाण ।
तइओ य खत्तियाण, सुद्दाण सेसया दोण्णि ॥ २२५ ॥

प्रथमवर्गाक्षराणां क च ट त प य शा नां अभ्यन्तमाधिके प्रश्ने ब्राह्मणजातलाभो(लाभ)मादेश्यः । द्वितीयवर्गाक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा णां अभ्यन्तमाधिके प्रश्ने वैश्यलाभ(भ)मो वक्तव्यः । तृतीयवर्गाक्षरा[णां] ग ज ड द ब ल सा नामभ्यन्तमाधिके प्रश्ने क्षत्रियलाभ(भ)मो वक्तव्यः । शेषवर्गाणां घ झ ढ ध भ व हा नां बाहुल्ये तदा शूद्रा[त्] लाभो वक्तव्य [प १२२ पा १] इति । ङ ञ ण न मा [नां] अभ्यन्तमबहुले संकरजातीयाला(ला)भ इति । अनयैव जातीयका वध्य एव च द्रष्टव्यम् ॥ २२५ ॥

अये(प्पे)वि यणभिहया, यण्णिया (ग्गिय ?) वग्गा(ण्णा ?)सवग्गसजुत्ता ।
अभिहयपरसजुत्ता, णीया (णय) हीणाहियसमा भणिया ॥ २२६ ॥

अनभिहताः सर्ववर्णाक्षराः तावति(त्ति)नो भवति । तैः प्रश्नाधिके लाभो भवति । ये पर पा(स्प)रमभिघ्नन्ति । क च ट त प य शा[नै]रुपरिगतैः, घ झ ढ ध भ व हा नां च ग ज ड द ब ल सै

इपरिगतैम(में)वति । स[च]र्गसंयोगः । तद्युक्ते प्रश्ने लाभो भवति । ये परस्परमभिघ्नंति । स चाभि[प १११ प १]घातस्त्रिविधः । आलिंगितादिकः पूर्वोक्तः । योऽसौ प्रश्ना तदभिघातेन वर्गा(र्गो ?) कदाचित्संख्यया हीना[ः] कदाचिद(द)धिका[ः] कदाचित्समा भवति(न्ति) । एकै-(के ?)न जमिम(ह)न्यंते(?) । हीने(?) फललाभ[ः] प्रश्ने समे ईप्सफल भवति । इतरेषिकेस(म) फलाभावः । एवमेति(भिः) शुद्धलेपैः शुभाशुभमध्यमादेश्यम् ॥ २२६ ॥

पढम-तइज्ज(ज्जे) वग्गे, होइ [प १२४ प १] सुही दुक्खिसओ बी[य]-चउत्थे ।
पचमए पुण वग्गे, सुह-दुक्खे(क्ख) मज्झिम तस्स ॥ २२७ ॥

प्रथमवर्गः—क च ट त प य शाः । तृतीयो वर्गः—ग ज ड द ब ल साः । एषामक्षराणां बाहुल्ये सुखनिराबाधो मद्धु[ः] सुखलाभो भविष्यति सुखावाप्ति(प्ति)रित्यर्थः । द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र षाः । चतुर्थो—घ झ ढ ध भ व हाः । ए(ए)तेषां अक्षराणां बाहुल्ये महादु(दुःख)लाभो [प १२४ प २] देवः । दु(दुः)खा[वा]गमो वा भविष्यतीति । पंचमवर्गो—ङ ञ ण न माः । तेषु च [सुख]दुःखं मध्यममवाप्नोति । एवमसौ सुख-दुःखी (वापि ?) वा वक्ता(प्ये)(प्नो)ति येव(एवं) वाच्यम् ॥२२७॥

बीय-चउत्था वग्गा, दिट्ठा इच्छति सुयहु आउ [च] ।
पचमओ पुण वग्गो, मज्झि(ज्झि)मआउ सया इच्छे ॥ २२८ ॥

द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र षाः । चतुर्थः—घ झ ढ ध[प ११५ पा १]भ व हाः । एतेषाम-क्षराणां बाहुल्ये आयु[ः] पृच्छतः, आयु[ः] मध्यु(मृ)त वक्तव्यम् । फल लाभादिकं पृच्छति(तः) तस्य वक्तव्यम् । पंचमवर्गाक्षरा[णां]—ङ ञ ण न मा णां बाहुल्ये मध्यमायुः पृच्छकस्य, लाभप्रश्ने मध्यमो लाभो वाच्यः ॥ २२८ ॥

उत्तरसरसयु(जु)त्ता, सव्वे अप्पाउआ फलमुवेंति । [प ११५ पा २]
अहरस्सरसजुत्ता, तुह (?सुयहु) इ(य)च्छति ते आउ ॥ २२९ ॥

उत्तरस्वराः पूर्वोक्ताः संयुक्ता उत्तराक्षराः प्रथम-तृतीयवर्गीयाः । तद्बहुले प्रश्ने यदि लाभादिकं फलं पृच्छति तेषां प्रभूत फल भवति । येऽप्यायुः पृच्छति तेषामल्पमायुर्भवति(ती)-त्यादेश्यम् । त एवाधिका उत्तराक्षरा अधरस्वरयुक्ता आयुःप्रश्ने प्रभूतमायुः प्रयच्छति । फल-प्रश्ने फलं चास्य अमात्रिकमिति ॥ २२९ ॥

अहव विसण्णो आयुमि होइ सुक्खेसु फाइमाईसु ।
सघण्ह मेसममा(वसा?)दि सरसंजुत्तेसु विवज्जासो ॥ २३० ॥

पंचवर्गन्यायेन स(सा)मान्यतः फलं पृच्छकस्यायु[प ११६ प १]र्मोक्त[म्] । अह वर्गन्यायेन कमसुरपाद आयुर्विभागो नष्टविभागो नष्टजातकमिति वक्तव्यमिति । कापानि सप्तवर्गेषु शुद्धेषु मेषादिराशयः । सप्त कथं ? । प्रभाक्षरं पृष्ट आयाक्षरं अवस्था द्वितीये 'क च ट त प य शा'या(रि)यणाक्षराणां वर्गोन्यतम शुद्धमात्रारहितं यद् वर्गमध्य याति दृष्टं स राशि(शि)-रुत्पादिः । तत्र च वर्गे यदि (यतो ?)मो वर्ण[ः] तमि लिखा(क्ता?) ज्ञोप्या । पर्वस(स)को वर्णः । वर्णे पट्का: सो(तो)प्याः । भुज्यमानस्य वर्णप्रमाणेन पट्काः ज्ञोप्याः । पद्(षष्ठ ?)भस्य पचमो रेफः, स-

[तम]वर्गेऽस्य ककारः, चपतटच [प ११६,पा २]वर्गाश्च द्विमिकारिकाः । एते वर्णाः पंचकत्वेन कुर्वन्ति । एवं स्वरयुक्ता आयतनभागेन [मि] पर्यायो द्रष्टव्यः । एव वर्ण(र्णी)मात्रं कम प्रभावैः स्वरापत्ते । ततः सिद्धाः[र]राशिकस्यस्य(त्साय: ?) । कर्म आयत स्वरा द्विगुणीकृतास्वाभ्यवक- प्रभवा द्वसकृत्संख्यया मिश्रया गुण्य सार्धं सप्तम चत्वारिंश[प १२७ प १]अधिक सिद्धराशि(शिं) स्थाप्य प्रभागवक्तव्यांशा[न] विशोध्य शेषभाग ककारगर्भेण कादिवर्गाङ्कगुणेन कार्यं एकत्वे स्थाप्य, रूपमेक शेषवर्णाङ्कानां यथाद्वर्ध(र्ध) स्थाप्य, पश्चिमच्छेद पाडवस्थाप्य, उपरिवर्णराशिश्च र्वे(?) पश्चिमपश्चिमगु(गु)ण्यं तेन भागोपरि राशे[ः] क्रमाणि वर्णानि । शेष स्वरगुण क्रमा मा- सा[ः] पायकवगर्भगुणे मिनाम्नि । 'कचटत' चतुरक्षरवर्गगुणे [प १२७ प २] वर्तितः । पदवर्णातिक्रमेण स्थाप्य ककारगर्भेषद्वर्गगुणाभिशोध्य पुष्पकस्य प्रथम-मध्यम-तृतीयावर्तां शिखा(खा)म भास्वादिस्वरं देयम् । शिखो वा कवर्गाः पे आयामपादे षड्वर्गक्षेपोपपत्तो वा तृतीयवसा(खा)यां 'अएकचटतपयश' वर्ग क्षोभ्य वाऽम(प)वीर्य वा । पवमामृत्वा यावचि- (ति)मिश्रकम इति । यावत्स(म) पर्याया वात्वारि[प १२८ प १]त(त्रि)कस्य वकस्यवत्सु द्रुष्यति(न्ति) प्रक्षिप्यन्ते वा यावद्वर्णक्षेपादवोऽप्यसावायोवम्य(?)यावमि द्रुक्षा पादो देयो वा । एवं पुष्पकस्यातीतः कालः स्फुटः । आगामिकालपरिज्ञानार्थं च एषः अति(ती)तकालः, एषः चतुरपगुणाकारः, गर्भान्ति(क्षो)प्य वर्णानि । इदानीं तस्माचात(ती) वसा(खा) विभागमे- सा(खा) प[त]ति यावति(ती) इह क्षेत्राभिसेतु पादा । [प १२८ प २] इह शेषभागांमि- वर्गाक्षित(ग)म समयस्योगे सर्वे(र्व) वर्णाममिति (?) ॥ २१० ॥

आठमि जो वियप्पो, काले देसे य होइ सो चेव ।
अणुणासिया य सव्वे, चरिमा सेसा समा भणिया ॥ २११ ॥

आयुषि यः क्रमोऽभिहितः स एव कालो(ले) वक्तव्यः । उच्चराक्षरैरधिकैः क्षिप्रं क[ष्ट]वीति वक्तव्यम् । अधराक्षरैरुच्चराक्षरान(नुना)सिकैः, द्वि(दे)रधिकैः स(चि)रेण प्राप्स्यतीति प्रश्ने वाच्यः । देसो(शो) ग्राम-विषयादिलक्षणः । ग्रामादिकस्य लाभो भवतीति प्रश्ने उच्चराक्षरैरधि- केभ्यो [क्षिप्रं] अधराक्षरैर्योत्तराक्षरानुनासिकैः [प १२९ प १] स[चि]रेण लाभः । अधराक्षरै- राधिकैर्नास्ति लाभः । अनुनासिकाप्रतिसंहारैः समो लाभः सयोगिगुणमुख्य इति ॥२११॥

॥ लाभगण्डिकाप्रकरणं समाप्तम् ॥

इस(तइ)य-पढमेसु य जल, बीय-चउत्थेसु अप्पपाणीयं ।
पंचमए पुण थमो, णत्थि जल चेय णायव्व ॥ २१२ ॥

प्रथमवर्ग-तृतीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने भाति जलसमाहरम् । या मात्रा [ः ी] स्वर्णमती मता तामिरत्येवमेवेति ॥ २१२ ॥

पढम-तइएसु [पर]मा, थितिए मज्झा उ सस्ससंपत्ती ।
चउ-पंचमए आयरिए (?) णत्थि सस्स से(ति) आणेज्जा ॥ २१३ ॥

प्रथम-तृतीय[प० १२१ पा० १]वर्गाक्षराधिके सस्यनिष्पत्तिः उत्कृष्टा । द्वितीयवर्गाक्षराधिके मध्यमा सस्यनिष्पत्तिः । चतुर्थवर्गाक्षराधिके स्तोकं निष्पद्यते । पञ्चमवर्गाक्षराधिके स्तोकमपि नास्ति धान्यम् ॥ २२३ ॥

पढम-तइयमि वग्गे, सहूसण तह य बीयए असई ।
चउत्थ-पचमए वग्गमि(ग्गे) णत्थि सह चिय णायव्वा ॥ २२४ ॥

प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने महती सती ज्ञेया । द्वितीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने मध्यमा सती ज्ञेया । चतुर्थ-पञ्चमवर्गाक्षराधिके प्रश्ने सतीरेव नास्तीति निष्पत्त्यभावात् ॥ २२४ ॥

॥ वर्गस्य [प ११ प १] गण्डिका समाप्ता ॥

आदा पुस्सो [य] महा, हत्थो चित्ता तहेव [साई य] ।
जिट्ठा [मू]लो एए, इ(दु)अक्खरा अट्ठ नक्खत्ता ॥ २२५ ॥

आर्द्रा-पुष्य-मघा-हस्त-चित्रा-स्वाति-ज्येष्ठा-मूला अष्टौ द्वे(द्व्य)क्षराणि नक्षत्राणि ज्ञातव्यानि ॥

अस्सिणि भरणि तह(य) किन्तिय, रोहिणि फणिदेवया विसाहा य ।
रेवय सवण धणिट्ठा, तिअक(क्ख)रा णव उ नक्खत्ता ॥ २२६ ॥

अश्विनी-भरणि-कृत्तिका-रोहिणी-अश्लेषा-[विशाखा]-श्रवण-धनि(नि)ष्ठा-रेवत्य इति नव नक्षत्राणि त्र(त्र्य)क्षराणीति ॥ २२६ ॥[प ११ प १]

मिगसिर पुणव(व)सु पिभि, पुव्वासाढाणुराधजलदेवा ।
एए पच वि र(रि)क्खा, चउरक्खरनामया भणिया ॥ २२७ ॥

मृगसि(शि)रः पुनर्वसुः पूर्वाषाढा अनुराधा शतभिषा एतानि पंच नक्षत्राणि [चतुरक्षरनामकानि भणितानी]ति ॥ २२७ ॥

भगदेवा दगदेवा, रिक्खा पचक्खरा दुवे एते ।
अट्ट(ज्ज)म-विस्सा छक्क, सत्तक्खवि(रि)याहिबुन्दी(बन्धु?)या ॥ २२८ ॥

पूर्वाफाल्गुनी उत्तराषाढा द्वे एते नक्षत्र(त्रे)ऽपि पंचाक्षरौ(रे) । अर्यमदेवता–उत्तराफाल्गुनी, विश्वदेवता–पूर्वाभाद्रपदा एतौ षडक्षरौ । अहिबन्धुः उत्तराभाद्रपदा सप्ताक्षरा ॥ २२८ ॥

दो[अ]क्खरमाईण, णक्खत्तग(णा)ण [कमेण ?] ठावेउ ।
पण्हाइमसंखाए,[प १२१ प १] णक्खत्तगणं वियाणाहि ॥ २२९ ॥

द्व्यक्षरादीनां नक्षत्राणां सरा(प्ता)क्षरपर्यन्तानां क्रमेण स्थापयित्वा प्रश्नाक्षराणां आद्यक्षरसंख्ययाऽभिप्रायोद्धतया नक्षत्रगणसंख्या नक्षत्रगणं जानीहि । द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं चतुरक्षरं पंचाक्षरं षडक्षरं सप्ताक्षरं चेति ॥ २२९ ॥

---

१ "गण इति देश्यो इति प्रत्यन्तरे पाठः ।

अधरुत्तरक्कमेण, पच्छा अहरुत्तरेण सद्धाण ।
णादुण(दूण?) सवणाम, जाणेज्जा णामकरणाण ॥ २४० ॥

अधरा प्रथमः, उत्तरा अप्युत्तम एव । प्रश्नाक्षराणामाद्यवस्थितो(तैर?) उत्तराधरणैर(रैवा) त्मसंख्या(ख्यं) नक्षत्रं ज्ञेयम् । प्रश्नाक्षराणामा(मा)दिस्थितेन अधराक्षरेण बहुसंख्यं नक्षत्रं ज्ञेयम् ।
[प १११ ब २] प्रश्नाक्षरैना(र्ना)माक्षरैर्वा पूर्वोक्ति[न] क्रमेण प्रगंमानीय तेषामुत्तराक्षरे उत्तराक्षरा लभ्यन्ते । अधराक्षरैरधराक्षरा लभ्यवर्गा[:] प्रतिलभ्या[:] प्राप्यन्ते । तैर्नक्षत्र योजयेदिति । अत एव अधरराशि(शि)रपि ज्ञेया ॥ २४० ॥

॥ नक्षत्रगणिका समाप्ता ॥

तिहि उत्तरेहि वग्ग, उत्तरवग्गेसु [प ११२ ण १] पढमय लहइ ।
तिहि अधरेहिं अधरं, अधरेसु(सु) य तिजय लहइ ॥ २४१ ॥

प्रश्नाक्षराणामादौ यदा त्रयोऽक्षरा उत्तरा मात्राभिरभिहता (मात्रारहिताः?) असंयुक्ता अनभिहताश्च भवंति तदा तेषां च आ[दि]त्तर(रः) स आत्मीयं वर्गं लभते । प्रश्नाक्षराणामादौ यदा त्रयोऽक्षरा अधरा मात्रारहिता [प ११२ ण २] असंयुक्ता अनभिहताश्च भवंति तदा तेषां मध्यतृतीयोऽक्षरः [स] आत्मीयं वर्गं लभते ॥ २४१ ॥

उभएसु दोसु दोण्णि वि एक्केक्के चउक्कय लहइ ।
मामिस्सेसु वि एक्क, पुरिमेसु अणतर लहइ ॥ २४२ ॥

प्रश्नाक्षराणामादौ यदा द्वौ उत्तराक्षरौ भवतः मात्रारहितौ असंयुक्तौ अनभिहतौ च तदौ(दा) तौ द्वावपि प्रत्येकं आत्मीयं[1] वर्गं [प ११३ ण १] लभते । प्रश्नाक्षराणामादौ यदा द्वौ अधराक्षरौ मात्रारहितौ असंयुक्तौ अनभिहतौ च प्रत्येकं आत्मीयं वर्गं लभते । यदा अधरा-
(र आ)द्यौ पतितोऽनन्तरश्च स(त)त्तोत्तरः पतितः । य(त)दाऽऽलिंगितामिधूमितदग्ध-शब्दं अभि-धातं सो(स्रो)पयेद्(द) । निदर्शनम्—टकारस्य गकारेणालिंगितस्यैका संख्या भवति । इतिरेक-संख्या[क]श्च ककारो [प ११३ ण २] भवति । तस्मिन् ककाराच(रश्च)तुर्थवर्गंश्चतुर्वर्गं लभते । चतुरायुक्तस्थित्वात्प्रथमं उत्तरं लभते । स एव टकार(रो)धकारेणाभतोऽवस्थितेनाभिधूम्यन्ते(ति) । अभिधूमितस्य धकारस्य द्वे संख्ये निवर्तते । एका टकारसंख्या, द्वितीया धकारसंख्या ? तत्रैका
लामे(न)क्रमेण टकार धकाराक्षरस्य चतुर्थपवर्गमाप्नोति । स आ(च) धकारानुवस्थितत्वात् पवर्गं अधराक्षरं माप्नोति । यदा अध[र] आद्यो पतितोऽनंतरश्च तस्योत्तरः पति[तः], तदा-ऽऽलिंगितामिधूमितदग्धशब्दं अभिघात योजये[दि]ति । [प ११४ ण १] निदर्शनम्—टकारस्य द्वे ककारस्य डकारे[ण] चोत्तरेण दग्धस्य तिस्रः संख्या निवर्तन्ते । आद्यास्तिस्रः संख्याः ? टका-रस्य संख्या द्वे चेति । आलाद्यक्षरस्य डकाराक्षरस्य चतुर्थवर्गं माप्नोति । क: पुन[र]यो चतुर्थस्तत्रोत्तरानुवस्थितत्वात् पवर्गेऽधराक्षरा(रं)माप्नोति । एवं पको(के?)न चतुर्थस्य वक्तः ।

---

[1] 'आत्मीयं पवर्गं' इति प्रतिगतः पाठः ।

अन्येषामप्यक्षराणां एवमेव क्रमो ज्ञेयः । व्यामिश्रास्तु संयुक्ताक्षराणां यत्र यत्र पतिता आत्मवर्गं लभते(न्ते) । तेषां संयुक्ताक्षराणां क आत्मवर्गं लभते ? किं योऽग्रस्थात् आहोस्विदुपरिष्ट(ष्टा ?) । [प ११४ पा २]उच्यते—योऽसायु(सु)पया(र्ये)क्षर । प्रश्ने पूर्वोक्षरे यदा प्राप्नुयते भवतः, मात्रारहितौ असंयुक्तौ चेति । तदा द्वितीयोऽक्षर आत्मीयं वर्गं लभते ॥ २४२ ॥

अ च त य वग्गा उत्तर-करणं च हवदि [जइ ?] चउ व[ग्ग]स्स ।
होदि कमेण क ट प शा, चदुरा णीप(य) च णादूव ॥ २४३ ॥

'अ च त या'नां चतुर्णामक्षराणां बाहुल्ये(ल्यं) यदा प्रश्ने भवि(म)त्वभिहि(ह)तानां तदा चिंतायां उत्तमकार्यं पृच्छतीत्यादेष्टव्यम् । लाभप्रश्ने उत्तमो भवतीति वाच्यम्(ईष्टः) अ(प्र ?)ष्टा । 'क ट प शा'नां चतुर्णामक्षरा[प ११५प १]णां प्राचुर्यं यदा प्रश्नाक्षरेषु दृश्यते अनभिहतानां तदा चिंतायां नीचकार्यं पृच्छतीति वक्तव्यम् प्रष्टा । लाभप्रश्नेऽल्पलाभस्ते भविष्यतीति वक्तव्यम् । 'अ च त या' उत्तरकरणसंज्ञकम् । 'क ट प शा' अधरकरणसंज्ञम् ॥ २४३ ॥

संजुत्तमसंजुत्त, आलिंगियमाविय अ क च टा दी ।
उच्चारिज्जदि कमसो, अणुपुव्वीए करणभेद ॥ २४४ ॥

प्रश्ने येऽक्षरास्ते संयुक्त [असंयुक्ता] वा आलिंगिता [अ] भिधूमिता दग्धा वा, अ क च ट त प [य] शा येऽक्षराः पंचचत्वारिंशत् [प ११५,प २]तेषां क्रमोच्चारण आनुपूर्वीति भण्यन्ते(ते) । आनुपूर्वीक्रम उच्यते । 'अ क च टा'दीनामष्टानां वर्गाणां क्रमोच्चारणं आनुपूर्वीक्रम उच्यते । विपर्यासोच्चारणं अनानुपूर्वीकरणमिति । एतावानेव, नात्र कश्चिद् विशेषः । शामिस्तु वर्गाणां अन्यत्र(ा)का(व्यका°) रिकयोच्यते ॥ २४४ ॥

[पढ]अं(म ?)तिछचउक्के त प य श वग्गे वि पावए जेण ।
एव अना[णु]पुव्वीकरण छट्ठ मुणेयव्व ॥ २४५ ॥

प्रथमवर्गस्य 'अ क[प ११६ प १]च ट त प य शा'स्यास्य अन्त्य(न्त्या)क्षरामत्वारः 'त प य शा' एते यदा प्राप्नुवंति वर्गाणां तदा वर्णाद(वि)न्यास्युपरिष्टा[त्] । एव तद्वर्गा(र्गाः) विलोम्येन अनानुपूर्व्या प्राप्नुवंति । वर्गाः—कवर्गः चवर्गः टवर्गः तवर्ग मि(इ)ति । अनानुपूर्व्या षष्ठं करणं ज्ञेयमिति । अ क च ट त प य शा इत्यत्र पूर्वाः—'त प य शा' इत्येवानुपूर्वीक्रम इत्यर्थः । एषामेव विपर्ययोच्चारणं अन्योन्य(न्यानु)पूर्वी [क्रमः] । प्राप्ति(पश्चात् ?)क्रम इत्यर्थः । [प ११६ प २] पंच करारण्य(करणानि प्र ?)तीतानि । त(त्रि)पूर्वेषु वर्गः प्रथमकरणम् । एव त(त्रि)पश्चरेषु द्वितीयम् । उभयत उत्तरौ द्वौ तृतीयम् । प(ए)केन चतुर्थं लभ्यते चतुर्थकरणम् । व्यामिश्रेषु(षु)केरेको वर्गः लभ्यत इति पंचमं करणम् । यद्य व्यामिश्र एकेन चतुर्थमत्रांतगतं चतुर्थोऽयं भेदः । आनुपूर्वी उच्चारणकरण पंचमम् । अनानुपूर्वी षष्ठ करणमिति ॥ २४५ ॥

अणभिहदा सजुत्ता, पढम पावंति अप्पणो [प ११७ प १] वग्ग ।
आलिंगिया य तत्तो, हसति एक्केक्कय ठाण ॥ २४६ ॥

उत्तर अनभिहता येऽक्षराः प्रश्नार्था अन्यतमेऽमतो वा त एवासंयुक्तो(क्ता) यदा दृश्यन्ते तदा ते प्रथमवर्गाः स(स्व)वर्गं प्राप्नुवंति । यदा त्वालिंगिता असंयुक्ताश्च तदा एकस्थानह्रासेन हसे

(हासे ?) प्राप्नुवंति । निदर्शनम्–[ककारः] लकारेणालिंगितस्ककारं प्राप्नुयं(प्नो)ति । एव चकारः द(ष ?)कारेणालिंगितः ठ(ट)कारं प्राप्नुयं(प्नो)ति । तथा गकारो [प ११७ प २] घकारेणाभिधू मितः जकारं प्राप्नुय(प्नो)ति । चकारः झकारेणाभिधूमितः डकारं प्राप्नोति । एव भकारो ढ(ब ?) कारेण दग्धः ककारं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि [वर्गा]क्षराः संयुक्ता द्वितीयादिवर्गान् प्राप्नुवंति । द्वितीयवर्गग्रहणेन द्वितीयोऽक्षर लभ्यते । त एव संयुक्ता आलिंगिताः स्थानक्रमवृद्धि[त]स्तात् ते तदा तृतीय स्थान टवर्गं प्राप्नो(प्नुव)ति । एवं गकारोऽपि संयुक्तो यदाऽऽलिंग्यते तदा [प ११८ प १] तृतीय वर्गं प्राप्नोति । एवं संयुक्ताभिधूमिताश्चतुर्थो(र्थम् ?) दग्धाः पंचममिति ॥ २४६ ॥

सद्धाणमुवेंति पुढा, बत्तीसं एत्थ होंति संयो(जो)गा ।
हस्सा य संति कमसो, चउवग्गकमेण एक्केक्क ॥ २४७ ॥

स्वस्था[न]मुप(मुपय ?)न्ति दग्धाः । तत्र स्वरा(रा ?)क्षरसंयोगेना(ना)लिंगिताभिधूमितद ग्धसंयोगेन च द्वात्रिंश(शत्)संयोगा भवन्ति । तामुपरि निर्वर्णयिष्यति । अष्टौ वर्गाः संयुक्त- लिंगितदग्धाभिधूमिता इत्येवे चतुर्भिर्विर्द्वि[प ११८ प २]न्गुणिता द्वात्रिंश(त्रिंश)द् भवति(न्ति) । द्विता(इसिता)मेऽक्षरास्ते आलिंगितास्ते द्वितीय स्थानं प्राप्नुवंति । अभिधूमिता[ः] तृतीयम्, दग्धा[ः] चतुर्थं स्थान प्राप्नुवंति । एतच्च निदर्शनेन पूर्वक्षेपा(पं ?) वर्णितमितो(त ?)ऽन्यम् । अनंतरगा- थानुसारेणायासमर्था–'हस्सा हवंति कमसो' चतुर्थवर्गक्रमेणेति एकेकं वर्गं प्राप्नुवन्ति । संयो गस्य [प ११९ प १] च प्रक्रांतत्वात् 'अ इ ए ओ एते चत्वारः ह्रस्वग्रहणेन स्वरा गृह्यन्ते । तत्र अकारः प्रमादो अन्यत्र वा निरुपहतः अवर्गमेव प्राप्नोति । ककारोपरिगत इकारः कवर्गं प्राप्नोति । चकारोपरिगत एकार[ः] चवर्गं प्राप्नोति । टकारोपरिगतः ओकारः टवर्गं प्राप्नोति ॥ २४७ ॥

बितिय-चउत्थो पचम-छट्ठो अण्णेसु लहदि [प ११९ प २] आदेसा ।
लभदि अ चरिम चउक्को, तकारमादीसु(सु ?) एक्केक्क ॥ २४८ ॥

द्वितीय आकारः, चतुर्थ ईकारः, पंचम [ऊकारः, षष्ठ] ऊकारः । एते चत्वारः स्वरा अन्यवर्गाक्षराणामुपरि प्राप्नुवन्ति । के ते अन्यवर्गाक्षराः ? 'त प य श्रा' । तत्र तकारस्योपरिगत आकार[ः] तवर्गं लभते । पकारस्योपरिगत ईकारः पवर्गं लभते [प १४ प १] जु(य)कार ऊकारेण युक्तः य(य ?)वर्ग लभते । शकार ऊकारेण युक्तः शवर्गं प्राप्नोति । तकारचरिमस्तत्रादीति 'त प य श्राः' चतु(त्वा)रोऽपि चरिमसंज्ञाः । अथ एतानि(तास्मिन्) चतुर्के(ष्के) ह्रस्वानां स्वराणां संयोगेन तत्प्राप्नोति(प्राप्ति)रुक्ता ॥ २४८ ॥

अणुवलिया तिहदा या, जुत्ता पुवावरेण एक्केक्क ।
एस सराण णिवेदो(सो), कक्कारमादी[सु] त(य)ण्णेसु ॥ २४९ ॥

अनुपस्थितस्य आलिंगितापि(पी) । अनुपलिता द्विविधाः–उत्तरान(नु)पलिता अधरा- नुपलिताश्च । तत्र अधराक्षर उत्तरस्वरसंयुक्त उत्तरान(नु)पलितस्य(स्यः ?) । षड्वर्गसंबंधितेन स्वरेणाक्षरो युक्तस्त्विमेव च वर्गो [प १४ प २] उत्तरान(नु)पलितत्वादुत्तराक्षरं लभते । स्वरा[णा]मपि मध्ये स्व(त)मेव स्वरमुत्तरं प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्यधरस्वरयुक्तो अधरानुपलित संज्ञः । षड्वर्गसंबंधी(धि ?)तेन स्वरेणाक्षरो युक्तस्त्विमेव वर्गो अधरानुपलितत्वादधराक्षरं लभते ।

स्वराणामपि मध्ये तस्यैव स्वरमुत्तर(मपरं) प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्यपरस्वरयुक्तोपर

† मिघृष्यते स द्वितीयवर्ग-

मवाप्नोति । निदर्शनम्—ककारोऽभिघूमितः खकारेण [च]वर्गं प्राप्नोति । खकारोऽभिघूमितो घकारेण छवर्गं प्राप्नोति । गकारोऽभिघूमितो घकारेण जवर्गं प्राप्नोति । ककारो युग्मः ङकारेण ढवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽप्यक्षरा[ः] पूर्वाभिहि[प १४१ प २]तविस्तरक्रमेण द्रष्टव्या[ः] । ये संयुक्ताक्षरत्वेपामुपरि योऽक्षरः स स(स्व)वर्गाक्षरं लभते । उत्तरः उत्तराक्षरसमरोऽप्यधराक्षर-मवाप्नोति । एष स्वरनिवेशाक(शः) सकारादिषु हकारान्तेष्वक्षरे[षु] आलिंगिताभिघूमितदग्धलक्षण उक्तः । ह्रस्वा लभंते । आलिंगतमुक्तम्—अकारप्रभृतयः । [प १४२ प १]मन्त्यमनुक्त प्राप्नो(-नुव)ति सान्या (? सान्त्ये) वर्ग लभन्त इति ॥२४९॥ अस्यैवार्थस्यातिरेकाय कारिकान्तरमाह—

अह चेव सरवसेसो (विभागो ?), कक्कारमादीसु व(वं)जणेसु पि ।

एमेव [वि] रई(इ)यव्वो, णिरतर जाव [उ] हकारो ॥ २५० ॥

एवमेव कर्तव्यो निरंतरं ककाराक्षरम्य यावत् हकार इत्येव वर्गाभ्यन्तरं स्वरविभागो विज्ञातव्यो व्यञ्जनेषु । अयमर्थः पूर्वगाथयाऽभिहित इति नोक्तः ॥ २५० ॥ [प १४२ प १] एवं क्रमानुपूर्वो(र्वी)प्रपंचेन षष्ठं प्र(ा)करणम् ॥

जो य सराण विभाग, देसेदि य सत्तमो य सो करणो ।

एमेव वजणाण, विभावणो अट्ठमो होति ॥ २५१ ॥

एकवर्गातिरेकार्थं गाथेय पठिता । षष्ठमुक्तमनानुपूर्वीकरणम् । अनन्तरं स्वरयोगाद्वर्ग-दर्शितमुक्तम् । असौ स्वरविभागो नाम सप्तम करणम् । संयुक्तासंयुक्तविकल्पेन वर्गप्राप्तिरित्यष्टमं व्यञ्जनविभागो नाम प्र(ा)करणम् ॥ २५१ ॥

दसेति सव[ग्ग]क्खर-सजोग [प १४१,प १] जो य सो हवे णवमो ।

परवग्गक्खरसजोय, दसेदि य दसमओ करणे ॥ २५२ ॥

स्ववर्गाक्षरसंयोगेन नवम करणम् । इह यथा भवति तथा पूर्वमुक्तम् । परवर्गाक्षर-संयोगा[त्] दशम करणम् । परवर्गाक्षरसंयोगोऽपि पूर्वाभिह(हि)त एव । अनयो करणयो-र्येपाक्षराणा[ः] तयोपरि वर्णयिष्यामः ॥ २५२ ॥

अह उत्तराणुवलिया, हुस्सा उ लहति हुस्समन(म)यर ।

अहरेणऽवि हम्मसा,[प १४१ प २] तेसिं चिय वग्गमण्णयर ॥ २५३ ॥

अधराक्षरा उत्तराक्षरैरालिंगिता ह्रस्ववर्ग अन्य लभन्ते । निदर्शनं यथा—टकारः ककारे-णालिंगितो दग्धः कवर्गं प्राप्नोति, तस्मिन्नेवोत्तराक्षरम् । एवमन्य(न्य)वर्गेभ्योऽक्षराः प्राप्नुवन्ति । उत्तराक्षरा अधराक्षरे[ण]भिहन्यमाना स्ववर्गेऽपराक्षरं प्राप्नुवन्ति । यथा ककारः टकारेणा-लिंगित[ः] चवर्गे अपराक्षरं प्राप्नोति, अपरानुबलितत्वात् । अथवा चास्या गाथाया अन्यथा [प १४४ प १]व्याख्यानम्—अधरस्वरा उत्तरैर्दग्धैः स्वरैरनुबलिता ह्रस्वस्वरमेवान्यतम लभन्ते ।

† आदर्शे १-२ पंक्तयो विनष्टाक्षरा वर्तन्ते ।

अनुबलितमेव सम्य(म)न्ते(?) उत्तरा इत्या:(?) 'अ इ ए क' इत्येते अधरेण स्वरेणाभिहन्यमाना अधरमेव स्वरं अनुबलितमभिभव(न्ति) इति ॥ २५३ ॥

एव अहर चउक्के, आइल्लो पच्छिमो व एमेव ।
चउ तिय एक्क कमसो, हस्सेसु हवंति आदेसा ॥ २५४ ॥

अनानुपूर्वीमग(गी)त्यस्य अधरचतुष्क 'क ट प शाः' चत्वार आद्या मध्यन्ते [प १४४ पा १] अथवा पश्चाद्भवन्तीति पश्चिमाः 'क ट प शाः' । ककारः ककारवर्गस्य(स्य?) पश्चिमो भवति । एव न(से)यम् । एतस्यैतस्याधिके प्रश्ने मध्यमनाम आदेशः । 'अ च त या' आद्याः । उत्तराः तस्यैतस्याधिके प्रश्न उत्कृष्टनाम आदेशः । एषां 'अ च त या'नां मध्ये अकार-चकाराधिके प्रश्ने उत्कृष्टो नाम आदेशः । एषां(षं) 'क ट प शा'नां मध्ये पकार-शकाराधिके प्रश्ने अधमनाम आदेशः ॥ २५४ ॥

जह चेव सरनिवेसो, भणिओ तह चेव वंजणेसु पि ।
एमेव [वि]रइयव्वो, णिरंतर जाव उ हकारो ॥ २५५ ॥

अनयाऽस्य(स्या) गाथाया विस्तरेण स्वरव्यंजनानि [प १४५,पा १] मातृकाक्षरोत्पादनं प्रकारचतुष्क पंचवर्गीये तत्र प्रथमतरं यथा—तिर्यक् चतुर्दशगृहकाणि ऊर्ध्वं [न]व च । एव तिरश्चाक्षरन्यासः—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । अ । एवमेषा प्रथमा पंक्तिः । इ क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः । उ । प्रथमाया अधः द्वितीया । च । च चा चि ची चु चू चे चै चो चौ चं चः । तृतीया । ऊ । ट टा टि टी टु टू टे टै टो टौ टं टः । त पदे । चतुर्थी । ए । ती तु तू ते तै तो तौ तं तः । त ता ति । ऐ । पंचमी । पे । पु पू पे पै पो पौ पं पः । प पा पि पी । ऊ । षष्ठी । ओ । यु यू ये यै यो यौ यं यः । य या यि यी । ए । सप्तमी । औ । [प १४५,पा २] शे शै शो शौ शं शः । श शा शि शी शु शू । अष्टमी । अं अः ओ औ ए ऐ ऊ उ ई इ आ अ । इ । नवमी । एवमेता नव पङ्क्तयः अधोऽधः स्थाप्याः । एवं यथा पञ्चवर्गेषु दर्शितस्तथान्येऽपि—'ख छ ठ थ फ र ष । ग ज ड द ब ल स । घ झ ढ ध भ व ह ।' इत्येते क्रमेणालिख्य पंचवर्गी[याः?] पंचप्रस्तारा दर्शनीयाः । एकैकस्मिन्प्रस्तारा(रे आ?)दौ अक्षरं दद्यात् प्रस्तारे तथा(द)क्षोऽन्याक्षरस्य प्राप्तिः विज्ञा(ज्ञे)या, इति । कथ ?[प १४६ पा १] प्रश्नादौ ऊर्ध्वोपरितिर्यग्मात्रा(त्रा)मक्षरमक्षरोऽन्य ऊर्ध्वमात्रे ऊर्ध्वगन्याक्षरं गृह्यते । यथा गौरिकास्मिन् दत्ते उपरिष्टात् स्वरसंख्यया पठ्ठे प्रथमां प्रथमां एकमस्य एकमस्य [अ?]क्षरस्यादौ ककारस्य गजविलुलितक्रमो यथा—तौ थो, के, एऐ ओ औ अं अः इत्यादि । एव स्थितेन विपर्ययः । अथ(त्री) मात्रयापश्चाद्गमः । तिर्यकरणस्य समभोगतो क्रमो वक्तव्य इति । 'ओ उ सराण्[प १४६ प २]विभागं दंसेहि" तीता(तो?) गाथास्तदविभागो दर्शनो(शितः?) । पूर्वस्य प्रस्तारस्य किंचिद्विशेषेण लिख्यते—तिर्यप(ग्) ग्रहस्य गृहाणि ऊर्ध्वमात्रो (मध्ये) द्वादश्यानीति । न्यासः—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । प्रथमा पंक्तिः । अस्यापश्चात्—क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः[प १४७ पा १] । क । एषा द्वितीया । अस्यापश्चात्—चि ची चु चू चे चै चो चौ चं चः । च चा । अस्यापश्चात्—टी टु टू टे टै टो टौ टं टः । [ट टा टि] । अस्यापः—ती तु ते तै तो तौ तं तः । त ता ति ती । अस्यापश्चात्—पू पे पै पो पौ पं पः । प पा पि पी पु । अस्यापश्चात्—ये यै यो यौ यं यः, य या यि यी यु यू । अस्यापश्चात्—शै शो शौ शं शः । [प १४७ प २]

[क्ष क्षा क्षि क्षी क्षु क्षू क्षे] एव विरव्य(च्या)क्षरमहण सिंघा(हा)पद्योक्ति-गजविलु(लि)प्रकरण-द्वयम्यासेन स्फूर्णाघखिपेकमात्राकल्पनयाऽक्षरत्रयस पूर्ववत् । एव पंच प्रस्तारान्या(ण्या)लिख्य-(ख)नीयानि 'क ख ग घ' इत्यादिभिरपि वर्णैरिति ॥ एवं स्वरविभागो दर्शितः ॥ २५५ ॥

"एसेव पवपाम, विभावपो अट्ठमो करणो" ॥ [प १४८ पा १]स च प्रथमस्वरपरिकरस्थितो लिख्यते—अत्रापि पचवर्गेषि पंचैव शेषक्रमः समानाक्षरमहण चेति "हंसेति सवग्गक्खर-संजोगं" गाथा । सवर्गाक्षरं संयोगकरणमुपरिष्टाद् ग्रन्थेनैवाभिधास्यति । लभते ककारो गुरुः । कोऽसौ ? स(स्व)वर्गमित्यादिना इति । "परवग्गक्खर" इति । तत्र संयोगोऽनेकधा [प १४८ पा २] स्ववर्ग संयोगः, परवर्गसंयोगः, अक्षरान्तसंयोगमि(ग इ)ति । अत्रैव ककारो लभत इति दर्शयिष्यति ।

एगावीया कमसो, एक्कोत्तरवड्ढिया मुणेयव्वा ।
अवरेसु य आदेसा, एस समत्तो सरविभागो ॥ २५६ ॥

इदानीं प्रागुपन्यस्तसप्तमस्वरविभागकरणकल्पव्यतिरिक्तविशेषाक्षरोपलम्भमर्थमाह—'एगा-(गा)वीया' इति । य एते द्वादश स्वराः । एते एकादिका एकोत्तरवृद्ध्या(ध) । स्थापना अत्र । [प १४९ पा १] अपरे आ(चा)देशाः । अक्षरलब्धिप्रदेशः । वर्गलब्धिर्वा । न केवलमपर स्वरेपूत्तरस्वरेषु च । कथ ? अकारः प्रथमो अनभिहितासंयुक्त अकारश्च(प्रश्न?) नवसंख्यो-(ख्या)काकारं मित्वा अकार अष्टापगमे ककारमेव लभते । तन्मध्ये उकारः पंचसंख्यः स्ववर्ग लभते । एव आकार(रो) द्विसंख्यककारे लभते । अपरस्वाक्षरं मित्वा अष्टाय(प)गमे च ककारमेव । मध्ये तु ऊकारी(रः) षड्(ष)पवग लभते । एव त्रयाणां [प १४९ प २] त्रयाणां मात्रिद्रष्टव्या । एव स्वरविभागः । ततः सप्तमप्रस्तार' प्रपचेनेति ॥ २५६ ॥

उत्तरसु(स)राणुवलिओ, लहइ ककारो ककारमेवत्त ।
अहरमिहओ खकार, सेसा पुव्वावरेणेक्क ॥ २५७ ॥

षट्प्रकारो व्यञ्जनविभागाष्टमः करणमिति । तस्मात्र अनुत्तरः प्रयोगः । उत्तरस्वराः, के ? 'अ इ ए उ' एषामन्यतमानां ककारो युक्तः कवर्गे उत्तराक्षरं प्राप्नोति उत्तरानुवलितत्वात् । एवमन्येऽप्युत्तराक्षर अनभिहि(ह)ता उत्तरस्वरयुक्ता उत्तराक्षरं स्ववर्गे लभते । अधरस्वराः, के 'आ ई ऐ ओ' इत्ये[प १५ पा १]तेषामन्यतमेन ककारो युक्तः कवर्गे अधराक्षरं प्राप्नोति । शेषाः पूर्वोत्तरेणैकं लभन्ति । उत्तरानुवलितो(ताः) अधरानुवलित इति पूर्वापरमुच्यते । एवम-न्येऽप्यक्षरा द्रष्टव्याः ॥ २५७ ॥

॥ व्यञ्जनविभागोऽष्टमः समाप्तः ॥

बीओ पढमेण सम, गुरुओ चत्तारिमो तइज्जेण ।
सेसा सकायगरुया, वग्गे वग्गे भवे तिण्णि ॥ २५८ ॥

द्वितीयोऽक्षरः प्रथमेन [प १५ पा २] युक्तो गुरुर्भवति । यथा 'क(क्ख)' । चतुर्थोऽक्षर-स्तृतीयाक्षरेण युक्तो गुरुको यथा 'ग्घ' इति । शेषाः स्वकायगुरुणा(काः) 'वग्गे वग्गे इयर' तिण्णि वर्गे वर्गे त्रयस्त्रयो(यः) 'ककाकु' इत्येष क्रमः प्रतिवर्गे द्रष्टव्यः ॥ २५८ ॥

अणुणासिया य जुज्जइ, आदिल्लचउक्कए सवग्गस्स ।
सत्तट्ठमो य कमसो, सक्का(का)यगरुआ मुणेयव्वा ॥ २५९ ॥

अनुनासिका ङ ञ ण न मा:, ते युज्यन्ते आद्यचतुष्केण वर्गे (स्ववर्गेण) यथा–ङ्क ङ्ख ङ्ग ङ्घ । ञ्च ञ्छ ञ्ज ञ्झ । ण्ट ण्ठ ण्ड ण्ढ । न्त न्थ न्द न्ध । म्प म्फ म्ब म्भ । सप्तमो वकार: । अष्टमो(म:) सकार: । इमकौ स-सकारगुरु(रू) ज्ञेयौ । [प १५१ पा १] यथा 'ध्व स्स' इति ॥ २५९ ॥

पढमो तदिय वग्ग, बिदिओ य चउत्थय चउत्थो य ।
पंचमओ पुण णिच्च, चउत्थया पावए वग्गा ॥ २६० ॥ [प १५१ प १]

अ	आ	इ	ई
१	२	३	४
उ	ऊ	ए	ऐ
५	६	७	८
ओ	औ	अं	अः
९	१०	११	१२

प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गं(र्गं) तृतीयवर्ग(र्गो) द्वितीयवर्गं च प्राप्नोति (प्राप्नोति) । द्वितीयो वर्गश्चतुर्थवर्गं लभते । चतुर्थः पंचमं प्राप्नोति । पंचमो वर्गश्चतुर्थं प्राप्नोति । किमत्र कारणमित्यत्रोच्यते–च(ङ)कार स्थानगतो यदा ककारो दृश्यते तदा तेन ककारेण लकारो(र) आलिंगित इत्येका(को) संख्या(ख्या) तस्त्वा ककार[:] ककारो [प १५२ प १] न भवति । गकारस्थानगतो यदा खकारो दृश्यते तदा तेन खकारेणा लिंगित इत्येकसंख्या(ख्या) सतस्वा स गकार[:] खकारो भवति । चकारस्थानगतो यदा जकारो दृश्यते तदा तेन जकारेणाभिधूमित इति द्वे संख्ये हसित्वा चकार[:] जकारो भवति । जकारो घकारेणाक्रान्तः स्थितेन यदा आलिंग्यते तदा एका(को) संख्यां लब्ध्वा जकारो धकारमापद्यते । एव मन्ये[षु] वर्गेष्वपि ये आलिंग्यन्ते अभिधूम्यन्ते वा आक्रान्तास्तेषामिदितक्रमेण ह्रस्वाः ॥२६०॥

॥ स्ववर्गसंयोगकरणं समाप्तम् ॥ [प १५१ पा २]

परवग्गक्खरगढ्ढा, पढम पावति अप्पणो वग्ग ।
अणुवलिता[िया]भिहता, लभति पुव्वावरेणेक ॥ २६१ ॥

परवर्गा[क्ष]राक्रान्ता: प्रथमं प्राप्नुवन्त्यात्मनो वर्ग इ(मि)ति । य: स्पर्शाक्षर: स आत्म वर्गा(र्ग)प्रतिपक्षाक्षरं लभते । के ते प[र]वर्गाक्षरा: ? ते उच्यन्ते । 'य आ य इ' इत्येव माया ज्ञेया: । अनुवलितशब्द: आलिंगितपर्याय: । [प १५१,पा १] उत्तरेण यदा ककार आलिंग्यते तदा आलिंगितत्वात् एका संख्या इति(हसित)त्वात् ककार: चकारत्वं प्राप्नोति । चवर्गप्रतिपक्षाक्षरं च लभते । जकार: दकारे[णा भि]भिधूमयि(त)सभिधूमितत्वात् द्वे संख्ये हसि[त]्वा[त्] स घ्य(ष)कार: दकारमापद्यते । दकारप्रतिपक्षाक्षरं च प्राप्नोत्येवमन्येऽपि । ब(भ)कारो जकारेणाक्रान्तो[ऽभि]स्थितेन [प १५१ पा २] दृश्यते । तस्मिं सति संख्यात(?)पकारकार लभते । रकारप्रतिपक्षाक्षरं च प्राप्नोत्येवमन्येऽपि आलिंगिताऽभिधूमिताभ्याः स्ववर्गप्रतिपक्षाक्षरं प्राप्नुवंति पूर्वा(र्व)पर्यायेणेति । आलिंगिताभिधूमितलक्षणं च दर्शयति ॥ २६१ ॥

॥ परवर्गसंयोगकरण समाप्तम् ॥

सीह्वायिलोमिट(वलोइओ) पुणो, इुआदि कमसो यहुमिया(ह्ना)देसो ।
संयो(जो)गविधिप्पेण, पावति [य] लोयणेणं या ॥ २६२ ॥

अ इ ए आ इत्येते(र्ते)स्वरै(रै)श्चतुर्भियुक्ताः 'क च ट त प य श ना'द्या: पंच वर्गा: सिंहावलोकितन्यायेन आरम्भो [प १५४ पा १] य: उपपद्यतेऽनन्तर य(त) प्राप्नुवन्ति । 'आ ई प

णो' इत्येतेषी(तेर्वा)र्घस्वरैश्चतुर्भिर्युक्ताः 'क च ट त प य श' याः पञ्च वर्गा गजविलुलितन्यायेन आत्मनोऽ(ऽग्र)स्थायः अक्षरोऽक्षरान् न प्राप्नुवन्ति। निदर्शनं च–ककारो ह्रस्वस्वरयुक्त चकारं प्राप्नोति। चकारोऽपि ककारं प्राप्नोति। एवं सर्वत्र सिंहावलोकितन्यायेन द्रष्टव्यम्। दीर्घस्वरयुक्तः ककारश्चकारं प्राप्नोति। चकारो दीर्घस्वरयुक्तः टकारं प्राप्नोति। टकारोऽपि [तकारं प्राप्नोति।] तकारोप्य(ऽपि)[पकारं] प्राप्नोत्येष पञ्चवर्गप्रतिपन्नाक्षरा [प १५४ पा २] गजविलुलितन्यायेन द्रष्टव्य(व्या) इति ॥ २६२ ॥

पत्तो वि पर ठाण, आइल्ल य पुणो पलोएइ ।
सिंहावलोइकरण, एयारसमं मुणेयव्व ॥ २६३ ॥

प्राप्नोति(प्तोऽपि) परं स्थानं तस्मात्परस्थानात् पूर्वं पश्चादालोकयति तथाभिहितं सिंहाव लोकितकरण एकादशमं भवति। सिंहमात्रिकार्थं पश्यतीति ॥ २६३ ॥

॥ सिंहावलोकितकरण समाप्तम् ॥ [प १५५ पा १]

लोएइ पुव्वभणिय, करणो गयविलुलिओ मह्ला भणिओ ।
सूरकरविपर(पवि)ट्ठो, गउ व सरपाणिय सरए ॥ २६४ ॥

लोकयति पूर्वोक्तं गजविलुलितमहाकरणोऽभिनं अक्षरं पश्यति स(सू)रकराहतो गज इव सरसिकालं(सरत्काले) इव अभिनमक्षरं पश्यति। लोकयत्यभिपतीति वाक्यार्थः ॥ २६४ ॥

चत्तारि मूलवत्थुणि, वह(हव)ति म(ग)यविलुलियस्स करणस्स ।
सरवजणेण [प १५५ पा २] कमसो, सवग्ग-परवग्गजोए य ॥ २६५ ॥

चत्वारि मूलवस्तूनि भवन्ति गजविलुलितस्य करण[स्य]। स्वरवस्तु, व्यञ्जनवस्तु। व्यञ्जनात्यक्षराणि। स्ववर्गसंयोगवस्तु, परवर्गसंयोग[व]स्त्विति ॥ २६५ ॥

तत्थ सरवत्थु तिविहो, सकड वियडा य मीसया चेव ।
पढमाण विवि(ति)य तहि(इ)या, चरिमाण आदिमा पक्खा ॥ २६६ ॥

तत्र स्वरवस्तु त्रिविधः। संकटं, [प १५६ पा १] विकट, संकटविकटं चेति। प्रथमाः 'क च ट त प य शा'स्ते(र्द्वि)तीयानां 'ख छ ठ थ फ र षा'णामुपरिगतैः संयोगः। 'ग ज ड द ब ल सा' 'घ झ ढ ध भ व हा'नामुपरिगतेभ्य(तैश्च)संयोगः। चरिमा 'ङ ञ ण न मा'स्तैः सर्वेषामेवाक्षराणां उपरिगतैः संयोगश्चेति सूत्रम् ॥ अथवाऽस्या गाथाया अन्यथा व्याख्या क्र(क्रि)यते– "त थ सरवत्थु[प १५६ पा २] तिविहो" इति। संकटाः 'अ इ उ ए ओ'। विकटाः 'आ ई ऊ आः'। संकट-विकटाः 'ओ ऐ औ'। पंचवर्गीयो(या) वर्गा अपि। प्रथम-तृतीयौ संकटौ। द्वितीय-चतुर्थौ विकटौ। पंचमः संकट-विकट इति ॥ पढमा बिइयाण चरिमा' इत्यत्र स्वरेषु प्रथम-द्वितीयौ 'अ आ', चरिमौ 'अं अः'। एषां तुल्यता। कथं ? अकारस्य अनुस्वारः सपक्षत्वात् संकट एव भवति। अकार-विसर्जनीयौ प्रयत्नसमः सपक्षः, अतो विकटोऽप्यम्। सपक्षता परस्परं मैत्री भाव इति ॥ २६६ ॥

आइल्लाण दोण्ह, सव्वे वि सरा हवंति सरिपक्खा । [प १५७ प १]
पंचम-चउत्थ-णवमा, होइ(हों)ति इकारस्स सरपक्खा ॥ २६७ ॥

आद्यौ द्वौ स्वरौ 'अ आ' तयोः सर्वे स्वराः भवन्ति मित्राणि । पंचम उकारः, चतुर्थं ईकारः, नवम ओकारः । इत्येते त्रय इकारस्य मित्राणि ॥ २६७ ॥

अट्ठम-दसमा दोण्णि वि, एते सत्तमसरस्स सरिपक्खा ।
एकारस-बारसमा, छट्ठो हवंति उकारसरिपक्खो(क्खा) ॥ २६८ ॥

अष्टम ऐकारः, दशम औकारः । इत्येते द्वौ सप्तमस्वरस्य एकारस्य मित्राणि । एकादशम स्वर['अं', द्वादशमस्वर] 'अः' षष्ठस्वर ओ(ऊ)कारः । एते त्रय(य) उकारस्य मित्राणि ।

ऐकारौकाराण, दुविहा [प १५७ प २] दिट्ठी उ होइ नायव्वा ।
जइ उत्तराणुवलिया, लहति तो संकडा एदे ॥ २६९ ॥

ऐकारस्य औकारस्य च द्विविधा संज्ञा संकट(टा) विकटा चेति । प्रयोजनमुपरिष्टाद् द्रक्ष्यति । 'अ इ ए ओ' इत्येते स्वराश्चत्वारः संकटसंज्ञाः । एतैरुप[रि]गतैः 'क च ट त प य शा'द्याः पंचवर्गाक्षराः संकटसंज्ञा भवंति । एतैरेव संकटस्वरै[प १५८ प १]र्युक्तानां अक्षराणां विषमाणामभिपाते शोधिते सति योऽक्षरं लभ्यति संकटविधिना लभ्यते इति संकट संज्ञा ॥ २६९ ॥

अधरथलेण य वियडा, उत्तरअहरेण मिस्सया होंति ।
अहरुत्तरेण वि(वि)सेस, लक्खेज्ज चलाचलविसेसं ॥ २७० ॥

'आ ई औ' इत्येते त्रयो विकटसंज्ञाः । एतैर्युक्ताः 'क च ट त प य शा'द्याः पंच [प १५८ प १]वर्गाः(र्गाः) संकटसंज्ञा भवन्ति । एतैरेव विकटस्वरैर्युक्तानां अक्षराणां विषमानामभिपाते शोधिते सति योऽक्षरः लभ्ये आकारयुक्तः स आलिंगितत्वात्स्वरसंख्यया द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । यथा ककार आकारेणालिंगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । (†यथा ककार आकारेणालिंगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोतीति ।) [प १५९ प १] तस्मिन्नप्यधराधरो(रा)नुपलक्षितत्वादधराधरम् । स एव ककार इकारेणाभिधूमितो टवर्गमभिधावस्वरसंख्यया पवर्गं प्राप्नोति । तस्मिन्नप्यधरानुपलक्षितत्वादधराधरम् । स एव ककार उकारयुक्तेन दग्धते । दग्धः स वर्गो मिश्रांतस्वरसंख्यया तवर्गं प्राप्नोति । तवर्गं उत्तरानुपलक्षितत्वादुत्तराधरम् । एभिः स्वरैस्त(स्त्रि)भिरप्येऽप्य[प १५९ प २]क्षराः पूर्वोक्तन्यायेन द्रष्टव्याः । 'ऊ ए ओ' इत्येते त्रयः संकट-विकटसंज्ञा । एतैर्युक्ताः पूर्ववर्गा[णाः] पंच संकटविकट संज्ञा भवन्ति । एतैः संकटविकटैयु(यु)क्तानां अक्षराणां अभिपाते शोधिते सति संकट-विकट प्रकारेण योऽन्योऽक्षरो लभ्यते स संकट-विकटसंज्ञः । आलिंगिताभिधूमितदग्ध-लक्षणवर्गप्राप्तिम पूर्वोभिह(हि)ता । लक्षयेत् चलाचलविशेषमिति । येऽक्षरा आलिंग्यन्तेऽभिधूम्यन्ते दह्यन्ते वा तेषाम[प १६ प १]भिपातयुक्तानां या(यः) संख्याधिको भवति स बलीयान् तेनादेशः कार्यः ॥ २७० ॥

† कैप्यक्रमादारभ्य ज्ञातव्यं द्विरुक्तः पाठोऽयम् ।

जो य इकारो(रे) गमओ, इ(ई)कारम्मि वि वियाण सो चेव ।
जो ए(य उ?)कारे गमओ, क(ऊ)कारे हवइ सो चेव ॥ २७१ ॥

इकारस्य ईकारस्य च द्वयोरपि प्रीतिस्वरूपबहुले प्रश्ने 'प्रीतिर्मे भविष्यतीति ?' पृच्छन्तो-(तोऽ)स्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् । ए(उ)कारस्य [ऊकारस्य] च द्वयोरपि प्रीतिस्वरूपबहुले प्रश्ने 'प्रीति-रनेन सह मे भविष्यतीति ?' चिन्ता(न्त)यतोऽस्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् ॥ २७१ ॥ [प १६ प १] ।

ऊकारे ज पुच्छ, छट्ठे एयारसे य बारसगे ।
होइ सरे स सह, सव्वत्थ बलाबलविसेसो ॥ २७२ ॥

इकारस्य ऋकारेण अकारेण च सानुस्वारेण सविसर्गेण च सह प्रीतिः । इकाराधिके प्रश्ने पर्वा स्वपणामन्यवसे इष्टे प्रीतिं पृच्छतोऽस्ति प्रीतिरिति वाच्यम् । बलाबलविशेषश्च द्रष्टव्यः । अनभिहतो बलियान् (बलीयान्) अभिहतो दुर्बलः । प्रथमो भेदः स्वरस्तु ॥ २७२ ॥ ॥

इदानीं [प १६१ प १] व्यञ्जनविभागकरणमादेशं कुर्वन्नाह—

जो चेव पुव्वभणिओ, सजोगो वजणाण परि(य वि?)भाओ ।
सो चेव इह सव्वो, गयविलुलियवत्थुए वीए ॥ २७३ ॥

स एव पूर्वोक्तव्यञ्जनानां स्वराणां च संयोगविभागलक्षणादेशोऽसौ उपरिष्टाद् वर्णयस्य (विप्य)मि गजविलुलितन्यायेन । एवं द्वितीयो भेद(दो) व्यंजनविभाग उक्तः ॥ २७३ ॥ ॥

लहति ककारो गरुओ, सवग्गय(ग्गियो) खकारसजुओ च-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ ट-तवग्ग(ग्गे) ॥　(१)
लभति गकारो गरुओ, सवग्गय(ग्गिय?) घकारसजुओ प-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्ग(ग्गे) ॥　(२)
ल्ल(भ)ति चकारो गरुओ, [प १६१ प १] सवग्गय छकारसजुओ ट-वग्ग । ॥
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ त-प-वग्गे ॥　(३)
लहइ जकारो गरुओ, ज(स)वग्गय झकारसजुओ [य]वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥　(४)
लहइ टकारो गरुओ, सवग्गय ठकारसजुओ त-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ प-य-वग्गे ॥　(५) ॥
लहइ डकारो गरुओ, सवग्गय [प १६२ प १] ढकारसजुओ स-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥　(६)
लहइ थकारो गरुओ, सवग्गय थकारसजुओ प-वग्गं ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गे ॥　(७)
लहइ धकारो गरुओ, सवग्गय धयारसजुओ क-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥　(८)

लहइ पकारो गरुओ, सवग्गय [प १६२ प २] फकारसजुओ स-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥ (९)
लभइ य(व)कारो गरुओ, सवग्गय ह(भ)यारसजुओ स(य)-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ ट-स-वग्गे ॥ (१०)
लहइ प(य)कारो गरुओ, सवग्गय रयारसजुओ स-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥ (११)
लहइ लकारो गरुओ, सवग्गय वयारसजुओ ट-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ त प-वग्गे ॥ (१२)
लभइ स(श)कारो गरुओ, सवग्गय स(प)कारसजुओ क-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥ (१३)
लहइ सका[प १६३ प १]रो गरुओ, सवग्गय हकारसजुओ त-वग्ग ।
अणुणासियसजुत्तो, कमसो पावेइ प-स(य)-वग्गे ॥ (१४)

चतुर्दशानामपि गाथानां स्ववर्गसंयोगवस्तुपरस्परं प्रकारमुपदर्शयन्नाह—तिर्यक्चतुर्दश गृहाणि, ऊर्ध्वं सप्त कृत्वा प्रथमा पङ्क्तिः । ज, क, क्ख, च, ड़, ड, द भा, ग, ग्घ, प, ड़, प, स(ख) ॥१॥ अस्याधस्तात्—च, च, च्छ, ट, ब, ठ, प, ज, ज, ज्झ, ध, ज्ज, स(ख) क ॥२॥ अस्याधः—ढ़, ट, ड़, त, ण्ठ, प, प, ड़, ड, ढ़, स(ख), ण्ह, क, ब ॥ ३ ॥ [प १६८, प १] अस्याधस्तात्—य, ठ, त्थ, प, त्थ, च, स(ख), ह, द, ढ़, फ, ग्ग, च, ट ॥ ४ ॥ अस्याधः—प्प, प, प्फ, ब, ग्ग स(ख), क, ण्ण, ग, ब्भ, च, म(म्म), ट, व ॥ ५ ॥ अस्याधः—ण्ह, म, बै, स(ख), घँ, क, च, ठ, ठ, त्त, ट, डैं, त, प ॥ ६ ॥ अस्याधः—ह्ल, ह्ल, ह्प, क, ध(र्धै), च, ट, म्म, स, स्ट, व, ठैं, प, प ॥ ७ ॥ यथा सुविरेखाक्रमस्थिरिति ॥

[गाथाचतुर्दशकानुसारेण कोष्ठकमिदं स्थापितम्—]

ज	क	क्ख	च	ड़	ड	द	भा	ग	ग्घ	प	ड़	प	स
च	च	च्छ	ट	ब	ठ	प	ज	ज	ज्झ	ध	स्स	घ	क
ढ	ट	ड़	त	ण्ठ	प	प	ड़	ड	ढ़	सा	ण्ह	क	ब
य	ठ	त्थ	र	त्थ	च	स	ह	द	ढ़	फ	ग्ग	च	ट
प्प	प	प्फ	ब	ग्ग	ल	क	ण्ण	ग	ब्भ	च	म्म	ट	व
ण्ह	म	बै	घ	ढ़ै	फ	च	ठ	क	त्त	ट	डैं	त	प
ह्ल	स	ह्ल	क	र्धै	च	ट	म्म	स	ह्ट	व	ठैं	व	प

एव तु समावत्था, लहति अह्र अणुवलाभिघाएण ।
षिद्वा पुद्यावरओ, लहति तो णतर वग्ग ॥ २७४ ॥

एव तु समावत एव प्रस्तारेण लब्धिरुच्या । प्रश्नाक्षराणामधरघातु(रानु?)बलितत्वाधाक्षरं लभयेत् । उत्त[प १६४ पा १]रान(नु)बलितत्वात् आलिंगिताभिधूमितदग्धाच तमेवाक्षरं यथोक्तं यथा लभयेत् । पूर्व्यो(र्वे?)क्रमेण पूर्वोक्ताभिघातस्यु(ष्टु)भेन आलिंगितत्वादनन्तरं वर्गं लभते । अभिधूमितत्वात् द्वितीयवर्गम्, दग्धत्वात् तृतीय वर्गं यथा प्राप्नुवंति तथा पूर्वोक्तम् । स्वरवर्गोत्तरसंयोगवस्तु तृतीयम् ॥ २७४ ॥ इदानीं चतुर्थो भेदः –[प १६४ पा २]

परवग्गक्खरगरुया, अ(ज)त्तियमित्तेहि पण्ह आइद्धा ।
ते सब्बे पत्तेय, पढम पावति सठाण ॥ २७५ ॥

प्रश्नाक्षराणां मध्ये यावन्मात्राः परवर्गाक्षरगुरवो दृश्यन्ते तेषामुपरि अक्षरो यः स प्रत्येकं प्राप्नोत्यात्मनो वर्गम् । उत्तरानुबलितत्वात् उत्तरं, अधरानुबलितत्वादधरमिति ॥ २७५ ॥

सेसा सकायगरुया, सब्बे वि लहति अप्पणो वग्ग ।
सेसाण वि एस कमो, सव(व्व)त्थ बलाबलविसेसो ॥ २७६ ॥

सकायगुरव(रवः) सर्वे [प १६५ पा १] यथा प्राप्नुवन्त्यात्मनो वर्ग तथा उक्तमेव । शेषाणामेव क्रमः । शेषग्रहणेनालिंगिताभिधूमितदग्ध(ग्धा) अभ्यन्ते । ते यथा स्व[व]र्गं प्राप्नुवन्ति तथा पूर्वमेवोक्तम् । सर्वत्र बलाबलविशेषो द्रष्टव्यः । इत्यभिहत्वा बलीयानी(नि)ति ॥२७६॥

॥ चतुर्भेद गजविलुलित समाप्तम् ॥

पण्हाइमसरवाए, जाणिज्जा तमि वग्ग एक्केक्क ।
नामक्खरं तु लब्भइ, एव से[से]सु वि कमेण ॥ २७७ ॥

प्रश्नादिमस्वाक्षरस्य याऽनभि(मि)हतस्य या संख्या तथा नामा[प १६५ पा २]क्षरसंख्या ज्ञेया । स एवानभिहतः स्ववर्गाक्षरं लभते । एव येऽपि तत्रावलिप्ता अभिहतास्तेऽपि स्ववर्गाक्षरं लभन्त एव ॥ २७७ ॥

जत्यऽट्ठगाइरित्ता, हवति तत्थऽट्ठय विसोहेत्ता ।
ज तत्थ हवइ सेसं, त मिंद्रा(?)णामक्खरवग्गे ॥ २७८ ॥

प्रश्नाक्षराणां निपतितानां यदा पञ्चो अक्षरेभ्योऽमि(ति)रिक्त [अ]क्षरा भवन्ति तदा तेषां या संख्या साऽऽद्याक्षराष्टकमध्ये शोधयित्वा अष्टमिभा(भा)गमपहृत्य लब्धावसि(शि)ष्टाव द्वौ वर्गौ लभ्येते । [प १६६ पा १]दृष्टगादिगणनया च तौ गण[यि]तव्यौ । उत्तराक्षरबहुले प्रश्ने उत्तराक्षरो लभ्यते । अधराक्षराधिके प्रश्ने अधराक्षर इति ॥ २७८ ॥

एवं तु समावत्ये, कीरइ णामक्खराण उप्पत्ती ।
अणुबलिद्दा(या)भिहया नि य, पुद्यावरवग्ग एक्केक ॥ २७९ ॥

प्रमाणाक्षराणां मध्ये ये अक्षरा अनभिहताः स्वभावस्था उच्यन्ते तैः स्वभावस्थैरालिङ्गितवर्गाणाम(र्गमात्रा)क्षराणामुत्पत्तिर्ज्ञेया । कथं ? उत्तरा(रः) सन् उत्तराक्षरं प्राप्नोति, अधराक्षरेऽपि अधराक्षरम् । [प ११६ पं २]अभिहतग्रहणेन आलिङ्गिताभिधूमितदग्धा गृ(ह्य)न्ते । तेष्वभिहतेषु अभिघातसंख्या शुद्धशुद्धशेषेषु यस्मिन् यस्मिन् वर्गे ते शुद्धशेषाः, तस्मिन् तस्मिन् वर्गाक्षराः प्राप्नुवन्ति । पूर्वापर्य आलिङ्गिताभिधूमितदग्धलक्षणमेव संख्याक्षरत्व नाम ॥ २७९ ॥

अट्ठयवग्गस्स भवे, गुणयारो सेसयाण एक्केक्क ।
परिहायत कमसो, [प ११७ पं १] चरिमो एक्केक्कओ सरिसो ॥ २८० ॥

स्वराणामष्टभिर्गुणाकारः । 'कचटतपर्गाः' सप्तभिर्गुणाकारः । 'चछजझ(ञ)र्णा' षड्भिर्गुणाकार । 'टठडढ(ण)र्णा' पञ्चभिर्गुणकारः । 'तथद[ध]र्ना' चतुर्भिर्गुणकारः । 'पफबभा(म)र्मा' द्(त्रि)भिर्गुणकारः । 'यरलवा' द्वाभ्यां गुणकारः । 'शषसह'र्णा एके(कै)न गुणाकारः । प्रमाणाक्षरस्वरसंख्यापिण्डमेकीकृत्य प्रमा[प ११७ पं २]क्षराणामादौ अक्षरे यस्त्वनुस्वर्गसंख्यया ९ संगुण्याष्टाभिर्भागे कृते लब्धशेषा च कवर्गादिवर्गो ज्ञेयः । निदर्शनं यथा—अथ प्रमाणाक्षरः ककारवर्णप्रतिपत्तः । तत्प्रतिपत्तस(म) सप्तसंख्यागुणाकारः । तस्मात् प्रमाणाक्षरपिण्ड सप्तभिर्गुणयेत् । [प ११८ पं १] यदा प्रमादौ स्वरो दृश्यते तदो(दा)ऽष्टस्वराष्टगुणकारेण प्रमाणाक्षरसंख्यापिण्डं गुणयेत् । यदा प्रमाणादौ हकारः तदा तद्वर्गप्रतिपत्त्यैकसंख्यया प्रमाणाक्षरसंख्यापिण्डं गुणयेत् । एवमन्येषामपि प्रमाणाक्षराणामुक्तगुणकारेण प्रमाणाक्षरसंख्यापिण्डं गुणयित्वा [ए]कत्वमागमाहरेत् । प्रसंगनोक्तमप्य(प्य)[प ११८ पं २]मेवार्थमुपरि गाथया पुनर्वर्णयिष्यति ॥ २८० ॥

पज्झर(क्ख)रा उ सव्वे, आइम-गुणकारसगुणा काउ ।
वग्गट्ठएण विभाए, सेसाण(णा)मक्खरुप(प्प)त्ती ॥ २८१ ॥

प्रमाणाक्षराणां निपतितानां यथादौ स्वस्वराष्टगुणकारेण गुणयेत् । सर्व-प्रमाणाक्षरसंख्यापिण्डं(डे) यदा आदौ स्वर(रो) नास्ति तदा आद्याक्षरस्य संबन्धी यो(यो) वर्गः तस्य गुणकारः तेन गुणयेत् । अष्टभिः भागेऽपहृते ल(ब्धा)वशि(शि)ष्टा(ष्टः) च-वर्गो ज्ञेयः । ये वर्गा लब्धाः शेषाक्षराक्षरक्रमेण अक्षरोत्पत्तिर्ज्ञेया ॥ २८१ ॥ [प ११९ पं १]

पत्तेय पत्तेय, एव पज्झक्खरेसु सव्वेसु ।
णियगुणकार(रे?) गुणिए, अट्ठविहि(ह)त्ते हवइ वग्गो ॥ २८२ ॥

प्रमाणाक्षरपिण्डसंख्यागुणनिजगुणाकारगुणित(तां) भाजयित्वा अष्टाभिर्यल्लब्धं तस्य शेषाच्च पूर्वं तद्वर्गो ज्ञेयः । पूर्वगाथाया(यां?) मितरामेतद्[मि?]क्तं न पुनः विस्तरेणाख्यातम् ॥ २८२ ॥

थिताए मुट्ठीए, णामे णक्खत्त मुमुणि(मिण)संसाए ।
अट्ठविभाए छेत्ते, काले लेहक्खरेसु च ॥ २८३ ॥

स्थितायां मुष्टौ नाम्नि नक्षत्रे लग्ने नामाक्षरसंख्यया प्रमाणाक्षरसंख्या ज्ञेया । [प ११९ पं २] अष्टाभिर्भागे । 'अष्टविभागे क्षेत्रे' इत्येतदुच्यते—पूर्वाऽऽग्नेयी याम्या नैर्ऋती वारुणी वायव्या कौबेरी ऐशानी—इत्यष्टविभागं क्षेत्रम् । तत्पूर्वविहितक्रमेणा(ण) कालप्रमाणं वक्तव्यम् । लेखाक्षराश्च प्रमाणाक्षरैः पूर्वाभिहि(हि)तक्रमेणैव विज्ञेयाः ॥ २८३ ॥

अण्णेसु एवमाइसु, कज्जेसु जहट्ठि(च्छि ?)एसु सवेसु ।
गुणकारं काऊण, अह्(प १७ पा १)विहृत्ते हवइ इच्छा ॥ २८४ ॥

अन्येष्वेवमादिषु कार्येषु यथेप्सितेषु प्रमाणाक्षरसंख्यापिंडमाक्षरवर्गाक्षरसंख्यया गुणयित्वा अष्टभिर्भक्ते वर्गो लभ्यते । तमेव पूर्वोक्तमर्थं वर्णितवान् ॥ २८४ ॥

॥ गुणाकारप्रकरण समाप्तम् ॥

पञ्चण्ह वि वग्गाण, जस्स य वग्गस्स पण्हमादीए ।
वग्गक्खर पईसइ, तमि हु णामक्खर [प १७ ,पा २] वग्गे ॥ २८५ ॥

पंचानामपि वर्गाणां 'क च ट त प य श'यानो यस्य वर्गस्य प्रमादौ अक्षरोऽनभिहतो दृश्यते तस्मिन् वर्गे यको नामाक्षरो लभ्यते ॥ २८५ ॥

एव तु सहावत्थे, बलाबल-विसेसओ जहा पुव ।
एव विपक्ख(क्ख)राण, गमओ सपक्ख(क्ख)राण च ॥ २८६ ॥

स्वभावस्थाः प्रमाक्षरा अनभिहतादेषु बलाबलविशेषेण यस्मिन्[प १७१ पा १] वर्गे ते अक्षराः प्रतिबद्धास्तान् वर्गान् प्रति लभ्यन्ते । विपक्ख(क्ख)राः, के ? अधराक्षराः । संपक्खराश्चो- त्तराक्षराः । उत्तरैरुत्तराक्षरा लभ्यन्ते । अधराक्षरैरधराक्षरा इति ॥ २८६ ॥

वग्गक्खरमि दिट्ठे, तत्तो वग्गक्खर(रा) पवत(त्त)न्ति ।
पढम तइय छट्ठ, नवम च तहक्खर जाणे ॥ २८७ ॥

वर्गाक्षरा इति । त एव प्रमाक्षरा लभ्यन्ते । तेभ्यः प्रमाक्षरेभ्यः वर्गा[प १७१ पा २]- क्षरामाशुत्सविशेषा । ये वा प्रथम-तृतीय-षष्ठ-नवम-प्रभाक्षरा अनभिहता भवन्ति तदा ते स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं प्राप्नुवन्ति ॥ २८७ ॥

॥ उत्तराधरामी(णी)ति विभागप्रकरण समाप्तम् ॥

णामक्खराण एसा, पयडी णामाण चेव य पहाणा ।
सह करणमाइयात्ति य, पच य नामा भवे इत्थ ॥ २८८ ॥

नामाक्षराणामेष समासो वर्जितप्रधानः । तथा करणमातकागु(म)ख्येन पञ्चपञ्चाशदक्षरा भण्यन्ते । तेषामपि पंचभिः प्रकारैः अक्षरा लभ्यन्ते आलिंगिताभिधूमितदग्धोत्तराधरैः ॥२८८॥

णवम[प १७२ पा १]ठमेसु एक्केक्कय तु एक्क उरेसु(रस्स ?)सठाण ।
एमेव य कठाण, सत्तट्ठमएहि सह यो(जो)गो ॥ २८९ ॥

उरस्य(स्याः), कण्ठ्याः, जिह्वामूलीयाः, तालव्याः, [मूर्द्धतालव्याः ?] दंत्याः, ष(ओ)ष्ठ्याः, अनुनासिकाः, मूर्द्धन्या इति नव स्थानानि वर्णानाम् । तत्र नामाभ्या(?)मूर्द्धन्याः, तेषामन्यतम आलिंगितः यदा तदा अनुनासिकानां मध्ये अक्षरं लभति । अनुनासिकानामन्यतम आलिंगित

ओष्ठ्य(ष्ठ्या)नां मध्येऽक्षरं लभते । ओष्ठ्य(ष्ठ्या)नामन्यतम आलिंगितः, [दन्त्यानां मध्येऽक्षरं लभते ?] दन्त्यानामन्यतम आलिंगितः मूर्द्धतालव्यानां मध्येऽक्षरं लभते । मूर्द्धतालव्याना-मन्यतम आलिंगितः तालव्यानां मध्ये[प १७१ पा १]ऽक्षरं लभते । उरस्यानामन्यतम आलिंगितः मूर्धन्यानां मध्येऽक्षरं लभते ॥ २८९ ॥

पचम-चउत्थयाण, जीहामूलेहि होइ सह जोओ ।
तालव्वाण जोगो, पढम-तइज्जेसु दोसु पि ॥ २९० ॥

मूर्द्धन्यानामन्यतम अभिधूमितः मूर्द्धतालव्यानां मध्येऽक्षरं लभते । अनुनासिकानामन्य-तम अभिधूमितः दन्त्यानां मध्येऽक्षरं लभते । ओष्ठ्यानामन्यतम अभिधूमितः मूर्द्धतालव्यानां मध्ये[प १७२ प १]ऽक्षरं लभते । दन्त्यानामन्यतम अभिधूमितः तालव्यानां मध्येऽक्षरं लभते । मूर्द्धतालव्यानामन्यतमः अभिहतः जिह्वामूलीयानां मध्येऽक्षरं लभते । तालव्या अभिधूमिताः कण्ठ्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नुवन्ति । जिह्वामूलीया [अ]भिधूमिता उरस्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नुवन्ति । कण्ठ्यानामन्यतम अभिधूमित(तो) मूर्द्धन्यानां मध्येऽक्षरं लभते । उरस्यानामन्यतम अभिधूमित [प १७२, प १]आनुनासिकानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । उत्तरा उत्तरसेन, अधरा त(स्त)दरते (ते)ति क्रमभंगीकृत्य सा(अक्षा ?)भिहत्य गु(न ?)गाथानुरूपमिति ॥ २९० ॥

वि तिय-चउत्थेहि सम, संजोगो होइ मुद्धतालाण ।
पचम-चउत्थएण, जोगो मग्गाण दन्तेहिं ॥ २९१ ॥

मूर्द्धन्यानामन्यतमो दग्धो दन्त्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । अनुनासिकानामन्यतमः [प १७४ प १] दग्धो मूर्द्धन्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । ओष्ठ्यानामन्यतमो दग्धः तालव्यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । दन्त्यानामन्यतमो दग्धः जिह्वामूलीयानां मध्येऽक्षरं लभते । मूर्द्धतालव्या-नामन्यतमो दग्धः कंठ्यानां मध्येऽक्षरं लभते । तालव्यानामन्यतमो दग्ध उरस्यानां मध्येऽक्षरं लभते । जिह्वामूलीयानामन्यतमो दग्धः [प १७४ प २] मूर्द्धन्यानां मध्येऽक्षरं लभते । कण्ठ्या-नामन्यतमो दग्धः अनुनासिकानां मध्येऽक्षरं लभते । उरस्यानामन्यतमो दग्धः ओष्ठ्यानां मध्ये-ऽक्षरं लभते । उत्तरैरुत्तराणि लभ्यन्ते । अधरैरधरा[परा]धराणि[इति] क्रमभंगीकृत्यो क्तम् । न गा[था]नुरूपम् ॥ २९१ ॥

ठट्ठाण पुण यो(जो)गो, पचम-छट्ठेहि होइ मग्गेहिं ।
छट्ठेण सत्तमेण, जोगो अणुणासियाण च ॥ २९२ ॥

क्रमभंगीकृत्य यदभिह(हि)तं तथैव व्याख्यानं अर्थतो गाथेयमिति न लुप्ता(लिखिता) ॥२९२॥

सत्तट्ठमेहि दोसु वि, मुढणा(मुद्धण्णा?)ण [प १७५,पा १] तहेय सो यो(जो)गो ।
धम्मो धम्मो एस, तिण्णि हु णामक्खरा पढमे ॥ २९३ ॥

आलिंगितत्वादेकमक्षरं लभते । अभिधूमितत्वाद् द्वितीयं, दग्धत्वात्तृतीयमक्षरमिति । एवा-माम(मपोऽ ?)पि गाथार्थः व्याख्यातः । अतो न लिखित इति ॥ २९३ ॥

सो(सा)हाविहा य एय, पयडीए पढमओ हवइ णामं ।
उत्तरमहरपढछे, चलाचलमिसेसओ विहए ॥ २९४ ॥

प्रमाक्षराणां मध्ये येऽक्षरा अनभिहताख्ये समायतः प्राप्नुवन्ति आस्मवर्गस्ते(र्गं ते)र्नाम निर्देशः कार्यः । उत्तरं[प १७१ पा २]मुक्त इति 'अ च त या' निर्दिश्यन्ते । अधरमयुक्त इति 'क च ट त प य शा (क ट प शा ?)नां' निर्देशः । 'अ च त या'सामान्यतमस्य 'क ट प शा'सामान्यतमोऽभतो यदा भवति तदा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं प्राप्नोति । यदा 'क ट प शा'सामान्यतमस्य 'अ च त या'सामान्यतम(मो)क्षरोऽभतो भवति तदा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं लभते ॥ २९४ ॥

॥ स्ववर्गप्रकरणं समाप्तम् ॥

मूलस्सरा सवग्गे, एक्क जुत्ता लभति सट्ठाणो(णे) । [प १७६, पा० १]
परवग्गक्खरगरुजुत्ता, बितिय च अणतर अक्खर ॥ २९५ ॥

मूलस्वराः ? । के ते ? त्रयः । तैर्युक्ताः प्रथमे 'क च प त मा' 'र ल या:' यथास्वेन मध्येऽन्य तमाक्षरं लभते । मूलवर्गप्रतिबद्धत्वात् । पञ्चमवर्गः स्ववर्गो मूलस्वराणाम्, शेषाः परवर्गाक्षराः, तैर्युक्ताश्च एव मूलस्वराः । येनाक्षरेण युक्तस्तस्याक्षरस्यानन्तरो यो वर्गोऽपरवर्गप्रतिबद्धमेवाक्षरं प्राप्नुवंति ॥ २९५ ॥

उच्चरे(र)वग्गे एक्क, बीय पुण होइ जत्थ संजुत्ता ।
अक्खरमि लभे तइय, दुविहा दिट्ठी उ आकारे ॥ २९६ ॥ [प १७६ पा २]

दृष्टिमयोगसंयुक्तेन असंयुक्तेन च आकारेण पदस्थपरिप्रयोगेऽपि अक्षरकल्पि[ः] द्विधा भवतीति । उत्तरैर्वर्गैः 'क च ट त प य शाः, ग ज ड द ब ल सा' च । यथासम्भवमाक्षरस्योपरिगते मूलस्वर अभवरमथोवर्गं प्राप्नोति । उदाहरणम्—ककारस्योपरिगतो मूलस्वरः चवर्गं प्राप्नोति । चकारस्योपरिगतः मूलस्वरः [प १७७ पा १] च(ट ?)वर्गं प्राप्नोति । टवर्गस्योपरिगतो मूलस्वरः तवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्याः । यथास्वेन प्रथम-तृतीय-वर्गाक्षराणां प्रमाणो यत्नतो मूलस्वरोऽसंयुक्तो यस्याभतो व्यवस्थितस्तस्यैवाक्षरस्य पूर्वस्य संबंधिवर्गं प्राप्नोति । एवं द्वितीय चतुर्थवर्गाक्षराणां अभतो(तः) स्थिता मूलस्वरा असंयुक्तास्तृतीयव[प १७७ पा २]र्गमतः प्राप्नुवंति । यथा खकारस्याभतो व्य(व्य)वस्थितो मूलस्वर[ः] टवर्गं प्राप्नोति । छकारस्याभतो व्यवस्थितो मूलस्वर द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । आकाराव(रः क)कारस्योपरिगत आकारः तस्माच्चोऽनन्तरं द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्य द्वितीयस्य वर्गस्यापराक्षरमनंतरं लभते । यथा ककारस्योप[प १७८ पा १]रिगतः आकारश्चवर्गं प्राप्नोति । चवर्गेऽप्यपराक्षरं प्राप्नोति । एवं चकारस्योपरिगतः आकारः तवर्गं लभते । अत्राप्यपराक्षरम् । एवमन्यत्रापि । एष ककारस्योपरिगतः स्थितः आकारः चकारमेव लभ्य(भ)ते । यथा अपराक्षरोपरिगत स च आ(आ ?)कारोऽन(ऽ)नंतरं द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्मा(स्य) द्वितीयवर्गानंतरमेवापराक्षरं [प १७८ प २]प्राप्नोति । एवमनंतरोऽप्यसंयुक्तः । उदाहरणं यथा—पकारस्योपरिगत आकारः ककारवर्गेऽप्यपराक्षरं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ २९६ ॥

एवन्तु(न्तु) अक्खरवग्गे, एक्क बितिय तु जत्थ संजुत्ता ।
भातुस्सराण एव, दुविहा दिट्ठी उ पयडीए ॥ २९७ ॥

द्वितीय चतुर्थवर्गयोरपरयोर्ये अक्षरा मातृस्वरयुक्तास्ते अयोगेन द्वितीयान्तरं द्वितीयवर्णं प्राप्नुवन्ति । यथा मकारं एकारेण अकारेण वा युक्तः ककारं प्राप्नोत्येवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । तयोरेव मातृस्वरयोरन्यतरो यदाऽपराक्षराणां अमर्त्यो[१ १०९ प १]मक्षरसंयुक्तः, तदा सर्वे मार्दवं प्राप्नोति । यथा लकारस्यागतो यकारस्तदा रकारं लभते । द्विविधा दृष्टिरिति प्रयोग [उ]च्यते ॥ २९७ ॥

हस्सस(स्स)रा य भवे(सवग्गे?), एक(क्क) तु लभति जत्थ संजुत्ता ।
बितीयवग्गे तव(सव)ग्ग, लभति अहरेण पढमिचे(ल्लि?) ॥ २९८ ॥

ह्रस्वस्वराक्षराः 'अ इ उ ए'। क च ट त प य शानां 'ग ज ड द ब ल स' ना नामाक्षरे [च] युक्त स्वर्गं फल प्राप्नुवन्ति । यथा ककारं एकारेण युक्तः ककारं प्राप्नोत्येवमन्येऽप्यक्षरा स्वर्गं प्राप्नुवन्ति । संयुक्तसंयुक्तैरयुक्ता प्राप्तिः । द्वितीयवर्गाक्षराणां 'ख छ ठ थ फ र षा'णां अन्यतमा-[१ १०९ प २]क्षरो यथा(ता?)न्यतमह्रस्वस्वरयुक्तः तदायस्तृतीयवर्णं प्राप्नोति । यथा ककार चतुर्थं 'अ इ उ ए' अन्यतमेन युक्तः तृतीयवर्णं प्राप्नोति । एव घट(?)प्रमुखचतुर्थस्थितचतुर्थवर्णं प्राप्नुवन्ति । 'क ट' वर्णौ च तृतीयम् । एवमन्यत्रापि ॥ २९८ ॥

॥ व्यञ्जनस्वरप्रकरण समाप्तम् ॥

जीया(हा)मूलियफलाइसंजुओ लहइ निण्णि उ हुकारो ।
उत्तरप[य]ढिचटके, एष क्षो दोसु चरिमेसु ॥ २९९ ॥

'अ इ उ ए' इत्येते स्वराः कण्ठ्याः । 'क ख ग घा' जिह्वामूलीयाक्षराः । एषामन्यतमा-क्षरो अन्यतरं कण्ठस्वरयुक्तजिह्वामूली[१ १० प १]यानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोत्युत्तराणां(णु) वर्ति-त्वात् । उत्तरं उत्तरप्रतिपत्तिग्रहणेन 'अ च ध मा' इत्यन्ते । तेषां चतुर्णां अन्यतमोऽक्षरः, 'अं अः' एतौ चरिमौ अनयोरन्यतरेण युक्तमेव युक्ताक्षरं लभते । यथा 'अं' अनेन युक्त ककारे सति ककार एव लभ्यते । 'अः' अनेन युक्त ककारो लभ्यते । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । 'लभइ तिण्णि उ हकारो' दुर्गाये वर्गे कण्ठस्थानीयः जिह्वामूलीयेति ॥ २९९ ॥

एमेय सेससमासु यि, दोसु(सु) श्रोम(सु) तु जासु सञ्जोञ्जो(जोगो) ।
पयदीसु तासु एमो, हयइ हकारस्स [१ १० प १]अहिलासो ॥३००॥

एवं 'च ट त प'प्रत्ययाः चकार-ककारयुक्तौ द्वौ चकार-टकारायपरौ तेषामन्यतमाक्षरो-ऽन्य[त]रेण वर्तितेन स्वरेण युक्ता येन युक्तः स विर(वरि)मः तमव(र)र्णं लभते । तस्मिन्नेव हकारः प्राप्नुवन्ति वा आगमान्तरेव लभन्ते स्वभावात् ॥ ३०० ॥

उत्तरपयडीसु एव(ग), लहति जासु(सु) च संजुया तासु ।
एवमेव पढमा, टहाण उवरिमि(मि) जाव ॥ ३०१ ॥

तिर्येव(वर्गेष) तु वा(वा)वर्ग(ग)येषु 'अं अः । अन्तस्थानां तेषां मूर्धन्याक्षराणां तत्रान्यतोऽपर स्वराक्षरानां चतुर्थान्यतरेण युक्तोऽक्षरं लभते । स्वराक्षराः 'अ इ उ ए'। [१ १११ प १] ॥ ३०१ ॥

अहरासु लभे एक, एक्केक्क चेव जासु ज जुज्जो ।
अहरपयडीसु चउसु वि, दताद़ी जाव मुच्छाण्हा (मुच्छण्णा ?)॥ २०२ ॥

दन्त्यानामोष्ठ्यानामनुनासिकानां मूर्धन्यानां मध्येऽधराक्षरो वाऽधरस्वरः 'आ ई ऐ औ' एषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽधराक्षरोऽधराक्षरमेव लभते । उत्तरोऽप्येषां दंतादीनां मध्ये एतैरेवाधराधरस्वरैर्यदा युक्तो(क्त)स्तदा अधराक्षरमेव लभ्यते(ते) ॥ २०२ ॥

॥ स्वभावप्रकृतिस्समाप्ता ॥

पढमसरा आइल्ला, तिण्णि वि उद्दा य हो(ओ)ति पयडीओ ।
दोसुत्तरपयडीसु, दोसि य सो अक्खरे लहइ ॥ २०३ ॥

प्रथम[प १८१ पा २]स्वरा आद्याक्षयः 'अ आ इ' ओष्ठ्याक्षरैः सार्धमेषां स्वराणां मध्ये अकार इकारश्च द्वावुत्तरौ अ(आ)कारोऽधरः । ओष्ठ्याक्षराणां उत्तरयोरन्यतरो यदा भवत्स-मवः, तदा उत्तराक्षरं प्राप्नोति । एषां मध्ये ओष्ठ्याक्षराणामन्यतमसाम्यतो एष आकारोऽधर-स्तेषां मध्येऽधराक्षरमेव प्राप्नोति ॥ २०३ ॥ [प १८२ पा १]

अका(उच्चा?)रसर(रा ?)ठ कण्ठा, दोण्णि वि चरिमा हवंति पयडीए ।
एव एस विसग्गो, तिण्णि हु नामक्खरे लहइ ॥ २०४ ॥

कंठ्या उत्तरस्वराः – 'अ इ ए ओ' चत्वारः । तेषामनुस्वारेण अकारेण सविसर्गेण च सह मीलिः । एवमेव त्रि(त्रि)संख्यः अकारः त्रि(त्रि)नामाक्षरं प्राप्नोत्येवयो(वो)परिगाथया व्याख्या-तुति ॥ २०४ ॥

अवस(वर ?)वरासु एक्केक्कस्स तु एक्क च ख(ळ ?)मिइ मिस्सासु ।
पचम-छट्टा [प १८२,पा २] तह सत्तमा य मो तइउ(?)पयडी ॥ २०५ ॥

प्रथमे यदा अधरवर्गौ द्वौ अधरौ द्वितीयवर्गाक्षराणां यदा प्रथमे 'ख छ ठ थ फ र षाः' सप्तमाक्षराणां चोत्तरौ द्वावेते तदा तयोरन्यतरोऽक्षरो लभ्यते । यथा खकारसाम्यतः थकारोऽवस्थितः । एवमन्यत्रापि । तथा उत्तरेषु प्रथमवर्गाक्षराणां 'क च ट त प य शा'नां तृतीयवर्गाक्षराणां च 'ग ज ड द ब ल सा'नां यदा प्रथमे द्वावक्षरावनंतरा वा द्वौ दृश्येते तदाऽनयोरेको लभ्यते । यथा ककारसाम्यतो गकारः । एवमन्यत्रापि । पर्व च अधरोत्तरं लभत इति । उक्त एव मिश्रा स्थितिः । यदा प्रथमे एक उत्तरः आपः तत्साम्यतोऽधरोऽथवाऽधर आपः (तत्साम्यतोऽधरोऽथवाधर आपः) तत्साम्यत उत्तरस्वराभिघाते [प १८३,पा १] युक्ते सति द्वयोरक्षरयोर्वा मध्यात् [स] लभ्यते एक एव । पंचम ङकारः, षष्ठ ञकारः, सप्तम णकारः, इत्येतेषां प्रथमानां इकारेण सह मीलितकृति(प्रकृति)रिति मीलितलभ्यते ॥ २०५ ॥

कठाअ(ऽ)गुणासि ठव्य(? ट्ठा), तिण्णि वि तइयस्स सो लहइ (?) ।
दोसुत्त[र]पयडीसुं, एक्क अहरासु तह जाण ॥ २०६ ॥

१ मूलादर्शे द्विपदं लिखितोऽयं पाठः । २ आदर्शे 'सत्तमाव मीयमा तइउ' इति पाठः ।

मकारस्य यकारस्य वकारस्य वा कंठ(ण्ठ)स्य यथाऽमतोऽनंतरं इकारो दृश्यते, तदा स एव पूर्वस्वरमवाप्नोति । अनुनासिकानां 'ङञणनमा'नां ओष्ठ्यानां 'कपफबभा (पफबभमा)'नां च एषामन्यतमस्योपरिगत इकारस्तमेवाक्षरं लभते । ममोत्तरमकारविशेष्य ! महतिस्समो मैत्री-पर्यायः । 'एवं अधरासु नामीह(हि)' इत्येवमुपरिष्ठा[त्] व्याख्यास्यामि ॥ १०६ ॥

ईका[प १४३ प २]रस्स चउत्था, मुद्धा(द्धण्णा ?) सेसया जहा तइए।
अक्खरलंभो जो उत्तरासु सो चेव अहरासु ॥ १०७ ॥

एकारस्य मूर्धन्या(न्य)स्यानतः स्थित ईकारे(र) ऐकारं लभते । औकारो(रस्य ?)मूर्धन्यस्यानतोऽव-स्थित ईकार औकारमेव प्राप्नोति । 'रडणा'नां(णां) मूर्धन्यानामन्यतमस्योपरिगतः ईकारस्तमेवाक्षरं प्राप्नोति । ईकारस्य यथाऽक्षरलाभ उक्तः,[प १४४ प १]एवं इकारस्याप्यधरमकृत्वेवकः ॥ १०७ ॥

जा ईकारे पयडी, चउरो सा चेव होइ उ(या) उकारे ।
अक्खरलंभो जो पचमस्स सो चेव एयस्स ॥ १०८ ॥

चतुर्थस्य ईकारस्य उकारेण सह मीतिः । मीतिशब्दः समानपर्यायः । 'ई ए औ' इत्येतेषां य(त्र)याणां अन्यतमस्यानतोऽनंतरस्थित उकारस्तमेव पूर्वस्वरं लभते । 'र[डी]णा' णामन्यतम स्या(स्य) एषामो[प १४४ प २]युक्त उकारस्तमेव लभते । पंचम उकारो यथाक्षरं लभते इकारोऽपि तथैव प्राप्नोति ॥ १०८ ॥

जीहामूलियकठा, तालव्वणुणासिया य एकारे ।
अक्खरलंभो तइए, जो वि य सो चेव इहय पि ॥ १०९ ॥

जिह्वामूलीयानां कंठ्यानां तालव्यानामनुनासिकानां चान्यतमाक्षर एकारेण युक्तः उपरि गतेन तमेवाक्षरं एकारः प्राप्नोति । कंठ(ण्ठ्या)नामपि स्वराणां अन्यतमस्यानंतरमवतोऽवस्थित एकारस्तमेव पूर्वस्वरं लभते । एकारेण योऽक्षरलाभः स उक्तः । ऐकारेण वक्ष्यति ॥ १०९ ॥

अधर(उर)कंठोट्ठा दंता, मुद्ध(द्धण्ण)णुणासिया[प १४५ प १]य अट्ठमए।
अक्खरलंभं इक, त पि य अहराहरे लहइ ॥ ११० ॥

उरस्यानां कंठ्यानां ओष्ठ्यानां दंत्यानां मूर्धन्यानां अनुनासिकानां चान्यतमाक्षर(रा)क्षर ऐकारेण युक्तोऽपराक्षरं प्राप्नोति । उत्तराधरोऽप्येषां मध्ये ऐकारेण युक्तोऽपराक्षरमेव प्राप्नोति । एषां मध्ये ये स्वरा(रे)षामन्यतमस्यानता(त) स्थित ऐकारस्तमेव स्वरमाप्नोति ॥ ११० ॥

जीहामूलियकठा, उट्ठा अणुणासिया य ऐकारे ।
अक्खरलभं एमो, लहइ तइज्जस्स गमणेण ॥ १११ ॥

जिह्वामूलीयाः 'घछझढधाः' । कंठ्या 'अइउए' । औष्ठ्या[प १४५ प १]देफबभमाः' । अनुनासिका 'ङञणनमाः' । एषामन्यतमस्य यस्योपरिगत ऐकारस्तमेवाक्षरं लभते । स्वराणा-मपि यस्यानतोऽनंतरमवस्थितस्तमेव पूर्वस्वरं लभते । यथा तृतीय इकारो इकारमवाप्नोति । एकारोऽपि तथैवेति ॥ १११ ॥

मुद्धणुणासियकंठा, तालव्वा मुद्धतालव्वतोट्ठा ।
दस[म]सरे पयडीओ,[प १८६ पा १]अक्खरलंभ जहम्मा(हुमगे?)रा॥३१२॥

मूर्धन्यानुनासिककण्ठ(ण्ठ्य)तालव्य-दन्तोष्ठ्याः(ओष्ठ्याः) । तेषामन्यतमोऽक्षराक्षरस्योपरिगतः दश मस्वरस्यमेवाक्षरं लभते । उच्चाक्षरोपरिगतः ऌकारोऽक्षराक्षरमेव लभते । एवमविकृतस्वराणां 'आ ई ऐ' अन्यतमस्यामतो यच(ऽनन्त)रमवस्थित ओकार[ः] पूर्वस्वरं लभते । यथाक्रमं[प १८६,पा २] ऐकारोऽक्षरं लभते । एवमौकारोऽपीति ॥ ३१२ ॥

मोत्तु पचमपयडी, एकारसमस्स सेसया अट्ठ ।
एक्केक्क दंतोट्ठे, मुद्धण्णे अक्खरे एक्क ॥ ३१३ ॥

घरस्याः कण्ठ्याः जिह्वामूलीयाः तालव्या मूर्धतालव्या दन्त्या ओष्ठ्या मूर्धन्याः । एषां अष्टानां अन्यतमोऽक्षरं एकादशमः(शी)स्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं लभते । (एषामष्टानां यः [प १८७ पा १] एकादशस्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं लभते ।) एषामष्टानां य एकादशस्वरेण युक्त स एव लभ्यत इति ॥ ३१३ ॥

जो हका(क्का)रे म(ग)मओ, पुह(धु)त्तो सो इह विसग्गमि ।
एयस्स णत्थिर(वरि?)पयडी, सव्वा वि य तत्तिया चेव ॥ ३१४ ॥

अकारः सानुस्वारः यथा ह(ी)कारं प्राप्नुवन्ति(प्राप्नोति) । एव हकार[ः] सविसर्ग-हकारमेव प्राप्नोति । द्वादशानां [प १८७,पा २] स्वराणां वस्तु (वस्तु?)भावः स वर्णितः । महतिक्षरः समासपर्याय इति ॥ ३१४ ॥ समाप्त ॥

अणभिनगगव(हते य अ?)यारे, अ ज खा ट च त था वाय(?) एकारे ।
अभिघाइ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ †अट्ठमे पचममि ॥ ३१५ ॥

अकारेण अ खा म हा व ट(?)ककारस्यत(साम)तो व्यवस्थितेन ककार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते ग(च)कारस्यामतः स्थिते चकार एव लभ्यते । आकारे अनभिहतं(ते) टकारस्यामतः स्थिते टकार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते तकारस्यामतः स्थिते तकार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते यकारस्यामतः स्थिते [प १८८ प १] यकार एव लभ्यते । एकारेण युक्ते तकारो(रे) ककारो लभ्यते । एकारेण युक्ते छकारे ग(च)कारो लभ्यते । एकारयुक्ते ठकारे टकारो लभ्यते । एकारेण युक्ते थकारे तकारो लभ्यते । एकारेण युक्ते रेफे यकारो लभ्यते । अष्टमस्य ऐकार[स्य एकार]स्येव संयोगफलमुक्तम् ॥ ३१५ ॥

अणभिहते आकारे, ख छ ज झ त ह अभिहयति हो चरिमा ।
ठ थ ट त ईकारंमि, ठ फ र प थ चउरो [अ?]आरंमि ॥ ३१६ ॥

रखकारस्यामतः स्थितेन अनभिहतेन अ(आ)कारेण गकारो लभ्यते । छकारस्यामतः स्थितेन अनभिहतेना[प १८८ पा २]कारेण छकारो लभ्यते । अकारः सानुस्वारः जकारमेव लभ्य(म)ते । (छकारस्यामतः स्थितेन अनभिहतेनाकारेण छकारो लभ्यते । अकारः सानुस्वारः जकारमेव

१ लिखितमिदं वाढ एव हैमकथमानात् । † आर्योऽश ५-६ अक्षरपंक्तिमिता त्रुटिः पुस्तकस्य विद्यते ।

लभ्यते) झकारः सविसर्गो झकार एव लभ्यते । ठ(ठी)कार इकारयुक्तो टकारं लभते । वकार ईकारयुक्तः भकारमेव प्राप्नोति । फकार पकारयुक्तः पकारं लभते । रेफ ककारेण युक्तः पकारं लभते ॥ ११६ ॥ [प १०९, प १]

जह पढम-सत्तमाण, तइज(य)णवमाण तह य सट्ठाणे ।
पढम-सइयाणुणासिय, घ झा य छट्ठमि अणभिहते ॥ ११७ ॥

गकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितः अनभिहत इकारो गकारमेव लभते । जकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितः अनभिहत इकारो जकारमेव लभते । डकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थित अनभिहत इकारो डकारमेव लभते । दकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितः [प १०९ पा २] अनभिहत इकारो दकारमेव प्राप्नोति । प(ब)कारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितो(तः) इकारो(रः) प(ब)कारमेव लभते । ङकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितेन अनभिहत इकारो[ङकार]मेव लभते । घकारस्यागतो वाऽनन्तरमवस्थितेन [अन-भिहतः ?] इकारः घकारमवाप्नोति । ककार ए(ओ)कारसंयुक्तः कोकारं लभते । छकारः ओकारसंयुक्तो[प ११० प १]ओकारं लभते । ठकार ओकारसंयुक्तः ठोकारं लभते । थकार ओकार संयुक्तः [थो]कारं लभते । फकार ओकारसंयुक्तः फोकारं लभते । रेफ ओकारसंयुक्तः रोकारं लभते । षकार ओकारसंयुक्तः स(सो)कारं लभते । पञ्च ओकारेणा(णा)भिहतः मकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थिते मकारमेव लभते । ङकारो[प ११ प १]ऽनभिहतो झकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितः झकारमेव लभते । ञकारोऽनभिहत ञकारस्यागतः स्थितः ञकारं लभते । ओकारोऽनभिहत इकारस्यागतः स्थितः इकारं लभते । णकारोऽनभिहतः सानुस्वारस्याकारो(र)स्यागतोऽनन्तर मवस्थितः अनुस्वारमेव अंकारं लभते । यथा पूर्वगाथया प्रथमस्य अकारस्य, सप्तमस्य च एकारस्य प्रयोगः उक्तः, तथा तृतीयस्य इकारस्य, नवमस्य ओकारस्य प्रयोगो वर्णितः यथार्थस्यानि गाथान्तरेणार्थः ॥ ११७ ॥

अभिघाइएसु छट्ठे, हवइ हयारो हु अट्ठमो णवमो । [प १११ प १]
ढं ढ चतु तइयऽणुणासा, दसमसरे तिण्णि ऊ भवमा ॥ ११८ ॥

ढकारोऽग्रतोऽनन्तरमवस्थितेन ओकारो(रेणा)भिहतो हकारं प्राप्नोति । मकारस्यागतोऽनन्तरमवस्थितो मकारः चतुर्थककारं प्राप्नोति । ढकारो दशमस्वरेण युक्तस्तृतीयं ण(ङ)कारं प्राप्नोति । [1]प्रथमाक्षरम् एकान्तपर्याय [?] ॥ ११८ ॥

पढम-सइयाणुणासा, घ झा य दोण्ह पि अंतिमसराण ।
माषा(षाधी)सङ्गमो करणो, णामेण य(?) हयमोहिओ एस ॥ ११९ ॥

प्रथमो टकारः अनुस्वारेण अकारेण युक्तो डकारं प्राप्नोति । डकारः सविसर्गः डकारं लभते । तृतीयो णकारः सानुस्वारो[प १११ प० २] णकारं लभते । णकारः सविसर्गः णकारमेव लभते । घकारः सानुस्वारः घकारं प्राप्नोति । ष(झ)कारः सविसर्गः झकारमेव लभते । झकारः सानुस्वारः झकारं प्राप्नोति ॥ ११९ ॥

॥ द्वाविंशतिकरण समाप्तं । अश्वमोहितं नाम समाप्तम् ॥

---

[1] एतदन्तर्गतः पाठः द्विर्लिखितोऽत्र मुद्रितः ।

उत्तरसरसजुत्तो, जइ उत्तरवंजणो य दीसेज्जा ।

पावइ य पढमवग्गं, अहरस्सरसजुओ तइय ॥ १२० ॥

उत्तराः के ? 'अ इ ए ओ' इत्येतेषां चतुर्णामन्यतमेन युक्त[ः] प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराणां क च ट त प य शा नां, ग ज ड द ब ल सा नां अन्य[प ११२, पा १]तमोऽक्षर आत्मीय वर्गं लभते । यथा 'कि' क ख ग घ ना नां मध्येऽक्षरं प्राप्नोत्युत्तरानुवलितत्वात् उत्तराक्षरम् । एवं सर्वत्र । अधर-क्षराः के ? 'आ ई ऐ औ' । एषां चतुर्णामन्यतमेन स्वरेण युक्ता तेषां प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराणां अन्यतमाक्षरं तृतीयं वर्गं प्राप्नुवन्ति(प्नोति) । यथा 'की' ठ ड ढ णा नां तृतीयवर्गाक्षराणां मध्ये ढकाराक्षरं प्राप्नोति ॥ १२० ॥

उत्तरसरसजुत्तो, पचमवग्ग तु पावए अहरो ।

अहरस्सरसजुत्तो, सत्तम पावए अहरो ॥ १२१ ॥

उत्तरस्वराः के ? 'अ इ ए ओ' । एतेषां [प ११२ पा २]चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽक्षराणां ख छ ठ थ फ र षा णां, घ झ ढ भ म व हा नां चान्यतमाक्षरः पंचमवर्गं लभते । यथा खकारस्तो परिगतोऽकारः पंचमवर्गाक्षरं प्राप्नोति । उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । एवमन्येऽपि । तथा घकारो ऽप्युत्तरस्वरसंयुक्तः पंचमवर्गाक्षरं [प ११३ पा १]लभते । एवं सर्वेऽक्षरा उत्तरस्वरसंयुक्ताः पंचमवर्गं प्राप्नुवन्ति । अधरस्वरा 'आ ई ऐ औ' एतेषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तः द्वितीय चतुर्थ-वर्गाक्षराणामधराक्षराणामन्यतमः सप्तमवर्ग प्राप्नुवन्ति(प्नोति) । यथा खकारो अधरस्वरसंयुक्त[ः] स[प्तम]वर्गं प्राप्नोति । अधरानुवलितत्वादधरः । एवं छका[प ११३ पा २]रोऽधरस्वरसंयुक्त[ः] सप्त[म]वर्गं प्राप्नोति । तत्राप्यधरम् । तथाऽधरोऽप्यधरस्वरसंयुक्त[ः] सप्त[म]वर्गं प्राप्नोति । तत्राप्यधराक्षरम्(?) । एवं फ र षा इति । तथा घकारः सप्तमवर्गं प्राप्नोत्यधरानुवलितत्वाद-धराक्षरम् ॥ १२१ ॥

एव लभति पढम(मे), वग्गे सरवंजणेहि संजुत्तो(त्ता) ।

उत्तर-अहराणुवला, लभति पुव्वावर वग्ग ॥ १२२ ॥

यथा प्रथमवर्गे सु(स्व)र[र]संयुक्ता लभति अक्षरान् यथाभिहित पूर्वमेव । ये च स्वरा उत्तरानुवलितत्वादुत्तराक्षरं प्राप्नुवन्ति । [प ११४ पा १] अधरानुवलितत्वात् अधराक्षरं प्राप्नुवंतीत्येतदपि पूर्वोक्तं पुनरनेन स्थिरतामापादयता वर्णितम् । पूर्वं इत्युत्तराक्षरं उच्यते । अपर इति चाधरो भण्यते ॥ १२२ ॥

उत्तर-अहरसरो वा, लग्गो जो जमि वंजणे होज्ज ।

उत्तर-अहराणुवला, लभति तइ(ई)यसर तत्तो ॥ १२३ ॥

उत्तरस्वरा(र) इकारः, अधरस्वर ईकार[ः] उत्तराक्षरे[र]धरो(?) विलग्न उत्तराक्षरैः उत्तरो विलग्न[ः] तस्मात्तृतीयस्वरं प्राप्नोति । ईकार[ः?] तृतीयस्वरं प्राप्नोति ॥ १२३ ॥

॥ उत्तराधरप्रकरण समाप्तम् ॥

---

१ उत्तराक्षरैरुत्तरो विलग्नः, अधराक्षरैरधरो विलग्नः इति भाव्यं मूलानुसारेण ।

मि ण १

पढमो तइओ य सरो, पण्हाईए सम ककारेण । [प ११४ प १]
जइ दीसइ सो लस(भ)ए, कवग्गए अक्खर एक्क ॥ १२४ ॥

प्रश्नाक्षराणामादौ ककारस्यावस्थितस्यामतोऽनन्तरं यदा प्रथमः स्वरः अकारो दृश्यते तदा ककार[ः] ककारं प्राप्नोति । तृतीयस्वरेण युक्त[ः] खकार आदिस्थितप्रश्नाक्षराणां ककारवर्गैकमक्षरं लभते । उत्तरानुपलक्षितत्वात् उत्तरम् । एवमन्येऽपि प्रथम-तृतीयवर्गाक्षरा[ः] प्रश्नाक्षराणामादिस्थिता अकारे(ण)मतोऽनंतरमवस्थिता इकारेण वा युक्तः(क्ताः) स्ववर्गाक्षरं लभन्ते ॥ १२४ ॥

एएहि चेव सहिओ, लहइ खकारो चवग्ग एक्केक्क ।
तइय-चरिमा [प ११५ प १]सवग्गो, लहइ घकारो टवग्गंमि ॥ १२५ ॥

प्रथमस्वरेण अकारेणामतोऽनन्तरमवस्थितेन इकारेण वा युक्तः खकार[ः] चवर्गैकमक्षरं लभते । उत्तरानुपलक्षितत्वादुत्तरम् । तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नां चरिमाणां ङ ञ ण न मा नां मध्यतमोऽक्षरो अकारेऽमतोऽनंतरमवस्थिते इकारेण युक्त[ः] स्ववर्गैकमक्षरं लभते । उत्तरानुपलक्षितत्वादुत्तरम् घकारे(ऽ)स्य अकारेऽमतोऽनंतरमवस्थिते इकारेण वा युक्ते घकार(ः) टवर्गैकमक्षरं प्राप्नोति उत्तरानुपलक्षितत्वादुत्तरमेवेति । [प ११६ प १]गाथाद्वयस्यापि अर्थं व्याख्याय प्रस्तारेण दर्शने(दर्श्यते) रचना – क का(च) कि ग एवा एव स्वरौ(?) ककारयुक्तो यदा तदा प्रथम स्वरेण चकारं लभते । तृतीयेन ज(छ)कारम् । ककारोऽपरत्वात् द्वितीयवर्गो(र्गो)ऽप्यत्र उत्तरानुपलक्षितत्वादसरलक्षिपः । रचनापूर्वकवर्गो ज्ञातव्यात् च छ जि झ । तथा घकारः प्रथमस्व(र) युक्तः टकारं लभते तृतीययुक्तः ठकारं । रचना – घ ट घि ट(ठ) । एवं चवर्गादीनां शेषवर्गादीनां च शेषवर्गाक्षराणां अपि[ः]रचनामात्रं दर्श्यते(दर्श्यते–) चवर्गस्य ज इ युक्तस्य च चा जि च । प्रस्तावः – च चा जि छ । प्रस्तावः – ष षा झि च । प्रस्तावः – झ ढ झि ढ(द) । एवं टवर्ग-रचना । ट ट ठि त । प्रस्तावः – ठ थ ठि द । प्रस्तावः – ड द डि ढ [प ११६ प १] प्रस्तावः – ण ट णि ड । प्रस्तावः ट प णि प । तवर्गस्य रचना – त त थि द । प्रस्तावः – थ प थि प । प्रस्तावः – द त दि द । प्रस्तावः – न त नि द । प्रस्तावः – ध प धि फ । पवर्गस्य – प प पि प । फ प फि ब । ब प बि भ । म प मि भ । भ ब भि म । यवर्गस्य रचना – य म यि ब । प्रस्तावः – र स रि स । ल ल लि ल । प्रस्तावः – व क वि ग । शवर्गस्य प्रस्तार – श श शि श । ष क षि ग । प्रस्तावः – स ध सि ध । प्रस्तावः – ह(ह) क हि ग(हि ग) । एवं विरल्याक्षरलक्षणं उत्तर(र)सङ्ख्या ॥ १२५ ॥

सत्तम-णवमेहि सम, लहइ फकारो घवग्ग एक्केक्क ।
तइय-चरिमा वि एव, गटवग्गे घ तवग्गे य ॥ १२६ ॥

प्रश्नादौ ककारः सप्तमेन एकारेण युक्तः नवमेन अ(ओ)कारेण युक्तः घवर्गे[प ११६,प १]-रैकमक्षरं लभते । तथा तृतीयो गकारः, चरिमो ङकारः, सप्तम-नवम-स्वरयुक्तः घवर्गाद्येकाक्षरम् । एवमुक्त इति । तथा डकारः सप्तमेन नवमेन वा स्वरेण युक्तः टवर्गैकमक्षरं उत्तरानुपलक्षितत्वादुत्तरम् । तथा धकारः सप्तमेन नवमेन वा स्वरे[ण] युक्तः तवर्गैकमक्षरं लभते उत्तरानुपलक्षितत्वादुत्तरमिति ॥ १२६ ॥

सेसाण वि एस कमो, चादीण अट्ठमा[प ११७ पा १]क्खराणाणं ।

अद्दरुवि(व)रि एक्केक्क, परिहा[य]इ वट्ट(ड्ढ)इ अहरो ॥ १२७ ॥

भकारेणासार्थो दर्शयितव्यः । शेषाणामप्येष क्रम इति । प्रश्नाक्षराणामादिलिखितस्य ककारस्य चकारस्य वा भकारेण वा ककारस्य युक्तस्य यथाक्रमवर्गाक्षरलाभ उक्तः । चादयोऽपि इकारान्ताः सप्त सप्त भ(का)रेणयुक्ता उकारयुक्ता[ः] पूर्ववत्सवर्गैकमक्षरं लभन्ते । उत्तराक्षरो ऽधराक्षरयुक्तः परिहीयन्ते(ते) [प ११७ पा २] अल्पसंख्यो भवतीत्यर्थः । अधराक्षरोऽधराक्षरयुक्ते वर्द्धते बहुसंख्यो भवतीत्यर्थं । एतच्च विस्तरेण वर्णितमिति नोक्तम् ॥ १२७ ॥

आकारीकारेहिं, लभइ समेओ ककारो [य] चवग्गे ।

तइय-चरिमादि एव, लभइ खकारो य-ट-तवग्गे ॥ १२८ ॥

ककारः आकारेण युक्तः चवर्गैकमक्षरमधरानुपलितत्वाद[प ११८ पा १]क्षरं प्राप्नोति । ककार ईकारेण युक्त[ः] टवर्गे अधराक्षरं अधरानुपलितत्वात् । एव तृतीयवर्गाक्षरः, पञ्चम ङ(ञ)कारः क्रमेणाकारयुक्तः चवर्गाक्षरं, ईकारेण युक्तः टवर्गाक्षरं अधरं अधरानुपलितत्वात् । खकार आकारेण [युक्तः] टवर्गे अधराक्षरं प्राप्नोति । ष(ख)कार इ(ई)कारेण युक्त[ः] तवर्गैकमक्षरं [प ११८ पा २] लभते अधरानुपलितत्वादधरम् । एव द्वितीयवर्गाक्षराः शेषाः चकारेण क्रमेणाकारयुक्तास्तृतीयवर्गाक्षराणि लभन्ते । इ(ई)कारयुक्तश्चतुर्थवर्गाक्षरं प्राप्नोति (प्नुवन्ति) अधरानुपलितत्वादधरम् । अन्यगाथया तमेवार्थं प्रस्तावयति – ककार आकारयुक्तः ईकारयुक्तश्च क्रमशः(शः) चवर्ग-टवर्गौ लभते । यथा – का च की ट । अस्याधः [प ११९ पा १] खकार-चकाररचना – खा ठ खी थ । अस्याधः – गा च गी ठ । अस्याधः घकारः आ(आई)कारयुक्तश्च । छ-थवर्गौ प्राप्नुवन्तः (प्राप्नोति) ॥ १२८ ॥

चतुर्थगाथामाह –

त-पवग्गेसु भकारो, दोसु वि एक्केक्कय लभे कमसो ।

सेसाण वि एस कमो, चादीण सव्ववग्गाण ॥ १२९ ॥

भकार आकारयुक्तः तवर्गाधराक्षरमवाप्नोति । भकार इ(ई)कारेण युक्तः पवर्गैकमवाप्नोति । ङ(ी)कारादयश्चतुर्थवर्गाक्षराः शेषाः पञ्च आकारेण युक्ताश्चतुर्थवर्गाक्षरं प्राप्नुवन्ति । इ(ई)कारयुक्ताः पञ्चमवर्गाक्षराणमधराक्षरा[ण] लभन्ते अधरानुपलितत्वात् । यतोक्त(योक्त)ञ्च [प ११९,प २]मिप । एव च चकारादयो इकारान्ताश्च आकारेण ईकारेण वा युक्ता यथा प्राप्नुवन्ति वर्गाक्षर(रा)स्तथामिहत (हि ताः ।) भकारोऽत्र लिख्यते – अनन्तरस्याभवात् – पा थ पी भ । एवं डाकारः चकारं । डी ठकारम् । आपत्तादनन्तरस्याभवात् – ड च डी ढ । एवमेवो द्वितीय चतुर्थमात्रो घोषवर्गानुसारे(सार)तोऽपि वक्तव्याया(व्यौ वा)नम् सवर्गे [प २ ,प १]इति पूर्वेत्या गाथया चवर्गं आलोक्यत्वक्रमेणेति ॥ १२९ ॥

क-च-टादीनां पढमा, चरिमो(मा) य सम लहसु (ँह हु) कारेण ।

लभइ तवग्गे एव, साणुस्सारे य सविसग्गे ॥ १३० ॥

ककार(ा) क च ट वर्ग-त्रयस्य ग्रहणम् । आदिशब्दात्सर्ववर्गाणामपि कवर्ग-चवर्ग टवर्गस्य च प्रथमाः । ककार चकार-टकाराचे(राद्ये)वम् । एते प्रथमाः उकारेण सह दृश्यमानाः

---

१ प्रश्नार्थार्थः प्रश्नार्थते अथवा अनुमेयार्थे प्रस्तारयति इति मन्यताम् ।

[प २ पा १]मि कमेण इत्यत आह—प प स ककारा उकारयुक्ताः पकारं लभते । पकार उकारेण युक्तः पकारम् । सकारः सकारम् । मात्रासंख्यानियमेन शेषवर्गाणामपि चरमः । एवमेव क्रमेण—क म प एते उकारयुक्ता एत एव लभते(न्ते) । यथा कुकार पकार(रं) मुकार मकारं गुकार सकारं [प २ १ पा १]रचना—कु प मु म गु स(स) । असाधयात्—सु प कु र सु प । असाधयात्—गु स । मु क । कु स । ततः पंचमः—कु प । मु प । मु स । असाधः चतुर्थः—मु म । मु प । कु द । एवं ऋग्विर्ग(र्गे) ककारवर्गस्य यथा रचना ककारस्यापि उकारस्य च । 'कच टतपा वर्गा पढमा चरिमा य सम उकारेणे'ति गाथार्थः [प २ १ पा २] व्याख्याता ॥ 'कमसः लभंते' इत्येतस्य व्याख्यायते—'च प य म(स)' चतुर्णामेषां वर्णानां अभिधर्तव्यान्तिमानेन यथा उकार पकार-मकार-सकाराणां उकारसहितानां क्रमेणैव लभ्यः । केषां ? अकार-ककार पकार-सकाराणां स्थापनात् । अ पु क । मु क । मु ठ । असा० मु मा । कु क क ठ पु । ठ । असाधः—कु र । मु ग छु । क मु म । असाधयात्—मु ण । मु ना । पु म् । गु प । असाधः—मु ई । मु प । मु क । कु र । एवं यथा च प य स वर्गाक्षराणां लभ्यक(ते) ककारेण सह तथा शेषाणामपि । यथा—ककारेण सह लभ्य[ः]वकल्प्या इति । व्याख्यातमेतस्य [प २ १ पा १] 'कमवि वर्गो एव'मिति । 'साणुस्सारे य सविसग्गे' इत्यस्य गाथापश्चार्धस्य व्याख्या कु(कि)मते—कवर्ग-चवर्ग-टवर्गीयाः ककार-चकार-टकाराः सानुस्वाराः—कं चं टं एते पूर्ववत् यथा ककारसहित लभन्ते । तद् बिंदुविसर्गाभ्यां अपि । बिन्दोर्युक्तस्योदाहरणम्—ककार[ः] बिन्दुसहितः पकारं लभते, 'पं' इत्येषा(ष) प(प)कारम्, 'टं' इत्येष टकारम् । स्थापना—कं प । चं प । टं क । असाधः—पं फ । छं र । ठं प । असाधः—स च(गं च) । ज ठ । डं स । असाधः—घं म । झं च । ढं द । असाधः—ङा म पु ट च(ङं म । मं प ।) णं स । उपरं समासावगति । अपरं पु(सु) अपरमेव । सविसर्गेषि(ष्वे)व यथा—कः प । चः प । टः स । [प २ २,पा २] असाधः—खः फ । छः र । थ(ठ)ः प । असाधः—गः च । जः ड । डः स । असाधः—कः म । चः प । चः स । असाधः—पः मं । सः च । ङः द । यथा यथा सानुस्वारस्य (स)-विसर्गक्रमेण अभिधरुच्य तथा 'च प य स' इत्येषामपि प्रकारः—म(चं) अ । पं क । पं च । सं(षं) ट । असाधः—पं आ । पं(फं) स । । रं ठ । [बं ठ] वं द । मं(भं) ग । मं(झं) च । मं द । असाधः—मं आ । मं दः(ङ) । मं मः । ग(ष) मः । [प २ २,पा १] असाधः—पं ई । मं प । च स । ई ड । सविसर्गे(र्गो)ष्वेव यथा—दः च । पः क । पः च । सः ट । असाधः—पः ना । फः क । रः छ । पः ठ । असाधः—दः इ । पः स । [वः ग] । छः द । सः च । असाधः—मः च । मः ज । पः म । सः ण । असाधः—पः ई । भः प । वः ह । ह्नः द । सानुस्वार-विसर्गावेतौ । अथवाऽन्यथा रचनाक्रमेण गुरुराम(ह) ॥ ११० ॥

† मूलादर्शे धर्पऽपीवमकारस्थापना प्रकरणाठाभिन्न उपलभ्यते अतोऽयथावत् योजितेषु इत्यस्मेभिः प्रदर्शिते अस्माभिः । —संपादकः ।

सानुस्वाराणां कचटानां स्थापना

१	कं प	चं प	टं क
२	[illegible]	[illegible]	[illegible]
३	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५	[illegible]	[illegible]	[illegible]

सविसर्गाणां कचटानां स्थापना—

१	कः प	चः प	टः स
२	[illegible]	[illegible]	[illegible]
३	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५	[illegible]	[illegible]	[illegible]

सानुस्वाराणां तपयसानां स्थापना—

१	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
२	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
३	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

सविसर्गाणां तपयसानां स्थापना—

१	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
२	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
३	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

कचया(टा)दीण पढमो, चरिमो य सम लभतुकारेण ।
लभइ[प १ १,पा २] तवग्गे एक्क, साणुस्सारे य सविसग्गे ॥ ३३१ ॥

'कचटादि' इत्यनेन कचटतपयशानां प्रथमो वर्गः । तृतीयस्वराः(वर्गाः) गजड दबलसा ज्ञे । पञ्चमः कञणनमाः । एवमेवादिग्रहण समर्थित भवति । एते कचटा त्रयः उकारसहिता यथा—कु चु टु तु पु यु शु । मतो(एते?)पश्चात् पंचमवर्गोत्तराम् लभन्ते यथा—त प य स(श) । क च ट । तृतीया[प २ ४ पा १]स्तु ग ज डा त्रयः उकारसहिता यथा—गु जु(गु जु) डु दु(दु) लु सु । एतेऽपि स्व(स)स्थात् क्रमेण पञ्चमो पञ्चमो लभते(?) द य ल स ग ज ड यथा (वाक्यः) । एता उकारयुक्ता यथा—ङु ञु णु नु मु । ग(च)वर्ग-तवर्गयोः पञ्चमः क्रमाल्लभ्यः, द्विकालभ्यम । प्रश्नकाले तावपि श्रुत्वा पञ्चमस्य च-तवर्गप्राप्तिर्भवति । यथा—म य च स दु । क्रम प्राप्य, द्विकाल[प २ ४ पा २]भ्यम । एते सम । "कचटा दीण पढमो तइओ चरिमो सम उकारेण लभइ तवग्ग" इत्येतद् व्याख्यातम् ॥ ३३१ ॥

ख-छ-ठादिएहि सहिया, एते उ हवति छट्ठए वग्गे ।
घ-झ-ढाइएहिं सहिया, सत्तमवग्गे लभे एक्क ॥ ३३२ ॥

खकार उकारयुक्तः षष्ठे चवर्गेऽक्षरमुत्तरं प्राप्नोत्युत्तरानुवलितत्वात् । छकार उकारयुक्तः तवर्गे उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । ठकार उकारयुक्तः अवर्गे उत्तरानुवलितत्वात् उत्तरस्वरम् । एवं ख छ ठ खा(था)[न]ि । खकारः अनुस्वारयुक्तः षष्ठे चवर्गे उत्त[प १ ५ पा १]राक्षरं लभते । स एव सविसर्गो युक्तोऽक्षरम् । छकारः सानुस्वारः तवर्गे उत्तरमवाप्नोति । ठकारः सानुस्वारः अपवर्गे उत्तरं लभते । विसर्गयुक्तोऽक्षरम् । एवं छकारोऽपि [स]विसर्गयुक्तो यवर्गेऽक्षरमिति । एवं ख छ ठ था वक्तव्याः । एवं गाथाभागर्थस्य(ंभागस्यार्थः ।) 'घ झ ढाइएहिं सहिया' उकारबिन्दुविसर्गाः । घ(घ)कार ओ(उ)कारयुक्तः सवर्गे उत्तरं लभते । बिन्दुयुक्तः सवर्गे एवोत्तरं लभते । स एव भकारः विसर्गयुक्तः तत्रैवाक्षरमिति । एव ढ(झ)कार उकारयुक्तः सप्तमे सवर्गे उत्तरानुवलितत्वादुत्तरं, स एव बिन्दुयुक्तः [प १ ५ पा २] तस्मिन्नेवोत्तरं लभते । विसर्गयुक्तः अक्षरम् । एवं ढकारोऽपि । एव च सर्वदा(ंम घ ढा) अपि स्वस्थात्सप्तमं वर्गाक्षरं लभन्ते ॥ ३३२ ॥

उत्तरवजणसहि[या], सत्तमवग्गे लभति सेससरा ।
अहरेहि अ संयु(जु)त्ता, लभति अहराहरे वग्गे ॥ ३३३ ॥

उत्तराः [प १ ६ पा १] प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराः परिशिष्टैः स्वरैः 'ऊ ए ओ' इत्येते स(मि)र्मियुक्ताः आत्मीयात्मीया[न्] सप्तम ईकारयुक्तो लभ्यते । प्रश्नाक्षराणामादिस्थितस्य प्रश्नाऽग्रतः हकार इकारयुक्तो दृश्यते तदा टकार इका[प १ ६ पा १]रयुक्तो लभ्यते । प्रश्नाक्षराणामादिस्थितस्य यदाग्रतः टकार औकारयुक्तो दृश्यते तदा वकारो लभ्यते । अधरवर्गा [अ]धराधरमक्षरं लभन्ते अधरस्वरयुक्ताः । इत्येष पञ्चत्रिं(शं)गाथार्थः ॥

अथवाऽस्य(स्या) गाथ(था)या व्याख्या—उत्तरव्यञ्जनशेषस्वराः 'ऊ ए ओ' यथोऽप्येते उत्तरव्यञ्जनसहिता यथा—कू चू टू तू पू यू शू । ऊकार अपश्यात् उत्तरव्यञ्जनसहितो लभते क्रमशः(शः) सर्वस(?)वर्गे यथा—श अ क च ट त प । यथा उत्तरव्यञ्जना येषु वर्गेषु अधरानुवर्ति

धत्वादपराक्षराम् । तथा उत्तरव्यञ्जनाः—गूभूढ़ [प १ ७ प १]धूढ़ढ़ एवं ज्ञेया । क्रमेणैव स इ ग अ ड द बाः, एषु वर्गेषु अधराभुवलितत्वादधरं लभन्ते । तथा ङ्ञ्ण्न्म् क्रमश(शः) सप्तमवर्गा यथा क्रमेण चि(च)त्वधराभुवलितत्वादधरा(र)मिति । ई(पि)कार स्वर व्यञ्जनसहितः यथा—के चे टे ते पे यै शै । ज्ञेयास्तु क्रमशः(शः) एषु वर्गेषु त(त्रि)षा भवति । [†]वत्स्यादपराधरं । कु । क च ट त प । एवं ग ज ड द ब्योऽपि ऐकारयुक्ता ज्ञेयाः । ङ ञ ण न मेति । तथा ऊ(औ)कारयुक्ता उत्तरव्यञ्जनाः । कौ चौ टौ तौ पौ यौ सौ(शौ) । ज्ञेयास्तु सप्तमवर्गात् अधराभुवलितत्वादधराम् । स क च ट त पाः । एवं ग ज ड द ब्यो ङ ञ ण न म्योऽपीति । एवं ऊकार-ऐकार-औकारयुक्ताः अधरा अधरा[र] लभन्ते । खूछूठूथूफू । ज्ञेयस्तूच्यते अधराभुवलितत्वादधरानेव [प १ ७ प १]च आख छ ठ थ फ । तथा, घूझूढूधूभू ङूञूणू । ज्ञेयस्मो वर्गेषु अधराभुवलितत्वादधराधरलक्षिणः । ख इ च छ ठ थ फ यथा ऊकारयुक्तस्तथा ऐकारौकारावपि वाच्याविति एव अधराधरेषु लभते । इत्युक्तो गाथार्थ इति ॥ ११३ ॥

> लमइ ककारो जुत्तो, चकारवग्गमि तइय-चरिमेण ।
>
> ट[त]वग्गो जइ पण्हे, दसमसरा [प १ ८ प १]सइओं यादीए ॥ ११४ ॥

ककारः प्रश्नाक्षराणामादिविशि(त) ईकारेण साजुस्वारेण युक्तः चवर्गीयस्वरं लभते । उत्तरस्वराभुवलितत्वाल्लभते । प्रश्नाक्षराणामौकारस्यादिस्थस्य पश्चात् आकारयुक्तो टकारो दृश्यते तदा आकारयुक्तटकार एव लभ्यते । ककारस्यादिस्थितस्य प्रश्नाक्षर(रेषु) पश्चात् [प १ ८ प १] टकारः इकारयुक्तो दृश्यते तदा टकार एव ईकारयुक्तो लभ्यते । प्रश्नाक्षराणामौकारस्य मध्यमतः तकारः अकारयुक्तो दृश्यते तदा ताकारो लभ्यते । औकारादिस्थस्य पश्चात्‌मतः तकार ईकार युक्तो दृश्यते तदा तीकारो लभ्यते । प्रश्नाक्षराणामादिस्थस्य इकारस्य पश्चा(त्त्वा)मतः तकार आकारयुक्तो दृश्यते तदा तकार आत्मानं लभते । प्रश्नाक्षराणामादिस्थस्य इकारस्य पश्चा‍ऽग्रतः तकार इकारयुक्तो दृश्यते तदा तकारो लभ्यते । औकारस्याग्रतः पाकारो यदा दृश्यते तदा [प १ ९ प १] पाकारो लभ्यते । औकारस्याग्रतः ईकारो दृष्ट ईकार एव लभ्यते । इकार स्याग्रतः पाकार आत्मानं लभते ॥ ११४ ॥

> थिरिय-चउत्थेहि सम, सरेहि सो चेव लमइ त-पवग्गो ।
>
> सत्तम-णवमेहि मम, सेसेहि सम अहरवग्गो ॥ ११५ ॥

पूर्वोक्तो अक्ष(क्षा) गाथ(था)या अनन्तरानन्तरगाथया वर्णितः । प्रश्नाक्षराणामादिस्थस्य ककारस्याग्रतः तोकारं लभते । औकारस्य प्रश्नादिस्थस्य पकार पकारयुक्तः पेकारं लभते । ओकारस्य प्रश्नादिस्थस्याग्रतः पाकार औकारयुक्ता पो(पौ)कारं लभते । इकारस्य प्रश्नादिस्थस्या- [प १ ९ प १]ग्रतः इकारः(तकार:) तकारं लभते । इकारस्य प्रश्नादिस्थस्याग्रतः टो(टौ)कारः ठोकारं लभते । ईकारस्य प्रश्नादिस्थस्याग्रतः स्थितः[तकारः?] तेकारं लभते । इकारस्य प्रश्नादिस्थ स्याग्रतः तकारः तोकारं लभते । ईकारस्य प्रश्नादेरग्रतः स्थितस्य [तकारः?] थेकारं लभते । इकारस्य प्रश्नादिस्थस्य ॥ ११५ ॥

---

† अत्रार्धे त्रिचतुराः शब्दाः पतिता प्रतिभान्ति ।

वितिएण य सजुत्तो, चकारवग्गो लभइ [प २१ पा १] तइयवग्गे ।
पञ्चवग्गे पुण लब्भइ, चत्तारिस(म)एण सजुत्तो ॥ २३६ ॥

चकार एकसंख्याक[:], ककारोऽप्येकसंख्य एव । ततः संयोगा[द]र्धक्रान्तिकसंज्ञः । कस्मात्? ह्रस्वसंख्यत्वात् । यथा 'क्च' । स यत्रतत्रस्थः प्रश्ने च्च(स्व)वर्गाम् प्राप्नुयः(प्राप्नोति) । टकारः कप्रयुक्तोऽर्धक्रान्तिकसंज्ञः यथा 'ट्क' । स यत्रतत्रस्थः प्रश्ने पवर्ग प्राप्नोति । चतुर्थतकारेण युक्तः [प २१ प २] ककारोऽर्धक्रान्तमापन्नो यथोक्तः स यत्रतत्रस्थे(स्थः) प्रश्ने तृतीयवर्ग प्राप्नोतीति ॥ २३६ ॥

जो अ ककारे गमओ, भणिओ सो चेव तइय-चरिमाण ।
आइम-तइयामिहुए, लभइ तकारो हु त पवग्गे ॥ २३७ ॥

यथा ककारः प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः स्ववर्गाक्षरं लभते । एव तृतीयवर्गोक्ष ॥ राणां ग ब ड द ब ल सा नां, वर्गि[प २११ पा १]माणां क च ण म मा नां चान्त्यतमाक्षरप्रश्ने प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः आत्मीयवर्गेऽक्षरमवाप्नोति उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । तकारः प्रथमस्वरेण युक्तः तवर्गेऽक्षरमेक प्राप्नोति उत्तरानुवलितत्वादुत्तरम् । स एव तकारः तृतीयस्वरेण युक्तः पवर्गेऽक्षरमेकमवाप्नोति उत्तरानुवलितत्वाद(दु)त्तरम् ॥ २३७ ॥

लभए वीव(इ)यजुत्तो, चकारवग्गो य तइय[प २११ पा २]वग्ग च ।
चत्तारिमएण सम, लभइ यकारो पवग्ग उ ॥ २३८ ॥

चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः तवर्गं प्राप्नोति । यकारश्चतुर्थस्वरेण य(प)वर्गं लभते ॥ २३८ ॥

जइ भेओ उ चवग्गे, तह य कवग्गमि चेव णायव्वो ।
एव चिय वा(ता)वीहिं, सरेहिं भेओ मुणेयव्वो ॥ २३९ ॥

यथा चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः तृतीयं वर्गं प्राप्नोति ए(ए)वं(व) ककारोऽपि द्वितीयस्वरयुक्तो द्वितीयं वर्गं प्राप्नोति । तकार चकारादप्येवमेव ॥ २३९ ॥

एमेव सेसयाण, चावीण अट्ठमावसाणाण ।
सरवग्गाण य जोगो, अद्धक्कतक्कमो होइ [प २११ पा १] ॥ २४० ॥

एव यथा प्रथमवर्गः शेषाक्षराणां ककाराद्यष्ट(ष्टमां°)तानां तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ड द ब ल सा नां चतुःसंख्यानामक्षराणां यः संयोगः सार्ध(र्धार्ध)क्रान्तिकसंज्ञः । तस्य संयोगस्य चयस्मात् यो ऽक्षरः स तृतीयवर्गं प्राप्नोति । ह्रस्वसंख्यस्य स्वरस्याक्षरस्य च यः संयोगः सोऽप्यर्धक्रान्तिकसंज्ञः । अतः तृतीयवर्गं प्राप्नोति ॥ २४० ॥

पण्हाइमसंखाए, सव्वे पण्हक्खरे गुणेऊण ।
उवरिल्ले पक्खेउ, आइल्ले अट्ठहिं विभाए ॥ २४१ ॥
सेस वग्गो णामक्खर होइ ।*
जइ पुच्छइ क म(स)रं तो, करेज्ज अह[प २११ पा २]क्खर कमसो॥२४२॥

---

* मूलादर्शे अस्या गाथाया अर्धमेव पूर्वार्ध उपलभ्यते । अपिलिखितमनुपलम्भात् ।

प्रमाक्षरमध्ये च(प)रिस्वराणां संख्या उपरिमाकारहितानां च संयुक्ताक्षराणां वा सर्वाक्षरसंख्या तामेकीकृत्य पृथग् (क्) स्थापयेत् । परिस्(शि)ष्टानां प्रमाक्षराणां निजमात्राक्षराणां च या संख्या तामेकीकृत्य स्थापयेत । अ क च ट त प य श वर्गाणां वसु-मुनि-रस-श(श)र-सागर-त्रि-यम चन्द्राः क्रमसो(शो) गुणकारा[ः] । प्रमाक्षराणां मात्राक्षर प्रतिपक्षो गुणाकारा, तेन गुणयित्वा स्थापितां अधोऽक्षरसंख्यामुपरि[प २११ प १]स्वराक्षरं पृथक् स्थापितं तत्रैव प्रक्षिप्याष्टभिर्भागेऽपहृते लब्धाच्छेषाच्च द्वौ वर्गौ लभ्य(भ्ये)ते । लब्धवर्गौ यथाधिका(क)वशाच्चाष्टभिः पुनर्भागे हृते लब्धाच्छेषाम(च)द्वौ वर्गौ पुनर्लभ्य(भ्ये)ते । ककारादयो लब्धवर्गाः शेषवर्गा ज्ञेयाः ॥ १४१—१४२ ॥

एमेव सेसवग्गे, णामक्खरपा(या)ण हवइ एक तु ।
जइ इच्छसि त करणं, करणे(रे)ज्ज अधराधर तत्तो ॥ १४३ ॥

तत्र शेषवर्गेष(षु) लब्धवर्गेषु एकैकं नामाक्षरं लभ्यते । प्रमाक्षराणां नियमितानां वर्गे पूर्वोक्तमपरापरक्रमेणाक्षरमुत्तरमधरं जानीयात् ॥ १४३ ॥

॥ वर्गाक्षरसंयो[प २११ प २]गोत्पादनं समाप्तम् ॥

अत्यु(णु)सार विसग्गविही, ण(णा)यव्वो होइ सव्वओभद्दे(द्दे) ।
चउसु वि दिसासु एव, वग्गो ण(णा)मक्खरुप्पत्ती ॥ १४४ ॥

सर्वतोभद्र[ः] प्रकारमंतरेण न शक्यते दर्शयितुम् । अनुस्वारविसर्गग्रहणेन शेषस्वराणामपि सूचना कृता । यतो व्यञ्जनस्वरयोगात्(च)तुर्दशपि विशु(स्व)रपातनिकया शुभाशुभलाभालाभजीवितमरणादयपि नामाक्षरोत्पत्तिरपीति प्रकारेण दर्श(र्श्य)त इति सर्वतोभद्रस्य महाकरण(ण)स्य मूलप्रतिपत्त्याधारस्था(स्या)वरणपत्रवत्पर्यन्ति(न्त) न्यासमात्र [प २१४ प० १] पंक्ति पङ्क्ति(क्ति)लिख्यते । तत्र मूलप्रतिपत्ति अष्टदलमध्ये अकार तस्य पूर्वतः एकारः । दक्षिणतः ऐकारः । अपरतः ओकारः । उत्तरतः औकारः । द्वितीयवर्गे पूर्वादिगादि अ क च ट त प य श । तृतीयावरणे दक्षिणादि ख छ ठ थ फ र ष । चतुर्थे अपरादि ग ज ड द ब ल स । पंचमे उत्तरादि घ झ ढ ध भ व ह । भूयः पञ्चावरणे पूर्वादि आदित्य-भौम शुक्र-बुध-गुरु-शनि चन्द्र-राहु-पर्यन्ता ग्रहाः । सूर्यो(र्य)भौमोप(न)रे पुनर्वसु पुष्या-श्लेषा । भौमशुक्रान्तरे मघा पूर्वफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनी च । शुक्र ह्स्तः । शुक्रबु[प २१४ प १]धान्तरे चित्रा स्वाति विशाखा । बु[ध]गुरु(रु)रन्तरे अनुराधा ज्येष्ठामूलानि । गुरुशनैश्चरान्तरे आषाढाऽभिजित्श्रवण । गुरुसूर्योपरि पूर्वाषाढा । शनैश्चरान्तरे धनिष्ठा शतभिषा पूर्वभाद्रपदा । चन्द्रोपरि उत्तराभाद्रपदा । चन्द्रराहु म(ध्ये) रेवती अश्विनी भरणी च । राहुसूर्यान्तरे कृत्तिका [प २१५ प १] रोहिणी मृगसिरार्द्रेति । सूर्योपरि आर्द्रा । एतत् पञ्चावरण पूर्वादिक्षिणादिः ॥

मेष अ ग र ग घ ट । वृषः च छ ज झ ञ । मिथुन वृषोपरि म(मी)नः । मकारोपरि मिथुनः । दक्षिणस्यां कर्कटः । ततः ट ठ ड ढ ण टकारस्योपरि सिंहः । त थ द ध न दकार उपरि कन्या(न्या) । तस्यदिशा(शा)दौ तुलाः(ला) । प फ ब भ म [प २१५ प १]मकार

१ "उपरिस्थित नियोजनात्" इति संभाव्यते ।

स्योपरि दृश्यिक । घ र छ व पंचमोऽयं कुंभसंज्ञो रकारोपरि धनुः । उत्तरतो मकरः । क्ष प स ह पंचमोऽयं हिंडुवः स्रग्धः आकारोपरि कुम्भः । क ख ग घ ङ गकारोपरि मीनः । एवं सप्तमाक्षरम् । अष्टममिदानीं—पूर्वोक्तिः क च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । एवा(वम)ष्टमम् । नवमं इदानीं—पूर्वोक्तिः ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । दशममिदानीम्—त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह च । क ख ग घ ङ । च छ ज [प २१६ पा० १] झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । एकादश(म)मिदानीं—प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । द्वादश[म]मिदानीम्—य र ल व । श ष स ह च । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । त्रयोदश[म]मिदानीम्—श ष स ह । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह च । चतुर्दश[म]मिदानीम्—क अ, ख आ, ग इ, घ ई, ङ उ(ऊ), च ऊ (ऋ), छ ए, ज ए(ऐ), झ ए(ओ), ञ ऊ(औ), ट अं, ठ अः । ड अ, ढ आ, ण इ, त(थ) ई, द उ, ध ऊ(ऋ), न ए, प ऐ, फ ओ, ब औ, भ अं, म अः । य[अ], र आ, ल इ, व ई, [प २१६ पा २] श उ, ष ऊ, स ए, ह ऐ, क ओ(ओ), ख ऊ(औ), ग अं, घ अः । ङ अ, [च] आ, [छ] इ, ज ई, झ उ, ञ ऊ(ऋ), ट ए, ठ ऐ, ड ओ(ओ), ढ अ(औ), ण अं, त(थ) अः । पंचदश[म]पूर्वोक्तिः क च ट त प य श । अ । ख छ ठ थ फ र ष । आ । ग ज ड द ब ल स । ओ । औ घ झ ढ ध भ व ह । ई । ङ ञ ण न म क्ष । ए । आ ख छ ठ थ फ र ष । ऐ । इ ग ज ड द ब ल स । ई घ झ ढ ध भ व ह । ओ । एवं पञ्चदशावर्ण(रण)पर्यन्तोऽयम् ॥ १४४ ॥ [प २१७ पा १]

॥ सर्वतोभद्रः समाप्तः ॥

सर्वतोभद्र इति महारि(ह)श्चराश्चयश्चविधानेन येन केनचित् यथाविस(स)मायातस्था देशो(शा)न्तराण(णि) च मानानि । अन्यत्र विधाने इति । अगतार्थं च इह लिखितमिति ॥ छ ॥

कठसरिओ वि उरो, उ(पो)रमार(वं?) सो न गच्छए मोत्तु ।
अवसेसंति(समंता?)रिओ पुण, आइक्कमणतरं पावे ॥ १४५ ॥

"अ इ ए ओ" एते कण्ठ्याः । एतेषामन्यतमो[प २१७ पा २] इकारस्ये(स्य) समाक्षरादिस्थस्य यदाऽभवः तदा इकार एव लभ्यते । "अ इ ए ओ" एतेषां कंठ्यानां अन्यतमादिस्थस्य "आ ई ऊ ऐ औ अः" एतेषां अपरिस्थितस्वराणां अन्यतमो यदाऽभवः स्थितमेवापमभ्यंतरं तदा कंठ्या(ण्ठ्य) वर्णं लभते ॥ १४५ ॥

उच्चारादिसु एव, पढमतरिओ ण एइ परभाव ।
अभिहम्मं(म्म)सो पुरओ, आदिष(ट्ठी)मणतर लभइ ॥ १४६ ॥

चकारस्य इकारस्य प्रथमस्य समाक्षरादिस्थस्य यदाऽभवोऽनंतरं ककारः प्रथमो लभ्यते तदा इकार एव लभ्यते । इकार(रे) ककारेणाक्रियते आदिस्थो [प २१८ पा १] इकार एव लभ्यते । चकारस्य कंठ्यसंयोगकरणम् ॥ १४६ ॥

सीस भायए सदा काल
ज सेसं सा हु तिही, वोच्छ णक्खत्तकरण से
लद्धाओ जा तिथीओ, या(हीणा) रूपेण कण्ण
मुद्ध पि वोहिं माए, माससनामाद्दिरिक्खगण

सर्वदा प्रश्नकालिमी छाया राम(स)यो प्रवक्ष होरेति पदप्रधान
ऊीकृत्य रुस्त(त्रिस)त्वगुणाक्षेपः । वर्तमानतिथियुक्तं च कृत्वा शेष ग

पढमो विसमो उ सरो, विसिओ य समो तह
विसमसमो य चउत्थो, सेसा एव सरचउक्का ।

प्रश्नाक्षरणमस्तादिभो गकारो विप[म] इति इकारयुक्त गका
म चकार स ईकारयुक्तो चकार एव लभते । एकारो विपम ऐकारयुक्ते

एव समवग्गाण, चउक्का विसमवग्गयाण च
णायवा णत्तरओ, विसमा [प २१९ प १] विसम

समसरे[ण] युक्तसमाक्षरत्वमेव लभते । विष(प)मस्वरेण
एवं सर्वे ककारादयो इकाराभ्यां समसरे(रै)र्युक्ताः समाक्षरावच
विपमाक्षराश्च एव कथ्यन्ते ॥ १४८ ॥

समसजोएण समो, लभइ स विसमो य विस
वग्गे दिट्ठो एसो, भणिओ वग्गक्खरवि[प २१९

समस्वरयोगे व्यस्तं समं कथ्यते । सर्व च विपमस्वरसंबं
कथ्यते । स्वरश्च विपम एव प्राधूर्ण[प]र्वः । वर्गोऽक्षरसप्रविभागे सर्व

॥ संकट-विकट समासम् ॥

वग्गक्खरा तिपु(गु)णिया, सेवो पढमक्खरस्स
तिसु चउसु अघो अट्ठे, तंमि य णा[म]क्खर

प्रश्नाक्षराः । एव वर्गाक्षराः । प्रश्नाक्षराणां विपमाक्षराण
त(त्रि)गुणां कृत्वा प्रश्नाक्षराणां ककारादीनां हकारांतानां अन्यतम
पिंडात् पंच प्रक्षिप्य ये ककारादीनां हकारांतानां [प ११ प १]
तस्मिन्नेव संख्या पिंडाख्या चतुरक्षिप्याद्याभिर्भागेऽपहृते शेषे तकारा
पुनः सप्तभिर्भागे प्र(प्र)थमं एव शेषं तयोः ककारादिवर्गो लभ्यते

अक्खरसरिसा जोणी, मत्तासरिसं च जाणए रु
एवं सेण विभत्ते, वग्गेण निरूविओ भेओ ॥ १

---

† यथा मात्राया एव एवोक्तः व्यतिरिक्तनेन उपलभ्यतेऽमात्रैः । सर्व
स्वरादिमिश्च युक्तीकृता लभ्यते । मात्राभ्यन्तरभेदनेव युक्तस्थितश्च सर्वा सम

जीव-धातु-मूलाक्षरैः पूर्वोक्तैर्जीवधातुमूलयोनिनिर्देशकार्यः(र्यं) मात्राभिर्ज्ञातव्यम् । रूप इष्टं कृष्णं पीत इत्यादि । लक्षण दीर्घमस्य वृत्त इति । जीव धातु-मूलोत्तराक्षरैः पञ्चभिर्भेदः प्रश्नाक्षराणां निरूपयितव्यो वर्गमुद्विभाग्यः ॥ १५१ ॥ [प ११० पा २]

पढम-तइए य चरिमा, वग्गा पासंडिया तहा भणिया ।
सेसा य अपासंडी, णिदिट्ठा पण्हसूत्तेहिं ॥ १५२ ॥

प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाणां अन्यतमबहुले प्रश्ने पाखण्डिनो ज्ञेयाः । के ते ? प्रव्रजिताः अरहन्तादयः आजीविकादयश्च । शेषाणां द्वितीय-चतुर्थ-वर्गाक्षराणां अन्यतमाधिके प्रश्ने अपाखंडिनो ज्ञेयाः । [प १११ पा १] अपाखंडिन इति गृहस्था भण्यन्ते ॥ १५२ ॥

पढमो वग्गो पासदाहिण (दाहिणपासे) बिइ(ई)य एव चउत्थे य ।
रा(वा)म तइए मज्झ, दो पासे पचम जाण ॥ १५३ ॥

प्रथमवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने तैरेव प्रथमवर्गाक्षरैरनभिहतैर्दक्षिणपार्श्वे पुरुषस्य लांछनं ज्ञेयम् । अनभिहतैः स(श)स्त्रप्रहार इति । द्वितीय चतुर्थवर्गाक्षराणामन्यतमबहुले [प १११ पा २] प्रश्ने तैरेव द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरैरनभिहते वामपार्श्वे लांछनं प्रवेक्तव्यम् । अभिहतैस्तैरेव व्रणैः प्रहारचिह्नम् ॥ १५३ ॥

पढमसरे सिरभाग, णिडालय होइ तह कवग्गंमि ।
चिबुयं[च] चवग्गंमि, गिवप्पएसो टवग्गंमि ॥ १५४ ॥

प्रथमस्वरग्रहणेन अवर्गो गृह्यते । तेन सिरो ज्ञेयः । कवर्गे ललाटं । चवर्गे[प १११ पा १] चिबुक । टवर्गे ग्रीवाप्रदेश(शः) ॥ १५४ ॥

हियय च तवग्गंमि, कडिय पवग्गंमि होइ नायव्वा ।
ऊरू [य] यवग्गंमि, जाणु पव(ए)सो सवग्गंमि ॥ १५५ ॥

तवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने हृदयं ज्ञेयम् । पवर्गबहुले प्रश्ने कटी ज्ञेया । अ(य)वर्गबहुले ऊरू ज्ञेयौ । जानु(नु)पादौ सवर्गबहुले ॥ एवं अङ्गविभागाङ्गकल्पना । [प १११ पा २] पव(पर्व)-मेदभागकल्पनार्थः(र्थमाह) ॥ १५५ ॥

सीसो य अवग्गंमि, णिडालदेसो तहा कवग्गंमि ।
अच्छी य चवग्गंमि अ, णासा उ तहा टवग्गंमि ॥ १५६ ॥

पदमिदिरं अवर्गबहुले प्रश्ने सिरो ज्ञेयः, तत्प्रदेशमवयवा[न्] तैरेव वर्गाक्षरैराद-कवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने मूर्द्धजाः प्रवेक्तव्याः । [प ११२,पा १] चवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने ललाटं ज्ञेयम् । चवर्गबहुले प्रश्ने लोचने । टवर्गे नासिका ॥ १५६ ॥

वयण होइ तवग्गे, अहरोट्ठा तह पवग्गए भणिया ।
चिबुय च [य]वग्गंमि, होइ य गीवा सवग्गंमि ॥ १५७ ॥

तकार(वर्गा)धिके वदनम् । पवर्गाधिके ओष्ठौ । यवर्गे चिबुकः । सवर्गे ग्रीवा इति ॥१५७॥

† तीस भायए सया काल ।

ज सेस सा हु तिही, वोच्छ णक्खत्तकरण से ॥

लद्धाओ जा तिथीओ, या(हीणा) रूपेण कण्ण(ण्ह)पक्खस(स्स) ।

सुक्क पि दोहि भाए, माससनामाविरिक्खगण ॥

सर्वदा प्रश्नकालिनी छाया राम(स)यो प्रश्नस होरेति पचदशानां संज्ञा प्रश्नाक्षरस्य । सर्वविकरे कीकृत्य तन्स(त्रिंश)त्पंचगुणाक्षेपः । वर्तमानतिथियुक्ते च कृत्वा शेषं गतार्थः ॥अन्य(ना॑)दर्शमेतत्॥

पढमो विसमो उ सरो, थितिओ य समो तइज्जओ सम्मो ।

विसमसमो य चउत्थो, सेसा एव सरचउक्का ॥ १४७ ॥

प्रश्नाक्षराणामादिको गकारो विष[म] इति इकारयुक्त गकारमेव लभते । प्रश्नाक्षरादिको घकार स ईकारयुक्तो घकार एव लभते । ङकारो विषम उकारयुक्तो ङकार एव लभते ॥ १४७ ॥

एव समवग्गाण, चउक्कया विसमवग्गयाण च ।

णायव्वा णतरओ, विसमा [प ११९ च १] विसमाण सजोए ॥ १४८ ॥

समस्वरे[ण] युक्तसमाक्षरत्वमेव लभते । विष(ष)मस्वरेण युक्ते विषमाक्षरे लभ्यते । एव सर्वे ककारादयो हकारान्ताः समस्वरे(रै)र्युक्ताः समाक्षरत्वमेव लभन्ते । विषमस्वरैर्युक्ता विषमाक्षरत्व एव लभन्ते ॥ १४८ ॥

समसजोएण समो, लभइ अ विसमो य विसमसजोए ।

वग्गे दिट्ठो एसो, भणिओ वग्गक्खरवि[प ११९ च १]भाओ ॥ १४९ ॥

समस्वरयोगे व्यञ्जनं समं लभ्यते । सर्वं च विषमस्वरसंयोगे व्यञ्जनम् विषमाक्षरे लभ्यते । सर्वत्र विषम एव भागू[व]र्थः । ततोऽक्षरस्वरविभागो कथितेति ॥ १४९ ॥

॥ संकट-विकट समाप्तम् ॥

वग्गक्खरा तिगु(गु)णिया, खेवो पढमक्खरस्स वग्गम्मि ।

तिसु चउसु अधो अट्ठे, तंमि य णा[म]क्खर वग्गे ॥ १५० ॥

प्रश्नाक्षराः । पच वर्गाक्षराः । प्रश्नाक्षराणां विद्यमानस्वराणां या संख्या तामेकीकृत्य त(त्रि)गुणां कृत्वा प्रश्नाक्षराणां ककारादीनां हकारांतानां अभ्यन्तरादौ यत्र पूर्वत(त्रि)गुणित-पिंडात् पंच प्रक्षिप्य ये ककारादीनां हकारांतानां [प १२ पा १]प्रश्नाक्षराणामभ्यन्तरादौ एते पश्चिमेन संख्या पिंडस्था चतुरक्षिप्यात्वाभिर्भागोऽपहृते शेषे वकारादिवर्गो लभ्यते । लभ्यार्थ पुनः सप्तभिर्भागे पञ(पद)र्थं यत् शेषं तयोः ककारादिवर्गो लभ्यते ॥ १५० ॥

अक्खरसरिसा जोणी, मत्तासरिसं च जाणए रूव ।

एयं सेण विमरो, वग्गेण निरूविओ भेओ ॥ १५१ ॥

---

† अस्या गाथाया एव पूर्वार्द्धः खण्डितत्वेन उपलभ्यतेऽनादर्शे । पर अग्रे ८५ पत्रे इयं गाथा यथास्थिता पुनर्लिखिता लभ्यते । आदर्शान्तरभेदेनैव पुनर्लिखिता भवति सम्भाव्यते ।

पीत-धातु-मूलाक्षरैः पूर्वोक्तैर्जीवधातुमूलयोनिभिर्वेमकार्यः(र्यै?) मात्राभिर्द्रष्टव्यम्। रूप वर्णं कृष्णं पीतं दृश्यते। लक्षण दीर्घमस्य कृत इति। जीव-धातु-मूलोत्तराक्षरैः पंचभिर्भेदः प्रश्नाक्षराणां निरूपयितव्यो वर्गप्रविभागः ॥ १५१ ॥ [प ११० पा १]

पढम-तइए य चरिमा, वग्गा पासंडिया तहा भणिया।
सेसा य अपासंडी, णिद्दिट्ठा पण्हइत्तेहिं ॥ २५२ ॥

प्रथम-तृतीय-पंचमवर्गाणां अभ्यासतमबहुले प्रश्ने पाषण्डिनो ज्ञेयाः। के ते ? प्रव्रजिताः अरहन्तादयः आजीविकादयश्च। शेषाणां द्वितीय चतुर्थ-वर्गाक्षराणां अभ्यासमाधिके प्रश्ने अपाषण्डिनो ज्ञेयाः। [प १११ पा १] अपाषण्डिन इति गृहस्था मण्यन्ते ॥ १५२ ॥

पढमो वग्गो पासंदाहिण (दाहिणपासे?) बिइ(ई)य एव चउत्थे य।
रा(वा)म तइए मज्झ, वो पासे पचम जाण ॥ १५३ ॥

प्रथमवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने तैरेव प्रथमवर्गाक्षरैरनभिहतैर्दक्षिणपार्श्वे पुरुषस्य लांछनं ज्ञेयम्। अनभिहतैः स(ब)समहार इति। द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराणामभ्यासतमबहुले [प १११ पा० २] प्रश्ने तैरेव द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरैरनभिहते वामपार्श्वे लांछनं प्रवेष्टव्यम्। अभिहतैस्तैरेव प्रश्नैः मध्यादिष्टम् ॥ १५३ ॥

पढमसरे सिरभाग, णिडालय होइ तह कवग्गमि।
चिबुयं[च] चवग्गमि, गिवप्पएसो टवग्गमि ॥ १५४ ॥

प्रथमस्वरग्रहणेन अवर्गो गृह्यते। तेन सिरो ज्ञेयः। कवर्गे ललाटं। चवर्गे[प ११८ प १] चिबुकं। टवर्गे ग्रीवाप्रदेशा(शः) ॥ १५४ ॥

हियय च तवग्गमि, कडिय पवग्गमि होइ नायव्वा।
ऊरू [य] यवग्गमि, जाणु पव(ए)सो सवग्गमि ॥ १५५ ॥

तवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने हृदयं ज्ञेयम्। पवर्गबहुले प्रश्ने कटी ज्ञेया। य(य)वर्गबहुले ऊरू ज्ञेयो। जानु(नु)पादौ सवर्गबहुले ॥ एवं अङ्गविभागांगकल्पना। [प ११८,पा २] पंच(पश्च?)-मोत्तमभागकल्पमार्गः(र्ग्यमाह?) ॥ १५५ ॥

सीसो य अवग्गमि, णिडालदेसो तहा कवग्गमि।
अच्छी य चवग्गमि अ, णासा हु तहा टवग्गमि ॥ १५६ ॥

पचभिरिति अवर्गबहुले प्रश्ने शिरो ज्ञेयः, ललाटमीभवपन्ना[न] तैरेव वर्गाक्षरैरपद– कवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने मूर्द्धजाः प्रवेष्टव्याः। [प ११९ प १] चवर्गाक्षरबहुले प्रश्ने ललाटं ज्ञेयम्। चवर्गबहुले प्रश्ने लोचने। टवर्गे नासिका ॥ १५६ ॥

वर्ण होइ तवग्गे, अहरोट्ठा तह पवग्गए भणिया।
चिबुयं च [य]वग्गमि, होइ य गीवा शवग्गमि ॥ २५७ ॥

तकारा(वर्गे)धिके वक्त्रम्। पवर्गाधिके ओष्ठौ। युवर्गे चिबुका। शवर्गे ग्रीवा इति ॥ १५७ ॥

एतेसु पयाए १२१ A-२ सेसु, एतेमि अभिहएहि वग्गेहि ।
मसय तिलयं सत्थ-क्खय च कमसो वियाणाहि ॥ १५८ ॥

सिर(शिरः)प्रभृत्यो ये प्रदेशा येरक्षरा(रै)रुक्ताः तैरमि(भि)मिहतैः अभिकैः प्रमे(भे) च प्रदेशो मिषपहुको वक्तव्याः । अभिहतैकपतु(द्र)वयुक्तः । बधा(ञ्जिका)मिघातस्त(त्रि)विधः । तत्र तैर्वर्गाहतैराक्रिमितैः मस(श)क तिलकं च वक्तव्यम् । अभिधूमितैराहरणं(णैर्नष्टं) वर्गैरेषु स(श)स्त्रप्रहारः तत्र प्रदेशे वक्तव्यः ॥ १५८ ॥

भणिएहि थयणदेसे, वग्गेहि य अभिहएहि जाणिज्जा ।
मसय तिलयाइ सव्व, चिण्ह गुरुप(अप्प)एसेसु ॥ १५९ ॥

वदने चामिर्[A ११४ A-१] विहतानि अभिह(हि)तानि तैरभिहतैरक्षरैर्लाभि मशकतिलकादीनि गुह्यप्रदेशे ज्ञेयानीति ॥ १५९ ॥

॥ अक्षरविभागप्रकरणमगस्य ॥

सत्तम-णवमो य रवी, चदो वि य होइ पढम-तइएण ।
भोमो बीय-चउत्थे, पचम-छट्टो य ससिसुओ भणिओ ॥ १६० ॥

सप्तमकर एकारः, नवम क(ओ)कारः । एतौ सूर्यस्य । चन्द्रः प्रथम-तृतीयैः 'अ इ' । भौमो द्वितीय चतुर्थैः 'आ ई' । बुधः 'उ ऊ' ॥ १६० ॥

एक्कारस सूरसुओ, जीवो दसमे य अट्ठमे सुक्को ।
वारसमो वि य राहू, एते सरसामिया भणिया ॥ १६१ ॥

अं शनिः । ओ गुरुः । शुक्र ये । अः [A ११४ A १] राहुः । स्वराणां सा(स्वा)मित्वं महत्त्वार्थं उमाप्रतिमप्रश्नसूचकप्रश्नोदया-वामन-क्रया अभोसायादिना ज्ञेयाः ॥ १६१ ॥

॥ स्वरक्षेत्रमथनम् ॥

रवि-सोम-मुहु-बुह-गुरु-सणि-य(चो)दो राहु अट्ठमो एते ।
अ क च ट त प य श वग्गाण होंति खेत्ताहिवा णियमं ॥ १६२ ॥

अ क च ट त प य श वर्गाणां ग्रहाः क्षेत्राधिपा ज्ञेयाः । तथाविधक्षरप्रमुखैः मिश्रा(श्रा)विहाराद्विज्ञेया इति ॥ १६२ ॥

पण्हक्खरसमुम्(मु)ण, तिहिसहिय उ(ओ)मरधपरिसुद्ध ।
मच(त्ते)हि भागसेसे, सुजा(ज्ञा)ह(A ११५ A १)गाहा मुणेयवा ॥१६३॥
सुर्ण रूएण वा (वा?)दरो, तिण्णि य दो सह य रूवमिक्क तु ।
सुरादीण एते, उमा(ऊसा?) सहा सहा कमसो ॥ १६४ ॥

दिनकरानयनम् ॥ १६३-१६४ ॥

छाया रासी होग, पण्हक्खरय च होइ तीसगुण ।
पक्खो वा तिण्णि सया, सट्ठासतिहि(?) स साह ॥ १६५ ॥

तीसगुण काऊण, सीया(तीसा)ए हायए सया काल ।
ज सेस सा उ तिही, वोच्छ णक्खत्त-करण से ॥ ३६६ ॥
लद्धाइ(ओ) जा तिहीओ, हीणा रूवेण कण्हपक्खस्स ।
सु(सु?)कमि(पि?) दोहिं च भवे, मासस्स नामरिक्खगण ॥ ३६७ ॥

सर्वदा प्रश्नकालिनी छाया राश(श)यो द्वादश । होरेति पञ्चदशानां संज्ञा । प्रश्नाक्षरत्व । [प १११,प १][सर्वां]मिवर्वेकीकृत्य त्रसत्वा(त्रिंशता)गुणा शून्यक्षेपः ३६० वर्तमानप्रतिपि युर्क च कृत्वा । शेष गतार्थम् । अनावर्य(र्शी)मेवपिषी(थि)नक्षत्रकांश्चम् ॥ ३६५-३६७ ॥

गघवाइ(इ) अवग्गे, दिट्ठे विज्जाहरा कवग्गमि ।
पनाहाहा(?) [च]वग्गमि, णागय(?) य(ट)वग्गमिति ॥ ३६८ ॥

[इयं गाथा अस्पष्टार्था । न चास्या व्याख्यालेशो लभ्यते । —संपादकः ।]

जक्खा य [त]वग्गंमि, देवा भणिया तहा पवग्गंमि ।
णागा य यवग्गंमि, भूया जाणे सवग्गंमि ॥ ३६९ ॥

तवर्गाधिके प्रश्ने यक्षा ॥ पवर्गाधिके देवा । यवर्गाधिके नागा । स(श)वर्गाधिके भूताः ॥ ३६९ ॥

पेया य पवग्गमि, जाण सकारे य तह पिसाया य ।
कोहडा य हकारे, एव जाणिज्जा[प० ११६,प १]सुक(क)मसो ॥ ३७० ॥

प(प)काराधिके प्रश्ने प्रेताः । सकाराधिके पिशाचाः । हकाराधिके कुष्माण्डाः ॥ ३७० ॥

अणुणासिएसु असुरा, णायवा य(अं)मि वीसए जर्मो ।
सविसग्गमि अकारे, जक्खा सुणया य सजोए ॥ ३७१ ॥

अनुनासिकबहुले असुरा । अ(अं)कारः सानुस्वारः, तदधिके प्रश्ने यमो ज्ञेयः । अकारः सविसर्गः, तदधिके प्रश्ने यक्षा ज्ञेयाः । संयोगाक्षराधिके प्रश्ने श्वा(था)नरूपिणो यक्षा ज्ञेयाः ॥ ३७१ ॥

एएहि अक्खरेहिं, जाणसु अभिघाइएसु मरण तु ।
जो(जा) जस्स देवया अक्ख[र]स्स तेणेव सा भणिया ॥ ३७२ ॥

यस्य यस्य देवताविशेषस्य येऽक्षराः पूर्वाभिहितास्तैरदि(रभि)तैस्तस्मात् तस्मात् देवताविशेषात् सकाशा(शा)न्म[प ११६ प २]रणमपि ज्ञेयम् ॥ ३७२ ॥

पढमय-बीय(थि तिय)चउत्थो, पचमवग्गो य तह य णायवो ।
धाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय अक्खरा कमसो ॥ ३७३ ॥

प्रथमवर्गाधिके प्रश्ने वातिका व्याधिरातेय्या(श्या) । द्वितीयवर्गे पैत्तिका । तृतीयवर्गे श्लेष्मा । चतुर्थवर्गाक्षराधिके प्रश्ने सान्निपातः । पञ्चमवर्गाक्षराधिके प्रश्ने क्षयो व्याधिरादेश्यः । मृत्युर्यस्य वा यं व्याधिरुत्पद्यतीति ॥ ३७३ ॥

पणयालसयं अट्ठुत्तरं च दोट्टावग्गाहिसुव(वी)रासी ।
अवसा(से)साणं छण्ह, एक्कोत्तरिया हवइ विड्ढी(ड्ढी) ॥ १७४ ॥

पूर्वाविसस्य प्रादक्षण्येन गुणका(ऽ)बिम्बस्य प्रभाकरसहितं कृत्वा गुणयेत् ॥ १७४ ॥

पच य सत्त य णव तेरसे य अट्ठादसमे य सोलसय ।
बत्तीसं तिप्पीस, जाणसु गुणकार रासीओ ॥ १७५ ॥

पूर्वाविदः प्रमा सहिता गुणका(ऽ) यथालिलमस्[व]विम्बके गुण्य सोधनिकां यथाक्रं विशोधयेत् ॥ १७५ ॥

पचगतिगछसचट्ठमा य ते होंति सोहणा कमसो ।
धय धूमे(म) सीह साणा, वसहमि पुक्खितिया एते ॥ १७६ ॥
णियव(?णवय)क्खरमि जाणे, सोहणय चोवसे तु वाणि(?) ।
पण्णरसगए भरिया, सोल्सढके वियाणाहि ॥ १७७ ॥

एसो [सो] सखेवो, भणिओ जिणभासिओ समासेण ।
जाव य णिहुइ णाम, लाभालाभेसु सव्वेसु ॥ १७८ ॥

एष सः वक्ष्येन प्रकारेण सात्त्विकाय पुरुषाय बुद्धिवर्त्तं ज्ञात्वा, ने(नै)वदुरभव्यानि(य) मायिके(का)भामक्षमात्मा(माय) आकृतपुत्राय वात्सल्या(य)काममर्षणाय देयम् । गुरुशुश्रूषकाय ज्ञानवते भाविकाय देयमिति । जिनमहणपरिज्ञानार्थं सर्वं वो यथासहर्षैरंतरैः लाभालाभादि स सर्व लभ्यं प्रमे [इ]ति ॥ १७९-१७८ ॥

॥ प्रश्नव्याकरणं समासम् ॥

॥ संवत् १३३६ वर्षे चैत्र शु० १ ॥ इति संपूर्णम् ॥



ज्ञानदीपकाख्य

चूडामणिसारशास्त्रम् ।

नमिऊण जिणं सुरअणचूडामणिकिरणसोहियपयजुयलं ।
इय चूडामणिसारं कहियं मए जा(ना)णदीवक्खं ॥ १ ॥

जिनमहं सुरगणचूडामणिकिरणशोभितपादयुगलं नत्वा इदं चूडामणिसारं ज्ञानप्रदीपाख्यं मया कथ्यत इति ॥ १ ॥

पढम-तईय-सत्तम-नवमसरा पढम-तईयवग्गवण्णाइं ।
आलिंगियाइं सुहया उत्तर-सकडअणामाइं ॥ २ ॥

अ इ ए ओ एते प्रथम-तृतीय-सप्तम-नवमाश्चत्वारः, तथा क च ट त प य श ग ज ड द ब ल सा एते प्रथम-तृतीय[वर्ग]चतुर्दशवर्णाश्च आलिंगिताः, सुभगाः, उत्तराः, संकटमनकाश्च भवन्तीति ॥ २ ॥

कुच-जुग-वसु दिस-सरआ बीय-चउत्थाइं वग्गवण्णाइं ।
अहिधूमिआइं मज्झा ते उण अहराइं वियडाइं ॥ ३ ॥

आ ई ऐ औ एते द्वितीय-चतुर्थाष्टम-दशमाश्चत्वारः स्वराः, तथा ख छ ठ थ फ र षाः घ झ ढ ध भ व हाः एते द्वितीय चतुर्थवर्गाणां चतुर्दशवर्णाः अभिधूमिताः, मध्यास्तथा अधराश्च विकटाश्च भवन्तीति ॥ ३ ॥

सर रिउ-रुद्द दिवाअर-सराइं वग्गाण पंचमा वण्णा ।
दड्ढाइं वियड-सकड अहराहर-असुहणामाइं ॥ ४ ॥

उ ऊ अं अः एते पंचम-षष्ठैकादश-द्वादशाश्चत्वारः स्वराः, तथा ङ ञ ण न मा इति वर्गाणां पंचमा वर्णाः दग्धाः विकटसंकटा अधरा अशुभनामकाश्च भवन्ति ॥ ४ ॥

सव्वाण होइ सिद्धी पण्हे आलिंगिएहिं सव्वेहिं ।
अहिधूमिएहिं मज्झा णासइ दड्ढेहिं सयलेहिं ॥ ५ ॥

प्रश्ने आलिंगितैः सर्वैः सर्वेषामेव सिद्धिर्भवति, [अभिधूमितैर्मध्या सिद्धिः] दग्धैः सर्वैः सिद्धिर्नश्यति ॥ ५ ॥

उत्तरसरसंजुत्ता उत्तरआ उत्तरुत्तरा हुंति ।
अहरेहिं उत्तरतमा अहरा अहरेहि णायव्वा ॥ ६ ॥

उत्तरसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता उत्तरसंज्ञका एव वर्णा उत्तरतमा भवन्ति । त एव अधरा अधरसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता उत्तरसंज्ञका अधरसंज्ञकाश्च भवन्तीति ॥ ६ ॥

अहरसरेहिं जुत्ता ते दड्ढा हुंति अहरअहरतमा ।

कज्जाइ साहति सुअ(इ)र अधमा अधमाइं किं बहुणा ॥ ७ ॥

अधरसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता दग्धा वर्णा अधराधरतरसंज्ञका भवन्ति । ते च सुचिरका-लेन अधमाधमानि कार्याणि साधयन्ति किंबहुनेति ॥ ७ ॥

दड्ढसरेहिं जुत्ता दड्ढतमा हुति दड्ढया वण्णा ।

ते णासयति कज्ज यलावल मीसयेसु सयलेसु ॥ ८ ॥

दग्धसंज्ञकैः स्वरैः संयुक्ता दग्धसंज्ञका वर्णा दग्धतमसंज्ञका भवन्ति तेषां सकलानि फलं भवति ॥ ८ ॥

आलिंगिएहिं पुरिसो महिला अहिधूमिएहिं सवेहिं ।

दड्ढेहिं होइ संढो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं ॥ ९ ॥

आलिंगितैर्वर्णैः प्रश्ने पतितैः पुरुषो भवति । अभिधूमितैः स्त्री । दग्धैर्नपुंसकमिति जानीयेति ॥९॥

अह वग्गाण य वण्णा पढम-बीय-तीय-चउत्थ-पंचमया ।

तह विप्प-राय-वयसा सुद्दो विय संकरा य सयलाइं ॥ १० ॥

अथ वर्गाणां वर्णाः प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पंचमकाः, तथा विप्र-राजन्य-विट् शूद्राः, अपि च संकरजातयः सर्वे एव भवन्तीति ॥ १० ॥

एदेहिं वण्णेहिं कमेण बालो कुमारओ तरुणो ।

मज्झिमवयो वि थविरो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं ॥ ११ ॥

तथा एतैरेव वर्णैः प्रश्ने पतितैः क्रमेण बालः कुमारस्तरुणो मध्यमवयाः वृद्धश्च भवतीति जानीहि ॥ ११ ॥

आलिंगिएहिं विट्ठी मज्झा अहिधूमिएहिं सा होइ ।

दड्ढेहिं णत्थि विट्ठी जिणवयण सच्चिय जाण ॥ १२ ॥

आलिंगितैर्वृष्टिः, अभिधूमितैर्मध्यमा वृष्टिः, दग्धे नास्ति वृष्टिरिति जिनवचनं सत्यमेव जानीहि ॥ १२ ॥

अइउप्पज्जइ सस्सं पण्हे आलिंगिएहिं वण्णेहिं ।

अहिधूमिएहिं किंचण णासइ दड्ढेहिं णो चिय ॥ १३ ॥

अतिशयेनोत्पद्यते सस्यं प्रश्ने आलिंगितैर्वर्णैः, अभिधूमितैः किंचिदुत्पद्यते, दग्धैर्नश्यति, अत्र नो चित्रमिति ॥ १३ ॥

संपदिकाल पण्हे वण्णो आलिंगिओ पयासेइ ।

अहिधूमिओ वि भूअं दड्ढो उण भाविय णूण ॥ १४ ॥

प्रश्ने आलिंगितो वर्णः संप्रतिकालं प्रकाशयति । अभिधूमितोऽपि भूतम् । दग्धः पुनर्भविष्यत् नूनमिति ॥ १४ ॥

तह पढम बीय तइआ वण्णा मुंचति तिण्णि कालाइं ।
मा इत्थ करइ भती जहसख सयलवग्गाण ॥ १५ ॥

तथा समस्तवर्गाणां प्रथम-द्वितीय-तृतीयवर्णाः यथासंख्यं त्रीन् कालान् मुञ्चन्ति। अत्र मा भ्रांतिं प्रकुरुतेति ॥ १५ ॥

आलिंगिएहिं मुक्कइ वाहिं अहिधूमिएहिं ण हु रोई ।
अहवा चिरेण कट्ठ दड्ढो मरण पयासेइ ॥ १६ ॥

आलिंगितैर्व्याधिं रोगी मुञ्चति, अभिधूमितैर्न मुञ्चति, अथवा चिरेण कष्टात् मुंचति, दग्धश्च मरणमेव प्रकाशयति ॥ १६ ॥

विसमा दाहिणपासे वामे य वण समा य पयडति ।
वण्णा पण्हे पडिया पचमया बेवि पासमि ॥ १७ ॥

प्रश्ने पतिता विषमाः प्रथम-तृतीयवर्णा दक्षिणपार्श्वे तथा समाः द्वि-चतुर्थो वर्णाः वाम-पार्श्वे पञ्चमका वर्णाः उभयपार्श्वे व्रण प्रकाशयन्ति ॥ १७ ॥

अट्ठ सिरो-मणि-वयण-हियय-कडि-उरु-जाणु-चरणजुयलेहिं ।
पण्हमिलग्गा वग्गा वणाइ दरिसति जहसख ॥ १८ ॥

अष्टौ वर्गाः प्रश्नविलग्नाः यथासंख्य शिरोललाटवदने[षु] तथा हृदय-कटि-ऊरु-जानु-चरण-युगलेषु व्रणा निदर्शयन्ति ॥ १८ ॥

अणिल्य-पित्तय-सेभय-ससग्गय-आहिघायय रोग ।
पयडति पचवग्गा जहसख पढम उद्दिट्ठा ॥ १९ ॥

प्रथमोद्दिष्टाः पञ्चवर्गाः यथासंख्य अनिलज पित्तज श्लेष्मजं संसर्गजं अभिघातज रोगं प्रकटयन्ति ॥ १९ ॥

अइमद-मज्झ-दारुणपीडाइ दिंति पण्हपडिआइ ।
आलिंगियाहिधूमियदड्ढा वण्णा जहासख ॥ २० ॥

आलिंगिताभिधूमितदग्धा वर्णाः प्रश्नपतिता यथासंख्यं अत्यन्तमन्दमध्यदारुणां पीडां प्रकटयन्तीति ॥ २० ॥

आलिंगिएहिं सधी ण हु सधी विग्गहे(हो) ण अहरेहिं ।
अहराहरेहिं कहिओ समरो सुहडाण णासयरो ॥ २१ ॥

आलिंगितैः संधिर्भवति, अधरैर्न च संधिर्न च विग्रहः, अधराधरैः संग्रामः सुभटानां नाशकर इति ॥ २१ ॥

विजयं उत्तरवण्णो ण जय ण पराजय त्ति अहरेहिं ।
अहराहरो पयासइ पराजय णत्थि सदेहो ॥ २२ ॥

उत्तरो वर्णो विजयं प्रकाशयति, अधरो वर्णो न जयं न पराजयं, अधराधरश्च पराजयं भेवेत्यत्र नास्ति संदेहः ॥ २२ ॥

जइ पढमक्खरमहर अवसाणे उत्तरक्खर पण्हे ।

ता उत्तरो हु पलिओ विवरीओ ताण विवरीय ॥ २३ ॥

जयपराजयप्रश्ने यदा प्रथमाक्षरमधरं अवसाने च उत्तरमक्षरं भवति तदा उत्तरो वादी भवति ॥ २३ ॥

पढमसरेण य जुत्ता पण्हे मत्ताविवज्जिया वण्णा ।

अणमिहिअणामआ दे पभणंति य जीवचिंताइ ॥ २४ ॥

प्रथमस्वरेण युक्ता अन्यमात्राविवर्जिता वर्णाश्च ते प्रश्ने अनभिहितनामका भवन्ति ते च जीवचिंतां प्रकटयन्ति ॥ २४ ॥

ससि-तइअ-पंच-सत्तम-नवमसरा रडसलसरसहिया ।

क-च-टा पंचमहीणा सहिया य-स-हेहिं जीवक्खा ॥ २५ ॥

प्रथम तृतीय-पंच-सप्तम-नवमाः स्वराः यकारलकारसहिताः, तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाः पंचमहीनाः, यकार-शकार-हकारसहिता एते एकविंशतिवर्णाः जीवाख्या भवन्तीति ॥ २५ ॥

बीओ छट्ठो सरओ सविसग्गो तह व-सक्खरोपेओ ।

तह उण पंचमहीणा त-पवग्गा धाउणामा उ ॥ २६ ॥

द्वितीयः षष्ठः स्वरः, सविसर्गः, तथा वकार-सकारोपेतः, तथा पुनस्तवर्गः पवर्गः पंचमहीन एते त्रयोदशवर्णा धातुनामका भवन्ति ॥ २६ ॥

ई ऐ औ सरजुत्ता र-ङ-या ङ-ञ-ण-न-माइ वण्णाइ ।

एआरह मूलक्खा पयासिया जिणवरिंदेण ॥ २७ ॥

चतुर्थाष्टमदशमस्वरयुक्ता र-ङ-यकारा ङ-ञ-ण-न-मादय एकादश वर्णा मूलाक्षरप्रकाशका भवंतीति । एतेनैतदुक्तं भवति प्रश्ने धातुनामाः, मूलाक्षरैर्मूलनामाः, धात्वक्षरैर्जीवाक्षरैर्मूलनाम इति मात्र कार्या विचारणा ॥ २७ ॥

सुट्ठीजीवक्खरए मूल जीव वि मूलअक्खरए ।

धाउ उण जाणिज्जइ धाउक्खरएण किं चोज्जं ॥ २८ ॥

मुष्टौ जीवाक्षरैर्मूलं ज्ञातव्यम्, जीव च मूलाक्षरैः, धातु धात्वक्षरैरेवेति किमिदमाश्चर्यमिति ॥ २८ ॥

बहुपढमवग्गवण्णा अह बहुबिंदु विसग्गसजुत्ता ।

बहुवण्णा जइ पण्हे ता सुण्णं मुट्ठिचिंताइ ॥ २९ ॥

प्रश्ने यदि बहवः प्रथमवर्गवर्णा भवन्तीति अथवा बहुबिंदुविसर्गसंयुक्ता भवन्ति, अथवा प्रश्ना एव बहवो भवन्ति तदा मुष्टिचिन्तायां शून्यं भवति ॥ २९ ॥

---

१ ब जीवक्खा ।

विसमसरा ऊआरो वग्गाण पढम-तइयवण्णाइ ।
दुप्पय-णराण एसा एआहाराण णहु होइ ॥ ३० ॥

विषमस्वराः प्रथम-तृतीय-पञ्चम सप्तम-नवमैकादशसमाः, तथा ऊकारश्च, तथा वर्गाणां प्रथम-तृतीयवर्णाश्च एते द्विपदेषु नराणां वर्णाः, एतदाहाराणां राक्षसानां न भवन्तीति ॥ ३० ॥

बीओ समो सरओ वग्गाण बीयवण्णया सयला ।
दिसंति जइअ पण्हे ता मुणह चउप्पय जीव ॥ ३१ ॥

यदि प्रश्ने चतुर्थाद्द्वादशः स्वरो भवति, तथा पृथिकादीनां जातिं दृष्टिं च व्याघ्रादिकं तं तवर्गवर्णो वदति, तदा वर्गाणां चतुर्थो वर्णाश्च तदा चतुष्पादा जीवा भवन्ति ॥ ३१ ॥

जइ वग्गाण य वण्णा पचमया हुति पण्हपडियाइ ।
ता मुणह णरअवासिय भूअपिसाचाई सव्वाइ ॥ ३२ ॥

यदि वर्गाणां पञ्चमा वर्णाः प्रश्ने पतन्ति भवन्ति, तदा नारकवासिनो भूतपिशाचाश्च सर्वान् जानीतेति ॥ ३२ ॥

मच्चा त-पवग्गेहिं य-शवग्गेहिं हुति सउणा य ।
सिद्धा सरेहिं भणिया देवा उण क-च-टवग्गेहिं ॥ ३३ ॥

तवर्ग-पवर्गाभ्यां मर्त्याः, यवर्ग-शवर्गाभ्यां शकुनाः, स्वरैः सर्वैरेव सिद्धाः, देवाः पुनः कवर्ग-चवर्ग-टवर्गैर्भवन्तीति ॥ ३३ ॥

चवइ कवग्गो पण्हे लद्धो थलचारिय विहगमय ।
त च्चिअ अइप्पहाण[1] तवग्गओ णत्थि संदेहो ॥ ३४ ॥

प्रश्नलब्धः कवर्गः स्थलचारिणं विहगमं वक्ति । तमेव स्थलचारिणं विहंगमं अतिप्रधानं मयूरादिकं तवर्गो वक्तीति संदेहो नास्ति ॥ ३४ ॥

जइ अ चवग्गो लद्धो तह पक्खी[2] होइ जलयरो णूण ।
तं पि टवग्गे सिट्ठ चवइ पवग्गो गुहसयध[3] ॥ ३५ ॥

यदि चवर्गो लब्धः तदा जलचराः पक्षिणो भवन्ति । नूनं तमपि जलचरं पक्षिणं श्रेष्ठं हंसादिकं टवर्गो वक्तीति । अधमं (अन्यं ?) च गुहाशयं उलूकादिकं पवर्गो वक्तीति ॥ ३५ ॥

पण्हे कवग्गवण्णा कालोरय सिंगिणो पयासति ।
राजीवसप्पजाई चवग्गवण्णा य ततत्थ ॥ ३६ ॥

प्रश्ने कवर्गवर्णाः कालोरगांश्च शृङ्गिणश्च वृषभादीनि प्रकाशयन्ति । राजीवसर्पजातिं मंडलभूतादिकं दंतालं च हस्तिप्रभृतिकं चवर्गवर्णाः प्रकाशयन्तीति ॥ ३६ ॥

---

१ म मुच्चु । २ म० अइप्पहाणं । ३ म० वंसी । ४ म चवइ पवग्गो सालवर्म ।

गोणाससप्पजाई टवग्गवण्णा फुडं पयासंति ।
लहुअविसाण जाई दिट्ठीण होई तवग्गवण्णेहिं ॥ ३७ ॥

गोनसो सर्पजातिं टवर्गवर्णाः स्फुटं प्रकाशयन्ति । लघुकविषाणां सर्पाणां दृष्टिकानीनां जातिं दृष्टिं च व्यापादिका च तवर्गो वर्णो भवति ॥ ३७ ॥

विसमच्छ-वाहि(दि?)दुदुहि-कीडविसेसाइ किं चुज्ज ।
अह किर लद्धो पण्हे पवग्गओ पण्हचउरेण ॥ ३८ ॥

यदि प्रश्नचतुरेण प्रश्ने पवर्गो विषमत्स्या विषमत्स्याम् शृंगिकामत्स्यीन् वह्नान् मकर मकरमत्स्यीन् दुंदुभिमत्स्यिकीटविशेषकान् वक्ति अत्र किमाश्चर्यमिति ॥ ३८ ॥

ससि-जलण-बाण-मुणि-गह रुद्द-सरा वग्गाण दु-तीयवण्णा य ।
सुच्चंति धम्मधाउ अधम व्विय सेससरवण्णा ॥ ३९ ॥

प्रथम-तृतीय-पंचम-सप्तम-नवमैकादशसमाः स्वराः, तथा कवर्गादिसप्तवर्गाणां द्वितीयवर्णाश्च धात्वाद्युं भवन्तीति ॥ ३९ ॥

रवि-रुद्द-पक्खसरओ पचमहीणा कवग्गवण्णा य ।
कणय चवन्ति तार सत्तमवग्गो मुणिदुसरओ य ॥ ४० ॥

द्वादशैकादशम द्वितीयस्वराः पंचमहीनाः कवर्गवर्णाश्च कनक वदन्ति । रजत च सप्तमो वर्गः तथा सप्तमः प्रथमः स्वरश्चेति ॥ ४० ॥

तम्ब च तइओ सरओ पंचमहीणो चउत्थओ वग्गो ।
लोह दसमो सरओ अट्ठमवग्गो मैकारो य ॥ ४१ ॥

ताम्रं तृतीयस्वरः पंचमहीनः चतुर्थो वर्गश्च, लोहं दशमस्वरः तथाष्टमो वर्गो मकारश्च भवति वचनपरिमाणेन पूर्वतो न वर्तत इति ॥ ४१ ॥

चग तइओ वग्गो पचमहीणो कवग्गपचमओ ।
अट्ठम-पचमसरओ पण्हे लद्धो पयासेइ ॥ ४२ ॥

वंगं त्रपु पंचमहीनस्तृतीयो वर्गः, तथा कवर्गपंचमो वर्णश्च, तथाऽष्टमः पंचमः स्वरः प्रश्ने लब्धः प्रकाशयतीति ॥ ४२ ॥

छट्ठसरो एकंतो पंचमवण्णो अ तईयवग्गस्स ।
अह पाविज्जइ पण्हे ता णूण सीसगं मुणह ॥ ४३ ॥

षष्ठस्वर एकाकी तथा तृतीयवर्गस्य पंचमो वर्णश्च यदि प्रश्ने प्राप्यते तदा नून सीसकं कथयन्ति ॥ ४३ ॥

न-प-फ-म-भा ऊ वण्णा पण्हे लद्धा कुणंति पित्तलय ।
ण-स-धा य-धा ह-आरा कंसं ण हु अत्थि संदेहो ॥ ४४ ॥

१ अ वम° । २ अ वंसं । ३ अ वइ अ° । ४ अ °वण्णो मि । ५ मु० तम्बग ।

नकार-पकार-क्षकार [मकार]-भकारश्चया ऊकारश्च एते प्रश्ने लब्धाः पित्तलक कथयन्ति । मकार-वकार-यकार-वकार-भकार-इकारश्च एते कांस्य कथयन्ति । यथा अत्र न सन्देहोऽस्तीति ॥ ४४ ॥

कणयक्खर पयासइ मरगयमाणिक्कपहुइरयणाइ ।
मुत्ताहीरयपहुइ तारक्खरयं णे संदेहो ॥ ४५ ॥

कनकाक्षरं मरकतमाणिक्यप्रभृतिरत्नानि प्रकाशयति, ताराक्षरं च मुक्ताहीरकप्रभृतिकं प्रकाशयति ॥ ४५ ॥

कक्करतालयपहुदिं [तं]बक्खरय [च] भणइ णो चित्त ।
लोहक्खरेहिं जाणह रयणाइ इंदनीलपहुदीणि ॥ ४६ ॥

ताम्राक्षरः ताळकप्रभृतिं भणति नात्र चित्रम्, लोहाक्षरैश्च इन्द्रनीलप्रभृतीनि रत्नानि जानीतेति ॥ ४६ ॥

कंसक्खर पयासइ रयणऽसेसाइ काचपहुदीणि ।
सेसं सीसयपहुदिं पित्तलसीसाइ अक्खरय ॥ ४७ ॥

कंसाक्षरं काचप्रभृतीनि रत्नविशेषाणि प्रकाशयति । शेषं पित्तलसीसकाक्षरं सीसकप्रभृतीनि रत्नविशेषं प्रकाशयति ॥ ४७ ॥

उत्तरवण्णपहाण पण्हे गढिय पयासए णिच्च ।
धाउमगढिअं अहर अक्खरय भणइ सेसमिय ॥ ४८ ॥

प्रश्ने उत्तरवर्णाः प्रथमाक्षरं नित्यं घटितं धातु प्रकाशयति । अधराक्षरं अघटितं धातुं भणतीति समस्तिम् ॥ ४८ ॥

आलिंगिएहिं जाणह कंकणकेऊरपहुदि आहरणं ।
अहरक्खरेहिं गढिअं कच्चोलयपहुदि भायणय ॥ ४९ ॥

घटिते धातोर्लब्धे सति पुनरपि प्रश्ने आलिंगिताक्षरैः घटित केयूरप्रभृतिकमाभरणं भवतीति । अधराक्षरैर्घटित कच्चोलकप्रभृति भाजन भवति ॥ ४९ ॥

उत्तरवण्णपहाण पण्हे दरिसेइ अहिणवाहरण ।
अहरक्खर अपहाण उवमुत्तं णत्थि संदेहो ॥ ५० ॥

आभरणे प्राप्ते सति पुनरप्यप्रश्ने उत्तरवर्णप्रधानं प्रथममभिनवाभरण दर्शयति । अधराक्षरेऽप्रधानं च उपाभरणं दर्शयतीति नास्ति संदेहः ॥ ५० ॥

सव्वे उत्तरवण्णा भवंति सुरलोअलोयणाहरण ।
अहरक्खराइ णूण माणवलोयस्स जतूण ॥ ५१ ॥

पुनरप्यप्रश्ने सर्वे यत्रोत्तरवर्णाः सुरलोकानामाभरणं सूचयन्ति । अधराक्षराणि मानवलोकस्य द्विपदचतुष्पदजन्तूनामाभरणं सूचयन्ति ॥ ५१ ॥

---

१ म °पहुदि । २ म भणि । ३ म सर्वे च ।

दुप्पयवण्णा पण्हे दुप्पअजतूण चवइ आहरणं।
सो वि णर-णारयाण विहगाण विहगवण्णेहिं ॥ ५२ ॥

पुनरन्यप्रश्ने द्विपदवर्णा द्विपदजन्तूनामाभरणं सूचयन्तीति। विहगवर्णाश्च विहंगानामाभरणं सूचयन्ति ॥ ५२ ॥

जइ य चउप्पयवण्णा पण्हे लब्भाइ हुति पउराइ।
मा करहु इत्थ भंती जाणिज्ज चउप्पयाहरणं ॥ ५३ ॥

पुनरन्यप्रश्ने यदि चतुष्पदवर्णाः प्रश्न लभ्याः प्रचुरा भवन्ति तदा मा भ्रान्तिं कुरुत चतुष्पदाभरणं जानीतेति ॥ ५३ ॥

विस-कुच-वेयड्डमया सरया दरिसंति उड्डआहरणं।
ससि-तिय-गह-सत्तमया मज्झंगे सेस अद्धाण ॥ ५४ ॥

दशम-द्वितीय-चतुर्थाष्टमकाः स्वराः ऊर्ध्वदेहाभरणं दर्शयन्ति। प्रथम-तृतीय-नवम-सप्तमकाश्च मध्यदेहाभरणं दर्शयन्ति ॥ ५४ ॥

आहरणाण य वण्णा संसिट्ठा हुति जई य त-पउरा।
ता त रयणणियद्ध भायणय ताण वण्णेहिं ॥ ५५ ॥

यथाभरणानां वर्णाः संश्लिष्टाः संयुक्ताः तथाऽपि प्रचुरा भवन्ति तदाऽऽभरणं रत्ननिबद्धं भवति, भाजनवर्णैश्च संबद्धैर्भाजनं रत्ननिबद्धं भवति ॥ ५५ ॥

जइ पउरउत्तरद्ध ता रयण सुद्धजाइय मुणहु।
त अहरक्खरयद्ध किंचिमय मीसिए मिस्सं ॥ ५६ ॥

यदि तदा प्रचुरोत्तरपरसंबंधे कृत्रिमजातिमिश्रितं च द्रव्यः ज्ञातव्येति ॥ ५६ ॥

उत्तम-मज्झिम-अधमा हुति य णाणा तहा जहासंख।
आलिंगियाहिधूमियदड्ढमपचेहिं पण्हेहिं ॥ ५७ ॥

तथा आलिंगिताभिधूमितदग्धके प्राप्ते प्रश्ने उत्तममध्यमाधमानि नाणकानि टंककानि द्विधांकारिकानि यथासंख्यं भवन्तीति ॥ ५७ ॥

पढम तसूण वण्णा सह ससि-गहसमिओ सरो चेव।
क-च-टाइआण(? °ण दुइय)वण्णा दसमओ दुज्जो सरो वेवि ॥ ५८ ॥

क-च-टादिवर्गाणां समानां प्रथमो वर्णस्तथा प्रथम-नवमस्वराश्च एते भवनम्या तस्मा माषादीनां वाचकाः, कवर्ग चवर्ग-टवर्गाणां च द्वितीयवर्णाः दशम-द्वितीयौ स्वरौ च एते पंच वर्णा ध्यानां शाणादीनां वाचका इति ॥ ५८ ॥

रिउ-याण-दहसरओ पचमवण्णा तिणाइ जपंति।
सेसदुइज्जा वण्णा यद्वी यग्गाय चचारि ॥ ५९ ॥

प्रथम-पंचमैकादशस्वराः, तथा वर्गाणां कवर्गाणां सप्तानां पंचमाश्च वर्णास्तृणानि दूर्वादीनि वसन्ति । शेषा द्वितीया वर्णाः चत्वारि तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्णां वल्लीनां मूलीमध्ये वसन्ति ॥ ५९ ॥

अट्ठम-चउत्थं तिसरा चउत्थवण्णेण ठाइआ तिण्णि ।
जपति ख-छ-ठ-फाओ जाइविसेसाइ गुम्माइ ॥ ६० ॥

कवर्गादिसप्तवर्गाणां चतुर्थवर्णेन स्थापिताश्चतुर्थाष्टमातिमात्राश्रयः स्वराः ख-छ-ठ-फा जातिविशेषाम् गुल्माम् कथयन्ति ॥ ६० ॥

ग-ज-डेहिं होंति य लया सालादि सत्तमसरेहिं गहिएहिं ।
गहिएहिं दवलसेहिं प(व ?)ण्णापहुदीनि जाणेह ॥ ६१ ॥

कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां तृतीयवर्णेन भवन्ति तृतीय-सप्तमाभ्यां स्वराभ्यां शाकादिकान् लतान्, तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्णां तृतीये वर्णे गृहीते धान्यकादीन् जानीतेति ॥ ६१ ॥

जल-साहारण-जगलदेसपभूय चवति भूरुहय ।
आलिंगिय-अहिधूमिय-दड्ढयवण्णा जहासख ॥ ६२ ॥

जलसाधारणं जांगलदेशप्रभूत भूरुहं यथा कमल कमलोत्पलादिकं जांगलं करीरकर-मर्दादिकं तानेतान् यथासंख्यं आलिंगिताभिधूमिता वर्णा ब्रुवन्तीति ॥ ६२ ॥

तरवो हुति असोया सणिहिया उत्तरेहिं वण्णेहिं ।
अधरसरेहिं अघमा पण्हे पढिएहिं दूरत्था ॥ ६३ ॥

उत्तराक्षरैरशोकादायस्तरवः प्रत्यासन्ना भवन्ति । अधराक्षरैरधमा वृक्षाः सर्वत्र आस्फोट-कादयो दूरस्था भवन्ति ॥ ६३ ॥

सजुत्त-असजुत्ता जहाकम लद्ध[पण्ह]वण्णेहिं ।
फलियाफलिया तरुणो केवलिनाणेण भासति ॥ ६४ ॥

संयुक्ता असंयुक्ता लब्धाः प्रश्नवर्णाः यथाक्रमं फलिताफलितान् तरून् केवलिज्ञानेन भाषन्ते इति ॥ ६४ ॥

तह दिवस-मास-पक्खय पुणो वि मासे वि तह य वच्छरए ।
जहसखं लाहसुहं एसु य सयलेसु वग्गेसु ॥ ६५ ॥

एषु सर्वेषु वर्गेषु कवर्गादिसप्तस्वपि वर्गेषु एकद्वित्रिचतुःपंचमके वर्णे तस्मिन्नेव दिवसे लाभसुखादिकं निश्चितं भवति । सर्वे द्वितीयवर्णैर्मासे सम्भवति, सर्वे तृतीयवर्णे पक्षे सम्भवति, सर्वे चतुर्थवर्णे पुनर्मासे एव सम्भवति, सर्वे पंचमवर्णे संवत्सरे सम्भवति ॥ ६५ ॥

उत्तरवण्णपहाणो उत्तरअयण[1] पयासए पण्हे ।
अहरक्खरेसु पण्हे[2] दक्खिणअयण[3] णं संदेहो ॥ ६६ ॥

१ म उत्तरायणं । २ म० अधराक्षरपदार्णं । ३ म दक्षिणायणं अस्ति ।

उत्तरवर्णप्रधानप्रश्नः उत्तरायणं प्रकाशयति । अधराक्षरप्रधानश्च दक्षिणायनं प्रकाशयति अत्र नास्ति सन्देहः ॥ ६६ ॥

पढमक्खरेण सिसिरो महु वि तहा बीयएण वण्णेण ।
तीयक्खरेण गिम्हो चउत्थेण य पाउसो होइ ॥ ६७ ॥

कवर्गादिसप्तवर्गाणां प्रथमाक्षरेण प्रश्नप्राप्तेन शिशिरः, तथा द्वितीयवर्णेन मधुर्वसंतः, तृतीयाक्षरेण ग्रीष्मः, चतुर्थाक्षरेण प्रावृट् भवति ॥ ६७ ॥

सत्तमसरेहिं सरओ कहिओ अणुणासिएहिं हेमतो ।
अं अ [?] इ उ अक्खरय पयासिय जिणवरिंदेण ॥ ६८ ॥

सप्तमस्वरे शरत् कथितः, अनुनासिके हेमतः । इदं सप्ताक्षरं जिनवरेंद्रेण प्रकाशित ॥ मिति ॥ ६८ ॥

होइ च-टेहिं चित्तो वेसाहो होइ ग-ज-डवण्णेहिं ।
जिट्ठो वि द-ब-ल-सेहिं ईं ओ घ-झ-ढेहिं आसाढो ॥ ६९ ॥

चवर्ग-टवर्गयोः प्रथमाक्षराभ्यां चैत्रो भवति । तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां तृतीयाक्षरे वैशाखो भवति । तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां तृतीयाक्षरैर्ज्येष्ठो भवति । चतुर्थ-सप्तमस्वराभ्यां तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां चतुर्थाक्षरैराषाढो भवति ॥ ६९ ॥

णहु होइ ध-भ-व-हेहिं सर रिउसर ङ-ञ-णेहिं भद्दवओ ।
ए ऊ बिन्दु विसग्गा सेसयवण्णेहिं आसिणओ ॥ ७० ॥

तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्थाक्षरैर्नभः श्रावणो भवति । पंच-षड्भ्यां स्वराभ्यां कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां पंचमाक्षरैर्भाद्रपदो भवति । अनुस्वार-विसर्गाभ्यामाश्विनो भवतीति ॥ ७० ॥

तह त-प कत्तिकमासो कहिओ पढमेहिं दोहिं वण्णेहिं ।
य-शवण्णेहिं वि दोहिं मियसरणामो य मासो य ॥ ७१ ॥

तवर्ग-पवर्गयोः प्रथमाक्षराभ्यां द्वाभ्यां तथा पुनः कार्त्तिको मासः कथितः, यवर्ग-शवर्गयोः प्रथमवर्णाभ्यां द्वाभ्यां मार्गशीर्षो नामधेयो मासः कथितः इति ॥ ७१ ॥

आ ई ख-छ-ठेहिं सहो थ फ-र पवण्णेहिं होइ तह माहो ।
फग्गुणमासो ससि मुणिसरएहिं तह कवग्गेण ॥ ७२ ॥

द्वितीय-चतुर्थाभ्यां स्वराभ्यां तथा कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणां द्वितीयाक्षरैः सह पौषो मासो भवति । तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां द्वितीयवर्णैस्तथा माघो भवति । प्रथम-सप्तमस्वराभ्यां कवर्गस्य प्रथमाक्षरेण फाल्गुनमासो भवतीति ॥ ७२ ॥

दो तिन्नि पंच अट्ठा पंच य अट्ठा य तह य दो तिन्नि ।
चारिछ सत्त छक्का सत्त च्छक्का य चारिछा ॥ ७३ ॥

॥ इति जिनेन्द्रकथितं प्रश्नचूडामणिसारशास्त्रं समाप्तम् ॥

§ १३८ प्रमाणं किमित्याह–

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

§ १३९ कर्तुर्व्यापारमुल्लिखन् बोधः प्रमाणम् ॥३६॥

§ १४० कथमस्य प्रमाणत्वम् ? । करणं हि यत् साधकतमं तत् करणमुच्यते। अव्यवहितफलं च तदित्याह–

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥

§ १४१ 'तस्याम्' इति कर्तृस्थायां प्रमाणरूपायां क्रियायां 'सत्याम्' 'अर्थप्रकाशस्य' फलस्य 'सिद्धेः' व्यवस्थापनात्। एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात्तु भेद इति भेदाभेदरूपं स्याद्वादमबाधितमनुपतति प्रमाणफलभाव इतीदमखिलप्रमाणसाधारणमव्यवहितं फलमुक्तम् ॥ ३७ ॥

§ १४२ अव्यवहितमेव फलान्तरमाह–

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

§ १४३ प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वं प्रमातुर्विवक्षिते विषये यद् 'अज्ञानम्' तस्य 'निवृत्तिः' फलमित्यन्ये। यदाहुः–

"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥" [न्याया० २८] इति ॥३८॥

§ १४४ व्यवहितमाह–

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥

§ १४५ अवग्रहेहावायधारणास्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानानां क्रमेणोपजायमानानां यद्यत् पूर्वं तत्तत्प्रमाणं यद्यदुत्तरं तत्तत्फलरूपं प्रतिपत्तव्यम्। अवग्रहपरिणामवान् ह्यात्मा ईहारूपफलतया परिणमति इतीहाफलापेक्षया अवग्रहः प्रमाणम्। ततोऽपीहा प्रमाणमवायः फलम्। पुनरवायः प्रमाणं धारणा फलम्। ईहाधारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपता भाव्या। ततो धारणा प्रमाणं स्मृतिः फलम्। ततोऽपि स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं फलम्।

---

१ कर्तृस्था प्र– –ता–मू. । २ तथाहि कर्तृस्था कर्तृस्था चेत् (स्था च) क्रिया प्रतीयते तथा (?) करणस्थापि । त(य)थाहि वह्निगता [illegible] ज्वलनादिका [illegible] व्यापारात् [illegible] भवन्ति तथा [illegible] क्रिया [illegible] भस्मीभवन्ति । एवमन्यत्रापि [illegible]। ३ – फलं तदि –डे । ४ वस्तुत ऐक्येऽपि ज्ञानेऽस्मुखोऽर्थप्रकाश अर्थोन्मुखी [illegible] इति भेद । ५ मव्यवहितम् । ६ – पजनधर्मा –र्ती–मू. । ७ – धर्माणाम्–ता । ८ [illegible] च सूत्रमिदं ता– मू. [illegible] । ९ ईहाया [illegible] धारणाया [illegible] । १० ज्ञानमुपादानं [illegible] वा ।

ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमूहः फलम् । ततोऽप्यूहः प्रमाणमनुमानं फलमिति प्रमाणफलविभाग इति ॥ ३९ ॥

§ १४६ फलान्तरमाह–

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

§ १४७ हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो वा प्रमाणस्य फलम् । फलबहुत्वप्रतिपादनमेषां फलत्वेन न विरोधो वैवक्षिकत्वात् फलस्येति प्रतिपादनार्थम् ॥ ४० ॥

§ १४८ एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिमतपरीक्षार्थमाह–

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

§ १४९ करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेदः । अभेदे प्रमाणफलभेदव्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत् । अप्रमाणाद्व्यावृत्त्या प्रमाणव्यवहारः, अफलाद्व्यावृत्त्या च फलव्यवहारो भविष्यतीति चेत्; नैवम्; एवं सति प्रमाणान्तराद्व्यावृत्त्याऽप्रमाणव्यवहारः, फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलव्यवहारोऽप्यस्तु, विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुनः ।

§ १५० तथा, तस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः । भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः । अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणया प्रत्यासत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति नात्मान्तरे तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; समवायस्य नित्यत्वाद्व्यापकत्वान्नियतात्मवत्सर्वात्मस्वप्यविशेषान्न ततो नियतप्रमातृसम्बन्धप्रतिनियमः तत् सिद्धमेतत् प्रमाणात्फलं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं चेति ॥ ४१ ॥

§ १५१ प्रमातारं लक्षयति–

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

§ १५२ स्वम् आत्मानं परं चार्थमाभासयितुं शीलं यस्य स 'स्वपराभासी' स्वोन्मुखतयाऽर्थोन्मुखतया चावभासनात् घटमहं जानामीति कर्मकर्तृक्रियाणां प्रतीतेः, अन्यतरप्रतीत्यपलापे प्रमाणाभावात् । न च परप्रकाशकत्वस्य स्वप्रकाशकत्वेन विरोधः प्रदीपवत् । नहि प्रदीपः स्वप्रकाशे परमपेक्षते । अनेनैकान्तस्वाभासिपराभासिवादिमतनिरासः । स्वपराभास्येव 'आत्मा प्रमाता' ।

---

१ – भेदवा इ –ता । २ स्वपरप्रकाशादीनाम् । ३ – सिततात्–ता । ४ अ[न्य]प्रमाणात् । ५ – त्वन्य –डे । ६ प्रमाणान्तरात् । ७ यथैकात्मसमवेतस्य प्रमाणस्य सम्बन्धि द्वितीयात्मगतं फलं न भवति तथाऽऽत्मान्तरस्यापि मा भूत् सम्बन्धमेतयोरप्यविशिष्टत्वात् । ८ – तारं कथमपि–डे । ९ एतत्सूत्रानन्तरं ता–मू प्रती एवं लिखितं वर्तते–"इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम् । मं–मू. प्रती तु – ध्यायस्याह्निकम् । १० चैतन्य ।

§१५१ तथा, परिणाम उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणः स विद्यते यस्य स 'परिणामी'। कूटस्थनित्ये ह्यात्मनि हर्षविषादसुखदुःखभोगादयो विवर्ताः प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्माणो न वर्तेरन्। एकान्तनाशिनि च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्युन्मार्गणप्रभृतयश्च प्रतिप्राणिप्रतीता व्यवहारा विशीर्येरन्। परिणामिनि तूत्पादव्ययध्रौव्यधर्मण्यात्मनि सर्वमुपपद्यते। यदाह–

"यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम्।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते॥
तथैव नित्यचैतन्यस्वरूपस्यात्मनो हि न।
निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि वा॥
किं त्वस्य विनिवर्तन्ते सुखदुःखादिलक्षणाः।
अवस्थास्ताश्च जायन्ते चैतन्यं त्वनुवर्तते॥
स्यातामत्यन्तनाशे हि कृतनाशाकृतागमौ।
सुखदुःखादिभोगश्च नैव स्यादेकरूपिणः॥
न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थां समाश्रिते।
ततोऽवस्थावतस्तत्त्वात् कर्तैवाप्नोति तत्फलम्॥" [तत्त्वसं० का० २२३-२७]

इति अनेकान्तनित्यानित्यवादव्युदासः। 'आत्मा' इत्यनात्मवादिनो व्युदस्यति। स्वपरप्रमातृता त्वात्मनः प्रकृतानुपयोगान्नोक्तेति सुस्थितं प्रमातृलक्षणम्॥४२॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

---

१ °त्यान्तनाशिनी (?) २ अवस्थाता। ३ -[illegible] डे। स्याताम् [illegible] का
१ ४ [illegible]। ५ [illegible]। [illegible]

॥ अथ द्वितीयमाह्निकम् ॥

§१ इहोद्दिष्टे प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणे प्रमाणद्वये लक्षितं प्रत्यक्षम्। इदानीं परोक्षं लक्षणमाह–

अविशदः परोक्षम् ॥ १ ॥

§२ सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इत्यनुवर्तते। तेनाविशदः सम्यगर्थनिर्णयः परोक्षप्रमाणमिति ॥१॥

§३ विभागमाह–

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ॥ २ ॥

§४ 'तत्' इति परोक्षस्य परामर्शस्तेन परोक्षस्यैते प्रकारा न तु स्वतन्त्राणि प्रमाणान्तराणि प्रक्रान्तप्रमाणसङ्ख्याविघातप्रसङ्गात्।

§५ ननु स्वतन्त्राण्येव स्मृत्यादीनि प्रमाणानि किं नोच्यन्ते?, किमनेन द्रविडमण्डकभक्षणन्यायेन?। मैवं वोचः, परोक्षलक्षणसङ्गृहीतानि परोक्षप्रमाणान्न विभेदवर्तीनि; यथैव हि प्रत्यक्षलक्षणसङ्गृहीतानीन्द्रियज्ञान-मानस-स्वसंवेदन-योगिज्ञानानि सौगतानां न प्रत्यक्षादतिरिच्यन्ते, तथैव हि परोक्षलक्षणाक्षिप्तानि स्मृत्यादीनि न मूलप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थीनीति। स्मृत्यादीनां पञ्चानां द्वन्द्वः ॥२॥

§६ तत्र स्मृतिं लक्षयति–

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

§७ 'वासना' संस्कारस्तस्याः 'उद्बोधः' प्रबोधस्तद्धेतुका तन्निबन्धना,

"कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा" [विशेषा० गा० ३३३]

इति वचनाच्चिरकालस्थायिन्यपि वासनाऽनुद्बुद्धा न स्मृतिहेतुः, आवरणक्षयोपशमसदृशदर्शनादिसामग्रीलब्धप्रबोधा तु स्मृतिं जनयतीति 'वासनोद्बोधहेतुका' इत्युक्तम्। अस्या उल्लेखमाह 'तदित्याकारा' सामान्योक्तौ नपुंसकनिर्देशस्तेन स घटः, सा पटी, तत् कुण्डलमित्युल्लेखवती मतिः स्मृतिः।

§८ सा च प्रमाणम् अविसंवादित्वात्, स्वयं निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। नन्वननुभूयमानस्य विषयस्याभावाभिरालम्बना स्मृतिः कथं प्रमाणम्?। नैवम्, अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यं प्रसज्येत। स्वविषयावभासनं स्मृतेरप्यविशिष्टम्। विनष्टो विषयः कथं स्मृतेर्जनकः?, तथा

---

१ अत्र प्रथमे द्वितीये च सूत्रार्धे ता–मू० प्रतौ भेदकचिह्नं विना सहैव लिखिते दृश्येते–सम्पा०। २ –०प्रबोधा –डे–मू०। ३ धारणा। ४ स्मृतिजननाभिमुख्यम्। ५ –०ना अनुस्य –मु–पा०। ६ अस्या उल्लेखाकारो गुणभावी तदित्याकारताभावात् प्रायिकमिदम्। ७ कुण्डमि –डे। ८ – मती स्मृ –डे। ९ अविसंवादित्वमस्या [अ]सिद्धमिति चेन्नेत्याह। १० यद्यनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वेऽपि स्मृतेरप्रामाण्यमाविशते तदा प्रत्यक्षस्यापि किं नाप्रामाण्यं भवेदिति एकोद्देशेन तस्यापि निरालम्बनत्वात्। ११ अनुभूतविषय०।

५

चार्थाजन्यत्वान्न प्रामाण्यमस्या इति चेत्; तत् किं प्रमाणान्तरेऽप्यर्थजन्यत्वमविसंवादहेतुरिति विप्रलब्धोऽसि?। नैव मुग्ध, यथैव हि प्रदीपः[1] स्वसामग्रीबललब्धजन्मा घटादिभिरजनितोऽपि तान् प्रकाशयति तथैवावरणक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियानिन्द्रियबललब्धजन्म संवेदनं विषयमवभासयति। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाकारणं विषयः" इति तु प्रलापमात्रम्, योगिज्ञानस्यातीतानागतार्थगोचरस्य तदजन्यस्यापि प्रामाण्यं प्रति विप्रतिपत्तेरभावात्। किंच, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानाय दत्तो जलाञ्जलिः[2], तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्; लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणपूर्वकमनुमानमिति हि सर्ववादिसिद्धम्। ततश्च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति[3] सिद्धम् ॥ ३ ॥

§ ९. अथ प्रत्यभिज्ञानं लक्षयति—

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

§ १०. 'दर्शनम्' प्रत्यक्षम्, 'स्मरणम्' स्मृतिस्ताभ्यां सम्भवो यस्य तत्तथा दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनाज्ञानं 'प्रत्यभिज्ञानम्'। तस्योल्लेखमाह—'तदेवेदम्', सामान्यनिर्देशेन नपुंसकत्वम्, स एवायं घटः, सैवेयं पटी, तदेवेदं कुण्डमिति। 'तत्सदृशः'[5] गोसदृशो गवयः, 'तद्विलक्षणः' गोविलक्षणो महिषः, 'तत्प्रतियोगि' इदमस्मादल्पं महद् दूरमासन्नं वेत्यादि। 'आदि'ग्रहणात्—

"रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारयेः॥" [न्यायम० पृ० १४१]
"पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः।
सप्तपर्णस्तु विद्वद्भिर्विज्ञेयो विषमच्छदः[6]॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः[7] परिकीर्तितः॥"

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव चैत्रहंसादीनवलोक्य तथा[8] सत्यापयति यदा, तदा तदपि संकलनाज्ञानमुक्तम्[9], दर्शनस्मरणसम्भवत्वाविशेषात्। यथा वा औदीच्येन[10] क्रमेलक

१ अर्थजन्यत्वात् ज्ञानस्य प्रामाण्याभ्युपगमे [illegible] प्रमाणं स्यात्। अथ प्रतिभाससमानार्थजन्यं प्रमाणमिष्यते तदानुमानं न स्यात् प्रमाणम्। अनुमानं [illegible]प्रतिभाति न च तेन जन्यम् [illegible]। अथ प्रमाणं तदर्थजन्य(तदर्थज)मेवेति अतिव्याप्ति ([illegible] व्याप्ति)रपि [illegible] व्यभिचारात् तर्हि [illegible] न च तेन जन्यम्। २ व्याप्तिग्रहणेऽसमर्थ[illegible]। ३ -ति ॥ अथ मु पा। ४ [illegible] प्रत्यभिज्ञानं दर्शनमात्रेण [illegible]। तस्मात् [illegible] स्मरणात् प्रत्यभिज्ञानम्। ५ यथैव [illegible] तथैव गवय इत्यादिकम् [अत्र टिप्पणकारेण [illegible] उदाहृतम्–सम्पा]। ६ [illegible]। ७ – पदे –मु । ८ तथा [illegible]–डे । ९ संकलनमु –डे । १० अत्र उदीच्येन इति मुपाठः।

निन्दतोक्तम् 'विकरममतिदीर्घमक्रग्रीव' प्रलम्बोष्ठं कठोरतीक्ष्णकण्टकाशिन कुत्सितावयवसन्निवेशमपशदं पशूनाम्'इति । तदुपश्रुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापथ गतस्तादृश वस्तूपलभ्य 'नूनमयमर्थोऽस्य करभशब्दस्य'इति [यद्वेत्ति] तदपि दर्शनस्मरणकारणकत्वात् सङ्कलनात्मकं प्रत्यभिज्ञानम् ।

§ ११ येषां तु सादृश्यविषयमुपमानाख्य प्रमाणान्तर तेषां वैलक्षण्यादिविषय प्रमाणान्तरमनुषज्येत । यदाहुः–

"उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥" [लघीय ३ १]
"इदमल्प महद् दूरमासन्न प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षात' समक्षेऽर्थे विकल्प' साधनान्तरम् ॥" [लघीय ३ १२] इति ।

§ १२ अथ साधर्म्यमुपलक्षण योगविभागो वा करिष्यत इति चेत्; तर्हि कुशल' सूत्रकार' स्यात्, सूत्रस्य लक्षणरहितत्वात् । यदाहु –

"अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदुः ॥"

अस्तोभमनधिकम् ।

§ १३ ननु 'तत्'इति स्मरणम् 'इदम्' इति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यामन्यत् प्रत्यभिज्ञानाख्य प्रमाणमुपपश्याम । नैतद्युक्तम्, स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञाविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । पूर्वापराकारैकधुरीण हि द्रव्य प्रत्यभिज्ञानस्य विषय' । न च तत् स्मरणस्य गोचरस्तस्यानुभूतविषयत्वात् । यदाहुः–

"पूर्वप्रमितमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः ।
स एवायमितीय तु प्रत्यभिज्ञाऽतिरेकिणी ॥" [तत्त्वस का ४५३]

नापि प्रत्यक्षस्य गोचर', तस्य वर्तमानविवर्तमात्रवृत्तित्वात् । न च दर्शनस्मरणाभ्यामन्यद् ज्ञानं नास्ति, दर्शनस्मरणोत्तरकालभाविनो ज्ञानान्तरस्यानुभूते । न चानुभूयमानस्यापलापो युक्त' अतिप्रसङ्गात् ।

§ १४ ननु प्रत्यक्षमेवेद प्रत्यभिज्ञानम् इत्येके । नैवम्, तस्य सन्निहितवार्तमानिकार्थविषयत्वात् ।

"सम्बद्ध वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" [श्लोकवा सूत्र ४ श्लो ८४]

इति मा स्म विस्मर' । ततो नातीतवर्तमानयोरैक्यमप्रत्यक्षज्ञानगोचर' । अथ स्मरणसह

१ – प्रौथय -ता । २– मतधर्म –मु – मतधर्म–डे । ३ मिलम् । ४ तात्पय पृ १९८ । ५ मताद्–ता । ६ सादृश्यमापन्नम् । ७ पीनम् । ८ अपेक्षया अल्पमहदादिव्यवहार । ९ अक्षनिरपेक्ष मानस ज्ञानं विकल्प' । १० प्रमाणान्तरं प्राप्नोति । ११ उपमानमिति सूत्रावयवयोग । १२ उपमानं द्विधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्चेति विभाग । १३ पुनरुक्तवादिनिरर्थकादिदोषरहितम् । १४ तदेवेदमित्यनेकार्थं निपातः स्तोभस्तद्रहितम् इत्यत्र तु नास्त्यम् । १५ मताद्–ता । १६ पूर्वप्रमितमा०–मु–ता । १७ पूर्वप्रमितमात्रविषया । १८ ०स्य तत्र मित –डे । १९ तस्यापि प्रत्यक्षस्य । २० विवर्तः परिणाम' पर्याय इति यावत् । २१– मन्यत्र –डे । २२ वैशेषिकादयः । २३ चक्षुरादीन्द्रियसम्बद्धम् । २४ तदात्वम् ।

कृतमिन्द्रियं तदेकत्वविषयं प्रत्यक्षमुपजनयतीति प्रत्यक्षरूपतास्य गीयत इति चेत्; न, स्वविषयविनियमितमूर्तेरिन्द्रियस्य विषयान्तरे सहकारिशतसमवधानेऽप्यप्रवृत्तेः । नहि परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुरिन्द्रियमविषये गन्धादौ प्रवर्तते । अविषयश्चातीतवर्तमानावस्थाव्याप्येकं द्रव्यमिन्द्रियाणाम् । नाप्यदृष्टसहकारिसहितमिन्द्रियमेकत्वविषयमिति वक्तुं युक्तम् उक्तादेव हेतोः । किञ्च, अदृष्टसव्यपेक्षादेवात्मनस्तद्विज्ञानं भवतीति वरं वक्तुं युक्तम् । दृश्यते हि स्वप्नविद्यादिसंस्कृतादात्मनो विषयान्तरेऽपि विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः । ननु यथाञ्जनादिसंस्कृतं चक्षुः सातिशयं भवति तथा स्मरणसहकृतमेकत्वविषयं भविष्यति । नैवम्, इन्द्रियस्य स्वविषयानतिलङ्घनेनैवातिशयोपलम्भे[1], न विषयान्तरग्रहणरूपेण । यदाह भट्टः–

"यश्चाप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥" [श्लोकवा० सू० २ श्लो० ११४]

इति । तत् स्थितमेतत् विषयभेदात्प्रत्यक्षादन्यत्परोक्षान्तर्गतं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

§ १५ न चैतदप्रमाणम् विसंवादाभावात् । कश्चिद्विसंवादादप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तथा प्रसङ्गो दुर्निवारः । प्रत्यभिज्ञानपरिच्छिन्नस्य चात्मादीनामेकत्वस्याभावे बन्धमोक्षव्यवस्था नोपपद्यते । एकस्यैव हि बद्धत्वे मुक्तत्वे च बद्धो दुःखितमात्मानं जानन् मुक्तिसुखार्थी प्रयतेत । भेदे त्वन्य एव दुःख्यन्य एव सुखीति कः किमर्थं वा प्रयतेत ? । तस्मात्सकलस्य दृष्टादृष्टव्यवहारस्यैकत्वमूलत्वादेकत्वस्य च प्रत्यभिज्ञायत्तजीवितत्वात् भवति प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति ॥ ४ ॥

§ १६ अथोहस्य लक्षणमाह–

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः ॥ ५ ॥

§ १७ 'उपलम्भः' प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते न प्रत्यक्षमेव अनुमेयस्यापि साधनस्य सम्भवात्, प्रत्यक्षवदनुमेयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात् । 'व्याप्तिः' वक्ष्यमाणा तस्या 'ज्ञानम्' तद्ग्राही निर्णयविशेषः 'ऊहः' ।

§ १८ न चायं व्याप्तिग्रहः प्रत्यक्षादेवेति वक्तव्यम् । नहि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद् धूमः स देशान्तरे कालान्तरे वा पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च ।

§ १९ नाप्यनुमानात्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाता सम्पद्यत इत्ये-

१ स्वविषयमर्यादामतिक्रम्याप्रवृत्तेः । २ विषयान्तरे गन्धादौ । ३ अतीतं साम्प्रतं वर्तमानं । ४ विषयान्तरप्रतीतिरूपातिशयो । ५– चार्थः–डे । ६ नहि संस्कृतमपि चक्षुर्गन्धादिग्रहणे क्षमम् । ७ स्वविषय । ८ दूरसूक्ष्मादिदर्शनेन चक्षुषोऽतिशयो भवति न श्रवणस्य रूपविषयेऽपि व्यापारात् । ९ नहि रूपे श्रोत्रं वृत्तिं लभते । १० विपक्षेऽव्यभिचारी हेतुः । ११ यथा स एव शिष्यो पश्यते (?) । १२ स चासावमिति । १३–०त्वे सति च–डे । १४–०स्य दृश्य –डे । १५ प्रत्यक्षमिवात्र साध्ये प्रत्यक्षस्य हि साधनम् प्रत्यक्षमेवमेतदिति चानुमेयम् । १६ व्याप्तिभावेन उपलभ्यमाने धूमेऽग्न्यनुमानस्यापि साधकत्वं भवति ।

वंमूतमप्रमाणत्वात्। सामर्थ्येऽपि प्रत्यक्ष[illegible] [illegible] तत्र प्रत्यक्षानुमानान् व्याप्तिग्रहण[illegible]। [illegible] नमासादयति, तदलाभे च व्याप्ति[illegible]। [illegible] भवतस्था तस्यापि [illegible] व्याप्तिग्रहणे [illegible]। [illegible] यदि स्वत एव, तत् पूर्वेण किमपराद्धं [illegible]। [illegible] यदि पुनःप्रत्यक्षमपि व्याप्तिग्रहणसमर्थम्।

§२० ननु यदि निर्विकल्पक[illegible] [illegible] व्याप्तिं प्रतीप्सतीति चेत्, नैतत्, निर्विकल्पकस्य [illegible] विकल्प[illegible] निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वं विकल्पस्य। अथ निर्विकल्पक[illegible] विकल्पः; स तर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा? [illegible] निर्विकल्पकम्। अप्रमाणं तु कथं व्याप्तिग्रहणप्रवणः [illegible]। [illegible] कारणव्यापकानुपलम्भात् कार्यकारण[illegible] इति प्रत्युक्तम्, अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविशेषत्वेन [illegible] लिङ्गत्वेन वस्तानुमानत्वात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां च व्याप्तिग्रहणे [illegible]।

§२१ वृद्धास्तु प्रत्यक्षानुमानोपलम्भानुपलम्भ[illegible] [illegible]। तावन्यव्यवस्थापकस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरस्य [illegible] प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः। अथ व्याप्तिविकल्पस्य [illegible] न, प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणान्तरत्वाति[illegible] स्व विशुद्धिमानोपकल्पनम्।

§२२ यौगास्तु तर्कसहितम् [illegible] [illegible] न कथम् प्रत्यक्षमप्रमाणम् किन्तु [illegible] [illegible] यदि वा प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षस्य वा [illegible] व्याप्ति[illegible]। किञ्च [illegible] प्रमाणं न भवतीति न तथा व्याप्तिग्रहणनिमित्तं। [illegible] अप्रमाणस्य [illegible] प्रमाणानुग्राहकत्वोपपत्तेः।। व्याप्तिग्रहणविषये [illegible]

१-[illegible] २-[illegible] ३-[illegible] [illegible]

यत्त्वमपि न नास्ति। तस्मात् प्रमाणान्तरागृहीतव्याप्तिग्रहणप्रवणः प्रमाणान्तरमूहः ॥५॥

§ २३ व्याप्तिं लक्षयति–

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव ॥ ६ ॥

§ २४ 'व्याप्ति' इति यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः[1]। तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा 'व्यापकस्य' गम्यस्य 'व्याप्ये' धर्मे 'सति', यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र 'भाव एव' व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः। ततश्च व्याप्यभावापेक्षयैव व्यापकस्य व्याप्ततेति। न त्वेवमवधार्यते–व्यापकस्यैव व्याप्ये सति भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात् अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि–व्याप्ये सत्येवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरीयकत्वादरहेतुत्वापत्तेः, साधारणश्च हेतुः स्यादित्यस्य प्रमेयेष्वेव भावात्।

§ २५ यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा 'व्याप्यस्य वा' गमकस्य 'तत्रैव' व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव 'भावः' न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति। अत्रापि नैवमवधार्यते–व्याप्यस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गादव्याप्यस्यापि तत्र भावात्। नापि–व्याप्यस्य तत्र भाव एवेति, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात्, प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति।

§ २६ व्याप्यव्यापकधर्मतासङ्कीर्तनं तु व्याप्तेरुभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि–पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम्, उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः? तदुक्तम्–

"लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः।
नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥" इति ॥ ६ ॥

§ २७ अथ क्रमप्राप्तमनुमानं लक्षयति–

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

---

१ वस्त्वादि । २ धूमादि । ३ पर्वत (?)। ४ अग्नित्वा । ५ अग्निरूपस्य साध्यस्य । ६ धूमे । ७ पर्वतादौ । ८ धूम । ९ ननु व्याप्तेरुभयधर्मत्वविशेषे कथं व्याप्यताप्रतीति हेतोरेव न व्यापकस्यापि हेतोरेव हि व्याप्तता स्यादिति तथा चाहुः–"व्याप्तो हेतुस्त्रिरूपेण सः" [हेतु० १] इत्याशङ्क्याह–ततश्चेति। १० –॰पेक्षया–दे । ११ व्याप्यस्य प्रतीतिः–ता । १२–॰र्मस्य व्याप्यताप्रतीतिः–मु । १३ व्याप्येन साध्यस्य कर्त्रा व्याप्यभावो व्याप्यत्वं हेतोरन्यत्र(ऽ)पेक्षते व्याप्तताप्रतीतिः। १४ अन्नेर्हेतुत्वं स्यात् (?)। १५ [अ]व्यापकस्यापि हेतोर्मूर्तत्वादेस्तत्र पर्वते भावात् । १६ प्रयत्नाः अत्र हि व्याप्यस्य सत्त्वमेव नास्ति विद्युदादिना व्यभिचारात् । विद्युदादौ व्यापकस्य(त्व)मित्यर्थं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिविनाव्यस्ति इति। १७ साधारणहेत्वाभासोऽप्यव्यभिचारी हेतुः स्यादिति । १८ पर्वतादौ। १९ व्याप्यस्य धूमस्य हेतुत्वं न स्यात् । व्याप्तौ सत्यां हेतुत्वम् । व्याप्तिस्त्वीदृशी क्वापि नास्ति। २० व्यापकस्यापि वह्नेस्तत्र पर्वते भावात् । २१ यत्र व्यापकोऽस्ति तत्र । २२ उभयत्रेति साध्ये साधने च । २३ भाव एव । २४ व्यापकधर्मत्वे । २५ लिङ्ग एव लिङ्गी लिङ्गिनि सति इतरल्लङ्गमेवेति नियमः ।

§ २८ साधनं साध्यं च वक्ष्यमाणलक्षणम्। दृष्टादुपदिष्टाद्वा 'साधनात्' यत् 'साध्यस्य' 'विज्ञानम्' सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेति 'अनुमानम्' लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ॥ ७ ॥

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥ ८ ॥

§ २९ 'तत्' अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थ-परार्थभेदात्। स्वव्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'स्वार्थम्'। परव्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'परार्थम्' ॥ ८ ॥

§ ३० तत्र स्वार्थं लक्षयति–

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥ ९ ॥

§ ३१ साध्यं विनाऽभवनं साध्याविनाभावः स्वेनात्मना निश्चितः साध्याविनाभाव एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणम्' तस्माद्यथोक्तात् 'साधनात्' लिङ्गात् 'साध्यस्य' लिङ्गिनो 'ज्ञानम्' 'स्वार्थम्' अनुमानम्। तच्च न योग्यतया लिङ्गं परोक्षार्थप्रतिपत्तेरङ्गम्, यथा बीजमङ्कुरस्य, अदृष्टाद् धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः; नापि स्वनिश्च(स्वविष)यज्ञानापेक्षं यथा प्रदीपो घटादेः, दृष्टादप्यनिश्चिताविनाभावादप्रतिपत्तेः। तस्मात्परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य व्यापार इति 'निश्चित'ग्रहणम्।

§ ३२ ननु चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति त्रैलक्षण्यमाचक्षते भिक्षवः। तथाहि–अनुमेये धर्मिणि लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमित्येकं रूपम्। अत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम्। एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तो यथा अनित्यानि पृथिव्यादीनि भूतानि गन्धवत्त्वात्। अत्र पक्षीकृतेषु पृथिव्यादिषु चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यामेव गन्धवत्त्वम्। सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेनैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः। यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमित्युच्येत श्रावणत्वमेव हेतुः स्यात्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः। सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम्। इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः। स हि नास्ति सपक्षे। एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, स हि न सपक्ष एव वर्तते किं तु विपक्षेऽपि। सत्त्वग्रहणात् पूर्वमवधारणकरणेन सपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेर्हेतुत्वमुक्तम्, पश्चादवधारणे

१ इष्टिपथमास्थाय। २ परार्थानुमाने कथितात्। ३ अनेन अतः पश्चाद्वर्तिता। ४ स्वस्मायिदं स्वार्थं येन स्वयं प्रतिपद्यते। ५ परस्मायिदं परार्थं येन परः प्रतिपद्यते। ६– श्चितं सा –डे। ७–०भावक –डे। ८–अग्निज्ञाने प्रति धूमस्य योग्यता शक्तिविशेषोऽस्त्येव परं दृष्टो हि धूमो धूमध्वजं गमयति नादृष्ट इति। ९ एतेन धूमो धूमध्वजं निश्चिताविनाभावस्य प्रमाणो नान्यथा इत्यादेरिदम्। १० यथाऽनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवदित्यत्र शब्दे चाक्षुषत्वमसिद्धम्। ११ सत्त्वपश्चात्कृत। १२– श्रावणमेव–डे। १३ यथाऽनित्यः शब्दः श्रावणत्वादित्यनित्यत्वे साध्ये श्रावणत्वमेव हेतुः स्याद् व्यभिचारीति। १४ धूमो वाष्पो वा इति सन्देहे धूमादेरग्निसाधनम्। १५ अनेन सत्त्ववचनेन साधारणोऽपि निरस्यते। १६ निरस्त इति सम्बन्धः। १७ यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्। यद्यपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विद्युति न विद्यते परम् तथापि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य हेतुत्वं सपक्षैकदेशत्वात्।

हि अयमर्थः स्यात्-सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम्। विपक्षे त्वसत्त्वमेव निश्चितमिति तृतीयं रूपम्। तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः। विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति। एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हि साध्ये अनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति, आकाशादौ नास्ति। ततो नियमेनास्य निरासोऽसत्त्वग्रहणात्। पूर्वस्मिन्नवधारणे हि अयमर्थः स्यात्-विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः, तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि नास्ति ततो न हेतुः स्यात्ततः पूर्वं न कृतम्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः। तदेवं त्रैरूप्यमेव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारक्षममिति तदेवाभ्युपगन्तुं युक्तमिति किमेकलक्षणकत्वेनेति ?।

§ ३३ अयुक्तम्, अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्। तच्चासिद्धस्य विरुद्धस्य व्यभिचारिणो वा न सम्भवति। त्रैरूप्ये तु सत्यप्यविनाभावाभावे हेतोरगमकत्वदर्शनात्, यथा स श्यामो मैत्रतनयत्वात् इतरमैत्रपुत्रवदित्यत्र। अथ विपक्षान्नियमवती व्यावृत्तिस्तत्र न दृश्यते ततो न गमकत्वम्; तर्हि तस्या एवाविनाभावरूपत्वादितररूपसद्भावेऽपि तदभावे हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ सैव प्रधानं लक्षणमस्तु। तत्सद्भावेऽपररूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेश्च, यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानि इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः। न चात्र पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति, केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वोपपत्तिः। ननु पक्षधर्मताऽभावे श्वेतः प्रासादः काकस्य कार्ष्ण्यादित्यादयोऽपि हेतवः प्रसज्येरन्; नैवम्, अविनाभावबलेनैवापक्षधर्माणामपि गमकत्वाभ्युपगमात्। न चेह सोऽस्ति। ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्, सति तस्मिन्नसत्यपि त्रैलक्षण्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात्। न तु त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम् अव्यापकत्वात्। तथा च सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्र सुगताभिमते साधने सौगतैः सपक्षेऽसत्त्वेऽपि हेतोः सत्त्वस्य गमकत्वमिष्यत एव। तदुक्तम्-

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?॥" इति।

---

१ सपक्षे सत्त्वमेव । २ मीमांसकं प्रति बौद्धो वक्ति । ३ सपक्षस्य सर्वस्य उपलक्षणम्(?) । ४ अनित्ये घटे [illegible] । स्वकर्तव्यमेऽस्ति [illegible] । ५ यथा प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो अनित्यत्वात् घटवत् । ६ सपक्षे सत्त्वमेव । ७ यथा असर्वज्ञोऽयं वक्तृत्वात् । ८ अनैकान्तिकस्य । ९ पूर्वस्मिन्नवधारणे । १० पक्षधर्मे [illegible] । ११ विपक्षाद्विनियमवत्या व्यावृत्तेरभावे । १२ विपक्षाद्विनियमवत्या व्यावृत्तेः । १३ अद्वैतवादिन । १४ सन्ति प्रमाणान्यद्वैतवादिनः [illegible] इति पक्षधर्मता ? । १५ - पपत्तेः मु-पा । १६ स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र ।

§ ३४ एतेन पञ्चलक्षणकत्वमपि नैयायिकोक्तं प्रत्युक्तम्, तस्याप्यविनाभावप्रपञ्चत्वात्। तथाहि–त्रैरूप्यं पूर्वोक्तम्, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि। तत्र प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं बाधितविषयत्वं यथाऽनुष्णस्तेजोऽवयवी कृतकत्वात् घटवत्। ब्राह्मणेन सुरा पेया [द्रव]द्रव्यत्वात् क्षीरवत् इति। तन्निषेधादबाधितविषयत्वम्। प्रतिपक्षहेतुबाधितत्वं सत्प्रतिपक्षत्वं यथाऽनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः। अत्र प्रतिपक्षहेतुः–नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरिति। तन्निषेधादसत्प्रतिपक्षत्वम्। तत्र बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य चाविनाभावाभावादविनाभावेनैव रूपद्वयमपि सङ्गृहीतम्। यदाह–"बाधाविनाभावयोर्विरोधात्" [हेतु॰ परि॰ ४] इति। अपि च, स्वलक्षणलक्षितपक्षविषयत्वाभावात् तदोषेणैव दोषद्वयमिदं चरितार्थं किं पुनर्वचनेन?। तत् स्थितमेतत् साध्याविनाभावैकलक्षणादिति ॥ ९ ॥

§ ३५ तत्राविनाभावं लक्षयति–

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥

§ ३६ 'सहभाविनोः' एकसामग्र्यधीनयोः फलादिगतयोः रूपरसयोः व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वयोः, 'क्रमभाविनोः' कृत्तिकोदयशकटोदययोः, कार्यकारणयोश्च धूमधूमध्वजयोर्यथासङ्ख्यं यः 'सहक्रमभावनियमः'–सहभाविनोः सहभावनियमः क्रमभाविनोः क्रमभावनियमः, साध्यसाधनयोरिति प्रकरणाल्लभ्यते सः 'अविनाभावः' ॥१०॥

§ ३७ अथैवंविधोऽविनाभावो निश्चितं साध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम्। तन्निश्चयश्च कुतः प्रमाणात्?। न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्यैन्द्रियकस्य सन्निहितविषयविनियमितव्यापारत्वात्। मनस्तु यद्यपि सर्वविषयं तथापीन्द्रियगृहीतार्थगोचरत्वेनैव तस्य प्रवृत्तिः। अन्यथा चान्धबधिराद्यभावप्रसङ्गः। सर्वविषयता तु सकलेन्द्रियगोचरार्थविषयत्वेनैवोच्यते न स्वातन्त्र्येण। योगिप्रत्यक्षेण त्वविनाभावग्रहणेऽनुमेयार्थप्रतिपत्तिरेव ततोऽस्तु, किं तपस्विनाऽनुमानेन?। अनुमानात्त्वविनाभावनिश्चयेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग उक्त एव। न च प्रमाणान्तरमेवंविधविषयग्रहणप्रवणमस्तीत्याह–

ऊहात् तन्निश्चयः ॥ ११ ॥

§ ३८ 'ऊहात्' तर्कादुक्तलक्षणात्तस्याविनाभावस्य 'निश्चयः' ॥ ११ ॥

§ ३९ लक्षितं परीक्षितं च साधनम्। इदानीं तत् विभजति–

---

१ साध्यमनुमेयमिति यावत्। २–॰तधर्म –डे॰। ३ तात्पर्य॰ पृ॰ १४। ४ –॰स तत्र॰–डे॰। ५ यदाहुः–ता॰। ६ पक्षदोषापत्त्यैवेति। ७ साध्यसाधनयोः। ८ सुनिश्चित इत्यनेन निश्चितः सन्। ९ मनसः सामान्याकारापेक्षया इत्यर्थः एवमेव प्रकाशि॰। १० मनसैव सर्वेन्द्रियार्थग्रहणात्। ११ अस्मादि॰। १२ –॰पत्तिरपि ततो॰–डे॰। १३ अनुमानतो ह्यविनाभावनिश्चये तस्याप्यनुमानस्याविनाभावनिश्चये अन्यदनुमानमपेक्ष्यं(?)। तस्यापि अन्यदित्यनवस्था। इतरेतराश्रयस्तु अनुमानादविनाभावनिश्चयो अविनाभावे च निश्चिते अनुमानोत्थानमिति।

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥ १२ ॥

§ ४० स्वभावादीनि चत्वारि विधेः साधनानि, विरोधि तु निषेधस्येति पञ्चविधं 'साधनम्'। 'स्वभावः' यथा शब्दानित्यत्वे साध्ये कृतकत्वं श्रावणत्वं वा।

§ ४१ ननु श्रावणत्वस्यासाधारणत्वात् कथं व्याप्तिसिद्धिः ?। विपर्यये बाधकप्रमाणबलात् सत्त्वस्येवेति ब्रूमः। न चैवं सत्त्वमेव हेतुः तद्विशेषस्योत्पत्तिमत्त्व-कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्व-प्रत्ययभेदभेदित्वादेरहेतुत्वापत्तेः। किञ्च, किमिदमसाधारणत्वं नाम ?। यदि पक्ष एव वर्तमानत्वम्; तत् सर्वस्मिन् क्षणिके साध्ये सत्त्वस्यापि समानम्। साध्यधर्मवतः पक्षस्यापि सपक्षता चेत्; इह कः प्रद्वेषः ?। पक्षादन्यस्यैव सपक्षत्वे लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवदित्यत्र पार्थिवत्वमपि लोहलेख्यतां वज्रे गमयेत्। अन्यथानुपपत्तेरभावान्नेति चेत्; इदमेव तर्हि हेतुलक्षणमस्तु। अपक्षधर्मस्यापि साधनत्वापत्तिरिति चेत्; अस्तु यद्यविनाभावोऽस्ति, शकटोदये कृत्तिकोदयस्य, सर्वज्ञसद्भावे सत्यादिनोपदेशस्य गमकत्वदर्शनात्। काकस्य कार्ष्ण्यं न प्रासादे धावल्यं विनानुपपद्यमानमित्यनैकान्तादगमकम्। तथा, घटे चाक्षुषत्वं शब्देऽनित्यतां विनाप्युपपद्यमानमिति। तत्र श्रावणत्वादिरसाधारणोऽप्यनित्यतां न व्यभिचरति। ननु कृतकत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वे साध्ये पर्यायवद् द्रव्येऽप्यनित्यता प्राप्नोति। नैवम्, पर्यायाणामेवानित्यतायाः साध्यत्वात्, अनुक्तमपीच्छाविषयीकृतं साध्यं भवतीति किं न स्मरति भवान् ?। ननु कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्ये साधनवत् साध्यस्य सिद्धत्वम्, साध्यवच्च साधनस्य साध्यत्वं प्रसजति। सत्यमेतत्, किं तु मोहनिवर्तनार्थः प्रयोगः। यदाह–

"सादेरपि न सान्तत्वं व्यामोहाद्योऽधिगच्छति।
साध्यसाधनतैकस्य तं प्रति स्यान्न दोषभाक्॥"

§ ४२ 'कारणं' यथा बाष्पभावेन मशकवर्तिरूपतया वा सन्दिह्यमाने धूमेऽग्निः, विशिष्टमेघोन्नतिर्वा वृष्टौ। कथमयमबालगोपालाविपालाङ्गनादिप्रसिद्धोऽपि नोपलब्धः सूक्ष्मदर्शिनापि न्यायवादिना ?। कारणविशेषदर्शनाद्धि सर्वः कार्यार्थी प्रवर्तते। स तु विशेषो ज्ञातव्यो योऽव्यभिचारी। कारणत्वनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति चेत्; अस्त्वसौ

---

१ अनित्यत्वविपरीते नित्यत्वे श्रावणत्वस्य पूर्वं ... पश्चात् कथं उच्चारणाद् श्राव्यो ... इति बाधकप्रमाणं तस्मादनित्यत्वेऽप्यनुमानं श्रावण[त्व]मनित्यत्वं व्यवस्थापयति। २ सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वम्। तथाभिन्नपक्ष एव भवद इति श्रावणत्वमपि सत्त्वमायातम्। ३ – तुल्योपपत्ते –ता। ४ यत्र्ये(स)म्बन्धे यथाभावे इति ...। ५ अस्ति पुरुषः सर्वधर्मसाक्षात्कर्ताऽस्ति अविसंवादिवचनोपदेशान्यथानुपपत्तेः। ६ शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वादित्यत्रानुमाने यद्यप्यनित्यतां विनाऽपि घटादौ चाक्षुषत्वमुपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्त्यभावात् शब्दस्यानित्यतां न साधयति। ७ स्म भिन्न –डे। ८ अनित्यत्वम्। ९ करणम्–मु–पा। १० मशकवर्ति– डे। ११ अयं धूमोऽग्नेः। १२ वृष्टिर्भाविनी विशिष्टमेघोन्नतेः। १३ सम्भाव्या वृष्टौ। १४ दृष्टिरतः। १५ अविनाभावकारणम्।

लिङ्गविशेषनिर्णयः प्रत्यक्षकृतः[1], फले तु भाविनि नानुमानादन्यदभिधानमुत्पश्यामः । क्वचिद् व्यभिचारात् सर्वस्य हेतोरहेतुत्वे कार्यस्यापि तथा प्रसङ्गः । बाष्पादेरकार्यत्वा-न्नेति चेत्; अत्रापि यद् यतो न भवति न तत् तस्य कारणमित्यदोषः । यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम् । यद्देशाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्देशाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः[2] । अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम् । यदाह—

"एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः[3] ।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥" [प्रमाणवा० १ १] इति ।

§ ४३ न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः । अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम् । तत् कुतो निश्चायत इति चेत्; अस्ति तावद्विगुणादितरस्य विशेषः । तत्परिज्ञानं तु प्रायः पांशुरपादानामप्यस्ति । यदाहुः[4]—

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥" [न्यायम० पृ० १२९]
"रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥" [पृष्ठ ९] इति ।

§ ४४ 'कार्यम्' यथा वृष्टौ विशिष्टनदीपूरः, कृशानौ धूमः, चैतन्ये प्राणादिः । पूरस्य वैशिष्ट्यं कथं निश्चायत इति चेत्; उक्तमत्र मेधाविभिः । यदाहुः—

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुटफेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहलशैवालफलशाद्वलसङ्कुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न न वेदितुम् ? ॥" [न्यायम० पृ० १२]

इति धूमप्राणादीनामपि कार्यत्वनिश्चयो न दुष्करः । यदाहुः—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।
स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥" [प्रमाणवा० १ ३५]

---

१ प्रत्यक्षत –मु पा । २ यावत्सं कारणानि कार्यवन्ति । ३ कार्यं गमकं । ४ यदाहुः –ता । ५ यथा धूमादग्निर्ज्ञायते तथाग्निरिन्धन(?)विकारस्ता दाहरूपोऽपि ज्ञायते । अयं रसो विशिष्टसामग्रीता(मा)न् नैमित्त्यसम्बन्धानुपपत्तेरिति कारणं(कार्या)द्विशिष्टसामग्रीज्ञानं तस्माच्च रूपादिजनकत्वज्ञानम् । ६ हेतुः कारणं तस्य धर्मो रूपादिजनकत्वं तस्यानुमानं तस्य निश्चयात् परिच्छेदः । ७ शक्तिप्रतिबन्धनम् । ८ साधकतम-प्रतिबन्धसमावेश । ९ हलधरादीनामपि । १० प्राणादि पू०–ता । ११ कथं ज्ञाय०–डे । १२ यदाह –ता । १३ – स्फुट फेन डे । १४ शाद्वल –डे । १५ शक्यते न निवे०–डे । १६ यदाह –ता । १७ कार्यधर्मः कारणे सति भवनम् कारणाऽभावे चाऽभवनम् ।

§ ४५ कारणाभावेऽपि कार्यस्य भावे अहेतुत्वमन्यहेतुत्वं वा भवेत्। अहेतुत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत्। अन्यहेतुत्वे दृष्टादन्यतोऽपि भवतो न दृष्टजन्यता अन्याभावेऽपि दृष्टाद्भवतो नान्यहेतुकत्वमित्यहेतुकतैव स्यात्। तत्र चोक्तम्—"यस्त्वन्यतोऽपि भवन्नुपलब्धो न तस्य धूमस्य हेतुभेदात्। कारणं च वह्निर्धूमस्य इत्युक्तम्।" अपि च–

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्॥" [प्रमाणवा० १. २] इति।

§ ४६ तथा चेतनां विनानुपपद्यमानं कार्यं प्राणादिरनुमापयति तां कृतकत्वमिवानित्यताम्, विपर्यये बाधकबलात्सत्त्वस्येवास्यापि व्याप्तिसिद्धेरित्युक्तप्रायम्। तत्र प्राणादिरसाधारणोऽपि चेतनां व्यभिचरति।

§ ४७ किञ्च, नान्वयो हेतो रूपं तदभावे हेत्वाभासाभावात्। विपक्ष एव सन् विरुद्धः, विपक्षेऽपि–अनैकान्तिकः, सर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तृत्वस्यापि व्यतिरेकाभाव एव हेत्वाभासत्वे निमित्तम्, नान्वयसन्देह इति न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभासावुक्तौ। असाधारणोऽपि यदि साध्याभावेऽसन्निति निश्चीयेत तदा प्रकारान्तराभावात्साध्यमुपस्थापयन्नानैकान्तिकः स्यात्। अपि च यद्यन्वयो रूपं स्यात् तदा यथा विपक्षैकदेशवृत्तेः कथञ्चिद्व्यतिरेकादगमकत्वम्, एवं सपक्षैकदेशवृत्तेरपि स्यात् कथञ्चिदनन्वयात्। यदाह–

"रूपं यद्यन्वयो हेतोर्व्यतिरेकवदिष्यते।
स सपक्षोभयो न स्यादसपक्षोभयो यथा॥"

सपक्ष एव सत्त्वमन्वयो न सपक्षे सत्त्वमेवेति चेत्; अस्तु, स तु व्यतिरेक एवेत्यस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं स्यात्। वयमपि हि प्रत्यपीपदाम अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरिति।

§ ४८ तथा, एकस्मिन्नर्थे दृष्टेऽदृष्टे वा समवाय्यभिमतं साधनं साध्येन। तदेकार्थसमवायित्वम् एकफलादिगतयो रूपरसयोः, शकटोदय-कृत्तिकोदययोः, चन्द्रोदय-समुद्रवृद्ध्योः, वृष्टि-साण्डपिपीलिकाक्षोभयोः, नागवल्लीदाह-पत्रकोथयोः। तत्र 'एकार्थसमवायी' रसो रूपस्य, रूपं वा रसस्य; नहि समानकालभाविनोः कार्यकारणभावः सम्भवति।

§ ४९. ननु समानकालकार्यजनकं कारणमनुमास्यते इति चेत्; न तर्हि कार्यमनुमितं स्यात्। कारणानुमाने सामर्थ्यात् कार्यमनुमितमेव, अन्याभावे जनकत्वाभावा-

---

१ अहेतुकत्वम्। २ अग्नेरन्यो हेतुरस्य। ३ या [illegible] -डी। या [illegible] -मु-पा। ४ [illegible]। ५ न केवलं सपक्षे किन्तु विपक्षेऽपि। ६ सपक्षे [illegible] सत्त्वमसत्त्वं वा यस्य। ७ समवाय्य-भिमतम्-ता। ८ [illegible] [illegible]। ९ – [illegible] -डी। १० [illegible] समानकालं [illegible]।

दिति चेत्; इत्यनैव कारणं कार्यस्यानुमापकमित्यनिष्टमापद्येत। शकटोदयकृत्तिकोदयादीनां तु यथाऽविनाभावः साध्यसाधनभावः। यदाह–

"एकार्थसमवायस्तु यथा येषां तथैव ते।
गमका गमकस्तत्र शकटः कृत्तिकोदितेः॥"

एवमन्येष्वपि साधनेषु वाच्यम्। ननु कृतकत्वानित्यत्वयोरेकार्थसमवायः कस्मान्नेष्यते?; न, तयोरैक्यात्। यदाह–

"आद्यन्तापेक्षिणी सत्ता कृतकत्वमनित्यता।
एकैव हेतुः साध्यं च द्वयं नैकाश्रयं ततः॥" इति।

§ ५० स्वभावादीनां चतुर्णां साधनानां विधिसाधनता, निषेधसाधनत्वं तु विरोधिनः। स हि स्वमभिधानेनेतरस्य प्रतिषेधं साधयति अन्यथा विरोधासिद्धेः।

§ ५१ 'च'शब्दो यत एते स्वभावकारणकार्यव्यापका अन्यथानुपपन्नाः स्वसाध्यमुपस्थापयन्ति तत एव तदभावे स्वयं न भवन्ति, तेषामनुपलब्धिरप्यभावसाधनीत्याह। तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र घटः, दृश्ययोग्यस्यानुपलम्भे। कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात्। कार्यानुपलब्धिर्यथा नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात्। व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्।

§ ५२ विरोधि तु प्रतिषेध्यस्य तत्कार्यकारणव्यापकानां च विरुद्धं विरुद्धकार्यं च। यथा न शीतस्पर्शः, नाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि, न रोमहर्षविशेषाः, न तुषारस्पर्शः, अग्नेर्धूमाद्वेति प्रयोगनानात्वमिति॥ १२॥

§ ५३ साधनं लक्षयित्वा विभज्य च साध्यस्य लक्षणमाह–

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ॥१३॥

§ ५४ साधयितुमिष्टं 'सिषाधयिषितम्'। अनेन साधयितुमनिष्टस्य साध्यत्वव्यवच्छेदः, यथा वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति शास्त्रोक्तत्वाद्वैशेषिकाभ्युपगतस्याप्याकाशगुणत्वादेर्न साध्यत्वम्, तदा साधयितुमनिष्टत्वात्। इष्टः पुनरनुक्तोऽपि पक्षो भवति, यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदित्यत्र परार्था इत्यात्मार्थाः। बुद्धिमत्कारणपूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राशरीरसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति।

§ ५५ 'असिद्धम्' इत्यनेनानध्यवसाय-संशय-विपर्ययविषयस्य वस्तुनः साध्यत्वम्, न सिद्धस्य यथा श्रावणः शब्द इति। "नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते" [न्यायभा० १.१.१] इति हि सर्वपार्षदम्।

§ ५६ 'अबाध्यम्' इत्यनेन प्रत्यक्षादिबाधितस्य साध्यत्वं मा भूदित्याह। एतत् साध्यस्य लक्षणम्। 'पक्ष' इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत् ॥१३॥

---

१ चन्द्रोदये प्रत्यक्षे सति इतिशेषस्यापि प्रत्यक्षत्वात् नानुमानमप्रयोजनम्। २ एकार्थसमवायिनो व्याप्यस्य इति। ३ अन्यथानुपपन्नाः -डे। ४ धूमाभावात्। क्षा -ता। ५ कार्यं यथा -डे। ६ तदा बुद्धि -डे। ७ -पूर्वं सि -डे। ८ इत्याह।

§ ५७ अबाध्यग्रहणव्यवच्छेद्यां बाधां दर्शयति–

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधा ॥१४॥

§ ५८ प्रत्यक्षादीनि तद्विरुद्धार्थोपस्थापनेन बाधकत्वात् 'बाधा'। तत्र प्रत्यक्षबाधा यथा अनुष्णोऽग्निः, न मधु मधुरम्, न सुगन्धि विदलन्मालतीमुकुलम्, अचाक्षुषो घटः, अश्रावणः शब्दः, नास्ति बहिरर्थ इत्यादि। अनुमानबाधा यथा सरोम हस्ततलम्, नित्यः शब्द इति वा। अत्रानुपलम्भेन कृतकत्वेन चानुमानबाधा। आगमबाधा यथा प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति। परलोके सुखप्रदत्वं धर्मस्य सर्वागमसिद्धम्। लोकबाधा यथा शुचि नरशिरःकपालमिति। लोके हि नरशिरःकपालादीनामशुचित्वं सुप्रसिद्धम्। स्ववचनबाधा यथा माता मे वन्ध्येति। प्रतीतिबाधा यथा अचन्द्रः शशीति। अत्र शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं प्रतीतिसिद्धमिति प्रतीतिबाधा ॥१४॥

§ ५९ अत्र साध्यं धर्मः, धर्मधर्मिसमुदायो वेति संशयव्यवच्छेदायाह–

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

§ ६० 'साध्यम्' साध्यशब्दवाच्यं पक्षशब्दाभिधेयमित्यर्थः। किमित्याह 'साध्यधर्मेण' अनित्यत्वादिना 'विशिष्टो धर्मी' शब्दादिः। एतत् प्रयोगकालापेक्षं साध्यशब्दवाच्यत्वम्। 'क्वचित्तु' व्याप्तिग्रहणकाले 'धर्मः' साध्यशब्देनोच्यते, अन्यथा व्याप्तेरघटनात्। नहि धूमदर्शनात् सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुं प्रमाणविरोधादिति॥१५॥

धर्मिस्वरूपनिरूपणायाह–

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥

§ ६१ 'प्रमाणैः' प्रत्यक्षादिभिः प्रसिद्धो 'धर्मी' भवति यथाग्निमानयं देश इति। अत्र हि देशः प्रत्यक्षेण सिद्धः। एतेन–"सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन, न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते" इति सौगतं मतं प्रतिक्षिपति। नहीयं विकल्पबुद्धिरन्तर्बहिर्वाऽनासादितालम्बना धर्मिणं व्यवस्थापयति, तदवास्तवत्वे तदाधारसाध्यसाधनयोरपि वास्तवत्वानुपपत्तेः तद्बुद्धेः पारम्पर्येणापि वस्तुव्यवस्थापकत्वायोगात्। ततो विकल्पेनान्येन वा व्यवस्थापितः पर्वतादिर्विषयभावं भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यते। तथा च सति प्रमाणसिद्धस्य धर्मिता युक्तैव ॥१६॥

---

१ बाध्य । २ कृतकत्वादिति हेतुः । ३ निश्चितप्रामाण्यकत्वात् अथवा परमर्मबोधकत्वात् । ४ सन्दिग्धप्रमाणत्वात् धर्मवत् । ५ स्वस्वप्रमाणप्रतिपत्तिविरोधात् वायुवत् । ६ अवयवत्वेन रूपैकदेशप्रतिभासमात्रत्वात् वर्तते तथाप्यांशिकत्वेनापि प्रतिभासमानमपि नास्ति यथा ज्ञानम् । ७ शरीरावयवत्वात् वायुवत् । ८ वन्ध्यावी-जमात्रत्वात् । ९ चन्द्रशब्दवाच्य शशी न भवति आकाशोत्पन्नत्वात् सूर्यवत् । १० – त्यर्थेः –ता । ११ वाच्यम् । १२ साध्यम् । १३ –भैवता च –ता । १४ पर्वतेन । १५ न धर्मी आधारो धर्मः । १६ तद्बुद्धेर्विकल्पज्ञानस्य । १७ निर्विकल्पकं प्रमाणम् तद्विकल्पोऽपि प्रमाणम् इति । इदं सामान्यप्रमाणम् । १८ निर्विकल्पेन । १९ विकल्पस्य विषयभावम् ।

§ ६३ अपवादमाह–

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

§ ६४ नैकान्तेन प्रमाणसिद्ध एव धर्मी किन्तु विकल्पबुद्धिप्रसिद्धोऽपि धर्मी भवति। 'अपि' शब्दात् प्रमाण-बुद्धिभ्यामुभाभ्यामपि सिद्धो धर्मी भवतीति दर्शयति। तत्र बुद्धिसिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सत्त्वमसत्त्वं च प्रमाणबलेन साध्यते यथा अस्ति सर्वज्ञः, नास्ति षष्ठं भूतमिति।

§ ६५ ननु धर्मिणि साक्षादसति भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वेनानुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्त्वासत्त्वयोः साध्यत्वम्?। तदाह–
''नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
विरुद्धो धर्मोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्?॥'' [प्रमाणवा० १.१९२] इति।

§ ६६ नैवम्, मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात्। न च तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्, ऐदम्युपेतमपि वैयात्याद्यो न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानस्य साफल्यात्। न च मानसज्ञानात् खरविषाणादेरपि सद्भावसम्भावनातोऽतिप्रसङ्गः, तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययविप्लावितसत्ताकवस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्। कथं तर्हि षष्ठभूतादेर्धर्मित्वमिति चेत्; धर्मिप्रयोगकाले बाधकप्रत्ययानुदयात्सत्त्वसम्भावनोपपत्तेः। न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वसंप्रतीतिः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र संशयायोगात्।

§ ६७ उभयसिद्धो धर्मी यथा अनित्यः शब्द इति। नहि प्रत्यक्षेणार्वाग्दर्शिभिरनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दाः शक्या निश्चेतुमिति शब्दस्य प्रमाणबुद्ध्युभयसिद्धता तेनानित्यत्वादिर्धर्मः प्रसाध्यत इति ॥ १७ ॥

§ ६८ ननु दृष्टान्तोऽप्यनुमानाङ्गतया प्रतीतः। तत् कथं साध्यसाधने एवानुमानाङ्गमुक्ते न दृष्टान्तः?, इत्याह–

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥ १८ ॥

§ ६९ 'दृष्टान्तः' वक्ष्यमाणलक्षणो नानुमानस्य 'अङ्गम्' कारणम् ॥ १८ ॥

§ ७० कुत इत्याह–

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

§ ७१ दृष्टान्तरहितात्साध्यान्यथानुपपत्तिलक्षणात् 'साधनात्' अनुमानस्य साध्यप्रतिपत्तिलक्षणस्य भावान्न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गमिति।

---

१ धर्मी भवति कि–डे। २ भाविर्भावादिष्वोर्द्विर्नानायथानुपपत्तेः। ३ तपधर्मिसत्त्वप्रमाणत्वादनुपलब्धे। ४ हेतुमान्। ५ धर्मिणि। ६ हेतुरुभयधर्मः। ७ विरुद्धधर्मो –मु। विरुद्धोऽधर्मो –डे। ८ सत्ता सार्वती। ९ नैवम्—डे। १० धर्मिण। ११ सत्त्वम्। १२ विपयाणाम्। १३ सन्देहः। १४ सुखादिवत् सत्त्व मु–पा। १५ प्रमाणबुभि। १६ –रनियतदिग्देशैर्विनियतदिग्देश –डे। १७ किं निश्चम्?। १८ प्रसाध्य ध्वनि–ता। १९ भवत्यस्मे धर्मविशिष्टधर्म च सम्भवं ता–मू. प्रतौ नैवमनित निमा सदैव लिखितं दृश्यते। अत्रास्माकमपि द्वयोरेकतम शुभाय भाति सम्यक्।

§ ७२ स हि साध्यप्रतिपत्तौ वा, अविनाभावग्रहणे वा, व्याप्तिस्मरणे वोपयुज्येत ? । न तावत् प्रथमः पक्षः, यथोक्तादेव हेतोः साध्यप्रतिपत्त्युपपत्तेः । नापि द्वितीयः, विपक्षबाधकादेवाविनाभावग्रहणात् । किंच, व्यक्तिरूपो दृष्टान्तः । स कथं साकल्येन व्याप्तिं गमयेत् ? । व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं दृष्टान्तान्तरं मृग्यम् । तस्यापि व्यक्तिरूपत्वेन साकल्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वादपरापरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् । नापि तृतीयः, गृहीतसम्बन्धस्य साधनदर्शनादेव व्याप्तिस्मृतेः । अगृहीतसम्बन्धस्य दृष्टान्तेऽप्यस्मरणात् उपलम्भपूर्वकत्वात् स्मरणस्येति ॥ १९ ॥

§ ७३ दृष्टान्तस्य लक्षणमाह–

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

§ ७४ 'सः' इति दृष्टान्तो लक्ष्यः 'व्याप्तिः' लक्षितरूपा 'दर्शनम्' परस्मै प्रतिपादनं तस्य 'भूमिः' आश्रय इति लक्षणम् ।

§ ७५ ननु यदि दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गं न भवति तर्हि किमर्थं लक्ष्यते ? । उच्यते । परार्थानुमाने बोध्यानुरोधादापवादिकस्योदाहरणस्यानुज्ञास्यमानत्वात् । तस्य च दृष्टान्ताभिधानरूपत्वादुपपन्नं दृष्टान्तस्य लक्षणम् । प्रमातुरपि कस्यचित् दृष्टान्तदृष्टबहिर्व्याप्तिबलेनान्तर्व्याप्तिप्रतिपत्तिर्भवतीति स्वार्थानुमानपर्वण्यपि दृष्टान्तलक्षणं नानुपपन्नम् ॥ २० ॥

§ ७६ तद्विभागमाह–

स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥

§ ७७ स दृष्टान्तः 'साधर्म्येण' अन्वयेन 'वैधर्म्येण' च व्यतिरेकेण भवतीति द्विप्रकारः ॥२१॥

§ ७८ साधर्म्यदृष्टान्तं विभजते–

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

§ ७९ साधनधर्मेण प्रयुक्तो न तु काकतालीयो यः साध्यधर्मस्तद्वान् 'साधर्म्यदृष्टान्तः' । यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये घटादिः ॥२२॥

§ ८० वैधर्म्यदृष्टान्तं व्याचष्टे–

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥२३॥

§ ८१ साध्यधर्मनिवृत्त्या प्रयुक्ता न यथाकथंचित् या साधनधर्मनिवृत्तिस्तद्वान् 'वैधर्म्यदृष्टान्तः' । यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये आकाशादिरिति ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

१ तत्सन्न । २ धर्मिस्मरणे [illegible] । ३ पुंस । ४ पुंसः । ५ नहि । ६ स्मरणम् । ७ दिपः । ८ अनुदेश्य बलमस्य । ९ ज्ञातदृष्टान्त । १० प्रमातरि । ११ ता-मू. जो-मू. प्रतौ [illegible] च न वर्तते । १२ [illegible] धर्मः । १३ इन । १४ साध्यो धर्मो [illegible] । १५ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् । प्रथमाध्यायस्य समाप्त–ता-मू. । इत्या द्वितीयाह्निकम् । प्रथम–स्य –जो-मू. ।

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

§ १ लक्षितं स्वार्थमनुमानमिदानीं क्रमप्राप्तं परार्थमनुमानं लक्षयति—

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ॥ १ ॥

§ २ 'यथोक्तम्' स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणं यत् 'साधनम्' तस्याभिधानम्। अभिधीयते परस्मै प्रतिपाद्यते अनेनेति 'अभिधानम्' वचनम्, तस्माज्जातः सम्यगर्थनिर्णयः 'परार्थम्' अनुमानं परोपदेशापेक्षं साध्यविज्ञानमित्यर्थः ॥१॥

§ ३ ननु वचनं परार्थमनुमानमित्याहुस्तत्कथमित्याह—

वचनमुपचारात् ॥ २ ॥

§ ४ अचेतनं हि वचनं न साक्षात्प्रमितिफलहेतुरिति न निरुपचरितप्रमाणभावभाजनम्, मुख्यानुमानहेतुत्वेन तूपचरितानुमानाभिधानपात्रतां प्रतिपद्यते। उपचारश्चात्र कारणे कार्यस्य। यथोक्तसाधनाभिधानात् तद्विषया स्मृतिरुत्पद्यते, स्मृतेश्चानुमानम्, तस्मादनुमानस्य परम्परया यथोक्तसाधनाभिधानं कारणम्, तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। कार्ये वा प्रतिपादकानुमानजन्ये वचने कारणस्यानुमानस्योपचारः। वचनमौपचारिकमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः।

§ ५ इह च मुख्यार्थबाधे प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते। तत्र मुख्योऽर्थः साक्षात्प्रमितिफलः सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणशब्दसमानाधिकरणस्य परार्थानुमानशब्दस्य, तस्य बाधा, वचनस्य निर्णयत्वानुपपत्तेः। प्रयोजनम् अनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, निर्णयात्मन्यनंशे तद्व्यवहारानुपपत्तेः। निमित्तं तु निर्णयात्मकानुमानहेतुत्वं वचनस्येति ॥ २ ॥

तद् द्वेधा ॥ ३ ॥

§ ६ 'तत्' वचनात्मकं परार्थानुमानं 'द्वेधा' द्विप्रकारम् ॥ ३ ॥

§ ७ प्रकारभेदमाह—

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥ ४ ॥

---

१ प्रथमं द्वितीयं च सूत्रद्वयं ता-मू प्रतौ भेदमकृत्वा विना सङ्ख्याङ्कं लिखितं दृश्यते। २ यथा तथ्यम्। ३ मनुमानकारणत्वाभ्युपगमम्। ४ मुख्यार्थस्योपचार। ५ – शब्दः नास्ति – डे। ६ अग्निर्माणवक इव इत्यत्र मुख्यार्थो दाहकत्वम् बालतीक्ष्णबुद्धिः प्रयोजनम् साध्यमाणी निमित्तमुपतापकत्वम्। ७ परार्थानुमाने। ८ पूर्वोक्त। ९ प्रकृती।

§८ 'तथा' साध्ये सत्येव 'उपपत्तिः' साधनस्येत्येकः प्रकारः। 'अन्यथा' साध्याभावे 'अनुपपत्तिः' चेति द्वितीयः प्रकारः। यथा अग्निमानयं पर्वतः तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः, अन्यथा धूमवत्त्वानुपपत्तेर्वा। एतावन्मात्रकृतः परार्थानुमानस्य भेदो न पारमार्थिकः इति भेदपदेन दर्शयति ॥ ४ ॥

§९ एतदेवाह–

नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥ ५ ॥

§१० 'न' 'अनयोः' तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपयोः प्रयोगप्रकारयोः 'तात्पर्ये' 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्येवंलक्षणे तत्परत्वे, 'भेदः' विशेषः। एतदुक्तं भवति अन्यदभिधेयं शब्दस्यान्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम्। तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते, प्रकाश्यं त्वभिन्नम्, अन्वये कथिते व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिरित्युभयत्रापि साधनस्य साध्याविनाभावः प्रकाश्यते। न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र तात्पर्यभेदोऽपि। नहि पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदोऽस्तीति तात्पर्येणापि भेत्तव्यमिति भावः ॥५॥

§११ तात्पर्याभेदस्यैव फलमाह–

अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥ ६ ॥

§१२ यत एव नानयोस्तात्पर्ये भेदः 'अत एव नोभयोः' तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्त्योर्युगपत् 'प्रयोगः' युक्तः। व्याप्त्युपदर्शनाय हि तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतोः प्रयोगः क्रियते। व्याप्त्युपदर्शनं चैकयैव सिद्धमिति विफलो द्वयोः प्रयोगः। यदाह–

"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥" [न्याया० १७]

§१३ ननु यथैकेनैव प्रयोगेण हेतोर्व्याप्त्युपदर्शनं कृतमिति कृतं विफलेन द्वितीयप्रयोगेण, तर्हि प्रतिज्ञाया अपि मा भूत् प्रयोगो विफलत्वात्। नहि प्रतिज्ञामात्रात् कश्चिदर्थं प्रतिपद्यते, तथा सति हि विप्रतिपत्तिरेव न स्यादित्याह–

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

§१४ 'विषयः' यत्र तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा हेतुः स्वसाध्यसाधनाय प्रार्थ्यते, तस्य 'उपदर्शनम्' परप्रतीतावारोपणं तदर्थं पुनः 'प्रतिज्ञा' प्रयोक्तव्येति शेषः।

---

१ अग्निमानयं पर्वतः। २ – च इति –डे। ३ डे प्रती 'नं' नास्ति। ४ न शब्दस्य यत्परत्वात् तात्पर्यमिति भावः। ५ न च महोऽवर्णोऽस्ति। ६ शब्दस्यार्थ –ता। ७ (?) वस्तुतोऽन्यथा विभिन्न एव अन्वयानुपपत्त्या तु विशेषः। ८ मिति(?) एव। ९ सूत्रार्थस्य। १० कश्चिदर्थं–ता। ११ प्रतिज्ञामात्रात् कश्चिन्नान्। १२ विप्रतिपत्ति –ता–मु। १३ स्वसाध्य डे।

§ १५ अयमर्थः—परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयता प्रेक्षावता तदेव परे बोधयितव्या यद्बुभुत्सन्ते । समासत्यनेन बुभुत्सिताभिधायिना परे बोधिता भवन्ति । न खल्वाम्रान् पृष्टो गवयान् ब्रुवाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति । अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम?। यथा च शैक्षो भिक्षुणाभ्यचक्षे—भोः शैक्ष, पिण्डपातमाहरेति । स—एवमाचरामीत्यनभिधाय यदा तदर्थं प्रयतते तदाऽस्मै कुप्यति भिक्षुः—आः शिष्याभास भिक्षुखेट, अस्मानवधीरयसीति विब्रुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय अनित्यः शब्द इति विषयमनुपदर्श्य यदेव किञ्चिदुच्यते—कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा, कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा, तत् सर्वमस्थानपतितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानबुद्ध्या तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हतीति ।

§ १६ यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेत्; न, परस्पराश्रयात् । अवधाने हि सत्यतोऽर्थनिश्चयः, तस्माच्चावधानमिति । न च पक्षप्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवादिनौ येनैतद्वचनमन्यथापि प्रपत्स्येते । तथासति न हेत्वाद्यपेक्षेयाताम्, तद्वचनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनित्यः शब्द इति त्वपथिते उक्ते कुत इत्याशङ्कायां कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेः कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेर्वेत्युपतिष्ठत, तदिदं विषयोपदर्शनार्थत्वं प्रतिज्ञाया इति ॥७॥

§ १७ ननु यत् कृतकं तदनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इत्युक्ते गम्यत एतद् अनित्यः शब्द इति, तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात्, तथापि तद्वचने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम्" [न्यायसू. ५.२.१५] । आह च—"विदिग्धकैराग परित्यज्याक्षिणी निमील्य चिन्तय तावत् किमियतां प्रतीतिः स्यान्नवेति, भावे किं प्रपञ्चमालया" [हेतु. परि. १] इत्याह—

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्ति ॥ ८ ॥

§ १८ साध्यमेव धर्मस्तस्याधारस्तस्य सन्देहस्तदपनोदाय—यः कृतकः सोऽनित्य इत्युक्तेऽपि धर्मिविषयसन्देह एव—किमनित्यः शब्दो घटो वेति?, तन्निराकरणाय गम्यमानस्यापि साध्यस्य निर्देशो युक्तः, साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोप-

---

१ भेऽसाधम् । २ – धानया –डे । ३ वरामि । ४ पिण्डपातार्थम् । ५ – ति ब्रुवा––ता । ६ विम्बन् । ७ धाग्दम्बराभम् । ८ प्रतिपाद्यस्य । ९ प्रथमम । १० मदाभावानः । ११ वचनात् । १२ – र्थं नि––डे । १३ अर्थनिश्चयात् । १४ प्रमाणीकृतौ वादी मध्यस्थाम् । १५ वादि । १६ प्रमाणीकृतवादिनोऽपि सन्ति । १७ वयप्रतिवादिनौ । १८ तपस्य्रत्न वादि । १९ तद्वचना –ता । २० भावप्यात् । २१ विरिञ्चि माम रचयन्तौ मूलकस्थिर । ताहृत् राग रजिमानं नयनयोः परित्यज्य येन निमीलयन्नयन –मु–डि । विरिञ्चि दि प्रथमनामऽगत निकाय पुर्वेनि । २२ निमील्य डे । २३ मना भद्रुकतन व –डे । २४ मनियतत्वस्य । २५ प्रतीतिमात्रे । २६ तिस्राधर्मिविषयधर्मविशिष्टस्य धर्मिण ।

संहारवचनवत्। यथा हि साध्यव्याप्तसाधनदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थम्–कृतकश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारवचनं तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय प्रतिज्ञावचनमप्युपपद्यत एवेति ॥ ८ ॥

§ १९ ननु प्रयोगं प्रति विप्रतिपद्यन्ते वादिनः, तथाहि–प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानीति त्र्यवयवमनुमानमिति साङ्ख्याः। सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसकाः। सह निगमनेन पञ्चावयवमिति नैयायिकाः। तदेवं विप्रतिपत्तौ कीदृशोऽनुमानप्रयोग इत्याह–

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥ ९ ॥

§ २० 'एतावान्' एव यदुत तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च। 'प्रेक्षाय' प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः 'प्रयोगः' न त्वधिको यथाहुः साङ्ख्यादयः, नापि हीनो यथाहुः सौगताः–"विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" [प्रमाणवा १ २८] इति ॥ ९ ॥

§ २१ ननु परार्थप्रवृत्तैः कारुणिकैर्यथाकथञ्चित् परे प्रतिबोधयितव्या नास्मद्वस्तोपन्यासैरमीषां प्रतिभाभङ्गः करणीयः, तत्किमुच्यते एतावान् प्रेक्षप्रयोगः?, इत्याशङ्क्य द्वितीयमपि प्रयोगक्रममुपदर्शयति–

बोध्यानुरोधात्प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

§ २२ 'बोध्यः' शिष्यस्तस्य 'अनुरोधः' तदवबोधनप्रतिज्ञापारतन्त्र्यं तस्मात्, प्रतिज्ञादीनि पञ्चापि प्रयोक्तव्यानि। एतानि चावयवसञ्ज्ञया प्रोच्यन्ते। यदक्षपादः–"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू. १ १ ३२] इति। 'अपि' शब्दात् प्रतिज्ञादीनां शुद्धयश्च पञ्च बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्याः। यच्छ्रीभद्रबाहुस्वामिपूज्यपादाः–

"कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुट्ठं ति ॥"

[दश नि ५]

§ २३ तत्र प्रतिज्ञाया लक्षणमाह–

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

§ २४ साध्यं सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी, निर्दिश्यते अनेनेति निर्देशो वचनम्, साध्यस्य निर्देशः 'साध्यनिर्देशः' 'प्रतिज्ञा' प्रतिज्ञायतेऽनयेति कृत्वा, यथा अयं प्रदेशोऽग्निमानिति ॥ ११ ॥

§ २५ हेतुं लक्षयति–

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥ १२ ॥

---

१ तथाहि–डे । २ साध्याभ्यास साध्यधर्माधाराधा(य)मिति । ३ –त्र्यवयव –डे । ४ मतांशु–डे । ५ "तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते" । ६ परे बोध –डे । ७ परेषाम् । ८ प्रतिभङ्ग –डे । प्रतिभाभङ्गः –मु । ९ – वाद प्रयो –ता ।

§२६ साधनत्वाभिव्यञ्जिका विभक्तिः पञ्चमी तृतीया वा तदन्तम्, 'साधनस्य' उक्तलक्षणस्य 'वचनम्' हेतुः । धूम इत्यादिरूपस्य हेतुत्वनिराकरणाय प्रथमं पदम् । अभ्यासवचनैर्हेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयमिति । स द्विविधस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्याम्, तद्यथा धूमस्य तथैवोपपत्तेर्धूमस्यान्यथानुपपत्तेर्वेति ॥ १२ ॥

§२७ उदाहरणं लक्षयति–

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

§२८ 'दृष्टान्तः' उक्तलक्षणस्तत्प्रतिपादकं 'वचनम्' 'उदाहरणम्' तदपि द्विविधं दृष्टान्तभेदात् । साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं साधर्म्योदाहरणम्, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसप्रदेशः । साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं वैधर्म्योदाहरणम्, यथा योऽग्निनिवृत्तिमान् स धूमनिवृत्तिमान् यथा जलाशयप्रदेश इति ॥१३॥

§२९ उपनयलक्षणमाह–

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

§३० दृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः 'उपसंहारः' सः 'उपनयः' उपसंह्रियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः, यथा धूमवांश्चायमिति ॥१४॥

§३१ निगमनं लक्षयति–

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

§३२ साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगम्यते पूर्वेषामवयवानामर्थोऽनेनेति 'निगमनम्', यथा तस्मादग्निमानिति ।

§३३ एते नान्तरीयकत्वप्रतिपादका वाक्यैकदेशरूपाः पञ्चावयवाः । एतेषामेव शुद्धयः पञ्च । यतो न शङ्कितसमारोपितदोषाः पञ्चाप्यवयवाः स्वां स्वामनादीनवामर्थविषयां धियमाधातुमलमिति प्रतिज्ञादीनां तु तु दोषमाशङ्क्य तत्परिहाररूपाः पञ्चैव शुद्धयः प्रयोक्तव्या इति दशावयवमिदमनुमानवाक्यं श्रोत्रानुरोधात् प्रयोक्तव्यमिति ॥१५॥

§३४ इह शास्त्रे येषां लक्षणमुक्तं ते तल्लक्षणाभावे तदाभासाः सुप्रसिद्धा एव । यथा प्रमाणसामान्यलक्षणाभावे संशयविपर्ययानध्यवसायाः प्रमाणाभासाः, संशयादिलक्षणाभावे संशयाद्याभासाः, प्रत्यक्षलक्षणाभावे प्रत्यक्षाभासम्, परोक्षान्तर्गतानां स्मृत्यादीनां स्वस्वलक्षणाभावे तत्तदाभासतेत्यादि । एवं हेतूनामपि स्वलक्षणाभावे हेत्वाभासता

१ तदन्तता०–डे । २ अभ्यासस्य हेतोर्वचनं तस्य हेतुत्वम् । ३ – वचने हे –डे । ४ विसृतस्य । ५ विप्रसृतस्य–डे । ६ प्रस्तुते धर्मिणि दीक्ष्यते साधनधर्मः । ७ उपसंहारस्य(स्यु)पतिश्रयनसम्भूतत्वात् । ८ निर्धार्यते । ९ प्रयोजनम् । १० सा(ना)न्तरीयकोऽग्निनाभावी साधनधर्मोऽत्र । ११ – पञ्च प्रति – डे । १२ शङ्किताः सन्दिग्धाः समारोपिताश्च दोषा एषाम् । १३ समर्थाः । १४ तत्पर –डे । १५ – पञ्च तत्र –डे । १६ – मात्र परो –मु ।

सूत्रेणैव। केवलं हेत्वाभासानां संख्यानियमः प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं च नेयत्कं प्रतिपत्तीति तल्लक्षणार्थमाह–

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

§ ३५ अहेतवो हेतुवदाभासमाना 'हेत्वाभासाः' असिद्धादयः। यद्यपि साधनदोषा एवैते अदुष्टे साधने तदभावात् तथापि साधनाभिधायके हेतावुपचारात् पूर्वाचार्यैरभिहितास्ततस्तत्प्रसिद्धिबाधामनाश्रयद्भिरस्माभिरपि हेतुदोषत्वेनैवोच्यन्त इति।

§ ३६ 'त्रयः' इति संख्यान्तरव्यवच्छेदार्थम्। तेन कालातीत-प्रकरणसमयोर्व्यवच्छेदः। तत्र कालातीतस्य पक्षदोषेष्वन्तर्भावः। "प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः" इति हि तस्य लक्षणमिति, यथा अनुष्णस्तेजोऽवयवी कृतकत्वाद् घटवदिति। प्रकरणसमस्तु न सम्भवत्येव; नह्यस्ति सम्भवो यथोक्तलक्षणेऽनुमाने प्रयुक्तेऽर्पिते वाऽनुमानान्तरस्य। यत्तूदाहरणम्–अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् इत्येकेनोक्ते द्वितीय आह–नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादिति। तदतीवासाम्प्रतम्। को हि चतुरङ्गसभायां वादी प्रतिवादी वैवंविधमसम्बद्धमनुन्मत्तोऽभिदधीतेति ? ॥ १६ ॥

§ ३७ तत्रासिद्धस्य लक्षणमाह–

नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ॥ १७ ॥

§ ३८ 'असन्' अविद्यमानो 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्यासिद्धौ 'असिद्धः' हेत्वाभासः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः। यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति। अपक्षधर्मत्वादयमसिद्ध इति न मन्तव्यमित्याह–'नान्यथानुपपन्न' इति। अन्यथानुपपत्तिरूपहेतुलक्षणविरहादयमसिद्धो नापक्षधर्मत्वात्। नहि पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं तदभावेऽप्यन्यथानुपपत्तिबलाद्धेतुत्वोपपत्तेरित्युक्तप्रायम्। भट्टोऽप्याह–

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते॥" इति।

§ ३९ तथा 'अनिश्चितसत्त्वः' सन्दिग्धसत्त्वः 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्य सन्देहेऽप्यसिद्धो हेत्वाभासः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः। यथा बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमाना धूम

१ ईयत्ता इयत्ता प्रतीतिर्भवतु। २ पूर्वाचार्यैः। ३ कालमतीतोऽभिधानात्। ४– भिरपर्मनि॰–डे॰। ५ – पिते वाऽनु॰–ता॰। ६ –दी वै –डे॰। ७ स्यासिद्धावपि सिद्धो हे –ता॰। ८ पक्षधर्मतां विनाप्यन्यथानुपपत्त्यैव हेतुर्भवति। यथा पर्वतस्योपरि वृष्टो मेघो नदीपूरान्यथानुपपत्तेरित्यादावभिप्रायं(?)। ९ अयं पुत्रो ब्राह्मणः पित्रोर्ब्राह्मणत्वादिति पुत्रे ब्राह्मणताया अनुमानम्।

रुवादिसिद्धावुपदिश्यमाना, यथा आत्मनः सिद्धावपि सर्वगतत्वे साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, प्रमाणाभावादिति ॥ १७ ॥

§४० असिद्धप्रभेदानाह–

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥ १८ ॥

§४१ 'वादी' पूर्वपक्षस्थितः 'प्रतिवादी' उत्तरपक्षस्थितः उभयं द्वावेव वादिप्रतिवादिनौ । तद्भेदादसिद्धस्य 'भेदः' । तत्र वाद्यसिद्धो यथा परिणामी शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् । अयं सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धः, तन्मते उत्पत्तिमत्त्वस्यानभ्युपेतत्वात्, नासदुत्पद्यते नापि सद्विनश्यत्युत्पादविनाशयोराविर्भावतिरोभावरूपत्वादिति तत्सिद्धान्तात् । चेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणात् । अत्र मरणं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणं तरुषु बौद्धस्य प्रतिवादिनोऽसिद्धम् । उभयासिद्धस्तु चाक्षुषत्वमुक्तमेव । एवं सन्दिग्धासिद्धोऽपि वादिप्रतिवाद्युभयभेदात् त्रिविधो बोद्धव्यः ॥ १८ ॥

§४२ नन्वन्येऽपि विशेष्यासिद्धादयो हेत्वाभासाः कैश्चिदिष्यन्ते ते कस्मान्नोक्ता इत्याह–

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥ १९ ॥

§४३ 'एष्वेव' वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धेष्वेव । तत्र विशेष्यासिद्धादय उदाह्रियन्ते । विशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात् । विशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यविशेषवत्त्वात् । भागासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । आश्रयासिद्धो यथा अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात् । आश्रयैकदेशासिद्धो यथा नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः अकृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्दिग्धविशेषणासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वादित्यादि । एतेऽसिद्धभेदा यदान्यतरवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा वाद्यसिद्धाः प्रतिवाद्यसिद्धा वा भवन्ति । यदोभयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदोभयासिद्धा भवन्ति ॥ १९ ॥

§४४ विरुद्धस्य लक्षणमाह–

विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः ॥ २० ॥

---

१ यथा वाद्य –डे । २ आत्मा सर्वगतः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् । ३ – पुरुषत्वं सन्दिग्धम् । ४ – न्ताच । चेत –डे । ५ न केवलं स्वरूपासिद्धो । ६ "आहिताग्न्यादिषु" [हैमश० ३ १ १५३] ७ आत्मा व्यवच्छिन्नः । ८ भागे एकदेशे असिद्धः प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गर्जिते अभावात् । ९ सामान्यव्यवच्छिन्नम् । १० नैयायिकस्य । ११ ननु सामान्यवत्त्वे सतीति विशेषणं अन्यसामान्यव्यवच्छेदार्थं भविष्यतीति नैवम्, बौद्धमीमांसकौ वादिप्रतिवादिनौ स्तस्तयोश्च मतेऽभाव एव नास्तीति । १२ रूपादिव्यवच्छेदार्थं पुरुषत्वे सतीत्युक्तम् । १३ साध्यं विनैवोपपद्यमानो विपरीतनियमत्वात् ।

§४५ 'विपरीतः' यथोक्ताद्विपर्यस्तो 'नियमः' अविनाभावो यस्य स तथा, तस्यैवोपदर्शनम् 'अन्यथैवोपपद्यमानः' इति । यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्, परार्थाश्चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदित्यत्रासंहतपारार्थ्ये साध्ये चक्षुरादीनां संहतत्वं विरुद्धम् । बुद्धिमत्पूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राशरीरसर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कार्यत्वं विरुद्धसाधनाद्विरुद्धम् ।

§४६ अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्गृहीताः । यथा सति सपक्षे चत्वारो भेदाः । पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा अनित्या पृथ्वी कृतकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दोऽपदात्मकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । एषु च चतुर्षु विरुद्धता, पक्षैकदेशवृत्तिषु चतुर्षु पुनरसिद्धता विरुद्धता चेत्युभयसमावेश इति ॥ २० ॥

§४७ अनैकान्तिकस्य लक्षणमाह—

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः ॥२१॥

§४८ 'नियमः' अविनाभावस्तस्य 'असिद्धौ' 'अनैकान्तिकः' यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, प्रमेयत्वं नित्येऽप्याकाशादावस्तीति । सन्देहे यथा असर्वज्ञः कश्चिद् रागादिमान् वा वक्तृत्वात् । स्वभावविप्रकृष्टाभ्यां हि सर्वज्ञत्ववीतरागत्वाभ्यां न वक्तृत्वस्य विरोधः सिद्धः, न च रागादिकार्यं वचनमिति सन्दिग्धोऽन्वयः । ये चान्येऽन्यैरनैकान्तिकभेदा उदाहृतास्त उक्तलक्षण एवान्तर्भवन्ति । पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्

---

१ साध्याविनाभावरूपस्याभावात् । २ साध्यविरुद्धेनाविनाभावात् । ३ आत्मवत् । ४ –त्मादय –डे । प्रत्यक्षत्वम् । ६ संहतपरार्थत्वेन साधकत्वाभावात् । ७ कार्यत्वं हि पक्षे शब्दे विपक्षे चानित्ये घटादौ वर्तते एवम् । ८ अनित्येषु घटादिषु हेतुरस्ति इन्द्रियादिषु सुखदुःखादिषु नास्ति इति । ९ परमाणुरूपायां पृथिव्यां कृतकत्वं नास्ति कार्यरूपायां अस्ति इति पक्षैकदेशवृत्तिता । १० देशघटादौ(दे)ऽप्रयत्नानन्तरीयकविद्युति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नास्ति इति पक्षैकदेशः । ११ शब्दमन्तरेणान्यस्य विशेषगुणस्याऽभावात् सपक्षाभावः । १२ संयोगादयः सामान्यगुणाः । आकाशसंयोगादिषु बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं अस्ति न महत्त्वादिषु । १३ यथाविभक्तमीमांसकपदात्मकत्वमिति पक्षैकदेशवृत्तिता संयोगादिषु अपदात्मकत्वेन । १४ विपक्षे संयोगादौ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति महत्त्वे तु नास्ति । १५ पक्षैकदेशे नियमाभावात् । १६ –त्वा चैषु –ता । १७ – वावेश –ता । १८ न केवलं साध्ये सति साध्यं विनाऽपि वर्तते (निःश्चित इत्यर्थः) १९ साध्येन सह । २० प्रमाणपरिच्छेद्यत्वात् ।

पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा गौरयं विषाणित्वात् । पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नायं गौः विषाणित्वात् । पक्षव्यापकः सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्यः शब्दः प्रत्यक्षत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षविपक्षव्यापको यथा न द्रव्याण्याकाशकालदिगात्ममनांसि क्षणिकविशेषगुणरहितत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी यथा न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापी यथा द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्या पृथ्वी प्रत्यक्षत्वादिति ॥ २१ ॥

§ ४९ उदाहरणदोषानाह–

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

§ ५० परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात् तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते । दृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वात् प्रत्येकम् 'अष्टावष्टौ' दृष्टान्तवदाभासमानाः 'दृष्टान्ताभासाः' भवन्ति ॥ २२ ॥

§ ५१ तानेवोदाहरति विभजति च–

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्म-परमाणु-घटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥

§ ५२ नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन् प्रयोगे कर्मादयो यथासङ्ख्यं साध्यादिविकलाः । तत्र कर्मवदिति साध्यविकलः, अनित्यत्वात् कर्मणः । परमाणुवदिति साधनविकलः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम् । घटवदिति साध्यसाधनोभयविकलः, अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्येति । इति त्रयः साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥२३॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥ २४ ॥

§ ५३ नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन्नेव प्रयोगे 'परमाणुकर्माकाशाः' साध्यसाधनोभयाव्यतिरेकिणो दृष्टान्ताभासा भवन्ति । यन्नित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति यथा परमाणुरिति साध्याव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणूनाम् । यथा कर्मेति साधनाव्यावृत्तः, अमूर्तत्वात् कर्मणः । यथाकाशमित्युभयाव्यावृत्तः, नित्यत्वादमूर्तत्वाच्चाकाशस्येति त्रय एव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥ २४ ॥

---

१ अगावी विषाणित्व नास्ति महिषादौ त्वस्ति इति विपक्षैकदेशवृत्तित्वम् । २ ग्राह्यत्वात् । ३ अर्थे दृष्टा बधि । महिषादावस्ति अश्वादौ तु नास्ति । ४ घटादौ न प्रत्यक्षं घटादिक तु प्रत्यक्षम् । ५ नित्यं सामान्यं प्रत्यक्षमाकाशं तु न । ६ आत्माकाशौ बुद्ध्यादिक्षणिकविशेषगुणयुक्तौ [विपक्षाः] इत्यिन्याद्रयः । गुणो गन्धः अपां स्नेहोऽक्षणिकविशेषगुणौ । ७ आकाशोऽमूर्तः पृथिवी मूर्ता । ८ परमाणुरूपा पृथिवी न प्रत्यक्षा कार्यरूपा तु प्रत्यक्षेति पक्षैक[देशः], आत्मादिषु सपक्षेषु प्रत्यक्षत्वाभावः नित्येषु सामान्यादिषु प्रत्यक्षत्वम् ये तु न । ९ अपोऽपि सा –मु–पा ।

§५४ तथा–

वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥ २५ ॥

§५५ सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयान्वयाः सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयव्यतिरेकाश्च त्रयस्त्रयो दृष्टान्ताभासा भवन्ति। के इत्याह–'रथ्यापुरुषादयः'। कस्मिन् साध्ये ? 'रागे' 'मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः' च। कस्मादित्याह–'वचनात्' 'रागात्' च। तत्र सन्दिग्धसाध्यधर्मान्वयो यथा विवक्षितः पुरुषविशेषो रागी वचनाद् रथ्यापुरुषवत्। सन्दिग्धसाधनधर्मान्वयो यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत्। सन्दिग्धोभयधर्मान्वयो यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवदिति। एषु परचेतोवृत्तीनां दुरधिगमत्वेन साधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सत्त्वं सन्दिग्धम्। तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेको यथा रागी वचनात् रथ्यापुरुषवत्। सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत्। सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत्। एषु पूर्ववत् परचेतोवृत्तेर्दुरन्वयत्वाद्वैधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोरसत्त्वं सन्दिग्धमिति ॥ २५ ॥

§५६ तथा–

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥ २६ ॥

§५७ 'विपरीतान्वयः' 'विपरीतव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ भवतः। तत्र विपरीतान्वयो यथा यत् कृतकं तदनित्यमिति वक्तव्ये यदनित्यं तत् कृतकं यथा घट इत्याह। विपरीतव्यतिरेको यथा अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति वक्तव्ये कृतकत्वाभावे न भवत्येवानित्यत्वं यथाकाशम् इत्याह। साधनधर्मानुवादेन साध्यधर्मस्य विधानमित्यन्वयः। साध्यधर्मव्यावृत्त्यनुवादेन साधनधर्मव्यावृत्तिविधानमिति व्यतिरेकः। तयोरन्यथाभावे विपरीतत्वम्। यदाह—

"साध्यानुवादाल्लिङ्गस्य विपरीतान्वयो विधिः।
हेत्वभावे त्वसत्साध्यं व्यतिरेकविपर्यये ॥" इति ॥२६॥

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥ २७ ॥

§५८ 'अप्रदर्शितान्वयः' 'अप्रदर्शितव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ। एतौ च

१– धर्मत्वकि०–डे । २ साध्यधी । ३ यथार्थकत्वेन । ४ यो यो रागी न भवति स स वक्तापि न भवति । रथ्यान्तरे येनाऽपि प्रकारेण मूकत्वादिना वचनाभावे निश्चिते रागित्वं सन्दिह्यते । ५ मरणाभावादिना साध्यं प्रति वैधो पत्ति । ६ प्रयोगेषु । ७– भावो नि –डे । ८ भावे नि –ता । ९ वचनाति । १०– धर्मेव द०–डे ।

प्रमार्थस्यानुपदर्शनान्नवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेषु सति प्रमाणे तयोरसिद्धेरिति । साध्यविकलसाधनविकलोभयविकलाः, सन्दिग्धसाध्यान्वयसन्दिग्धसाधनान्वयसन्दिग्धोभयान्वयाः, विपरीतान्वयः, अप्रदर्शितान्वयश्चेत्यष्टौ साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः । साध्याव्यावृत्तसाधनाव्यावृत्तोभयाव्यावृत्ताः, सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्तिसन्दिग्धसाधनव्यावृत्तिसन्दिग्धोभयव्यावृत्तयः, विपरीतव्यतिरेकः, अप्रदर्शितव्यतिरेकश्चेत्यष्टावेव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासा भवन्ति ।

§ ५९ नन्वनन्वयाव्यतिरेकावपि केचिद् दृष्टान्ताभासावुक्तौ, यथा रागादिमानय वचनात् । अत्र साधर्म्यदृष्टान्ते आत्मनि रागवचनयोः सत्यपि साहित्ये, वैधर्म्यदृष्टान्ते चोपलखण्डे सत्यामपि सह निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावेनान्वयव्यतिरेकयोरभाव इत्यनन्वयाव्यतिरेकौ । तौ कस्मादिह नोक्तौ ? । उच्यते-ताभ्यां पूर्वे न भिद्यन्त इति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्येकमष्टावेव दृष्टान्ताभासा भवन्ति । यदाहु –

"लिङ्गस्यानन्वया अष्टावष्टावव्यतिरेकिणः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं कथंचित् ख्यापयन्त्यमी ॥" इति ॥२७॥

§ ६० अवसितं परार्थानुमानमिदानीं तदनान्तरीयकं दूषणं लक्षयति–

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥२८॥

§ ६१ 'साधनस्य' परार्थानुमानस्य ये असिद्धविरुद्धादयो 'दोषाः' पूर्वमुक्तास्ते षामुद्भाव्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति 'उद्भावनम्' साधनदोषोद्भावकं वचनं 'दूषणम्' । उत्तरसूत्रे भूतग्रहणादिह भूतदोषोद्भावना दूषणेति सिद्धम् ॥२८॥

§ ६२ दूषणलक्षणे दूषणाभासलक्षणं सुज्ञानमेव भेदप्रतिपादनार्थं तु तल्लक्षणमाह–

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि ॥२९॥

§ ६३ अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्यदूषणान्यपि दूषणवदाभासमानानि 'दूषणाभासाः' । तानि च 'जात्युत्तराणि' । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वात् । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि । तानि च सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वात्परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, तथाप्यक्षपाददर्शितदिशा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमरूपतया चतुर्विंशतिरुपदर्श्यन्ते ।

---

१ व्याप्तिमात्रकस्य स्वहस्तवस्त । २ सत् सत् इत्यादम् । ३ सत्सम्भे तत्सम्म् । ४ सत् इत्यत्र एवमित्ययेव । ५ अन्वयव्यतिरेक्यो । ६- कस्मादि—डे । ७ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभाव[व] ८ भूतादोष —डे । ९ संशयप्रकरणम् । १० —अथवरूप —ता ।

§ ६४ तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्-नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति १। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते-नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्; अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति २। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते-यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट एवं शब्दोऽप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति ४। वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यः। तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते-यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग्घटधर्मो यादृग्घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति ५-६। धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कवशय्यादि, किञ्चित्कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादि किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति ७। साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः। यथा-यदि यथा घटस्तथा शब्दः, प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति। शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवतु। ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात्। न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरामदृष्टान्त इति ८। प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती। यथा यदेतत् कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साधयत्यप्राप्य वा? प्राप्य चेत्; द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति, न सदसतोरिति। द्वयोश्च सत्त्वात् किं कस्य साध्यं साधनं वा? ९। अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति १०। अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथा यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्वे इदानीं किं साधनम्? तत्साधनेऽपि किं साधनमिति? ११। प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह-यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्, कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति। न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनम्, भङ्ग्यन्तरेण प्रत्य

---

१ येन [illegible] निरवयवत्वं [illegible] साधनविकल [illegible] दृष्टान्त [illegible]। २ अयमपि [illegible]। ३ [illegible]। ४ [illegible] दृष्टान्तं [illegible] जातिः। ५ [illegible]। ६ [illegible]।

मस्थानात् १२ । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः । यथा अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क वर्तते ? । तदेवं हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३ । साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति । यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्याद्वा निरवयवत्वान्नित्य इति ? १४ । द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्रैव अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे—नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् १५ । त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिः । यथा हेतुः साधनम् । तत् साध्यात्पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत् ? । यदि पूर्वम् ; असति साध्ये तत् कस्य साधनम् ? । अथ पश्चात्साधनम् ; पूर्वं तर्हि साध्यम् , तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन ? । अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६ । अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः । यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति १७ । अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः । यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति १८ । उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वम्, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति ? । पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९ । उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते—न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम् ; साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते । उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम् । शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २० । अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी—न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भाभावस्त्वेव शब्द इति चेत् ; न, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भसद्भावात् । आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः । तदभावे चावरणोपलब्धिर्भवति । ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति २१ । साध्य

---

१ तथैवाप्ति –डे । २ धर्मं प्रति दृष्टान्त साध्यमित्यत्वेन हि शब्दत्वस्य नित्यानित्यत्वस्याभ्युपेतत्वात् व्याप्तिरप्यसिद्धा । ३ उद्भावनं प्र –ता । ४ तस्मिन् पूर्वं सिद्धे—डे । ५– द्भावनं प्र —डे । ६ यत्र पूर्वोक्तमेवोत्तरम् । ७–०स्यैवाप्त०–डे । ८ चन् भा डे । ९ अत्रोत्तरम्—अन्यथाभदमेवित्यत् क(?)- प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विवक्षितमप्यन्य सिद्धमेव प्रयत्न(?)प्रयत्नेन शब्दो विवक्षितो जन्यत एव न तु व्यज्यत ।

धर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति–येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति ?। यद्यनित्या; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः। अथानित्यता नित्यैव; तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्यो भवेत्, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्यः शब्द इति[1] २२। सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः। यथा घटेन साधर्म्यमनित्येन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात्। अथ पदार्थान्तराणां तथा भावेऽपि नानित्यत्वम्; तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति। अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः २३। प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह–प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम्–किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादि, किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिनाऽभिव्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति। संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते २४।

§ ९५ तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते दर्शिताः। प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनामन्यथानुपपत्तिलक्षणानुमानलक्षणपरीक्षणमेव। न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवंप्रायाः पांशुपाताः प्रभवन्ति। कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च स्वप्रतिबन्धबलादावरणादिकृतं शब्दानुपलम्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव। जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं न प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमसामञ्जस्यप्रसङ्गादिति।

§ ९६ छलमपि च सम्यगुत्तरत्वाभावाज्जात्युत्तरमेव[2]। उक्तं ह्युद्भावनप्रकारभेदेनानन्तानि जात्युत्तराणीति। तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम्। तत्त्रिधा वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः सङ्ख्यामारोप्य निषेधति–कुतोऽस्य नव कम्बला इति ?। सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति–सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति। तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते–यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, व्रात्येऽपि सा भवेत्

१– त्यैव न तथा –डे। २ जिनपरसमापायामभिमतायां मित्याभिमतविकल्पना भवत एव अन्यथा कृतकत्वस्याऽपि हेतुत्वं पृच्छ्यताम्। ३ चैवं प्रति(?)भाषता मैवाभिधं प्रत्यभिसत्वस्य सम्यक्त्वेन व्याप्तिस्य व्यभिचारात्(?)। ४– वाग्देशुपरी–डे। ५– भेद च। –डे। ६– प्रेतार्थान्तर–डे।

मात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति । तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति ॥२९॥

§ ६७ साधनदूषणाद्यभिधानं च प्रायो वादे भवतीति वादस्य लक्षणमाह–

तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः ॥ ३० ॥

§ ६८ स्वपक्षसिद्धये वादिनः 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय प्रतिवादिनो 'दूषणम्' । प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धये 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय वादिनो 'दूषणम्' । तदेवं वादिनः साधनदूषणे प्रतिवादिनोऽपि साधनदूषणे द्वयोर्वादिप्रतिवादिभ्याम् 'वदनम्' अभिधानम् 'वादः' । कथमित्याह–'प्राश्निकादिसमक्षम्' । प्राश्निकाः सभ्याः–

"स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयेप्सिताः क्षमिणः ।
वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः ॥"

इत्येवंलक्षणाः । 'आदि'ग्रहणेन सभापतिवादिप्रतिवादिपरिग्रहः, सेयं चतुरङ्गा कथा, एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपत्तेः । नहि वर्णाश्रमपालनक्षमं न्यायान्यायव्यवस्थापकं पक्षपातरहितत्वेन समदृष्टिं सभापतिं यथोक्तलक्षणांश्च प्राश्निकान् विना वादिप्रतिवादिनौ स्वाभिमतसाधनदूषणसरणिमाराधयितुं क्षमौ । नापि दुःशिक्षितकुतर्कलेशवाचालबालिशजनविप्लावितो गतानुगतिको जनः सन्मार्गं प्रतिपद्येतेति । तस्य फलमाह–'तत्त्वसंरक्षणार्थम्' । 'तत्त्व'शब्देन तत्त्वनिश्चयः साधुजनहृदयविपरिवर्ती गृह्यते, तस्य रक्षणं दुर्विदग्धजनजनितविकल्पकल्पनात इति ।

§ ६९ ननु तत्त्वरक्षणं जल्पस्य वितण्डाया वा प्रयोजनम् । यदाह–"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्" [न्यायसू ४. २. ५०] इति; न, वादस्यापि निग्रहस्थानवत्त्वेन तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् । न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम् । "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः" [न्यायसू. १. २. १] इति वादलक्षणे सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनापसिद्धान्तस्य, पञ्चावयवोपपन्न इत्यनेन न्यूनाधिकयोर्हेत्वाभासपञ्चकस्य चेत्यष्टानां निग्रहस्थानानामनुज्ञानात्, तेषां च निग्रहस्थानान्तरोपलक्षणत्वात् । अत एव न जल्पवितण्डे कथे, वादस्यैव तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् ।

§ ७० ननु "यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः"

१ – पक्षे तयोर्वा– डे । २ हत्वेवंलक्ष –डे ।

[न्या० १.२.२], "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा" [न्या० १.२.३] इति लक्षणे भेदाज्जल्पवितण्डे अपि कथे विद्येते एव; न; प्रतिपक्षस्थापनाहीनाया वितण्डायाः कथात्वायोगात्। वैतण्डिको हि स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् यत्किञ्चिद्वादेन परपक्षमेव दूषयन् कथमवधेयवचनः?। जल्पस्तु यद्यपि द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः साधनोपालम्भसम्भावनया कथात्वं लभते तथापि न वादादर्थान्तरम्, वादेनैव चरितार्थत्वात्। छलजातिनिग्रहस्थानभूयस्त्वयोगादचरितार्थ इति चेत्; न, छलजातिप्रयोगस्य दूषणाभासत्वेनाप्रयोज्यत्वात्, निग्रहस्थानानां च वादेऽप्यविरुद्धत्वात्। न खलु खटचपेटामुखबन्धवादयोऽनुचिता निग्रहा जल्पेऽप्युपयुज्यन्ते। उचितानां च निग्रहस्थानानां वादेऽपि न विरोधोऽस्ति। तन्न वादात् जल्पस्य कश्चिद् विशेषोऽस्ति। लाभपूजाख्यातिकामितादीनि तु प्रयोजनानि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणलक्षणप्रधानफलानुबन्धीनि पुरुषधर्मत्वाद्वादेऽपि न निवारयितुं पार्यन्ते।

§ ७१ ननु छलजातिप्रयोगोऽसदुत्तरत्वाद्वादे न भवति, जल्पे तु तस्यानुज्ञानादस्ति वादजल्पयोर्विशेषः। यदाह–

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः"॥ इति।

नैवम्। असदुत्तरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्तत्वात्; न ह्यन्यायेन जयं यशो धनं वा महात्मानः समीहन्ते। अथ प्रबलप्रतिवादिदर्शनात् तज्जये धर्मध्वंससम्भावनात्, प्रतिभाक्षयेण सम्यगुत्तरस्याप्रतिभासादसदुत्तरैरपि पांशुभिरिवावकिरन्नेकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति धिया न दोषमावहतीति चेत्; न, अस्यापवादिकस्य असदुत्तरप्रयोगस्य कथान्तरसमर्थनसामर्थ्याभावात्। वाद एव द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण यद्यसदुत्तरं कथञ्चन प्रयुञ्जीत किमेतावता कथान्तरं प्रसज्येत?। तस्माज्जल्पवितण्डानिराकरणेन वाद एवैकः कथाप्रथां लभत इति स्थितम्॥ ३०॥

§ ७२ वादश्च जयपराजयावसानो भवतीति जयपराजययोर्लक्षणमाह–

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः॥ ३१॥

§ ७३ वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य सिद्धिः सा जयः। सा च स्वपक्षसाधनदोषपरिहारेण परपक्षसाधनदोषोद्भावनेन च भवति। स्वपक्षे साधनमब्रुवन्नपि प्रति

१–०हीना मु–डे। २ "प्रवीणम्" (हैमश० १.४.११७) इतीदम्। ३– यत्किञ्चि–ता। ४ जल्पति। ५ एव तत् [illegible] तस्य वादः। ६ तुल्यविशेष। ७ अनुज्ञानादि। ८ लभमाने विना। ९ वादी प्रतिवादिनो वा। १० चेत् जल्पा –ता। ११ परिहारोद्भावनाभ्यां साधनाभ्यां च व्यवस्थाभ्याम् इति पाठः।

वादी वादिसाधनस्य विरुद्धतामुद्भावयन् वादिनं जयति, विरुद्धतोद्भावनेनैव स्वपक्षसाधनस्योक्तत्वात् । यदाह–"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः" इति ॥३१॥

असिद्धिः पराजयः ॥ ३२ ॥

§ ७४ वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य 'असिद्धिः' सा 'पराजयः' । सा च साधनाभासाभिधानात्, सम्यक्साधनेऽपि वा परोक्तदूषणानुद्धरणाद्भवति ॥ ३२ ॥

§ ७५ ननु यद्यसिद्धिः पराजयः, स तर्हि कीदृशो निग्रहः ?, निग्रहान्ता हि कथा भवतीत्याह–

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥ ३३ ॥

§ ७६ 'स' पराजय एव 'वादिप्रतिवादिनोः' 'निग्रहः' न वधबन्धादिः । अथवा स एव स्वपक्षासिद्धिरूपः पराजयो निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो नान्यो यथाहुः परे–"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० १. २. १९] इति ॥ ३३ ॥

§ ७७ तत्राह–

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥

§ ७८ विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः 'विप्रतिपत्तिः'–साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः । स च साधने दूषणं दूषणे चोद्धरणं तयोरकरणम् 'अप्रतिपत्तिः' । द्विधा हि वादी पराजीयते–यथाकर्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान इति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती एव 'विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम्' 'न' पराजयहेतुः किन्तु स्वपक्षस्यासिद्धिरेवेति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योश्च निग्रहस्थानत्वनिरासात् तद्भेदानामपि निग्रहस्थानत्वं निरस्तम् ।

§ ७९ ते च द्वाविंशतिर्भवन्ति । तद्यथा–१ प्रतिज्ञाहानिः, २ प्रतिज्ञान्तरम्, ३ प्रतिज्ञाविरोधः, ४ प्रतिज्ञासंन्यासः, ५ हेत्वन्तरम्, ६ अर्थान्तरम्, ७ निरर्थकम्, ८ अविज्ञातार्थम्, ९ अपार्थकम्, १० अप्राप्तकालम्, ११ न्यूनम्, १२ अधिकम्, १३ पुनरुक्तम्, १४ अननुभाषणम्, १५ अज्ञानम्, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेपः, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, २० निरनुयोज्यानुयोगः, २१ अपसिद्धान्तः, २२ हेत्वाभासाश्चेति । अत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिप्रकाराः । शेषा विप्रतिपत्तिभेदाः ।

§ ८० तत्र प्रतिज्ञाहानेर्लक्षणम्–"प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञा

१ विरुद्धं हे– डे । २ असिद्धिमप्रतिपत्तिं विप्रतिपत्तिं च सूत्राक्षरं यदैव लिखितं पं–मू० प्रती । ३– न्धादि । अ– डे । ४– रूप– डे । ५ वैसाहदमाहि । ६ परो– डे । ७ नारम्भमाण– । ८ प्रतिदृष्टान्तस्य सामान्यस्य धर्मो निम्नतम् । ९– ममाभ्यनुज्ञा–मु० ।

हानिः" [न्यायसू० ५. २. २] इति सूत्रम्। अस्य भाष्यकारीयं व्याख्यानम्–"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टं कस्मान्न तथा शब्दोऽपीत्येवं स्वप्रयुक्तहेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्यागं करोति–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यम्, कामं घटोऽपि नित्योऽस्त्विति। स खल्वयं साधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसजन् निगमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति" [न्यायभा० ५. २. २]। तदेतदसङ्गतमेव, साक्षात् दृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः तत्रैव धर्मपरित्यागात्। परम्परया तु हेतूपनयनिगमनानामपि त्यागः, दृष्टान्तासाधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात्। तथा च प्रतिज्ञाहानिरेवेत्यसङ्गतमेव। वार्तिककारस्तु व्याचष्टे–"दृष्टश्चासावन्ते" स्थितत्वादन्तश्चेति दृष्टान्तः पक्षः। स्वदृष्टान्तः स्वपक्षः। प्रतिदृष्टान्तः प्रतिपक्षः। प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति–यदि सामान्यमैन्द्रियकम् नित्यं शब्दोऽप्येवमस्त्विति" [न्यायवा० ५. २. २]। तदेतदपि व्याख्यानमसङ्गतम्, इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात्। न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायमेक एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात्, अधिक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्ता[त्] किञ्चित् साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजानानस्याप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारणकत्वोपपत्तेरिति १।

§ ८१ प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयात्–युक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि

---

१ तदेतदसमम्। २ वात्स्यायनभाष्ये तु–"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। निदर्शनम्–ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृतेऽपर आह दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्मान्न तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते इदमाह–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्त्विति। स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जयन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति।"–न्यायभा० ५. २. २-मु टि०। ३ प्रतिवादिना धर्मयुक्तेन। ४ वादी। ५ – युक्तस्य हेतो –डे। ६ अनैकान्तिकत्वेन। ७ प्रत्यक्ष – डे। प्रत्यवस्थान्–मु। ८ अभ्युपगतं धर्मम्। ९ तस्याः प्रतिज्ञाहानेः। १० दृष्टान्त। ११ – न्यासाधुत्वे –ता। १२ न्यायवार्तिके तु–"दृष्टश्चासावन्ते व्यवस्थित इति दृष्टान्तः स्वपक्षः, दृष्टान्तमिति साध्यदृष्टान्तधर्मेण पक्ष एवाभिधीयते। प्रतिदृष्टान्तधर्मेण च प्रतिपक्षः प्रतिदृष्टान्त इति। एतदुक्तं भवति। परपक्षस्य यो धर्मस्तं स्वपक्ष एवानुजानातीति यथा अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादिति द्वितीयपक्षवादिना सामान्येन प्रत्यवस्थिते इदमाह–यदि सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टमिति शब्दोऽप्येवं भवत्विति।"–न्यायवा० ५. २. २-मु टि०। १३ अन्तो निश्चयनम् तत्र च स्थित एव पक्ष प्रतिज्ञाया पूर्वापरम्। १४ दृष्टान्तः न पर प्रतिदृष्टान्त –डे। १५ निमित्तात् डे। १६ – कारणत्वो डे।

सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति। सोऽयम् 'अनित्यः शब्दः' इति पूर्वप्रतिज्ञातं प्रतिज्ञान्तरम् 'असर्वगतः शब्दः' इति ब्रुवन् प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति। एतदपि प्रतिज्ञाहानिवन्न युक्तम्, तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः। प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथं भेदः, पक्षत्यागस्योभयत्राविशेषात्? यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात् पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि। यथा च स्वपक्षसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दानित्यत्वसिद्ध्यर्थं भ्रान्तिवशात् 'तद्वच्छब्दोऽपि नित्योऽस्तु' इत्यनुज्ञानम्, यथा चाभ्रान्तस्येदं विरुध्यते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि। निमित्तभेदाच्च तद्भेदे अनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनुषङ्गः स्यात्। तेषां च तत्रान्तर्भावे प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भाव स्यादिति २।

§ ८२ "प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः" [न्यायसू० ५. २. ४] नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति। सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः—यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः?, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति?, तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात् पराजीयते। तदेतदसङ्गतम्। यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरतः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुदोषो वा विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति ३।

§ ८३ पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्—क एवमाह—अनित्यः शब्द इति—स प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति। एतदपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते, हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषात् ४।

§ ८४ अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण दूषिते—'जातिमत्त्वे सति' इत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति। इदमप्यतिप्रसृतम्, यतोऽविशेषोक्ते दृष्टान्ते उपनये निगमने वा प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टान्ताद्यन्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्येत, तत्राप्याक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ५।

§ ८५ प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा अनित्यः शब्दः। कृतकत्वादिति हेतुः। हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्। पदं च नामाख्यातनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यते। एतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्त

---

१ पूर्वं प्रति —डे। २ – तत्तोप – टे। ३ यथा प्रतिज्ञाविशा अकृतेऽपि प्र[ति]ज्ञ[ता]र्थंप्रतिपक्षे काप्यरूपम(?)सोम्यतेऽसर्वगतस्तु शब्द इति तथा अन्यनिमित्तकत्वं प्रतिज्ञान्तरस्य। ४ यथात्तथम्मो —डे। ५ – गुणव्यात—डे। ६ इति प्रति०—डे। ७ –०म्यम –ता। ८ इति हेत्वन्तरम्। ९ महत्तायादर्था-न्तरम्—डे। १० पद नाम – ता। ११ प्रस्तवमामा —डे।

निग्रहाय कल्प्येत, असमर्थे वा? । न तावत्समर्थे; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत्। असमर्थेऽपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ सत्यां निग्रहाय स्यादसिद्धौ वा? । प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्धेरेवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात्। द्वितीयपक्षेऽप्यतो न निग्रहः, पक्षसिद्धेरुभयोरप्यभावादिति ६।

§ ८६ अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वात् घझढधभवदिति। एतदपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्प्येत, साध्यानुपयोगाद्वा? । तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, सर्वथार्थशून्यशब्दस्यैवासम्भवात्, वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वोपपत्तेः। द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात् साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात्। किञ्चिद्विक्षेपमात्रेण मद् वा खात्कृत-हस्तास्फालन-कक्षापिटितादेरपि साध्यानुपयोगिनो निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति ७।

§ ८७ यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तद् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति। अत्रेदमुच्यते—वादिना त्रिरभिहितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम्, गूढाभिधानतो वा, द्रुतोच्चाराद्वा? । प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वेनाविज्ञातत्वसम्भवात्। द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गः, गूढाभिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयोरप्यविज्ञातत्वोपलम्भात्। अथाभ्यामविज्ञातमप्येतद् वादी व्याचष्टे; गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम्, अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य, न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात्। द्रुतोच्चारेऽप्यनयोः कथञ्चिद् ज्ञानं सम्भवत्येव, सिद्धान्तद्वयवेदित्वात्। साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे तयोरविज्ञानं नाविज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत्। ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यत इति ८।

§ ८८ पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादि। एतदपि निरर्थकान्न भिद्यते। यथैव हि गजडदबादौ वर्णानां नैरर्थक्यं तथात्र पदानामिति। यदि पुनः पदनैरर्थक्यं वर्णनैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरं तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्याभ्यामन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरत्वं स्यात् पदवत्पौर्वापर्येणाप्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलम्भात्—

"शङ्खः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानम्।
तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिमं बभूव॥"

इत्यादिवत्।

---

१ पदान्तरम् (?) वाक्यान्तरम्। २ –०भिहितेन – डे। ३ वाक्यान्तरात्। ४ भेदेन वाद् – डे भेदे वा वदत – मु–पा। ५ गूढानां शब्दानामभिधानम्। ६ प्रलापेऽपि। ७ अविज्ञातलक्षणम्। ८ प्रहेलिकादिवत्। ९ पत्रवाक्यम्। १० साध्यवाक्यम्। ११ सिद्धान्तद्वयेति – डे। १२ अत्र निग्रहवादी एवं ब्रूयात् वादिनः प्रलापमात्रम् अविज्ञातस्य लक्षणम् इत्यत्र हास्याभाव (?)। १३ वर्णैः पदैश्च (?)। १४ –०मर्थं वा वा। १५ साध्यानुपयोगित्वात्। १६ वर्णपदनैरर्थक्याभ्याम्।

§ ८९ यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं स्यात् वर्णसमुदायात्मकत्वात् तस्य । वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात् पदस्यापि तत्प्रसङ्गमेव ; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः । पदस्यार्थवत्त्वेन(सत्वे च) पदार्थापेक्षया; [वर्णार्थापेक्षया] वर्णस्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवत्; न खलु प्रकृतिः केवला पद प्रत्ययो वा । नाप्यनयोरनर्थकत्वम् । अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वं; पदस्यापि तत् स्यात् । यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात् तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेस्याद्यन्तपदार्थस्य त्याद्यन्तपदार्थस्य च स्त्याद्यन्तपदेनाभिव्यक्ते केवलस्याप्रयोगः । पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्व प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति ९ ।

§ ९० प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति, स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमाने क्रमस्याप्यङ्गत्वात् । एतदप्यपेशलम्, प्रेक्षावतां प्रतिपत्तॄणामवयवक्रमनियमं विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भात् । ननु यथापशब्दाच्छ्रुताच्छब्दस्मरण ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरण ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न पुनस्तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवंविधप्रतीत्यभावात् । यस्माद्धि शब्दादुच्चरितात् यत्रार्थे प्रतीति स एव तस्य वाचको नान्य , अन्यथा शब्दात्क्रमाद्वापशब्द तद्व्यतिक्रमे च स्मरण ततोऽर्थप्रतीतिरित्यपि वक्तु शक्येत । एव शब्दान्वाख्यानवैयर्थ्यमिति चेत्; नैवम्, वादिनोऽनिष्टमात्रापादनात् अपशब्देऽपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात् । संस्कृताच्छब्दात्सत्यात् धर्मोऽन्यस्मादधर्म इति नियमे चान्यधर्मो धर्मोपायानुष्ठानवैयर्थ्यं धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्ग , अधार्मिके च धार्मिके च तच्छब्दोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिस्तथाप्यर्थप्रत्यय क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यत तन्निरर्थक न त्वप्राप्तकालमिति १० ।

§ ९१ पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेरभिधानात् प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात् । अतस्तद्धीनमेव न्यून निग्रहस्थानमिति ११ ।

§ ९२ एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति निष्प्रयोजनाभिधानात् । एतदप्ययुक्तम्, तथा

१ यथ शक्तिमान्ति पदपूणा हसाम तु पदानामेव नैरर्थक्यम् न वाक्यस्य क्रियाया अभावात्(अभवमात) । २ – यथा तस्यापि – जे । ३ अर्थवत्त्वम् । ४ प्रकृतिप्रत्ययमो । ५ च स्त्याद्यन्त – ता । ६ यथापि शब्दा – डे । ७ क्रमवादिनः । ८ सत्याधर्मो – डे । ९ अधार्मिके धार्मि– डे ।

विधानस्यास् पक्षसिद्धौ पराजयायोगात्। कथं चैवं प्रमाणसंप्लवोऽभ्युपगम्यते ?। अभ्युपगमे वाऽधिकमित्यस्य निग्रहाय जायेत। प्रतिपत्तिदार्ढ्यसंवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः; इत्यन्यत्रापि समानम्, हेतुनोदाहरणेन वा(चै)केन प्रसाधितेऽप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोरुदाहरणस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चैवमनवस्था, कस्यचित् क्वचिन्निराकाङ्क्षतोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत्। कथं चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिककप्रत्ययस्य वचनम्, यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तौ यत्तदोर्वचनम्, वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थानं न स्यात् ?। तथाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वान्नेति चेत्; कथमनेकस्य हेतोरुदाहरणस्य वा तदुपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणम् ?। निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति १२।

§ ९३ शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानं भवत्यन्यत्रानुवादात्। शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते। यथा अनित्यः शब्दः अनित्यः शब्द इति। अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोक्तः पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते। यथा अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति। अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषो यथा– "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" [न्यायसू० १।१।३९] इति। अत्रार्थपुनरुक्तमेवानुपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्, अर्थभेदेन शब्दसाम्येऽप्यदोषासम्भवात् यथा–

"हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥" –[काव्यालं० वृ० ११।१]

इत्यादि। ततः स्पष्टार्थवाचकैरन्यैरेवा शब्दैः सभ्याः प्रतिपादनीयाः। तदप्रतिपादकशब्दानां तु सकृत् पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तमिति। यदपि अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तं यथा असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीत्युक्ते अर्थादापद्यते सत्सु भवतीति तत् कण्ठेन कथ्यमानं पुनरुक्तं भवति, अर्थगत्यर्थे हि शब्दप्रयोगे प्रतीतेऽर्थे किं तेन ?। एतदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानं नान्यथा। तथा चेदं निरर्थकान्न विशिष्यतेति १३।

§ ९४ पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति, अप्रत्युच्चारयत्(न्) किमाश्रयं दूषणमभिदधीतेति(दधीतेति)। अत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम् उत यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्येति ?। तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोऽपि दूषणवचनाव्याघातात्। यथा सर्वमनित्यं सत्त्वादित्युक्ते–सत्त्वादित्ययं हेतुर्विरुद्ध इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भाव्यते–यत

१– विधानस्य वाक्या –ता। २ हेत्वभ्युपगमं। ३– यत्कृतकं तदनित्यमिति –डे। ४– यथा –डे। ५ इत्यनित्यमिति इतिपदम्। ६– चैकेन –ड। ७– स्वपक्ष डे। ८– स्व सम्म –डे। ९ दोषापेतम् –डे। १० निरूप्य –डे। ११ उत यन्नान्तरीयिका –ता। उत प्रधानान्तरीयिका –डे।

थयायमकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति च समर्थ्यते । तावता च परोक्त हेतोर्दूषणात्किमन्योच्चारणेन १। अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाप्रत्युच्चारणमननुभाषणं प्रतिपत्तव्यम् । अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्; तदायमुत्तराप्रतिपत्त्यैव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति १४ ।

§ ९५ पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानं भवति । अविदितोत्तरविषयो हि कोत्तरं ब्रूयात् ? । न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् । एतदप्यसाम्प्रतम्, प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्थानानां भेदाभावानुषङ्गात्, तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात् । तेषां तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थानप्रतिनियमाभावप्रसङ्गः, परोक्तस्याऽर्थाज्ञानादिभेदेन निग्रहस्थानानेकत्वप्रसङ्गात् १५ ।

§ ९६ परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं भवति । एषाप्यज्ञानान्न भिद्यते १६ ।

§ ९७ "कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः" [न्यायसू० ५ २ १९] नाम निग्रहस्थानं भवति । सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्ति– 'इदं मे करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्धः' इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते । एतदप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति १७ ।

§ ९८ स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति । चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते–भवानपि चोरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते । इदमप्यज्ञानान्न भिद्यते । अनैकान्तिकता चात्र हेतोः; स ह्यात्मीयहेतोरात्मनैवानैकान्तिकतां दृष्ट्वा प्राह–भवत्पक्षेऽप्ययं दोषः समानस्त्वमपि पुरुषोऽसीत्यनैकान्तिकत्वमेवोद्भावयतीति १८ ।

§ ९९ निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः 'इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते । एतच्च 'कस्य निग्रहः' इत्यनुयुक्तया परिषदोद्भावनीयं न त्वसावात्मनो दोषं विवृणुयात् 'अहं निग्राह्यस्त्वयोपेक्षितः' इति । एतदप्यज्ञानान्न भिद्यते १९ ।

§ १०० "अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः" [न्यायसू० ५ २ २२] नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसि' इति यो ब्रूयात्स एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यते । एतदपि नाज्ञानाद्व्यतिरिच्यते २० ।

१ तावता परो – डे । २ भेदमा – डे । ३ – मतो न भिद्यते । स्व – मु–पा । ४ – रात्मीयैवै – डे । ५ पुरुषो भवसी – डे । ६– स्थानमिति –मु–पा ।

§ १०१ "सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः" [न्यायसू० ५. २. २३] नाम निग्रहस्थानं भवति। यः प्रथमं कञ्चित् सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते। तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते। एतदपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं नान्यथेति २१।

§ १०२ "हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः" [न्यायसू० ५. २. २४] असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम्। अत्रापि विरुद्धहेतूद्भावनेन प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम्, असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति २२॥ ३४॥

§ १०३ तदेवमक्षपादोपदिष्टं पराजयाधिकरणं परीक्ष्य सौगताभिमतं[1] तत् परीक्ष्यते—

नासाधनाङ्गवचनादोषोद्भावने ॥ ३५ ॥

§ १०४ स्वपक्षस्यासिद्धिरेव पराजयो 'न' 'असाधनाङ्गवचनम्' 'अदोषोद्भावनम्' च। यदाह धर्मकीर्तिः—

"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥" –[वादन्यायः का० १]

§ १०५ अत्र हि स्वपक्षं साधयन् असाधयन् वा वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाद्वा परं निगृह्णाति ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य पराजयादन्योद्भावनं व्यर्थम्। द्वितीयपक्षे असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेऽपि न कस्यचिज्जयः, पक्षसिद्धेरुभयोरभावात्।

§ १०६ यच्चास्य व्याख्यानम्—साधनं सिद्धिस्तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गं तस्यावचनम्—तूष्णींभावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा, साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनं विपक्षे बाधकप्रमाणोपदर्शनरूपं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति—तत् पञ्चावयवप्रयोगवादिनोऽपि समानम्। शक्यं हि तेनाप्येवं वक्तुं सिद्ध्यङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात् सौगतस्य वादिनो निग्रहः। ननु चास्य तद्वचनेऽपि न निग्रहः, प्रतिज्ञानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारसामर्थ्येन गम्यमानत्वात्, गम्यमानयोश्च वचने पुनरुक्तत्वानुषङ्गात्, तत्प्रयोगेऽपि हेतुप्रयोगमन्तरेण साध्यार्थाप्रसिद्धेः इत्यप्यसत्, पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवमवचनानुषङ्गात्। अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं हेतोरपक्षधर्मत्वेना

१– भिमतं परी –ता। २ नासाध –ता-मू। ३ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्याध्यायस्य त्रिंशति सूत्राणि॥ श्रीजयमानजिनाय नमः॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः॥ –डे-मू। ४– पि कस्य –ता। ५– पि चिन्न –डे। ६ पक्षधर्मोपसंहारोपसं°–डे पक्षधर्मोपक्षधर्मोपसं°–मु। ७ हेतुना प्रयो –ता। ८ °प्येवं वच –डे। ९ वचनाद्दे –डे। १० –°क्षधर्मत्वे त्वभि –डे।

सिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानाया अपि प्रतिज्ञायाः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं निगमनस्य वचनं किं न स्यात् ? । नहि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सङ्गतत्वं घटते, भिन्नविषय प्रतिज्ञादिवत् । ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्या साधनाङ्गतेति चेत्; तर्हि भवतोऽपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोऽनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनाङ्गतेति समानम् । ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वात् नानर्थको दृष्टान्तः, तत्र तत्प्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्, सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुपङ्गात् । विपक्षव्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसङ्गात् दृष्टान्तोऽनर्थक एव स्यात् । विपक्षव्यावृत्त्या च हेतुं समर्थयन् कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत् ? । तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्तेत ? । गम्यमाने प्रतिज्ञाविषय एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य । अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः ? ।

§ १०७ यच्चेदमसाधनाङ्गमित्यस्य व्याख्यानान्तरम्—साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनम्, वैधर्म्येण च प्रयोगे साधर्म्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तमतो न साधनाङ्गम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतो वादिनो निग्रहः स्यात्, असाधयतो वा ? । प्रथमपक्षे न साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपालम्भमात्रेणास्य निग्रहः, अविरोधात् । नन्वेवं नाटकादिघोषणतोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्; सत्यमेवत्, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत्, अन्यथा ताम्बूलभक्षणभ्रूक्षेप-खात्कृत-हस्तास्फालनादिभ्योऽपि सत्यसाधनवादिनोऽपि निग्रहः स्यात् । अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोऽस्य ततो निग्रहः; नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपालम्भो निग्रहो लभ्येत, असाधिते वा ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात् ।

§ १०८ ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । साधनवादिना हि साधुसाधनं ज्ञात्वा वक्तव्यम्, दूषणवादिना च दूषणम् । तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाज्ञानसिद्धेः पराजयः । प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः स प्रतिवादी सत्साधनवादिनः साधनाभासवादिनो वा वचनाधिक्यदोषमुद्भावयेत् ? । तत्राद्यपक्षे वादिनः कथं साधुसाधनाज्ञानम्, तद्वचनेयत्ताज्ञानस्यैवाभावात् ? । द्वितीयपक्षे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात् । तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानात् दूषणज्ञो

१- कार्यप्रतिपद -मु । कार्यप्रतिज्ञात्र -डे । २ साधर्म्यवचनाद्वार्थस्य - डे । ३- तद्व -डे ।

ऽस्तीति चेत्; साधनाभासाज्ञानाद्दूषणाज्ञोऽपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, तद्दोषो-द्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनाभासानुद्भावना-चस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्पेत? । अथ वचनाधिक्यं साधनाभासं चोद्भावयतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेवं साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं वैधर्म्यवचने वा साधर्म्यवचनं पराजयाय प्रभवेत्? । कथं चैवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रति-पक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्, कचिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्? न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायामेकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न भवति। युगपत्साधनासामर्थ्यज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यादविशेषात्? । न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्याज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचना-धिक्यदोषोद्भावनात्तद्दोषमात्रज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जयः पराजयो वा स्यात्। नहि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ वेदनेऽपि [1]विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयन-शक्तौ संवेदनानुदयात्। तन्न तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ व्यवस्थाप-यितुं शक्यौ, यथोक्तदोषानुषङ्गात्। स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्। कस्यचित् कुतश्चित् स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयप्रसङ्गात्।

§ १०९ यच्चेदमदोषोद्भावनमित्यस्य व्याख्यानम्–प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावनाभाव-मात्रम्-अदोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रह-स्थानमिति–तत् वादिनाऽदोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव यदि वादी स्वपक्षं साध-येन्नान्यथा। वचनाधिक्यं तु दोषः प्रागेव प्रतिविहितः। यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्यं निग्रहस्थानं तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्यादविशेषाभावात्। प्रतिज्ञा-दीनि हि पञ्चाप्यनुमानाङ्गम्–"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १.१.३२] इत्यभिधानात्। तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनतास्यो दोषो-ऽनुषज्यत एव "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" [न्यायसू० ५.२.१२] इति वचनात्। ततो जयेतरव्यवस्थायां नान्यन्निमित्तमुक्तान्निमित्तादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ ३५ ॥

§ ११ अथ च प्रागुक्तमप्युक्तो वादः कदाचित्पत्रालम्बनमप्यपेक्षतेऽतस्तल्लक्षण-मत्रावश्यमभिधातव्यं यतो नाविज्ञातस्वरूपस्यास्यावलम्बनं जयाय प्रभवति न चावि-ज्ञातस्वरूपं परपत्रं भेत्तुं शक्यमित्याहुः–

---

१ नैकान्ततो जयेत् – डे। २ – भावे चोद्भा – डे। ३ जयति कथम् – डे। ४ – स्य निय –ता। ५ –भावे ज्ञ –ता। ६ नियम –ता। ७ – विप्रो निधि –डे। ८ –भवनं यथा नि –डे। ९ – भावं प्र –डे। १० छ॥ श्री ॥ छ॥ मङ्गलम्॥ महाश्रीः॥ छ॥ श्री॥ – ता। –० निग्राहः। इत्याचार्यश्री हेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमाह्निकं समाप्तम्॥ श्री॥ संवत् १ ७ वर्षे मार्गशीर्षमासे कृष्णतृतीयायां बुधवासरे (?)लिखितं श्रीजयविजयगणि(?) पुस्तकं लिखितमिदं॥ छ॥ शुभं भवतु॥ श्रीश्रमणसंघस्य॥ ॥ श्री॥ १॥ छ॥ छ॥ ॥ – डे।

प्रमाणमीमांसायाः

॥ भाषाटिप्पणानि ॥

प्रमाणमीमांसाया

॥ भा षा टि प्प णा नि ॥

हैमी प्रमाणमीमांसा विशदयतेऽत्र टिप्पणैः ।
एतैस्तु-तुलनासृग्मी राष्ट्रभाषापजीविभिः ॥

पृ० १ पं० २ 'तायिने'–तुलना–"प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने"–प्रमाणस० १. १. "तायिनामिति स्वाधिगतमार्गदेशकानाम् । यदुक्तम्–'तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः' (प्रमाणवा० २. १४५.) इति तद् विद्यते येषामिति । अथवा तायः संतानार्थः ।"–बोधिचर्या० प० पृ० ७५.

पृ० १ पं० ६ 'पाणिनि'–पाणिनि का सूत्रात्मक अष्टाध्यायी शब्दानुशासन प्रसिद्ध है। पिङ्गल का छन्दःशास्त्र प्रसिद्ध है। कणाद और अक्षपाद क्रम से दशाध्यायी वैशेषिक सूत्र और पञ्चाध्यायी न्यायसूत्र के प्रणेता हैं।

पृ० १ पं० ८ 'वाचकमुख्य'–उमास्वाति और उनके तत्त्वार्थसूत्र के बारे में देखो मेरा लिखा गुजराती तत्त्वार्थविवेचन का परिचय।

पृ० १ पं० ११ 'अकलङ्क'–अकलङ्क ये प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य हैं। इनके प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय लघीयस्त्रयी आदि जैनन्यायविषयक अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं। इनका समय इसवीय अष्टम शताब्दी है।

पृ० १ पं० ११ 'धर्मकीर्ति'–धर्मकीर्ति (ई० स० ६२५) बौद्ध तार्किक हैं। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, वादन्याय आदि प्रकरणग्रन्थ हैं।

पृ० १ पं० १२ 'नास्य स्वपक्षा'–तुलना–'वचनं राजकीयं वा लौकिकं वापि विद्यते ।" श्लोकवा० सू० ४ श्लो० २३५।

पृ० १ पं० १४ 'वर्णसमूहा'–तुलना– शास्त्रं पुनः प्रमाणादिवाचकपदसमूहो व्यूह विशिष्टः एवं पुनर्वर्णसमूहः, पदसमूहः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमूह आह्निकम्, आह्निकसमूहोऽध्यायः, पञ्चाध्यायी शास्त्रम् ।"–न्यायवा० पृ० १.

पृ० १ पं० १७ 'अथ प्रमाण'–भारतीय शास्त्र-रचना में यह प्रणाली बहुत पहिले से चली आती है–कि सूत्ररचना में पहिला सूत्र ऐसा बनाया जाय जिसमें ग्रन्थ का

विषय सूचित हो और जिसमें ग्रन्थ का नामकरण भी आ जाय। जैसे पातञ्जल योगशास्त्र का प्रथम सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्', जैसे अकलंक ने 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'प्रमाणे इति संग्रह' किया है, जैसे विद्यानन्द ने 'अथ प्रमाणपरीक्षा' इस वाक्य से ही 'प्रमाणपरीक्षा' का प्रारम्भ किया है। आ० हेमचन्द्र ने उसी प्रणाली का अनुसरण करके यह सूत्र रचा है।

'अथ' शब्द से शास्त्रप्रारम्भ करने की परम्परा प्राचीन और विविध विषयक शास्त्रगामिनी है। जैसे "अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः" (आप० श्रौ० सू० १. १. १), "अथ शब्दानुशासनम्" (पात० महा०), 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जैमि० सू० १. १. १) इत्यादि। आ० हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन की तरह इस ग्रन्थ में भी वही परम्परा रक्खी है।

पृ० १ पं० १८ 'अथ-इत्यस्य'–अथ शब्द का 'अधिकार' अर्थ प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है और उसे प्रसिद्ध आचार्यों ने लिया भी है जैसा कि इस व्याकरणभाष्य के प्रारम्भ में "अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः" (१. १. १ पृ० ९) तथा योगसूत्रभाष्य में (१. १) पाते हैं। इसके सिवाय उसका 'आनन्तर्य' अर्थ भी प्रसिद्ध है जैसा कि शबर ने अपने मीमांसाभाष्य[1] में लिया है। शङ्कराचार्य[2] ने 'आनन्तर्य' अर्थ तो लिया पर 'अधिकार' अर्थ को असङ्गत समझकर स्वीकृत नहीं किया। शङ्कराचार्य को अथ शब्द का 'मङ्गल' अर्थ लेना इष्ट था पर एक साथ सीधे तौर से दो अर्थ लेना शास्त्रीय युक्ति के विरुद्ध होने से उन्होंने आनन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द के श्रवण को ही मङ्गल मानकर 'मङ्गल' अर्थ लिये बिना ही, 'मङ्गल' का प्रयोजन सिद्ध किया है। योगभाष्य के और शाङ्करभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति[3] ने तत्त्ववैशारदी और भामती में शङ्करोक्त 'अथ'शब्दश्रुति की मङ्गलप्रयोजनता – मृदङ्ग शङ्ख आदि ध्वनि के मांगलिक श्रवण की उपमा के द्वारा – पुष्ट की है और साथ ही जलादि अन्य प्रयोजन के वास्ते लाये जानेवाले पूर्ण जलकुम्भ के मांगलिक दर्शन की उपमा देकर अन्य अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का अर्थान्तर बिना किये ही उसके श्रवण की माङ्गलिकता दरसाई है।

---

१ 'अथ लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः"—शाबरभा० १. १. १

२ अथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्, मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति"—ब्र० शाङ्करभा० १. १. १

३ अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्"—तत्त्ववै० १. १. न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्खध्वनिवद् अथशब्दश्रवणमात्रकार्यम्। यथा च 'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥ अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनि कर्णगतं कुर्वन्, मङ्गलप्रयोजनो भवति अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्' —भामती १. १. १

आ० हेमचन्द्र ने उपर्युक्त सभी परम्पराओं का उपयोग करके अपनी व्याख्या में 'अथ' शब्द का अधिकारार्थक, आनन्तर्यार्थक और मंगलप्रयोजनवाला बतलाया है। उनकी उपमा भी शब्दशः वही है जो वाचस्पति के उक्त ग्रन्थों में है।

पृ० २ पं० ३ 'आयुष्म'–तुलना–"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति"–पात० महा० १. १. १.

पृ० २ पं० ४ 'परमेष्ठि'–जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे आत्मा के पाँच विभाग लोकोत्तर विकास के अनुसार किये गये हैं, जो पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं। इनका नमस्कार परम मंगल समझा जाता है–

"एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापक्षयङ्करः।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं भवति मङ्गलम्॥"

पृ० २ पं० ५ 'प्रकर्षेण'–वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में (१. १. ३) 'प्रमाण' शब्द को करणार्थक मानकर उसकी निरुक्ति के द्वारा 'प्रमाण' का लक्षण सूचित किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यकारिका की (तत्त्वकौ० का० ४) अपनी व्याख्या में 'प्रमाण' का लक्षण करने में उसी निर्वचनपद्धति का अवलम्बन किया है। आ० हेमचन्द्र भी 'प्रमाण' शब्द की उसी तरह निरुक्ति करते हैं। ऐसी ही निरुक्ति शब्दशः 'परीक्षामुख' की व्याख्या प्रमेयरत्नमाला (१. १) में देखी जाती है।

पृ० २ पं० ६ 'त्रयी हि'–उपलब्ध ग्रन्थों में सब से पहिले वात्स्यायनभाष्य[1] में ही शास्त्रप्रवृत्ति के त्रैविध्य की चर्चा है और तीनों विधाओं का स्वरूप भी बतलाया है। श्रीधर ने अपनी कन्दली[2] में उस प्राचीन त्रैविध्य के कथन का प्रतिवाद करके शास्त्रप्रवृत्ति को उद्देश-लक्षणरूप से द्विविध स्थापित किया है और परीक्षा को अनियत कहकर उसे त्रैविध्य में से कम किया है। श्रीधर ने नियतरूप से द्विविध शास्त्रप्रवृत्ति का और वात्स्यायन ने त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का कथन किया इसका सबब स्पष्ट है। श्रीधर कणादसूत्रीय प्रशस्तपादभाष्य

---

१ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानं उद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा" –न्यायभा० १. १. २.

२ "अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात्। अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभावः कारणाभावात्। अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः–उद्देशो लक्षणं च। परीक्षायास्तु न नियमः। यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासाय परीक्षाविधिरधिक्रियते। यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्वनिश्चयः स्यात् तत्रायं व्यर्थो नारभ्यते। यत्पुनरि ति त्रिविधा शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छन्ति तस्यापि प्रयोजनाभावे नास्ति परीक्षा। ननु कस्य द्वैविध्यमात्रमेव ने प्रतीयते इति। एवं चैतत्प्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न विधेः। नामधेयेन पदार्थानामभिधानं उद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्तको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा" –कन्दली पृ० २६.

के व्याख्याकार हैं। यह भाष्य तथा उसके आधारभूत सूत्र, पदार्थों के उद्देश एवं लक्षणात्मक हैं उनमें परीक्षा का कहीं भी स्थान नहीं है जब कि वात्स्यायन के व्याख्येय मूल न्यायसूत्र ही स्वयं उद्देश, लक्षण और परीक्षाक्रम से प्रवृत्त हैं। त्रिविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में तर्कप्रधान खण्डन-मण्डन प्रणाली अवश्य होती है–जैसे न्यायसूत्र उसके भाष्य आदि में। द्विविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में बुद्धिप्रधान स्थापनप्रणाली मुख्यतया होती है जैसे कणादसूत्र प्रशस्तपादभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र, उसका भाष्य आदि। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो केवल उद्देशमात्र हैं जैसे जैनागम स्थानांग धर्मसंग्रह आदि। श्रद्धाप्रधान होने से उन्हें मात्र धारणायोग्य समझना चाहिए।

आ० हेमचन्द्र ने वात्स्यायन का ही पदानुगमन करीब-करीब उन्हीं के शब्दों में किया है।

शास्त्रप्रवृत्ति के चतुर्थ प्रकार विभाग का प्रश्न उठाकर अन्त में उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में और जयन्त ने न्यायमञ्जरी में विभाग का समावेश उद्देश में ही किया है[1] और त्रिविध प्रवृत्ति का ही पक्ष स्थिर किया है। आ० हेमचन्द्र ने भी विभाग के बारे में वही प्रश्न उठाया है और समाधान भी वही किया है।

पृ० २. पं० ७ 'उद्दिष्टस्य'–'लक्षण' का लक्षण करते समय आ० हेमचन्द्र ने 'असाधारणधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण नव्यन्यायप्रधान तर्कसंग्रह की टीका दीपिका में इस प्रकार है–

"एतद्दूषणत्रय(अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभव)रहितो धर्मो लक्षणम्। यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। स एवाऽसाधारणधर्म इत्युच्यते। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्" पृ० १२।

पृ० २ पं० १२ 'पूजितविचार'–वाचस्पति[2] मिश्र ने 'मीमांसा' शब्द को पूजितविचारवाचक कहकर विचार की पूजितता स्पष्ट करने को भामती में लिखा है कि–जिस विचार का फल परम पुरुषार्थ का कारणभूत सूक्ष्मतम अर्थनिर्णय हो वही विचार पूजित है। आ० हेमचन्द्र ने वाचस्पति के उसी भाव को विस्तृत शब्दों में पल्लवित करके अपनी 'मीमांसा' शब्द की व्याख्या में उतारा है और उसके द्वारा 'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ के समग्र मुख्य प्रतिपाद्य विषय का सूचित किया है और यह भी कहा है कि–'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ का उद्देश्य केवल प्रमाणों की चर्चा करना नहीं है किन्तु प्रमाण नय और सोपाय बन्ध-मोक्ष इत्यादि परमपुरुषार्थोपयोगी विषयों की भी चर्चा करना है।

---

१ "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम्, उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति। तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः; न, उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्। कस्मात्?। लक्षणसामान्यात्। समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति।"–न्यायवा० १. १. ३. न्यायम० पृ० १२.

२ "पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलता च विचारस्य पूजितता"–भामती पृ० २७

पृ० २ पं० २० 'सम्यगर्थ'–प्रमाणसामान्यलक्षण की तार्किक परम्परा के उपलब्ध इतिहास में कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने "अदुष्टं विद्या" (९.२.१२) कहकर प्रमाणसामान्य का लक्षण कारणशुद्धिमूलक सूचित किया है। अक्षपाद के सूत्रों में लक्षणक्रम में प्रमाणसामान्यलक्षण के अभाव की त्रुटि को वात्स्यायन[1] ने 'प्रमाण' शब्द के निर्वचन द्वारा पूरा किया। उस निर्वचन में उन्होंने कणाद की तरह कारणशुद्धि की तरफ ध्यान नहीं रक्खा पर मात्र उपलब्धिरूप फल की ओर नजर रखकर "उपलब्धिहेतुत्व" को प्रमाणसामान्य का लक्षण बतलाया है। वात्स्यायन के इस निर्वचनमूलक लक्षण में आनेवाले दोषों का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र[2] ने 'अर्थ' पद का सम्बन्ध जोड़कर और 'उपलब्धि' पद को ज्ञानसामान्यबोधक नहीं पर प्रमाणरूपज्ञानविशेषबोधक मानकर प्रमाणसामान्य के लक्षण को परिपूर्ण बनाया, जिसे उदयनाचार्य[3] ने कुसुमाञ्जलि में 'गौतमनयसम्मत' कहकर अपनी भाषा में परिपूर्ण रूप से मान्य रक्खा जो पिछले सभी न्याय वैशेषिक शास्त्रों में समानरूप से मान्य है। इस न्याय-वैशेषिक की परम्परा के अनुसार प्रमाणसामान्यलक्षण में मुख्यतया तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं–

१–कारणदोष के निवारण द्वारा कारणशुद्धि की सूचना।

२–विषयबोधक अर्थ पद का लक्षण में प्रवेश।

३–लक्षण में स्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का अभाव तथा विषय की अपूर्वता–अनधिगतता के निर्देश का अभाव।

यद्यपि प्रभाकर[4] और उनके अनुगामी मीमांसक विद्वानों ने 'अनुभूति' मात्र को ही प्रमाणरूप से निर्दिष्ट किया है तथापि कुमारिल एवं उनकी परम्परावाले अन्य मीमांसकों ने न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओं का समाहक ऐसा प्रमाण का लक्षण रचा[5] है, जिसमें 'अदुष्टकारणारब्ध' विशेषण से कणादकथित कारणदोष का निवारण सूचित किया और निर्बाधत्व तथा 'अपूर्वार्थत्व' विशेषण के द्वारा बौद्ध[6] परम्परा का भी समावेश किया।

---

१ 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः' –न्यायभा० १.१.३.

२ 'उपलब्धिमात्रस्य अर्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाणशब्देन अभिधानात्'–तात्पर्य० पृ० २१.

३ "यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते॥"–न्यायकु० ४.१.५.

४ "अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्"–बृहती १.१.५.

५ "औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते। अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता॥ सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा॥" –श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०-११. "एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्" –शास्त्रदी० पृ० १२३. 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः'–सि० चन्द्रो० पृ० २०.

६ "अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।"–प्रमाणस० टी० पृ० ११

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

यह श्लोक कुमारिलकर्तृक माना जाता है। इसमें दो बातें खास ध्यान देने की हैं—

१—लक्षण में अनधिगतबोधक 'अपूर्व' पद का अर्थविशेषणरूप से प्रवेश।

२—स्व-परप्रकाशत्व की सूचना का अभाव।

बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग[1] ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में 'स्वसंवित्ति' पद का फल के विशेषणरूप से निवेश किया है। धर्मकीर्ति[2] के प्रमाणवार्तिकवाले लक्षण में वात्स्यायन के 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' का सूचक तथा कुमारिल आदि के निर्बाधत्व का पर्याय 'अविसंवादित्व' विशेषण देखा जाता है और उनके न्यायबिन्दुवाले लक्षण में दिङ्नाग के अर्थसारूप्य का ही निर्देश है (न्यायबि० १. २)। शान्तरक्षित के लक्षण में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों के आशय का संग्रह देखा जाता है—

"विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥"—तत्त्वसं० का० १३४४

इसमें भी दो बातें खास ध्यान देने की हैं—

१—अभी तक अन्य परम्पराओं में स्थान नहीं प्राप्त 'स्वसंवेदन' विचार का प्रवेश और तद्द्वारा ज्ञानसामान्य में स्व-परप्रकाशत्व की सूचना।

असङ्ग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद स्थापित किया। पर दिङ्नाग ने उसका समर्थन बड़े जोरों से किया। उस विज्ञानवाद की स्थापना और समर्थनपद्धति में ही स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त स्फुटतर हुआ जिसका एक या दूसरे रूप में अन्य दार्शनिकों पर भी प्रभाव पड़ा—देखो Buddhist Logic I. P. 12.

२—मीमांसक की तरह स्पष्ट रूप से 'अनधिगतार्थक' ज्ञान का ही प्रामाण्य।

श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों जैन परम्पराओं के प्रथम तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अपने[3] अपने लक्षण में स्व-परप्रकाशार्थक 'स्व-पराभासक' विशेषण का समान रूप से निवेश किया है। सिद्धसेन के लक्षण में 'बाधविवर्जित' पद उसी अर्थ में है जिस अर्थ में मीमांसक का 'बाधवर्जित' या धर्मकीर्ति का 'अविसंवादि' पद है। जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंक[4]

---

१ "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥"—प्रमाणस० १. १०

२ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः । अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥" प्रमाणवा० २. १

३ "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।"—न्याया० १. "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।"—आप्तमी० १०१. "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"—बृ० स्वयं० ६३.

४ "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।"—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५. तदुक्तम्—"सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः । तत् प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् ॥" न्यायवि० टी० लि० पृ० ३०. उक्त कारिका सिद्धिविनिश्चय की है जो अकलंक की ही कृति है।

ने कहीं 'अनधिगतार्थक' और 'अविसंवादि' दोनों विशेषणों का प्रवेश किया और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है। अकलंक के अनुगामी माणिक्यनन्दी[1] ने एक ही वाक्य में 'स्व' तथा 'अपूर्वार्थ' पद दाखिल करके सिद्धसेन-समन्तभद्र की स्थापित और अकलंक के द्वारा विकसित जैन परम्परा का संग्रह कर दिया। विद्यानन्द[2] ने अकलंक तथा माणिक्यनन्दी की उस परंपरा से अलग होकर केवल सिद्धसेन और समन्तभद्र की व्याख्या का अपने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' जैसे शब्द में संगृहीत किया और 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो अकलंक और माणिक्यनन्दी की व्याख्या में हैं, उन्हें छोड़ दिया। विद्यानन्द का 'व्यवसायात्मक' पद जैन परम्परा के प्रमाणलक्षण में प्रथम ही देखा जाता है पर वह अक्षपाद[3] के प्रत्यक्षलक्षण में तो पहिले ही से प्रसिद्ध रहा है। सन्मति के टीकाकार अभयदेव[4] ने विद्यानन्द का ही अनुसरण किया पर 'व्यवसाय' के स्थान में 'निर्णीति' पद रक्खा। वादी[5] देवसूरि ने तो विद्यानंद के ही शब्दों को दोहराया है। आ० हेमचन्द्र ने उपर्युक्त जैन-जैनेतर भिन्न भिन्न परंपराओं का औचित्य अनौचित्य विचार कर अपने लक्षण में केवल 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद रक्खे। उपर्युक्त जैन परम्पराओं को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में काट-छाँट के द्वारा संशोधन किया है। उन्होंने 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों ने लक्षण में सन्निविष्ट किया था, निकाल दिया। 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदों को स्थान न देकर अभयदेव के 'निर्णीति' पद के स्थान में 'निर्णय' पद दाखिल किया और उमास्वाति धर्मकीर्ति तथा भासर्वज्ञ के सम्यक्[6] पद को अपनाकर अपना 'सम्यगर्थनिर्णय' लक्षण निर्मित किया है।

तात्त्विक तात्पर्य में कोई खास मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्यों के प्रमाणलक्षण में शाब्दिक भेद है जो किसी अंश में विचारविकास का सूचक और किसी अंश में तत्कालीन भिन्न भिन्न साहित्य के अभ्यास का परिणाम है। यह भेद संक्षेप में चार विभागों में समा जाता है। पहिले विभाग में 'स्व-परावभास' शब्दवाला सिद्धसेन-समन्तभद्र का लक्षण आता है जो संभवतः बौद्ध विज्ञानवाद के स्व परसंवेदन की विचार छाया से खाली नहीं है क्योंकि इसके पहिले आगम ग्रन्थों में यह विचार नहीं देखा जाता। दूसरे विभाग में अकलंक-माणिक्यनन्दी का लक्षण आता है जिसमें 'अविसंवादि', 'अनधिगत' और 'अपूर्व' शब्द आते हैं जो असंदिग्ध रूप से बौद्ध और मीमांसक ग्रन्थों के ही हैं। तीसरे

---

१ "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।"–परी० १. १.

२ "तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥"–तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७७. प्रमाणप० पृ० ५३

३ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"–न्याय सू० १. १. ४

४ "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।"–सन्मतिटी० पृ० ५१८.

५ "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।"–प्रमाणन० १. २.

६ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"–तत्त्वार्थ० १. १ "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः।"–न्यायबि० १. १ "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्।"–न्यायसार पृ० १.

विभाग में विद्यानन्द, अभयदेव और देवसूरि के लक्षण का स्थान है जो वस्तुतः सिद्धसेन समन्तभद्र के लक्षण का शब्दान्तर मात्र है पर जिसमें अवभास के स्थान में 'व्यवसाय' या 'निर्णीति' पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। अन्तिम विभाग में मात्र आ० हेमचन्द्र का लक्षण है जिसमें 'स्व', 'अपूर्व', 'अनधिगत' आदि सब हटाकर परिष्कार किया गया है।

पृ० २ पं० २१ 'प्रसिद्धानुवादेन'–लक्षण के प्रयोजन की विभिन्न चर्चाओं के अन्तिम तात्पर्य में कोई भेद नहीं जान पड़ता तथापि उनके ढंग जुदे जुदे और बोधप्रद हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक शास्त्र हैं और दूसरी ओर बौद्ध तथा जैनशास्त्र हैं। सभी न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों[1] में लक्षण का प्रयोजन 'इतरभेदज्ञापन' बतलाकर लक्षण को 'व्यतिरेकिहेतु' माना है और साथ ही 'व्यवहार' का भी प्रयोजक बतलाया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर ने प्रसिद्ध का अनुवाद करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षण का प्रयोजन विस्तार से प्रतिपादित किया है जिसका[2] देवसूरि ने बड़े विस्तार तथा आटोप के साथ निरसन किया है। अकलंक[3] का झुकाव व्यावृत्ति को प्रयोजन मानने की ओर है परन्तु आ० हेमचन्द्र ने धर्मोत्तर के कथन का आदर करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षणार्थ बतलाया है।

पृ० २ पं० २१. 'भवति हि'–हेमचन्द्र ने इस जगह जो 'लक्ष्य' को पक्ष बना कर 'लक्षण' सिद्ध करनेवाला 'हेतुप्रयोग' किया है वह बौद्ध-जैन ग्रन्थों में एक सा है।

---

१ 'तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्'–न्यायभा० १. १. २. "लक्षणस्य इतरव्यवच्छेदहेतुत्वात्"– न्यायवा० १. १. ३. "लक्षणं नाम व्यतिरेकिहेतुवचनम्। तद्धि समानासमानजातीयेभ्यो भिन्दत् तत्त्वं व्यवस्थापयति"–तात्पर्य १. १. ३. "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः"–न्यायम० पृ ६५. "लक्षणस्य व्यवहारमात्रसाधनतया समानासमानजातीयव्यवच्छेदमात्रसाधनत्वेन चान्याव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारेणार्थवत्त्वात्"–कन्दली० पृ० ८. 'व्यावर्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तौ अभिधेयत्वादौ च अतिव्याप्तिपरिहाराय तद्भिन्नत्व समभिव्याहृतं देयम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्, व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्।"–दीपिका पृ० ११. "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।"–तर्कदी० गंगा पृ० १५. "ननु लक्षणमिदं व्यतिरेकिलिङ्गमितरभेदसाधकं व्यवहारसाधकं वा।"–वै० उप० २. १. १.

२ "तत्र प्रत्यक्षमनूद्य कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च विधीयते। यत्तज्ज्ञानमस्मादर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रसिद्धं तत्कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम्। न पुनरन्यत् कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं वेदप्रसिद्धं किमप्यस्ति प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्प्रत्यक्षशब्दवाच्यं तदनूद्यतेति ?। यस्मादिन्द्रियाश्रितमव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां सिद्धं तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्वविधिः।" न्यायबि० टी० १. ४. "अत्राह धर्मोत्तरः—लक्ष्यलक्षणव्यवस्थाभिधानात्मके लक्ष्यमनूद्य लक्षणमेव विधीयते। लक्ष्यं हि प्रसिद्धं भवति तदवश्यमनुवाद्यम्, लक्षणं पुनः अप्रसिद्धमिति तद्विधेयम्। अज्ञातज्ञापनं विधिरिति विधिलक्षणात्। सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे लक्ष्यमनूद्य लक्षणमेव विधीयत इति; तदेतदयुक्तम्, लक्षणप्रणयनस्यापि प्रतिविहितं हि न सिद्धानि कुतश्चनाप्यज्ञानतर्जनकल्पनो विधिप्रतिषेधः निष्पन्नेन।"–स्याद्वादर० पृ० २

३ "परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।" तत्त्वार्थरा० पृ० ८२

और 'विशेष' को 'पक्ष' बनाकर 'सामान्य' को 'हेतु' बनाने की युक्ति भी एक जैसी है[१]।

पृ० ३ पं० ९ 'तत्र निर्णयः'–तुलना–"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"–न्यायसू० १. १. ४१।

पृ० ३ पं० ३ 'अर्यते अर्थ्यते'–प्रमेय–अर्थ के प्रकार के विषय में दार्शनिकों का मतभेद है। न्याय-वैशेषिक परम्परा के सभी प्रधान आचार्यों[२] का मत हेय-उपादेय उपेक्षणीय रूप से तीन प्रकार के अर्थ मानने का है। बौद्ध धर्मोत्तर[३] उपेक्षणीय को हेय में अन्तर्भावित करके दो ही प्रकार का अर्थ मानता है जिसका शब्दशः अनुसरण दिगम्बर तार्किक प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनंदी के सूत्र का यथाश्रुत अर्थ करके किया है। देवसूरि की सूत्ररचना में तो माणिक्यनन्दी के सूत्र की यथावत् छाप है फिर भी स्वोपज्ञ व्याख्या में देवसूरि ने धर्मोत्तर के मत को प्रभाचन्द्र की तरह स्वीकार न करके त्रिविध अर्थ माननेवाले न्याय-वैशेषिक पक्ष का ही स्वीकार किया है[४] जैसा कि सन्मतिटीकाकार (पृ० ४१६) ने किया है।

---

१ "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः"–प्रमाणप० पृ० १. न्यायकुमु० लि० पृ० ३१. प्रमेयक० १. १. 'तत्सम्यग्ज्ञानाधिकस्य प्रमाणत्वाख्यस्य हेतोः सद्भावात्। ननु यदेव प्रमाणं धर्मित्वेनात्र निर्देशि कथं तस्यैव हेतुत्वमुपपन्नमिति चेत्, ननु किमस्य हेतुत्वानुपपत्तौ निमित्तम्–किं धर्मित्वहेतुत्वयोर्विरोधः? किं वा प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्? अन्यथाऽनन्वयत्वम्? तथाहि यदेवंविधं धर्माधारमधिकरणं धर्मी तदधिकरणस्तु धर्मः। ततो यदत्र प्रमाणं धर्मि कथं हेतुः? च चेत् कथं धर्मि, हेतोर्धर्मत्वात् धर्मधर्मिणोरैक्यानुपपत्तेः?। तदयुक्तम्। विशेषं धर्मिणं विधाय सामान्यं हेतुमभिदधतां दोषासम्भवात्। प्रमाणं हि प्रत्यक्षपरोक्षव्यक्तिलक्षणं धर्मि। प्रमाणत्वसामान्यं हेतुः। ततो नात्र सर्वथैक्यम्। कथञ्चिदैक्यं तु भवदपि न धर्मधर्मिभावं विरुणद्धि। प्रत्युत तत्त्वेनोपकल्पमेव, तदन्तरेण धर्मधर्मिभावेऽतिप्रसङ्गात्।"–स्याद्वादर० पृ० ४१-४२. प्रमेयर० १. १. "ननु प्रत्यक्षविशेषो धर्मी सामान्यं साधनमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशता"–प्रमाणवार्तिकालङ्कार पृ० ६२।

२ "अप्रतीयमानमर्थं कस्मान्निजिज्ञासते?। तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्ये उपेक्षिष्ये वेति। ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते"–न्यायभा० १. १. ३२. "पुरुषापेक्षया तु प्रामाण्ये अन्यतरकारणविज्ञानस्य पुरुषानपेक्षितस्य अप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चाविदमीयस्तथा तत्त्वस्य हेयतया तदपि पुरुषस्यापेक्षितम् तस्योपेक्षणीयविषयत्वात्। न चोपेक्षणीयमपि अनुपादेयत्वात् हेयमिति निपतमिष्यते" (१. १. १. पृ० १. १)–तात्पर्य० पृ० २१. न्यायम० पृ० २५. "प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनम्। गुणदर्शनमुपादेयत्वज्ञानम्, दोषदर्शनं हेयत्वज्ञानम्, माध्यस्थ्यदर्शनं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञानं प्रमितिः।"–कन्दली पृ० १९८।

३ "पुरुषस्यार्थः अर्थ्यत इत्यर्थः काम्यत इति यावत्। हेयोऽर्थ उपादेयो वा। हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते उपादेयोऽप्युपादातुम्। न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वात् हेय एव"–न्यायबि० टी० १. १।

४ "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्"–परी० १. २. "अर्थ्यते अभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च। उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वात् हेयत्वम्, उपादानक्रियां प्रति अकर्मभावात् नोपादेयत्वम्, हानक्रियां प्रति विपर्ययात् तत्त्वम्। तथा च लोको वदति–अहमनेन उपेक्षणीयत्वेन परित्यक्त इति"–प्रमेयक० पृ० २ A. "अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम् अतो

आ० हेमचन्द्र ने भी उसी त्रिविध अर्थ के पक्ष को ही लिया है पर उसके स्थापन में नई युक्ति का उपयोग किया है।

पृ० १ पं० ४ 'न चानुपादेयः'—तुलना—"ननु कोऽयमुपेक्षणीयो नाम विषयः ? । स हि उपेक्षणीयत्वादेव नोपादीयते चेत्, न तर्हि हेय एव, अनुपादेयत्वादिति। नैतद् युक्तम्, उपेक्षणीयविषयस्य स्वसंवेद्यत्वेन प्रसिद्धत्वात्।

हेयोपादेययोरस्ति दुःखप्रीतिनिमित्तता ।
यत्नेन हानोपादाने भवतस्तत्र देहिनाम् ॥
यत्नसाध्यद्वयाभावादुभयस्यापि साधनात् ।
ताभ्यां विसदृशं वस्तु स्वसंविदितमस्ति नः ॥
उपादेये च विषये दृष्टे रागः प्रवर्तते ।
इतरत्र तु विद्वेषस्तत्रोभावपि दुर्लभौ ॥

यत्तु अनुपादेयत्वात् हेय एवेति तदभ्यधायकम्, न ह्येवं भवति यदेतद् नपुंसकं स पुमान् अस्त्रीत्वात्। स्त्री वा अपुंस्त्वादिति। स्त्रीपुंसाभ्यामन्यदेव नपुंसकम्, तथो पलभ्यमानत्वात्। एवमुपेक्षणीयोऽपि विषयो हेयोपादेयाभ्यामर्थान्तरम्, तथोपलम्भादिति।

यच्चैतत् तृणपर्णादि यत्रास्ति पथि गच्छतः ।
न चीरवस्त्रादिवत् तत्र न च काकोदरादिवत् ॥"—न्यायम० पृ० २४ उ०.

पृ० २ पं० ६ 'सम्यग्'—तुलना—'तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः समञ्चतेर्वा भावः'—तत्त्वार्थभा० १.१.

पृ० २ पं० ११ 'समय'—तुलना—

"संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् ।
न शैत्येन न चौष्ण्येन वह्निः क्वापि विशिष्यते ॥"—तन्त्रवा० पृ० २ ८.
"संभवव्यभिचाराभ्यां विशेषणविशेष्ययोः ।
दृष्टं विशेषणं लोके यथेहापि तथेष्यताम् ॥"—तत्त्वा० वा० पृ० २. १२.
"संभवे व्यभिचारे च विशेषणं युक्तम्—"न्यायवि० टी० लि० पृ० ११.

पृ० २ पं० १६ 'न चासावसन्'—आ० हेमचन्द्र ने 'स्वप्रकाशत्व' के स्थापन और ऐकान्तिक परप्रकाशकत्व' के खंडन में बौद्ध प्रभाकर वेदान्त आदि सभी 'स्वप्रकाशवादियों' की युक्तियों का संग्राहक उपयोग किया है।

ज्ञानमेवेदम्' प्रमाणम् १.१। "अभिमतानभिमतयोरुपलक्षणत्वादभिमतानभिमताभ्यामन्यस्य च उपेक्षणीयोऽप्यर्थो लक्षितः। रागगोचरः अभिमतः। द्वेषविषयोऽनभिमतः। रागद्वेषद्वितयाभावात्तु तृणादिरुपेक्षणीयः। तस्य चोपेक्षा प्रमाणं तदुपेक्षायां समर्थमिष्यते ॥ —स्याद्वादर० १.२।

पृ० ३ पं० १६ 'घटमहं जानामि'–तुलना–"घटमहमात्मना वेद्मि । कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ।"–परी० १. ८, ९

पृ० ३ पं० १७ 'न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्य'–तुलना–"तदाह–धर्मकीर्तिः 'अप्रत्यक्षो०' न्यायवि० टी० लि० पृ० १९ B पृ० ५४२ B "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" तत्त्वसं० का० २०७४

पृ० ३ पं० २२ 'तस्माद्‌र्थोन्मुख'–तुलना–"स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः । अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।" परी० १. ६, ७

पृ० ४ पं० १० 'स्वनिर्णय'–आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों के लक्षण में वर्तमान है उसे जब नहीं रक्खा तब उनके सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या प्राचीनआचार्यसंमत 'स्वप्रकाशत्व' इष्ट न होने से 'स्व'पद का त्याग करते हो या अन्य किसी दृष्टि से ? । इसका उत्तर उन्होंने इस सूत्र में दिया कि ज्ञान तो 'स्वप्रकाश' ही है पर व्यावर्तक न होने से लक्षण में उसका प्रवेश अनावश्यक है । ऐसा करके अपना विचारस्वातंत्र्य उन्होंने दिखाया और साथ ही वृद्धों का खण्डन न करके 'स्व'पदप्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया ।

पृ० ४ पं० १५ 'ननु च परिच्छिन्नमर्थम्'–तुलना–'अधिगतमर्थमधिगमयता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात् ।"–न्यायवा० पृ० ५.

पृ० ४ पं० १६ 'धारावाहिज्ञानानाम्'–भारतीय प्रमाणशास्त्रों में 'स्मृति' के प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा प्रथम से ही चली आती देखी जाती है पर धारावाहिक ज्ञानों के प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा संभवतः बौद्ध परम्परा से धर्मकीर्ति के बाद दाखिल हुई । एक बार प्रमाणशास्त्रों में प्रवेश होने के बाद तो फिर वह सर्वदर्शनव्यापी हो गई और इसके पक्ष-प्रतिपक्ष में युक्तियाँ तथा वाद स्थिर हो गये और खास-खास परम्पराएँ बन गईं ।

वाचस्पति श्रीधर जयन्त उदयन आदि सभी[1] न्याय-वैशेषिक दर्शन के विद्वानों ने धारावाहिक ज्ञानों को अधिगतार्थक कहकर भी प्रमाण ही माना है और उनमें सूक्ष्मकाल कला के भान का निषेध ही किया है । अतएव उन्होंने प्रमाण लक्षण में 'अनधिगत' आदि पद नहीं रक्खे ।

---

१ अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे । न च कालभेदेनानधिगतगोचरत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम् । परम सूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात् । न चाद्येनैव विज्ञानेनोपदर्शितत्वादर्थस्य प्रवर्तितत्वात् पुरुषस्य प्रापितत्वाच्चोत्तरेषामप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम् । नहि विज्ञानस्यार्थप्रापणं प्रवर्तनादन्यत्, न च प्रवर्तनमर्थप्रदर्शनादन्यत् । तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्तकं प्रापकं च । प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि ? । –तात्पर्य० पृ० २१ कन्दली पृ० ६१ न्यायम० पृ० २२. न्यायकु० ४. १ ।

मीमांसक की प्रभाकरीय और कुमारिलीय दोनों परम्पराओं में भी धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। पर दोनों में उसका समर्थन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। प्रभाकरानुगामी शालिकनाथ[1] 'कालकला' का भान बिना माने ही 'अनुभूति' होने मात्र से उन्हें प्रमाण कहते हैं, जिस पर न्याय-वैशेषिक परम्परा की छाप स्पष्ट है। कुमारिलानुगामी पार्थसारथि[2], 'सूक्ष्मकालकला' का भान मानकर ही उनमें प्रामाण्य का उपपादन करते हैं क्योंकि कुमारिलपरम्परा में प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद होने से ऐसी कल्पना बिना किये 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य का समर्थन किया नहीं जा सकता। इस पर बौद्ध और जैन कल्पना की छाप जान पड़ती है।

बौद्ध परम्परा में यद्यपि धर्मोत्तर[3] ने स्पष्टतया 'धारावाहिक' का उल्लेख करके तो कुछ नहीं कहा है, फिर भी उसके सामान्य कथन से उसका झुकाव 'धारावाहिक' को अप्रमाण मानने का ही जान पड़ता है। हेतुबिन्दु की टीका में अर्चट[4] ने 'धारावाहिक' के विषय में अपना मन्तव्य प्रसंगवश स्पष्ट बतलाया है। उसने योगिगत 'धारावाहिक' ज्ञानों को तो 'सूक्ष्म कालकला' का भान मानकर प्रमाण कहा है। पर साधारण प्रमाताओं के धारावाहिकों को सूक्ष्मकालभेदग्राहक न होने से अप्रमाण ही कहा है। इस तरह बौद्ध परम्परा में प्रमाता के भेद से 'धारावाहिक' के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का स्वीकार है।

---

१ "धारावाहिकेषु तर्हि उत्तरविज्ञानानि स्मृतिप्रमोषाविशिष्टानि कथं प्रमाणानि ? । तत्राह–अन्योन्यनिरपेक्षास्तु धारावाहिकबुद्धयः । व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता ।"–प्रकरणप० पृ० ४२-४३. बृहतीप० पृ० १०३.

२ "ननु एवं धारावाहिकेषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात् । तस्मात् 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणम् । तस्मात् यथार्थमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति वक्तव्यम् । धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्याग्रहीतस्य ग्रहणात् युक्तं प्रामाण्यम् । ननु कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृश्यत इति चेत् ; अहो सूक्ष्मदर्शी देवानांप्रियः । यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायोत्थितः सोऽनन्तरक्षणसम्बन्धितमर्थं स्मरति । तथाहि–किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति–अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति । तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति । कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत् । तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः । तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम् ।"–शास्त्रदी० पृ० १२४–१२६.

३ "अत एव अनधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम् । ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम् ।"–न्यायबि० टी० पृ० ३

४ "यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः । न चैवम् अतोऽनेकान्त इति प्रमाणसंप्लववादी दर्शयन्नाह–पूर्वप्रत्यक्षक्षणेन इत्यादि । एतत् परिहरति–तद् यदि प्रतिक्षणं क्षणविवेकदर्शिनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नोपयोगितया पृथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः । अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषानभिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकामध्यवसन्नीति प्रामाण्यमप्युत्तरेषामनिच्छन्तीति कुतोऽनेकान्तः ।"–हेतु० टी० लि० पृ० ३१B–४१A

जैन तर्कग्रन्थों में 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य अप्रामाण्य के विषय में दो परम्पराएँ हैं–दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'धारावाहिक' ज्ञान तभी प्रमाण हैं जब वे क्षणभेदादि विशेष का भान करते हों और विशिष्टप्रमाजनक होते हों। जब वे ऐसा न करते हों तब प्रमाण नहीं हैं। इसी तरह उस परम्परा के अनुसार यह भी समझना चाहिए कि विशिष्टप्रमाजनक होते हुए भी 'धारावाहिक' ज्ञान जिस द्रव्यांश में विशिष्टप्रमाजनक नहीं हैं उस अंश में वे अप्रमाण और विशेषांश में विशिष्टप्रमाजनक होने के कारण प्रमाण हैं अर्थात् एक ज्ञान व्यक्ति में भी विषय भेद की अपेक्षा से प्रामाण्याप्रामाण्य है। अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी के अनुगामी प्रभाचन्द्र के टीकाग्रन्थों का पूर्वापर अवलोकन उक्त नतीजे पर पहुँचाता[1] है। क्योंकि अन्य सभी जैनाचार्यों की तरह निर्विवाद रूप से 'स्मृतिप्रामाण्य' का समर्थन करनेवाले अकलङ्क और माणिक्यनन्दी अपने-अपने प्रमाण लक्षण में जब बौद्ध और मीमांसक के समान 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद रखते हैं तब उन पदों की सार्थकता उक्त तात्पर्य के सिवाय और किसी प्रकार से बतलाई ही नहीं जा सकती चाहे विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र का स्वतन्त्र मत कुछ भी रहा हो।

बौद्ध[2] विद्वान् विकल्प और स्मृति दोनों में, मीमांसक स्मृति मात्र में स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं मानते। इसलिए उनके मत में तो 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद का प्रयोजन स्पष्ट है। पर जैन परम्परा के अनुसार वह प्रयोजन नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा के सभी विद्वान् एक मत से धारावाहिज्ञान को स्मृति की तरह प्रमाण मानने के ही पक्ष में हैं। अतएव किसी ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अनधिगत' 'अपूर्व' आदि जैसे पद को स्थान ही नहीं दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने स्पष्टरूपेण यह कह दिया कि चाहे ज्ञान गृहीतग्राही हो तब भी वह अगृहीतग्राही के समान ही प्रमाण है। उनके विचारानुसार गृहीतग्राहित्व प्रामाण्य का विघातक नहीं, अतएव उनके मत से एक धारावाहिक ज्ञानव्यक्ति में विषयभेद की अपेक्षा से प्रामाण्य अप्रामाण्य मानने की जरूरत नहीं और न तो कभी किसी को अप्रमाण मानने की जरूरत है।

---

१ "गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥"–तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७८। "प्रमाणान्तरबाधितार्थप्रकाशित्वं प्रपञ्चतः। प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेऽपि कथंचन ॥"–तत्त्वार्थश्लो० १. १३. ४४। "गृहीतग्रहणात् तत्र न स्मृतेश्चेदप्रमाणता। धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा ॥"–तत्त्वार्थश्लोकवा० १. १३. ४५. 'नन्वेवमपि प्रमाणसंप्लववादिताव्याघातः प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तरप्रतिपत्तिरित्यपेयम्। अर्थपरिच्छित्तिविशेषसद्भावे तत्प्रवृत्तेरभ्युपगमात्। प्रथमप्रमाणप्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेषं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमपूर्वार्थमेव दृष्टो व्यामोह इत्यादिवत्।'–प्रमेयक० पृ० १६।

२ "यद् गृहीतग्राहि ज्ञानं न तत्प्रमाणं, यथा स्मृतिः, गृहीतग्राही च प्रत्यक्षानन्तरभावी विकल्प इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः"–तत्त्वसं० प० का० १२९८।

श्वेताम्बर आचार्यों में भी आ० हेमचन्द्र की ख़ास विशेषता है क्योंकि उन्होंने गृहीत ग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही दोनों का समत्व दिखाकर सभी धारावाहिकज्ञानों में प्राभाण्य का जो समर्थन किया है वह ख़ास मार्के का है।

पृ० ४ पं० १८ 'तत्रापूर्वार्थ'–तुलना–देखो टी० टि० पृ० ८७

पृ० ४ पं० १६ 'ग्रहीष्यमाण'–'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो धर्मोत्तर, अकलंक, माणिक्यनन्दी आदि के लक्षणवाक्य में है उसको आ० हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में जब स्थान नहीं दिया तब उनके सामने यह प्रश्न आया कि 'धारावाहिक' और 'स्मृति' आदि ज्ञान जो अधिगतार्थक या पूर्वार्थक हैं और जिन्हें अप्रमाण समझा जाता है उनको प्रमाण मानते हो या अप्रमाण ? । यदि अप्रमाण मानते हो तो सम्यगर्थनिर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। अतएव 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद लक्षण में रखकर 'अतिव्याप्ति' का निरास क्यों नहीं करते ? । इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में आ० हेमचन्द्र ने उक्त ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार करके ही दिया है। इस सूत्र की प्रासादिक और अर्थपूर्ण रचना हेमचन्द्र की प्रतिभा और विचारविशदता की द्योतिका है। प्रस्तुत अर्थ में इतना संक्षिप्त, प्रसन्न और सयुक्तिक वाक्य अभी तक अन्यत्र देखा नहीं गया।

पृ० ४ पं० २० 'द्रव्यापर्यायात्मा'–यद्यपि न्यायावतार की टीका में सिद्धर्षि ने[1] भी अन धिगत विशेषण का खण्डन करते हुए द्रव्यपर्याय रूप से यहाँ जैसे ही विकल्प उठाये हैं तथापि वहाँ आठ विकल्प होने से एक तरह की जटिलता आ गई है। आ० हेमचन्द्र ने अपनी प्रसन्न और संक्षिप्त शैली में दो विकल्पों के द्वारा ही सब कुछ कह दिया है। तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ के अवलोकन से और आ० हेमचन्द्र के द्वारा किये गये उसके अभ्यास के अनुमान से एक बात कल्पना में आती है। वह यह कि प्रस्तुत सूत्रगत युक्ति और शब्दरचना दोनों के स्फुरण का निमित्त शायद आ० हेमचन्द्र पर पड़ा हुआ तत्त्वोपप्लव का प्रभाव ही हो।

पृ० ५ पं० ७ 'अनुभयत्र'–संशय के उपलब्ध लक्षणों को देखने से जान पड़ता है कि कुछ तो कारणमूलक हैं और कुछ स्वरूपमूलक। कणाद, अक्षपाद और किसी बौद्ध विशेष के

---

१ 'तथापि सोऽधिगम्योऽर्थः किं द्रव्यम्, उत पर्यायो वा द्रव्यविशिष्टपर्यायः पर्यायविशिष्टं वा द्रव्यमिति तथा किं सामान्यम्, उत विशेषः आहोस्वित् सामान्यविशिष्टो विशेषः, विशेषविशिष्टं वा सामान्यम् इत्यष्टौ पक्षाः ।' न्याया० सि० टी० पृ० १३

२. 'अन्ये तु अनधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रमाणलक्षणमभिदधति, ते त्वयुक्तवादिनो द्रष्टव्याः । कथमयुक्तवादिता तेषामिति चेत्, उच्यते–विभिन्नकारकोत्पादितैकार्थविज्ञानानां यथार्थत्वस्यैकार्थप्रतीतिरूपत्वाविशेषेऽपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यं नोत्तरस्य इत्यत्र नियामकं वक्तव्यम् । अथ यथार्थस्वकार्यप्रतीतिरूपत्वाविशेषेऽपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यमुत्तरपत न प्रथमोत्पन्नविज्ञानस्य, तदा अनेनैव न्यायेन प्रथमस्याप्रामाण्यं प्राप्नोति, तदीयार्थमाहित्वाविशेषात् ।' –तत्त्वो० लि० पृ० १०

लक्षण कारणमूलक¹ है। देवसूरि का लक्षण कारण और स्वरूप उभयमूलक² है जब कि आ० हेमचन्द्र के इस लक्षण में केवल स्वरूप का निदर्शन है, कारण का नहीं।

पृ० ४ पं० ६ 'साधकबाधक'—तुलना—"साधकबाधकप्रमाणाभावात् तत्र संशीति-" लघी० स्ववि० १. ४ अष्टश० का० ३ "सेयं साधकबाधकप्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मोपलब्धिविमर्शपदवाच्यविशेषस्मृत्या सहायिनश्वपदवाच्यैकस्मिन् क्षणे भवतो संशयज्ञानस्य हेतुरिति सिद्धम्।"—तात्पर्य० १. १. २३ "न हि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ"—न्यायकु० पृ० ८.

पृ० ४ पं० १३ 'सिंशपा'—प्रत्यक्ष अनुमान उभय विषय में अनध्यवसाय का स्वरूप बतलाते हुए प्रशस्तपाद ने लिखा है कि—

"अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते। तत्र प्रत्यक्षविषये तावत् प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति। तत्र सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्त्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसायो भवति। पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव केवलं तूपदेशाभावाद्विशेषसंज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति। अनुमानविषयेऽपि नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति।"—प्रशस्त० पृ० १८२

इसी के विवरण में श्रीधर ने कहा है कि—"सेयं संज्ञाविशेषानवधारणात्मिका प्रतीतिरनध्यवसायः।"—कन्दली पृ० १८३

आ० हेमचन्द्र के लक्षण में वही भाव सन्निविष्ट है।

पृ० ५ पं० १४—'परेषाम्'—तुलना—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्" प्रमाणसमु० १. १ "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्।"—न्यायप्र० पृ० ७ "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"—न्यायबि० १. ४

पृ० ५ पं० १७ 'अतस्मिन्'—आ० हेमचन्द्र का प्रस्तुत लक्षण कणाद³ के लक्षण की तरह कारणमूलक नहीं है पर योगसूत्र और प्रमाणनयतत्त्वालोक के लक्षण की तरह स्वरूपमूलक⁴ है।

---

1 "सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः" "दृष्टं च दृष्टवत्" "यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च" "विद्याविद्यातश्च संशयः"—वैशे० सू० २. २. १७-२०. "समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"—न्यायसू० १. १. २३. "अन्ये तु अन्यथा व्याचक्षते—साधर्म्यवचनाद्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति"—न्यायभा०—१. १. २३ "[illegible]।" तात्पर्य० १. १. २३

2. "साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः।—प्रमाणन० १. १२.

3 "इन्द्रियदोषात् संस्काराच्चाविद्या" वैशे० सू० ९. २. १०

4 "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।"—योगसू० १. ८ प्रमाणन० १. १०, ११

पृ० ५ पं० १९ 'तिमिराद्युपप्लवात्'—तुलना—"तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।"—न्यायबि० १.६ "तिमिरम् अक्ष्णोर्विप्लवः इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणमलातादेः। मन्दं हि भ्राम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते, तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम्, एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते, एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम्।"—न्यायबि० टी० १.६.

पृ० ५ पं० २७ 'तत्प्रामाण्यं तु'—तुलना—"तथाहि विज्ञानस्य तावत्प्रामाण्यं स्वतो वा निश्चीयेत परतो वा? । न तावत् पूर्वः कल्पः न खलु विज्ञानमात्मसंवेदनमात्मानमपि गृह्णाति प्रागेव तत्प्रामाण्यम्। नापि विज्ञानान्तरम् तत् विज्ञानमिति गृहीतायां पुनरस्याव्यभिचारित्वम्। ज्ञानत्वमात्रं च तदाभाससाधारणमिति न स्वतः प्रामाण्यावधारणम्। एतेन स्वसंवेदनपक्षेऽपि अव्यभिचारग्रहणं प्रत्युक्तम्। नापि परतः। परं हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयेत अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानान्तरम्, तद्गोचरत्वान्तरीयककार्यान्तरदर्शनं वा? । तत्र न स्वतोऽनवधारितप्रामाण्यमाकुलं सत् कथं पूर्वं प्रवर्तकं ज्ञानमनाकुलयेत्? । स्वतो वाऽस्य प्रामाण्ये किमपराद्धं प्रवर्तकज्ञानेन, येन तस्मिन्नपि तन्न स्यात्? । न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्यावेदितम्।"—तात्पर्य० १.१.१

पृ० ६ पं० १ 'प्रामाण्य'—दर्शनशास्त्रों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के 'स्वतः' 'परतः' की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से जान पड़ता है कि इस चर्चा का मूल वेदों के *प्रामाण्य मानने न माननेवाले दो पक्षों में है।* जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानों ने वेद के प्रामाण्य का विरोध किया तब वेदप्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक-मीमांसक विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का समर्थन करना शुरू किया। प्रारम्भ में यह चर्चा 'शब्द'प्रमाण तक ही परिमित रही जान पड़ती है पर एक बार उसके तार्किक प्रदेश में आने पर फिर वह व्यापक बन गई और सब ज्ञान के विषय में प्रामाण्य किंवा अप्रामाण्य के 'स्वतः' 'परतः' का विचार शुरू हो गया[1]।

इस चर्चा में पहिले मुख्यतया दो पक्ष पड़ गये। एक तो वेद अप्रामाण्यवादी जैन बौद्ध और दूसरा वेदप्रामाण्यवादी नैयायिक, मीमांसक आदि। वेदप्रामाण्यवादियों में भी उसका समर्थन भिन्न भिन्न रीति से शुरू हुआ। ईश्वरवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन ने वेद का प्रामाण्य ईश्वरमूलक स्थापित किया। अतः उसमें वेदप्रामाण्य परतः स्थापित किया

१ 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" जैमि० सू० १.१.५. *तस्मात् तत् प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्। न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम् पुरुषान्तरं वापि, स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ।*—शाबरभा० १.१.५ बृहती० १.१.५ "धर्माधर्मनिषेधार्थं नास्त्यतीन्द्रियदर्शनम्। प्रमाणमप्रमाणं वा स्वतः किं परतोऽथवा ॥" श्लोकवा० चोद० श्लो० ३३.

गया तब बाक़ी के प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों का प्रामाण्य भी 'परतः' ही सिद्ध किया गया और समान युक्ति से उनमें अप्रामाण्य को भी 'परतः' ही निश्चित किया। इस तरह प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों परतः ही न्याय-वैशेषिक सम्मत[1] हुए।

मीमांसक ईश्वरवादी न होने से वह तन्मूलक प्रामाण्य तो वेद में कह ही नहीं सकता था। अतएव उसने वेदप्रामाण्य स्वतः मान लिया और उसके समर्थन के वास्ते प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य 'स्वतः' ही स्थापित किया[2]। पर उसने अप्रामाण्य को तो 'परतः' ही माना[3] है।

यद्यपि इस चर्चा में सांख्यदर्शन का क्या मन्तव्य है इसका कोई उल्लेख उसके उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता फिर भी कुमारिल, शान्तरक्षित और माधवाचार्य के कथनों से जान पड़ता है कि सांख्यदर्शन प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों को 'स्वतः' ही माननेवाला रहा[4] है। शायद उसका तद्विषयक प्राचीन साहित्य नष्टप्राय हुआ हो। उक्त आचार्यों के ग्रन्थों में ही एक ऐसे पक्ष का भी निर्देश है जो ठीक मीमांसक से उलटा है अर्थात् वह अप्रामाण्य को 'स्वतः' ही और प्रामाण्य को 'परतः' ही मानता है। सर्वदर्शन संग्रह में–सौगताश्चरमं स्वतः (उक्त पृ० २७६) इस पक्ष को बौद्धपक्ष रूप से वर्णित किया है सही, पर तत्त्वसंग्रह में जो बौद्ध पक्ष है वह बिलकुल जुदा है। संभव है सर्वदर्शनसंग्रहनिर्दिष्ट बौद्धपक्ष किसी अन्य बौद्धविशेष का रहा हो।

शान्तरक्षित ने अपने बौद्ध मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–१–प्रामाण्य अप्रामाण्य उभय 'स्वतः', २–उभय 'परतः', ३–दोनों में से प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः, तथा ४–अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः–इन चार पक्षों में से कोई भी बौद्धपक्ष नहीं है क्योंकि ये चारों पक्ष नियमवाले हैं। बौद्धपक्ष अनियमवादी है अर्थात् प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य दोनों में कोई 'स्वतः' तो कोई 'परतः' अनियम से है। अभ्यासदशा में तो 'स्वतः' समझना चाहिए चाहे प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य। पर अनभ्यासदशा में 'परतः' समझना चाहिए[5]।

---

१ "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"–न्यायभा० पृ० १। तात्पर्य० १ १ १। "किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चापि द्वयमपि स्वतः उत उभयमपि परतः आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति। तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः। विषयमनवधार्यक्रियाज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चय इति। तदिदमुक्तम्। प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमिति। तस्मादप्रामाण्यमपि बाधकप्रत्ययात् द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्।" न्यायम० पृ० १६०-१७४। कन्दली पृ० २१७–२२०। "प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्। तदन्यस्मिन्ननाश्वासात् विधान्तरसम्भवः"–न्यायकु० २. १। तत्त्वचि० प्रत्यक्ष० पृ० १८४–२३३।

२ "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"–श्लोकवा० सू० २, श्लो० ४७।

३ श्लोकवा० सू० २ श्लो० ८५।

४ "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।"–श्लोकवा० सू० २, श्लो० ३४। तत्त्वसं० प० का० २८११, "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।"–सर्वद० जैमि० पृ० २७९।

५ "नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि–उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पक्षान्तरस्य सम्भवात्।"–तत्त्वसं० प० का० ३१२३।

जैन परम्परा ठीक शान्तरक्षितकथित बौद्धपक्ष के समान ही है। वह प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों को अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में 'परतः' मानती है। यह मन्तव्य प्रमाणनयतत्त्वालोक के सूत्र में ही स्पष्टतया निर्दिष्ट है। यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र में प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों का निर्देश न करके परीक्षामुख की तरह केवल प्रामाण्य के स्वतः परतः का ही निर्देश किया है तथापि देवसूरि का सूत्र पूर्णतया जैन परम्परा का द्योतक है। जैसे—'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति।'—परी० १. १३। 'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति'—प्रमाणन० १. २१।

इस स्वतः-परतः की चर्चा क्रमशः यहाँ तक विकसित हुई है कि इसमें उत्पत्ति, ज्ञप्ति और प्रवृत्ति तीनों को लेकर स्वतः परतः का विचार बड़े विस्तार से सभी दर्शनों में आ गया है और यह विचार प्रत्येक दर्शन की अनिवार्य चर्चा का विषय बन गया है। और इस पर परिष्कारपूर्ण तत्त्वचिन्तामणि, गादाधरप्रामाण्यवाद आदि जैसे जटिल ग्रन्थ बन गये हैं।

पृ० ६ पं० १४ 'अदृष्टार्थे तु'—आगम के प्रामाण्य का जब प्रश्न आता है तब उस का समर्थन खास खास प्रकार से किया जाता है। आगम का जो भाग परीक्षात्मक नहीं है उसके प्रामाण्य का समर्थन तो संवाद आदि द्वारा सुकर है पर उसका जो भाग परोक्षार्थक, विशेष परोक्षार्थक है जिसमें प्रमाणों की पहुँच नहीं, उसके प्रामाण्य का समर्थन कैसे किया जाय? यदि समर्थन न हो सके तब तो सारे आगम का प्रामाण्य टूटने लगता है। इस प्रश्न का उत्तर सभी सांप्रदायिक विद्वानों ने दिया है और अपने अपने आगमों का प्रामाण्य स्थापित किया है। मीमांसक ने वेदों का भी प्रामाण्य स्थापित किया है पर वह अपौरुषेयत्व युक्ति से, जब कि उन्हीं वेदों का प्रामाण्य न्याय-वैशेषिक ने अन्य प्रकार से स्थापित किया है।

अक्षपाद ने वेदों का प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य से बतलाया है और उसके दृष्टान्त में वे कहते हैं कि जैसे वेद के एक अंश मन्त्र आयुर्वेद आदि यथार्थ होने से प्रमाण हैं वैसे ही बाकी के अन्य अंश भी समान आप्तप्रणीत होने से प्रमाण हैं—'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।'—न्यायसू० २. १. ६९।

आ० हेमचन्द्र ने आगमप्रामाण्य के सम्बन्ध में अक्षपाद की ही युक्ति का अनुगमन किया है पर उन्होंने मन्त्र आयुर्वेद का दृष्टान्त न बताकर विविधार्थसंवादक ज्योतिर्गणित शास्त्र का ही दृष्टान्त रखा है। जैन आचार्यों का मन्त्र आयुर्वेद को स्वतः स्थापित शास्त्र का आदि किस प्रकार इतिहास में आ दृष्टि जाता है उसके आ० हेमचन्द्र अपवाद नहीं हैं।

यह प्रकार प्राचीन समय में भी कैसा था इसका एक नमूना हमें धर्मकीर्ति के ग्रन्थ में भी प्राप्त है। धर्मकीर्ति के पूर्वकालीन या समकालीन जैन आचार्य अपने पूज्य तीर्थङ्करों में सर्वज्ञत्व का समर्थन ज्योतिर्ज्ञान के उपदेशकत्व हेतु से करते थे। इस मन्तव्य का उल्लेख धर्मकीर्ति ने जैन परम्परा से लेकर आक्षेप या दूषित किया है—यथा

वैधर्म्योदाहरणम्–य: सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्द्धमानादिरिति ।"–न्यायबि० ३. १३१ । इसका ऐतिहासिक अंश अनेक दृष्टि से जैन परम्परा और भारतीय दर्शनों की परम्परा पर प्रकाश डालनेवाला है ।

पृ० ६ पं० १६ 'अर्थोपलब्धिहेतु'–आ० हेमचन्द्र ने प्रमाणसामान्य के लक्षण का विचार समाप्त करते हुए दर्शनप्रसिद्ध खण्डनप्रणाली के अनुसार केवल न्याय बौद्ध परम्परा के तीन ही लक्षणवाक्यों का निरास किया है । पहिले और दूसरे में न्यायमञ्जरी और न्यायसार के मन्तव्य की समीक्षा है । तीसरे में धर्मकीर्ति के मत की समीक्षा है जिसमें शान्तरक्षित के विचार की समीक्षा भी आ जाती है । तुलना–"उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।"–न्यायभा० २. १. ११ । न्यायम० पृ० २६ ।

पृ० ६ पं० १८ 'अथ कर्तृकर्मादि'–तुलना–"अपरं पुनराचार्या–सामग्री नाम समुदितानि कारकाणि तथा द्वैरूप्यमुद्वहन्ति, अथ च तानि पृथगवस्थितानि कर्मादिभावं भजन्ते । अथ च तान्येव समुदितानि करणीभवन्तीति कोऽयं नयः । तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्यप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते । तदेव च तृतीयया व्यपदिश्यते । तस्मात् कर्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणमिति युक्तम् ।"–न्यायम० पृ० १४, १५ ।

पृ० ६ पं० २० 'सांव्यवहारिक'–तुलना–'सांव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणम्, 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति ।"–तत्त्वसं० प० का० १९८७, १९८९ ।

पृ० ६ पं० २८ 'उत्तरकालभाविना'–तुलना–"ननु च यद्यविकल्पकं प्रत्यक्षं कथं तेन व्यवहारः, तथाहि इदं सुखसाधनं इदं दुःखस्येति यदि निश्चिनोति तदा तयोः प्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तते–

"अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् ।
निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥"

तद्द्वारेणेति । विकल्पद्वारेणाविकल्पकमपि निश्चयहेतुत्वेन सकलव्यवहाराङ्गं भवति । तथाहि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि सजातीयविजातीयव्यावृत्तमनन्तादिकमर्थं तदाकारनिर्भासात्मकं परिच्छिन्दद् उत्पद्यते । तत्र नियतरूपव्यवस्थितवस्तुमात्राहिकत्वात् सजातीयव्यावृत्तवस्त्वाकारानुगतत्वात् तत्रैव वस्तुनि विधिप्रतिषेधाविर्भावयति–मनोज्ञोऽयं नाऽमनोज्ञः कुसुमगन्धकादिरिति । तयोरेव विकल्पयोः पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् [वि]संवादित्वेऽपि न प्रामाण्यमिष्टम् । दृष्टविकल्पव्यापारकरणाध्यवसायेन प्रवृत्तेरधिगतवस्तुरूपाधिगमाभावात् ।"–तत्त्वसं० प० का० ११ ६ ।

अ० १ आ० १ सू० ९–१० पृ० ७ जैन परम्परा में ज्ञान यथा दो प्रकार से है–पहला आगमिकविभागाश्रित और दूसरा तार्किकविभागाश्रित । जिसमें मति श्रुत आदि रूप से विभाग करके चर्चा है वह आगमिकविभागाश्रित और जिसमें प्रत्यक्ष आदिरूप से प्रमाणों का

विभाग करके चर्चा है वह तार्किकविभागाश्रित। पहली चर्चा का प्रतिबिंब उदाहरण है आवश्यक निर्युक्ति और दूसरी चर्चा का प्रतिबिंब उदाहरण है न्यायावतार।

जैन परंपरा में प्राचीन और मौलिक चर्चा तो आगमिकविभागाश्रित ही है। तार्किक विभागाश्रित चर्चा जैन परंपरा में कब और किसने सर्वप्रथम दाखिल की इसे निश्चयरूप से कहना अभी संभव नहीं। स्थानाङ्ग और भगवती ये दोनों गणधरकृत समझे जानेवाले ग्यारह अङ्गों में से हैं और प्राचीन भी अवश्य हैं। उनमें यद्यपि तार्किक विभाग का निर्देश स्पष्ट[1] है तथापि यह मानने में कोई विरोध नहीं दीखता कि स्थानाङ्ग-भगवती में वह तार्किक विभाग निर्युक्तिकार भद्रबाहु के बाद ही कभी दाखिल हुआ हो क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति जो भद्रबाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरम्भ ही ज्ञानचर्चा से होता है उसमें आगमिक विभाग है पर तार्किक विभाग का सूचन तक नहीं है। जान पड़ता है निर्युक्ति के समय तक जैन आचार्य यद्यपि ज्ञानचर्चा करते तो थे आगमिक विभाग के द्वारा ही, फिर भी वे दर्शनान्तर प्रतिष्ठित प्रमाणचर्चा से बिलकुल अनभिज्ञ न थे। इतना ही नहीं बल्कि प्रसङ्ग देखकर वे दर्शनान्तरीय प्रमाणशैली का उपयोग एवं उसमें संशोधन भी कर लेते थे। अतएव उसी भद्रबाहु की कृति मानी जानेवाली दशवैकालिक निर्युक्ति में हम परार्थानुमान की चर्चा पाते हैं जो अवयवांश में (गा० ९) दर्शनान्तर की परार्थानुमानशैली से अनोखी है।

जान पड़ता है सबसे पहिले आर्यरक्षित ने, जो जन्म से ब्राह्मण थे और वैदिक शास्त्रों का अभ्यास करने के बाद ही जैन साधु हुए थे अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वार (पृ० २११) में प्रत्यक्ष, अनुमानादि चार प्रमाणों का विभाग जो गौतमदर्शन (न्यायसू० १.१.३) में प्रसिद्ध है, उसको दाखिल किया। उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र (१.१०-१२) में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जिस प्रमाणद्वयविभाग का निर्देश किया है वह खुद उमास्वातिकर्तृक है या किसी अन्य आचार्य के द्वारा निर्मित हुआ है इस विषय में कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता। जान पड़ता है आगम की संकलना के समय प्रमाणचतुष्टय और प्रमाणद्वयवाले दोनों विभाग स्थानाङ्ग तथा भगवती में दाखिल हो गये। आगम में दोनों विभागों के संनिविष्ट हो जाने पर भी जैन आचार्यों की मुख्य विचारदिशा प्रमाणद्वयविभाग की ओर ही रही है। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि प्रमाणचतुष्टयविभाग असल में न्याय दर्शन का ही है अतएव उमास्वाति ने उसे नयवादान्तरीय (तत्त्वार्थभा० १.६) कहा है जब कि प्रमाणद्वयविभाग जैनाचार्यों का स्वोपज्ञ है। इसी से सभी जैन तर्कग्रन्थों में उसी विभाग को लेकर प्रमाण चर्चा व ज्ञान चर्चा की गई है। आ० हेमचन्द्र ने भी इसी सरणि से उसी प्रमाणद्वयविभाग को अपनाया है।

---

१ "दुविहे नाणे पण्णत्ते-तंजहा-पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।" स्था० २. पृ० ४९ A "अहवा हेऊ चउव्विहे पं० तं० पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।" -स्था० ४ पृ० ३०९ A "से किं तं पमाणे? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा-पच्चक्खे ... जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं।" -भग० श० ५. उ० ३ भाग २ पृ० २११।

न्याय-वैशेषिक आदि तर्कप्रधान वैदिक दर्शनों के प्रभाव के कारण बौद्ध भिक्षु तो पहिले ही से अपनी पिटकाश्रित मूल मर्यादा के बाहर वादभूमि और तदुचित तर्क-प्रमाणवाद की ओर झुक ही गये थे। क्रमशः जैन भिक्षु भी वैदिक और बौद्धदर्शन के तर्कवाद के असर से बरी न रह सके अतएव जैन आचार्यों ने जैन परम्परा में ज्ञानविभाग की भूमिका के ऊपर प्रमाणविभाग की स्थापना की और प्रतिवादी विद्वानों के साथ उसी प्रमाणविभाग को लेकर गोष्ठी या चर्चा करने लगे। आर्यरक्षित ने प्रत्यक्ष अनुमान आदिरूप से चतुर्विध प्रमाणविभाग दर्शाते समय प्रत्यक्ष के वर्णन में (पृ० २११) इन्द्रियप्रत्यक्षरूप मतिज्ञान का और आगमप्रमाण के वर्णन में श्रुतज्ञान का स्पष्ट समावेश सूचित कर ही दिया था फिर भी आगमिक-तार्किक जैन आचार्यों के सामने बराबर एक प्रश्न आया ही करता था कि अनुमान, उपमान अर्थापत्ति आदि दर्शनान्तरप्रसिद्ध प्रमाणों को जैनज्ञानप्रक्रिया मानती है या नहीं ? । अगर मानती है तो उनका स्वतन्त्र निरूपण या समावेश उसमें स्पष्ट क्यों नहीं पाया जाता ? । इसका जवाब जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले उमास्वाति ने दिया है (तत्त्वार्थभा० १.१२) कि ये अनुमानादि दर्शनान्तरीय सभी प्रमाण मति, श्रुत जिन्हें हम परोक्ष प्रमाण कहते हैं उसी में अन्तर्भूत हैं। उमास्वाति के इसी जवाब का अक्षरशः अनुसरण पूज्यपाद ने (सर्वार्थ० १.१२) किया है। पर उसमें कोई नया विचार या विशेष स्पष्टता नहीं की।

चतुर्विध प्रमाणविभाग की अपेक्षा द्विविध प्रमाणविभाग जैन प्रक्रिया में विशेष प्रतिष्ठा पा चुका था और यह हुआ भी योग्य। अतएव नन्दीसूत्र में उसी द्विविध प्रमाण विभाग को लेकर ज्ञानचर्चा विशेष विस्तार से हुई। नन्दीकार ने अपनी ज्ञानचर्चा की भूमिका तो रची द्विविध प्रमाणविभाग पर फिर भी उन्होंने आर्यरक्षित के चतुर्विध प्रमाण विभागाश्रित वर्णन में से मुख्यतया दो तत्त्व लेकर अपनी चर्चा की। इनमें से पहिला तत्त्व तो यह है कि लोक जिस इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष समझते व कहते हैं और जिसे जैनेतर सभी तार्किकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है, उसको जैन प्रक्रिया में भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहकर प्रत्यक्ष प्रमाण के दो अंश कर दिये (नन्दीसू० ३) जिनमें से एक में उमास्वातिकथित अवधि आदि मुख्य प्रमाण रहे और दूसरे में इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्षरूप से रहे। दूसरा तत्त्व यह है कि जिसे दर्शनान्तर आगम प्रमाण कहते हैं वह वस्तुतः श्रुतज्ञान ही है और परोक्ष प्रमाण में समाविष्ट है।

यद्यपि आगमिक ज्ञानचर्चा चलती रही फिर भी जैन विचारप्रक्रिया में तार्किकता जड़ पकड़ने लगी। इसी का फल न्यायावतार है। उसमें द्विविध प्रमाणविभाग लेकर तार्किक शैली से ज्ञान का निरूपण है। उसका मुख्य उद्देश्य जैन प्रक्रियानुसारी अनुमान-न्याय का बतलाना—यह है। हम देखते हैं कि न्यायावतार में परोक्षप्रमाण के भेदों के बयान ने ही मुख्य जगह रोकी है फिर भी उसमें यह नहीं कहा है कि जैन प्रक्रिया परोक्षप्रमाण के अमुक और इतने ही भेद मानती है जैसा कि आगे जाकर अन्य आचार्यों ने कहा है।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने अति विस्तृत भाष्य में द्विविध प्रमाण विभाग में आगमिक पञ्च ज्ञानविभाग का तर्कपुरःसर समावेश बतलाया और आर्यरक्षितस्थापित तथा नन्दीकार द्वारा स्वीकृत इन्द्रियजन्य-नोइन्द्रियजन्य रूप से द्विविध प्रत्यक्ष के वर्णन में आनेवाले उस विरोध का सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसा नाम देकर सबसे पहले परिहार किया–"इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।"–विशेषा० भा० गा० ९५–जिस प्रतिवादी तार्किक जैन तार्किकों के सामने उपस्थित किया करते थे। विरोध इस तरह बतलाया जाता था कि जब जैनदर्शन अक्ष–आत्माश्रित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहता है तब उसकी प्रक्रिया में इन्द्रियाश्रित ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से स्थान पाना विरुद्ध है। क्षमाश्रमणजी ने यह सब कुछ किया फिर भी उन्होंने कहीं यह नहीं बतलाया कि जैन प्रक्रिया परोक्ष प्रमाण के इतने भेद मानती है और वे अमुक हैं।

इस तरह अभी तक जैन परंपरा में आगमिक ज्ञानचर्चा के साथ ही साथ पर कुछ प्रधानता से प्रमाणचर्चा हो रही थी, फिर भी जैन तार्किकों के सामने दूसरे प्रतिवादियों की ओर से यह प्रश्न बारबार आता ही था कि जैन प्रक्रिया अगर अनुमान आगम आदि दर्शनान्तर प्रसिद्ध प्रमाणों को परोक्ष प्रमाणरूप से स्वीकार करती है तो उसे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह परोक्ष प्रमाण के कितने भेद मानती है, और हरएक भेद का सुनिश्चित लक्षण क्या है ?।

जहाँ तक देखा है उसके आधार से निःसंदेह कहा जा सकता है कि उक्त प्रश्न का जवाब सबसे पहिले भट्टारक अकलङ्क ने दिया है। और वह बहुत ही स्पष्ट तथा सुनिश्चित है। अकलङ्क ने अपनी लघीयस्त्रयी[1] में बतलाया कि परोक्ष प्रमाण के अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, तर्क और आगम ऐसे पाँच भेद हैं। उन्होंने इन भेदों का लक्षण भी स्पष्ट बाँध दिया। हम देखते हैं कि अकलङ्क के इस स्पष्टीकरण ने जैन प्रक्रिया में आगमिक और तार्किक ज्ञान चर्चा में बारबार खड़ा होनेवाली सब समस्याओं को सुलझा दिया। इसका फल यह हुआ कि अकलङ्क के उत्तरवर्ती दिगम्बर श्वेताम्बर सभी तार्किक उसी अकलङ्कदर्शित रास्ते पर ही चलने लगे। और उन्हीं के शब्दों को एक या दूसरे रूप से लेकर जब तब विकसित कर अपने अपने छोटे और बृहत्काय ग्रन्थों को लिखने लग गये। जैन तार्किकमूर्धन्य यशोविजय ने भी उसी मार्ग का अवलम्बन किया है। यहाँ एक बात जान लेनी चाहिए कि जिन अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के भेद और उनके लक्षणों के द्वारा दर्शनान्तरप्रसिद्ध अनुमान, अर्थापत्ति उपमान आदि सब प्रमाणों का जैन प्रक्रियानुसारी निरूपण किया है वही अकलङ्क राजवार्तिककार[2] भी हैं पर उन्होंने अपने वार्तिक में दर्शनान्तरप्रसिद्ध उन प्रमाणों का समावेश लघीयस्त्रयी के अनुसार नहीं पर तत्त्वार्थभाष्य और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार किया है ऐसा कहना होगा। फिर भी उक्त भाष्य और सिद्धि की अपेक्षा अकलङ्क ने अपना

---

1 "ज्ञानमाद्यं मतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधनम्। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।"–लघी० ३. १ स्वविवृ० ३. १। 2 "इत्थं भट्टाकलङ्केन वार्तिककारेण"–सिद्धिवि० टी० पृ० २७८ B

समावेशप्रकार कुछ दूसरा ही बतलाया है (लघी० पृ० ५४)। अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद करते समय यह ध्यान अवश्य रक्खा है कि जिससे उमास्वाति आदि पूर्वाचार्यों का समन्वय विरुद्ध न हो जाय और आगम तथा निर्युक्ति आदि में मतिज्ञान के पर्यायरूप से प्रसिद्ध स्मृति संज्ञा चिन्ता, अभिनिबोध इन शब्दों की सार्थकता भी सिद्ध हो जाय। यही कारण है कि अकलङ्क का यह परोक्ष प्रमाण के पंच प्रकार तथा उनके लक्षण कथन का प्रयत्न अद्यापि सकल जैन तार्किकमान्य रहा। आ० हेमचन्द्र भी अपनी मीमांसा में परोक्ष के उन्हीं भेदों को मानकर निरूपण करते हैं।

पृ० ७ पं० १० 'वैशेषिका'–प्रशस्तपाद ने शाब्द उपमान आदि प्रमाणों को अनुमान में ही समाविष्ट किया है। अतएव उत्तरकालीन तार्किकों[1] ने वैशेषिकमतरूप से प्रत्यक्ष अनुमान दो ही प्रमाणों का निर्देश किया है। स्वयं कणाद का भी 'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्'–वैशे० ९. २. ३–इस सूत्र से वही अभिप्राय है जो प्रशस्तपाद, शङ्करमिश्र आदि ने निकाला है। विद्यानन्द आदि जैनाचार्यों ने भी वैशेषिकसम्मत प्रमाणद्वित्व का ही निर्देश (प्रमाणप० पृ० ६९) किया है तब प्रश्न होता है कि–आ० हेमचन्द्र वैशेषिकमत से प्रमाणत्रय का कथन क्यों करते हैं?। इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि–वैशेषिकसम्मत प्रमाणत्रित्व की परम्परा भी रही है जिसे आ० हेमचन्द्र ने लिया और प्रमाणद्वित्ववाली परम्परा का निर्देश नहीं किया। सिद्धर्षिकृत न्यायावतारवृत्ति में (पृ० ९) हम उस प्रमाणत्रित्ववाली वैशेषिक परम्परा का निर्देश पाते हैं। वादिदेव ने तो अपने रत्नाकर (पृ० ३११ २. ४१) में वैशेषिकसम्मतरूप से द्वित्व और त्रित्व दोनों प्रमाणसंख्या का निर्देश किया है।

पृ० ७ पं० ११ 'साङ्ख्या'–तुलना–सांख्यका० ४।

पृ० ७ पं० ११ 'नैयायिका'–तुलना–न्यायसू० १. १. ३।

पृ० ७ पं० १२ 'प्राभाकरा'–तुलना–'तत्र पञ्चविधं मानम् इति गुरोर्मतम्'–प्रकरणप० पृ० ४४।

पृ० ७ पं० १२ 'भाट्टा'–तुलना–"अत षडेव प्रमाणानि"–शास्त्रदी० पृ० २४६।

पृ० ७ पं० १७ 'अश्नुते'–प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में 'अक्ष' पद का 'इन्द्रिय' अर्थ मानने की परम्परा सभी वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध दर्शन में एक सी है। उनमें से किसी दर्शन में 'अक्ष' शब्द का आत्मा अर्थ मानकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। अतएव वैदिक-बौद्ध दर्शनों के अनुसार इन्द्रियाश्रित ज्ञान ही प्रत्यक्षरूप से फलित होता है। और तदनुसार उनके इन्द्रियाश्रित प्रत्यक्ष माने जानेवाले ईश्वरीय ज्ञान आदि के विषय में प्रत्यक्ष का प्रयोग उपचरित ही मानना पड़ता है।

---

१ "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।"–मुक्तावली का० १४०।

जैन परम्परा[1] में 'अक्ष' शब्द का 'आत्मा' अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है। तदनुसार उसमें इन्द्रियनिरपेक्ष केवल आत्माश्रित माने जानेवाले ज्ञानों को ही प्रत्यक्ष पद का मुख्य अर्थ माना है और इन्द्रियाश्रित ज्ञान को वस्तुतः परोक्ष ही माना है। उसमें अक्ष पद का इन्द्रिय अर्थ लेकर भी व्युत्पत्ति का आश्रयण किया है पर वह अन्यदर्शनप्रसिद्ध परम्परा तथा लोकव्यवहार के संग्रह की दृष्टि से। अतएव जैन परम्परा के अनुसार इन्द्रियाश्रित ज्ञान में प्रत्यक्ष पद का प्रयोग मुख्य नहीं पर गौण है।

इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष माननेवाले हों या आत्ममात्र सापेक्ष को पर वे सभी प्रत्यक्ष को साक्षात्कारात्मक ही मानते व कहते हैं।

पृ० ७ पं० १८ 'अक्षं प्रतिगतम्'–तुलना– "अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्"–न्यायभा० १. १. ३। "प्रत्यक्षमिति। प्रतिगतमाश्रितमक्षम्।"–न्यायबि० टी० १. ३।

पृ० ७ पं० २१ 'चकार'–तुलना–"चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति" न्यायबि० टी० १. ३; न्याया० सि० टी० पृ० १६।

पृ० ७ पं० २२ 'ज्येष्ठतेति'–प्रमाणों में ज्येष्ठत्व अज्येष्ठत्व के विषय में तीन परम्पराएँ हैं। न्याय और सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व और अनुमानादि का उसकी अपेक्षा अज्येष्ठत्व स्थापित[2] किया है। पूर्व उत्तरमीमांसा[3] में अपौरुषेय आगमवाद होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा भी आगम का ज्येष्ठत्व स्वीकार किया गया है। बौद्ध परम्परा[4] में प्रत्यक्ष-अनुमान दोनों का समबलत्व बतलाया है।

जैन परम्परा में दो पक्ष देखे जाते हैं। अकलङ्क और तदनुगामी विद्यानन्द ने प्रत्यक्ष का ही ज्येष्ठत्व न्यायपरम्परा की तरह माना और स्थापित किया[5] है, जब कि सभी

---

१ "अश्नुते व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं वा प्रत्यक्षम्।"–सर्वार्थ० १. १२। "जीवो अक्खो अत्थव्वावणभोयणगुणण्णिओ जेण। तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं।"–विशेषा० भा० गा० ८९। 'तथा च महाभाष्यकारः भद्रबाहुः–जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टइ तं तु होइ पच्चक्खं। परओ पुण अक्खस्स वट्टंतं होइ पारोक्खं॥' –न्याया० टि० पृ० १५।

२ "आदौ प्रत्यक्षग्रहणं प्राधान्यात्। तत्र किं शब्दस्याभ्युपदेशो भवतु आहोस्वित् प्रत्यक्षस्येति?। प्रत्यक्षस्येति युक्तम्। किं कारणम्?। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् इति।"–न्यायवा० १. १. ३। माठरवृ० का० ४। न्यायम० पृ० ६५, १०९।

३ "न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्। तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्।"–भामती पृ० ५।

४ "अर्थसंवादकत्वे च समाने ज्येष्ठताऽत्र का?। तदभावे तु नैव स्यात् प्रमाणमनुमादिकम्॥"–तत्त्वसं० का० ४६०। न्यायबि० टी० १. ३।

५ अष्टश० अष्टस० पृ० ८०।

श्वेताम्बर आचार्यों[1] ने प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों का समवतरण बौद्ध परम्परा की तरह स्वीकार किया है।

पृ० ७ पं० २६ 'व्यवस्था'–इस सूत्र में चार्वाक के प्रति प्रमाणान्तर की सिद्धि करते हुए तीन युक्तियों का प्रयोग आ० हेमचन्द्र ने किया है जो धर्मकीर्ति के नाम से उद्धृत कारिका में स्पष्ट है। वह कारिका धर्मकीर्ति के उत्तरवर्ती सभी बौद्ध, वैदिक और जैन ग्रन्थों में पाई जाती है[2]।

वृत्ति में तीनों युक्तियों का जो विवेचन है वह सिद्धर्षि की न्यायावतारवृत्ति के साथ शब्दशः मिलता है। पर तात्पर्यटीका और सांख्यतत्त्वकौमुदी के विवेचन के साथ उसका शब्दसादृश्य होने पर भी अर्थसादृश्य ही मुख्य है।

"न हि कश्चित् प्रत्यक्षव्यक्तीरर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्या स्तद्विपरीततया व्यभिचारिणीश्च, तत कालान्तरे पुनरपि तादृशीतरासां प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रमाणेतरते समाचक्षीत।"–न्याया टि टी पृ १८।

"दृष्टप्रामाण्याप्रामाण्यविज्ञानव्यक्तिसाधर्म्येण हि कासांचिद्व्यक्तीनां प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं वा विदधीत। दृष्टसाधर्म्यं चानुमानमेवेति कथं तेनैव तस्याप्रामाण्यम्। अपि चानुमानमप्रमाणमिति वाक्यप्रयोगोऽयं विप्रतिपन्नं सन्दिग्धं वा पुरुषं प्रत्यर्थवान्, न च परपुरुषवर्तिनो देहधर्मा अपि संदेहाज्ञानविपर्यासा गौरत्वादिवत् प्रत्यक्षा दृश्यन्ते, न च वचनात् प्रतीयन्ते, वचनस्यापि प्रत्यक्षादन्यस्याप्रामाण्योपगमात्। पुरुषविशेषमनधिकृत्य तु वचनमनर्थकं प्रयुञ्जानो नायं लौकिको न परीक्षक इत्युन्मत्तवदनवधेयवचनः स्यात्।"–तात्पर्य ११५।

"नानुमानं प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ?। न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देहविपर्ययाः शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्। नापि मानान्तरेण, अनभ्युपगमात्। अनवधृताज्ञानसंशयविपर्यासस्तु यं कंचित् पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत। तदनेनाज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्याः, इत्यकामेनाप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्।"–सांख्यत का ५।

पृ० ८ पं० २० 'अर्थस्याऽसंभवे'–तुलना–तत्त्वसं प पृ ७७५। विधिवि न्यायक पृ १६१। सिद्धिवि टी लि पृ ११५ A. प्रमाणसं पृ ११५। सम्मतिटी पृ १० ७१ ५५५। न्यायवि टी लि पृ ६ A

---

१ न्याया० सि० टी० पृ० २९। स्याद्वादर० पृ० २६०।

२ कन्दली पृ० २५५। प्रमाणप० पृ० ६४। प्रमेयक० पृ० ४६। स्याद्वादर० पृ० २६१। न्यायसारता० पृ० ८८।

पृ० ८. पं० १० 'भावाभावा'–अभावप्रमाण के पृथक् अस्तित्व का वाद बहुत पुराना जान पड़ता है क्योंकि न्यायसूत्र[1] और उसके बाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थों में तो उसका खण्डन पाया ही जाता है पर अधिक प्राचीन माने जानेवाले कणादसूत्र में भी प्रशस्तपाद की व्याख्या के अनुसार[2] उसके खण्डन की सूचना है।

विचार करने से जान पड़ता है कि यह पृथक् अभावप्रमाणवाद मूल में मीमांसक परम्परा का ही होना चाहिए[3]। अन्य सभी दार्शनिक परम्पराएँ उस वाद के विरुद्ध हैं। शायद इस विरोध का मीमांसक परम्परा पर भी असर पड़ा और प्रभाकर उस वाद से सम्मत न रहे[4]। ऐसी स्थिति में भी कुमारिल ने उस वाद के समर्थन में बहुत ज़ोर लगाया और सभी तत्कालीन विरोधियों का सामना किया[5]।

प्रस्तुत सूत्र के विवेचन का न्यायावतारटीका (पृ० २१) के साथ बहुत कुछ शब्दसाम्य है।

अ० १ आ० १ सू० १३ १४ पृ० ९ प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में सामान्यरूप से तीन परम्पराएँ हैं। बौद्ध परम्परा[6] निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानती है। न्याय वैशेषिक[7] आदि वैदिक परम्पराएँ निर्विकल्पक–सविकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष मानती हैं। जैन[8] तार्किक परम्परा सांख्य-योग[9] दर्शन की तरह प्रत्यक्षप्रमाणरूप से सविकल्पक को ही स्वीकार करती है। आ० हेमचन्द्र ने उसी परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को अनध्यवसाय कहकर प्रमाणसामान्य की कोटि से ही बहिर्भूत रक्खा है।

यद्यपि प्रत्यक्ष के लक्षण में विशद या स्फुट शब्द का प्रयोग करनेवाले जैन तार्किकों में सबसे पहिले अकलङ्क ही जान पड़ते हैं तथापि इस शब्द का मूल बौद्ध तर्कग्रन्थों में

---

१ न्यायसू० २. २. २।

२ "अभावोऽपि अनुमानमेव यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्।"–प्रश० पृ० २२५। वै० सू० ९. २. ५।

३ शाबरभा० १. १. ५।

४ "अस्ति चैव प्रतिषिद्धमीमांसकानां षष्ठं किलेदं प्रमाणमिति नैवं तर्हि प्रतिषिद्धः ?। प्रतिषिद्धं पंचकमविषिद्धवत्।"–बृहती पृ० १२०। "यदि तावद् वेदविन्मीमांसका प्रमाणान्यस्य मन्यन्ते तदस्य वयं किं कुर्म।"–बृहतीप० पृ० १२३। प्रकरणप० पृ० ११८–१२५।

५ "अभावोऽपि प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते। प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद्भावात्मकात्पृथक्॥"–श्लोकवा० अभाव० श्लो० ४५।

६ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।"–प्रमाणसमु० १. ३। न्यायप्र० पृ० ७। न्यायबि० १. ४।

७ "द्वयी खलु प्रत्यक्षजातिः अविकल्पिका सविकल्पिका चेति। तत्र उभयी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन संगृहीतापि स्वशब्देन उपात्ता तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्र अविकल्पिकायाः पदम् अव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायास्तु व्यवसायात्मकमिति।"–तात्पर्य० पृ० १२५। प्रश० पृ० १८६-१८८।

८ प्रमेयक० १. ३। स्याद्वादर० १. ७।

९ सांख्यत० का० ५। योगभा० १. ७।

है क्योंकि अकलङ्क के पूर्ववर्ती धर्मकीर्ति आदि बौद्ध तार्किकों[1] ने इसका प्रयोग प्रत्यक्षस्वरूप निरूपण में किया है। अकलङ्क के बाद तो जैन परम्परा में भी इसका प्रयोग रूढ़ हो गया। वैशद्य किंवा स्पष्टत्व का निर्वचन तीन प्रकार से पाया जाता है। अकलङ्क के—"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्" (लघी० १. ४)—निर्वचन का देवसूरि और यशोविजयजी ने अनुगमन किया है। जैनतर्कवार्त्तिक में (पृ० ९५) 'इदन्तया' अथवा 'विशेषवत्तया' प्रतिभास वाले एक ही निर्वचन का सूचन है। माणिक्यनन्दी ने (परीक्षा० २. ४) 'प्रतीत्यन्तराव्यवधान' और 'विशेषप्रतिभास' दोनों प्रकार से वैशद्य का निर्वचन किया है जिसे आ० हेमचन्द्र ने अपनाया है।

पृ० ९ पं० २६ 'प्रत्यक्ष धर्मि'—तुलना—"विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात् धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयप्रसङ्ग इति चेत् न, विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतो दोषाऽसंभवात्"—प्रमाणप० पृ० ६७ प्रमेयर० २. १।

प्र० १ आ० १ सू० १५-१७ पृ० १०. लोक और शास्त्र में सर्वज्ञ शब्द का उपयोग, योगसिद्ध विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान के सम्भव में विद्वानों और साधारण लोगों की श्रद्धा, जुदे जुदे दार्शनिकों के द्वारा अपने अपने मन्तव्यानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के विशिष्ट ज्ञानरूप अर्थ में सर्वज्ञ जैसे पदों को लागू करने का प्रयत्न और सर्वज्ञरूप से माने जाने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा ही मुख्यतया उपदेश किये गये धर्म या सिद्धान्त की अनुगामियों में वास्तविक प्रतिष्ठा—इतनी बातें भगवान् महावीर और बुद्ध के पहिले भी थीं—इसके प्रमाण मौजूद हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय से लेकर आज तक के करीब ढाई हज़ार वर्ष के भारतीय साहित्य में तो सर्वज्ञत्व के अस्ति-नास्तिपक्षों की, उसके विविध स्वरूप तथा समर्थक और विरोधी युक्तिवादों की, क्रमशः विकसित सूक्ष्म और सूक्ष्मतर स्पष्ट एवं मनोरञ्जक चर्चाएँ पाई जाती हैं।

सर्वज्ञत्व के नास्तिपक्षकार मुख्यतया तीन हैं—चार्वाक, अज्ञानवादी और पूर्वमीमांसक। उसके अस्तिपक्षकार तो अनेक दर्शन हैं जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन मुख्य हैं।

चार्वाक इन्द्रियगम्य भौतिक लोकमात्र को मानता है इसलिए उसके मत में अतीन्द्रिय आत्मा तथा उसकी शक्तिरूप सर्वज्ञत्व आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अज्ञानवादी का अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की भी एक अन्तिम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही उच्च कक्षा का क्यों न हो पर वह त्रैकालिक सभी स्थूल-सूक्ष्म भावों को पूर्ण रूप से जानने में स्वभाव से ही असमर्थ है।

---

१ "न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता।"—प्रमाणवा० ३. २८३। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्।"—तत्त्वसं० का० १२१४

अर्थात् अन्त में कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है। क्योंकि ज्ञान की शक्ति ही स्वभाव से परिमित है। वेदवादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ मानता है। किसी प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान होने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं फिर भी वह अपौरुषेयवेदवादी होने के कारण वेद के अपौरुषेयत्व में बाधक ऐसे किसी भी प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान को मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्राय से उसने[1] वेद-निरपेक्ष साक्षात् धर्मज्ञ या सर्वज्ञ के अस्तित्व का विरोध किया है। वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थ जाननेवाले का निषेध नहीं किया।

बौद्ध और जैन दर्शनसम्मत साक्षात् धर्मज्ञवाद या साक्षात् सर्वज्ञवाद से वेद के अपौरुषेयत्व का केवल निरास ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसके द्वारा वेदों में अप्रामाण्य बतलाकर वेदभिन्न आगमों का प्रामाण्य स्थापित करना भी अभिप्रेत है। इसके विरुद्ध जो न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन सर्वज्ञवादी हैं उनका तात्पर्य सर्वज्ञवाद के द्वारा वेद के अपौरुषेयत्ववाद का निरास करना अवश्य है, पर साथ ही उसी वाद के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व बतलाकर उसीका प्रामाण्यस्थापन करना भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। वे ईश्वर के ज्ञान को नित्य[2]—उत्पाद-विनाश-रहित और पूर्ण–त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल समग्र भावों को युगपत् जाननेवाला–मानकर तद्द्वारा उसे सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वरभिन्न आत्माओं में वे सर्वज्ञत्व मानते हैं सही, पर सभी आत्माओं में नहीं किन्तु योगी आत्माओं में। योगियों में भी सभी योगियों को वे सर्वज्ञ नहीं मानते किन्तु जिन्होंने योग द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त किया हो सिर्फ उन्हीं को[3]। न्याय-वैशेषिक मतानुसार यह नियम नहीं कि सभी योगियों को वैसा सामर्थ्य अवश्य प्राप्त हो। इस मत में जैसे मोक्ष के वास्ते सर्वज्ञत्वप्राप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है वैसे यह भी सिद्धान्त[4] है कि मोक्ष

---

१ "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम् नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्"—शाबरभा० १. १. २। "नानेन वचनेनेह सर्वज्ञत्वनिराक्रिया। वचनादृत इत्येवमपवादो हि संश्रितः॥ यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते। एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते॥ नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते।" श्लोकवा० चोद० श्लो० ११०–२। "धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"—तत्त्वसं० का० ३१२८। यह श्लोक तत्त्वसंग्रह में कुमारिल का कहा गया है पृ० ८४४।

२ "न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः। दृष्टा हि गुणानामाश्रयभेदेन द्वयी गतिः नित्यता अनित्यता च तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यतीति।"—कन्दली पृ० ६०। "एतावतानुमितौ लाघवमनु सहकारित्व ज्ञानेच्छाकृतिषु नित्यत्वमेकत्वं च भासते इति निर्गलितमिति।"—दिनकरी पृ० २६।

३ वै० सू० ९. १. ११–१३। "अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनः चतुष्टयसन्निकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते।"—प्रश० पृ० १८७। वै० सू० ९. १. ११–१३।

४ "तदेव धिषणादीनां नवानामपि मूलतः। गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रकीर्तितः॥" न्यायम० पृ० ५०८।

प्राप्ति के बाद सर्वज्ञ योगियों की आत्मा में भी पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान ईश्वरज्ञान की तरह नित्य नहीं पर योगजन्य होने से अनित्य है।

सांख्य, योग[1] और वेदान्त दर्शनसम्मत सर्वज्ञत्व का स्वरूप वैसा ही है जैसा न्याय-वैशेषिकसम्मत सर्वज्ञत्व का। यद्यपि योगदर्शन न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वर मानता है तथापि वह न्याय-वैशेषिक की तरह चेतन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्थन न कर सकने के कारण विशिष्ट बुद्धिसत्त्व[2] में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व का समर्थन कर पाता है। सांख्य, योग और वेदान्त में यौगिक सर्वज्ञत्व की प्राप्ति भी मोक्ष के वास्ते अनिवार्य[3] वस्तु नहीं है, जैसा कि जैन दर्शन में माना जाता है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह वह एक योग विभूति मात्र होने से किसी किसी साधक को होती है।

सर्वज्ञवाद से सम्बन्ध रखनेवाले हजारों वर्ष के भारतीय दर्शनशास्त्र देखने पर भी यह पता स्पष्टरूप से नहीं चलता कि अमुक दर्शन ही सर्वज्ञवाद का प्रस्थापक है। यह भी निश्चयरूप से कहना कठिन है कि सर्वज्ञत्व की चर्चा शुद्ध तत्त्वचिन्तन में से फलित हुई है या साम्प्रदायिक भाव से धार्मिक खण्डन-मण्डन में से फलित हुई है? यह भी सप्रमाण बतलाना सम्भव नहीं कि ईश्वर, ब्रह्मा आदि दिव्य आत्माओं में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार से मानुषिक सर्वज्ञत्व का विचार प्रस्तुत हुआ, या बुद्ध-महावीरसदृश मनुष्य में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार-आन्दोलन से ईश्वर, ब्रह्मा आदि में सर्वज्ञत्व का समर्थन किया जाने लगा या देव-मनुष्य उभय में सर्वज्ञत्व माने जाने का विचारप्रवाह परस्पर निरपेक्ष रूप से प्रचलित हुआ?। यह सब कुछ होते हुए भी सामान्यरूप से इतना कहा जा सकता है कि यह चर्चा धर्म-सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन में से फलित हुई है और पीछे से उसने तत्त्वज्ञान का रूप धारण करके तात्त्विक चिन्तन में भी स्थान पाया है। और वह तटस्थ तत्त्वचिन्तकों का विचारणीय विषय बन गई है। क्योंकि मीमांसक जैसे पुरातन और प्रबल वैदिक दर्शन के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी अस्वीकार और शेष सभी वैदिक दर्शनों के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी स्वीकार का एक मात्र मुख्य उद्देश्य यही है कि वेद का प्रामाण्य स्थापित करना जब कि जैन, बौद्ध आदि मनुष्य-सर्वज्ञत्ववादी दर्शनों का एक यही उद्देश है कि परम्परा से माने जानेवाले वेदप्रामाण्य के स्थान में इतर शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापित करना और वेदों का अप्रामाण्य। जब कि वेद का प्रामाण्य अप्रामाण्य ही असर्वज्ञवाद देव सर्वज्ञवाद और मनुष्य-सर्वज्ञवाद की चर्चा और उसकी दलीलों का एकमात्र मुख्य विषय है तब धर्म-संप्रदाय को इस तत्त्व चर्चा का उत्थानबीज मानने में सन्देह को कम से कम अवकाश है।

---

१ 'तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ —योगसू० ३. ५४।

२ "निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, सर्वात्मना गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानाम् अक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। —योगभा० ३. ४९।

३ प्राप्तविवेकजज्ञानस्य अप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।"— योगसू० ३. ५५।

मीमांसकधुरीण कुमारिल ने धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों का निराकरण बड़े आवेश और युक्तिवाद से किया है (मीमांसाश्लो० सू० २ श्लो० ११० से १४३) वैसे ही बौद्धप्रवर शान्तरक्षित ने उसका जवाब उक्त दोनों वादों के समर्थन के द्वारा बड़ी गम्भीरता और स्पष्टता से दिया है (तत्त्वसं० पृ० ८४४ से)। इसलिए यहाँ पर एक ऐतिहासिक प्रश्न होता है कि क्या धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वाद अलग अलग सम्प्रदायों में अपने अपने युक्तिबल पर स्थिर होंगे या किसी एक वाद में से दूसरे वाद का जन्म हुआ है?। अभी तक के चिन्तन से यह जान पड़ता है कि धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों की परम्परा मूल में अलग-अलग ही है। बौद्ध सम्प्रदाय धर्मज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी खास रहा होगा क्योंकि खुद बुद्ध ने (मज्झिम चूल-मालुक्यपुत्तसुत्त २१) अपने को सर्वज्ञ उसी अर्थ में कहा है जिस अर्थ में धर्मज्ञ या मार्गज्ञ शब्द का प्रयोग होता है। बुद्ध के वास्ते धर्मशास्ता, धर्मदेशक आदि विशेषण पिटकग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। [1]धर्मकीर्ति ने बुद्ध में सर्वज्ञत्व को अनुपयोगी बताकर केवल धर्मज्ञत्व ही स्थापित किया है, जब कि शान्तरक्षित ने प्रथम धर्मज्ञत्व सिद्धकर गौणरूप से सर्वज्ञत्व को भी स्वीकार[2] किया है।

सर्वज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है क्योंकि जैन आचार्यों ने प्रथम से ही अपने तीर्थंकरों में सर्वज्ञत्व को माना और स्थापित किया[3] है। ऐसा सम्भव है कि जब जैनों के द्वारा प्रबलरूप से सर्वज्ञत्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने लगी तब बौद्धों के वास्ते बुद्ध में सर्वज्ञत्व का समर्थन करना भी अनिवार्य और आवश्यक हो गया। यही सबब है कि बौद्ध तार्किक ग्रन्थों में धर्मज्ञवादसमर्थन के बाद सर्वज्ञवाद का समर्थन होने पर भी उसमें वह ज़ोर और एकतानता[4] नहीं है जैसी कि जैन तार्किक ग्रन्थों में है।

मीमांसक (श्लो० सू० २ श्लो० ११०-१४३ तत्त्वसं० का० ३१२४-३२४६ पूर्वपक्ष) का मानना है कि यागादि के प्रतिपादक और उसके द्वारा धर्माधर्मादि का, किसी पुरुषविशेष

---

१ "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥ दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।" प्रमाणवा० २. ३२, ३३।

२ "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥"–तत्त्वसं० का० ३३०९। "मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकमन्यत्रापि भगवतो ज्ञानप्रवृत्तेः बाधकप्रमाणाभावात् साक्षादशेषार्थपरिज्ञानात् सर्वज्ञो भवन् न केनचिद् बाध्यते इति अतो न प्रेक्षावतां तत्प्रतिक्षेपो युक्तः।" तत्त्वसं० प० पृ० ८६३।

३ "से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पज्जाए जाणइ, तं जहा–आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।" आचारा० श्रु० २ चू० ३ पृ० ४२५ A। "तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च"–आव० नि० गा० १२७। भग० श० ६. उ० १२। "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"–आप्तमी० का० ५।

४ "ये रागद्वेषसमानाश्रयता तत्त्वानात्मनो न विस्फुटा इत्यादिलक्षणात् यथाविस्थापि—यथाविस्थिति वा तदर्शन निषेधतः। शक्तिरेवाभिधा तत्र महीयानयमी क्रमो॥ –तत्त्वसं० का० ३३५८। मिलि० ३. ६. २।

की अपेक्षा रक्खे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना यही वेद का कार्य है। इसी सिद्धान्त को स्थिर रखने के वास्ते कुमारिल ने कहा है कि कोई भले ही धर्माधर्मभिन्न अन्य सब वस्तु साक्षात् जान सके पर धर्माधर्म को वेदनिरपेक्ष होकर कोई साक्षात् नहीं जान सकता[1], चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन आदि जैसा मनुष्य योगी हो, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु आदि जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति आदि जैसा ऋषि या अवतारी हो। कुमारिल का कहना है कि सर्वत्र सर्वदा धर्ममर्यादा एक सी है, जो सदा सर्वत्र एकरूप वेद द्वारा विहित मानने पर ही सङ्गत हो सकती है। बुद्ध आदि व्यक्तियों को धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानने पर वैसी मर्यादा सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि बुद्ध आदि उपदेशक कभी निर्वाण पाने पर नहीं भी रहते। जीवितदशा में भी वे सब क्षेत्रों में पहुँच नहीं सकते। सब धर्मोपदेशकों की एकवाक्यता भी सम्भव नहीं। इस तरह कुमारिल साक्षात् धर्मज्ञत्व का निषेध[2] करके फिर सर्वज्ञत्व का भी सब में निषेध करते हैं। वह पुराणोक्त ब्रह्मादि देवों के सर्वज्ञत्व का अर्थ भी, जैसा उपनिषदों में देखा जाता है, केवल आत्मज्ञान[3] परक करते हैं। बुद्ध, महावीर आदि के बारे में कुमारिल का यह भी कथन[4] है कि वे वेदज्ञ ब्राह्मणजाति को धर्मोपदेश न करते और वेदविहीन मूर्ख शूद्र आदि को धर्मोपदेश करने के कारण वेदाभ्यासी एवं वेद द्वारा धर्मज्ञ भी नहीं थे। बुद्ध, महावीर आदि में सर्वज्ञत्वनिषेध की एक प्रबल युक्ति कुमारिल ने यह दी[5] है कि परस्परविरुद्धभाषी बुद्ध, महावीर, कपिल आदि में से किसे सर्वज्ञ माना जाय और किसे न माना जाय ?। अतएव उनमें से कोई सर्वज्ञ नहीं है। यदि वे सर्वज्ञ होते तो सभी वेदवत् अविरुद्धभाषी होते, इत्यादि।

---

१ "नहि अतीन्द्रियार्थे वचनमन्तरेण अवगतिः सम्भवति, तदिदमुक्तम्—अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्" —शाबरभा० १ । १ । २ । श्लो० न्याय० पृ० ७१ ।

२ "कुमारिलेन सुस्पष्टं नाभ्यासो वेदनासु नः । किन्तु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद् दुरात्मभिः । अदृश्यैः विप्रलम्भाय पिशाचादिभिरीरिताः । एवं ये केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः । सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥" —तत्त्वसं० पृ० २ श्लो० १३१-४१ । 'यत्तु वेदवादिभिरेव कैश्चिदुक्तम्—नित्य एवाऽयं वेदः प्रजापतेः प्रथममार्गगामेनाधुना भवतीति तदपि धर्मज्ञत्वनिराकरणमित्याह—नित्येति"—श्लो० न्याय० सू० २, १४३ । "अथापि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । सर्वज्ञानमयाद्दर्शनार्थं मानुषस्य किम् ॥"—तत्त्वसं० का० ३२०८, ३२१३-१४ ।

३ 'ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति योऽपि दशाव्ययः । शङ्करः श्रूयते सोऽपि ज्ञानवानात्मवित्तया ॥"—तत्त्वसं० का० ३२०९ ।

४ 'शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि । त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन संभाव्यन्ते ।"—तन्त्रवा० पृ० ११६ । तत्त्वसं० का० ३२२६-२७ ।

५ 'सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु । तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैको वधार्यताम् ॥ सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम् ॥"—तत्त्वसं० का० ३१४८-४९ ॥

शान्तरक्षित ने कुमारिल तथा अन्य सामट, यज्ञट आदि मीमांसकों की दलीलों का बड़ी सूक्ष्मता से सविस्तर खण्डन (तत्त्वसं० का० ३१२३ से) करते हुए कहा है कि—वेद स्वयं ही भ्रान्त एवं हिंसादि दोषयुक्त होने से धर्मविधायक हो नहीं सकता। फिर उसका आश्रय लेकर उपदेश देने में क्या विशेषता है ?। बुद्ध[1] ने स्वयं ही स्वानुभव से अनुकम्पाप्रेरित होकर अभ्युदय निःश्रेयससाधक धर्म बतलाया है। मूढ शूद्र आदि को उपदेश देकर तो उसने अपनी करुणावृत्ति के द्वारा धार्मिकता ही प्रकट की है। वह मीमांसकों से[2] पूछता है कि जिन्हें तुम ब्राह्मण कहते हो उनकी ब्राह्मणता का निश्चित प्रमाण क्या है ?। अतीतकाल बड़ा लम्बा है, स्त्रियों का मन भी चपल है, इस दशा में कौन कह सकता है कि ब्राह्मण कहलाने-वाली सन्तान के माता पिता शुद्ध ब्राह्मण ही रहे हों और कभी किसी विजातीयता का मिश्रण हुआ न हो। शान्तरक्षित[3] ने यह भी कह दिया कि सच्चे ब्राह्मण और श्रमण बुद्धशासन के सिवाय अन्य किसी धर्म में नहीं हैं (का० ३५८९-९२)। अन्त में शान्तरक्षित ने पहिले सामान्यरूप से सर्वज्ञत्व का सम्भव सिद्ध किया है, फिर उसे महावीर कपिल आदि में असम्भव बतलाकर केवल बुद्ध में ही सिद्ध किया है। इस विचारसरणी में शान्तरक्षित की मुख्य युक्ति यह[4] है कि चित्त स्वयं ही प्रभास्वर अतएव स्वभाव से प्रज्ञाशील है। क्लेशावरण ज्ञेयावरण आदि मल आगन्तुक हैं। नैरात्म्यदर्शन ही एक मात्र सत्यज्ञान है उसके द्वारा आवरणों का क्षय होकर भावनाबल से अन्त में स्थायी सर्वज्ञता का लाभ होता है। एकान्तिक[5] क्षणिकत्वज्ञान, नैरात्म्यदर्शन आदि का अनेकान्तवादगामी ऋषभ वर्धमानादि में तथा आत्मोपदेशक कपिलादि में सम्भव नहीं अतएव उनमें आवरणक्षय द्वारा सर्वज्ञत्व का भी सम्भव नहीं। इस तरह सामान्य सर्वज्ञत्व की सिद्धि के द्वारा अन्त में

---

१ "करुणापरतन्त्रास्तु स्पष्टतत्त्वनिदर्शिनः। सर्वापवादनिःशङ्काश्चक्रुः सर्वत्र देशनाम् ॥ यथा यथा च मौर्ख्यादिदोषदुष्टो महाजनः। तथा तथैव नाथानां दया तेषु प्रवर्तते ॥" तत्त्वसं० का० ३५७१-२।

२ "अनादिश्च महान् कालो योषितां चातिचापलम्। तद्भवत्यपि निश्चेतुं ब्राह्मणत्वं न शक्यते ॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो नहि कश्चित् समस्ति वः। तदन्वयविशुद्धिं च नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान् ॥" तत्त्वसं० का० ३५७९-८०।

३ "ये च वाहितपापत्वाद् ब्राह्मणाः पारमार्थिकाः। अभ्यस्तामलनैरात्म्यास्ते मुनेरेव शासने ॥ इहैव श्रमणस्तेन चतुर्धा परिकीर्त्यते। शून्याः परप्रवादा हि श्रमणैर्ब्राह्मणैस्तथा ॥" तत्त्वसं० का० ३५८९-९०

४ "[illegible] यथा ॥" तत्त्वसं० का० ३३३८। एवं क्लेशावरणप्रहाणं प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहाणं प्रसिद्धयति—"साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः। सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः ॥"—तत्त्वसं० का० ३३३९। "प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्। प्रकृत्यैव स्थितं यस्मात् मलास्त्वागन्तवो मताः ॥" तत्त्वसं० का० ३४३५। प्रमाणवा० १. १. ८।

५ "[illegible] ॥ [illegible] ॥" तत्त्वसं० ३३२५-२६।

अन्य तीर्थङ्करों में सर्वज्ञत्व का असम्भव बतलाकर केवल सुगत में ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया है और उसी के शास्त्र को ग्राह्य बतलाया है।

शान्तरक्षित की तरह प्रत्येक सांख्य या जैन आचार्य का भी यही प्रयत्न रहा है कि सर्वज्ञत्व का सम्भव अवश्य है पर वे सभी अपने अपने तीर्थङ्करों में ही सर्वज्ञत्व स्थापित करते हुए अन्य तीर्थङ्करों में उसका नितान्त असम्भव बतलाते हैं।

जैन आचार्यों की भी यही दलील रही है कि अनेकान्त सिद्धान्त ही सत्य है। उसके यथावत् दर्शन और आचरण के द्वारा ही सर्वज्ञत्व लभ्य है। अनेकान्त का साक्षात्कार व उपदेश पूर्णरूप से ऋषभ, वर्धमान आदि ने ही किया अतएव वे ही सर्वज्ञ और उनके उपदिष्ट शास्त्र ही निर्दोष व ग्राह्य हैं। सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलङ्क हों या हेमचन्द्र सभी जैनाचार्यों ने सर्वज्ञसिद्धि के प्रसङ्ग में वैसा ही युक्तिवाद अवलम्बित किया है जैसा बौद्ध सांख्यादि आचार्यों ने। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी[1] ने नैरात्म्यदर्शन को तो किसी[2] ने पुरुष-प्रकृति आदि तत्त्वों के साक्षात्कार को, किसी[3] ने द्रव्य-गुणादि छः पदार्थ के तत्त्वज्ञान को तो किसी[4] ने केवल आत्मज्ञान को यथार्थ कहकर उसके द्वारा अपने-अपने मुख्य प्रवर्तक तीर्थङ्कर में ही सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है जब जैनाचार्यों[5] ने अनेकान्तवाद की यथार्थता दिखाकर इसके द्वारा भगवान् ऋषभ वर्धमान आदि में ही सर्वज्ञत्व स्थापित किया है। जो कुछ हो इतना साम्प्रदायिक भेद रहने पर भी सभी सर्वज्ञवादी दर्शनों का, सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान और तज्जन्य क्लेशों का नाश और तद्द्वारा ज्ञानावरण के सर्वथा नाश की शक्यता आदि तात्त्विक विचार में कोई मतभेद नहीं।

पृ० १० पं० १५. 'दीर्घकाल'–तुलना–"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।"–योगसू० १.१४।

पृ० १० पं० १६. 'एकत्ववितर्क'–तुलना–"पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि।" "अविचारं द्वितीयम्।"–तत्त्वार्थ ९.४१, ४४। "वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।" "तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।" "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।"–योगसू० १.१७, ४२, ४७, ४८। भा यो भई भाष्य

---

१ मिथ्यात्वं निराकार कुर्वीना मनस्करम्। निमेयस्था दिवाभाक नैरात्म्यं तन्न रहस्यम्॥"–तत्त्वसं० का० ३३२२।

२ एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥–सांख्यका० ६४।

३ "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।"–वै० सू० १.१.४।

४ आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्।"–बृहदा० २.४.५।

५ 'त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥'–आप्तमी० का० ७। अयोग० का० २८।

विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं। वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं।"—मज्झिम० १।१।४।

पृ० १० पं० २३ 'न खल्वु कश्चिदहमस्मि'—तुलना—"यदि जातु कश्चिदत्र संदिग्धे अहं वा नाहं वेति, न च विपर्यस्यति नाहमेवेति"—ब्रह्म० शाङ्करभा० पृ० २। भामती पृ० ११। खण्डन पृ० ४८।

पृ० १० पं० २४ 'बाह्यभूत्वात्'—तुलना—

"प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मात् मलास्त्वागन्तवो मताः॥"—तत्त्वसं० का० ३४३५।

पृ० १० पं० २७ 'अथ प्रकाश'—पुनर्जन्म और मोक्ष मानने वाले सभी दार्शनिक देहादि जड़भिन्न आत्मतत्त्व को मानते हैं। चाहे वह किसी के मत से व्यापक हो या किसी के मत से अव्यापक, कोई उसे एक माने या कोई अनेक, किसी का मन्तव्य क्षणिकत्वविषयक हो या किसी का नित्यत्वविषयक पर सभी को पुनर्जन्म का कारण अज्ञान आदि कुछ न कुछ मानना ही पड़ता है। अतएव ऐसे सभी दार्शनिकों के सामने ये प्रश्न समान हैं—

जन्म के कारणभूत तत्त्व का आत्मा के साथ सम्बन्ध कब हुआ और वह सम्बन्ध कैसा है ?। अगर वह सम्बन्ध अनादि है तो अनादि का नाश कैसे ?। एक बार नाश होने के बाद फिर वैसा सम्बन्ध होने में क्या अड़चन ?। इन प्रश्नों का उत्तर सभी अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष माननेवाले दार्शनिकों ने अपनी अपनी जुदी-जुदी परिभाषा में भी वस्तुतः एक रूप से ही दिया है।

सभी ने आत्मा के साथ जन्म के कारण के सम्बन्ध को अनादि ही कहा है। सभी मानते हैं कि यह बतलाना सम्भव ही नहीं कि अमुक समय में जन्म के कारण मूलतत्त्व का आत्मा से सम्बन्ध हुआ। जन्म के मूलकारण को अज्ञान कहो, अविद्या कहो, कर्म कहो या और कुछ, पर सभी स्वसम्मत अमूर्त आत्मतत्त्व के साथ सूक्ष्मतम मूर्तत्त्व का एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं जो अविद्या या अज्ञान के अस्तित्व तक ही रहता है और फिर नहीं। अतएव सभी द्वैतवादी के मत से अमूर्त और मूर्त का पारस्परिक सम्बन्ध निर्विवाद है। जैसे अज्ञान अनादि होने पर भी नष्ट होता है वैसे वह अनादि सम्बन्ध भी ज्ञानजन्य अज्ञान का नाश होते ही नष्ट हो जाता है। पूर्णज्ञान के बाद दोष का सम्भव न होने के कारण अज्ञान आदि का उदय सम्भवित ही नहीं अतएव अमूर्त-मूर्त का सामान्य सम्बन्ध मोक्ष दशा में होने पर भी वह अज्ञानजन्य न होने के कारण जन्म का निमित्त बन नहीं सकता। संसारकालीन वह आत्मा और मूर्त द्रव्य का सम्बन्ध अज्ञानजनित है जब कि मोक्षकालीन सम्बन्ध वैसा नहीं है।

सांख्य-योग दर्शन आत्मा—पुरुष के साथ प्रकृति का, न्याय-वैशेषिक दर्शन परमाणुओं का, ब्रह्मवादी अविद्या—माया का, बौद्ध दर्शन चित्त—नाम के साथ रूप का और जैन दर्शन

जीव के साथ कर्माणुओं का संसारकालीन विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं। ये सब मान्यता पुनर्जन्म और मोक्ष के विचार में से ही फलित हुई हैं।

पृ० १० पं० २० 'अथ प्रकाशस्वभावत्व'–तुलना–"अतएव क्लेशगणोऽत्यन्तसमुद्धृतोऽपि नैरात्म्यदर्शनसामर्थ्यमस्योन्मूलयितुमसमर्थः। आगन्तुकप्रत्ययकृतत्वेनादृढत्वात्। नैरात्म्यप्रमाणं तु स्वभावत्वात् प्रमाणसहायत्वाच्च बलवदिति तुल्येऽपि विरोधित्वे आत्मदर्शने प्रतिपक्षा व्यवस्थाप्यते। नापि ताम्रादिकाठिन्यादिवत् पुनरुत्पत्तिसम्भवो दोषाणाम्, तद्विरोधिनैरात्म्यदर्शनस्यात्यन्तसात्म्यमुपगतस्य सदाऽनपायात्। ताम्रादिकाठिन्यस्य हि यो विरोधी वह्निस्तस्य कादाचित्कसन्निधित्वात् काठिन्यादेस्तदभाव एव भवत् पुनस्तदपायादुत्पत्तियुक्तम्। नत्वेवं मलानाम्। अपायेऽपि वा मार्गस्य भस्मादिभिरनैकान्तिकत्वाद्भावस्य पुनरुत्पत्तिसम्भवो दोषाणाम्, तथाहि—काष्ठादेरग्निसम्बन्धाद्भस्मसाद्भूतस्य तदपायेऽपि न प्राक्तनरूपानुवृत्तिः, सुवर्णस्य द्रवतायामपीत्यनैकान्तः। किञ्चागन्तुकतया प्रागप्यसमर्थानां मलानां परघातसात्मीभूतं तन्नैरात्म्यं बाधितुं कुतः शक्तिः, नहि स्वभावो यत्नमन्तरेण निवर्तयितुं शक्यते। न च प्राप्यपरिहर्तव्ययोर्वस्तुनोर्गुणदोषदर्शनमन्तरेण प्रेक्षावतां हातुमुपादातुं वा प्रयत्नो युक्तः। न च विपर्यस्ता(न चाविपर्यस्ता ?)त्मनः पुरुषस्य दोषेषु गुणदर्शनं प्रतिपक्षे वा दोषदर्शनं सम्भवति अविपर्यस्तत्वात्। नहि निर्दोषं वस्तु विपर्यस्तधियो दुष्टत्वेनोपाददते, नापि दुष्टं गुणवत्त्वेन"–तत्त्वसं० प० पृ० ८७४।

पृ० ११ पं० ६ 'अमूर्ताया अपि'–तुलना–"अमूर्तायाः अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः।"–प्रमेयर० पृ० ५६।

पृ० ११ पं० ८ 'वर्षातपा'–तुलना–'वसुन्ध–वर्षातपा"–भामती १ २ २६। न्यायम० पृ० ४८१।

पृ० ११ पं० १० 'ननु प्रमाणाधीना'–तुलना–"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।"–सांख्यका० ४।

पृ० ११ पं० २० 'विचारय'–तुलना–जैमि० १ २ १।

पृ० १२ पं० १ 'प्रज्ञाया अतिशय'–तुलना–'यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति।"–योगभा० १ २५। तत्त्ववै० १ २५।

पृ० १२ पं० ३ सूक्ष्मान्तरित–तुलना–आप्तमी० का० ५।

पृ० १२ पं० ४ 'ज्योतिर्ज्ञान'–तुलना–

"ग्रहाधिगतयः सद्यः सुखदुःखादिहेतवः।
येन साक्षात्कृतास्तेन किम साक्षात्कृतं जगत्।
आत्मा योऽस्य प्रवक्तायमपरालीढसत्पथः।
नास्यार्थं यदि जानाति नापद्रष्टुं प्रवर्तते॥

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि पश्यताम् ।
ज्योतिर्ज्ञानादिवत् सर्वं स्वत एव प्रवक्तृभिः ॥"–न्यायम० १ २८, ७५, ८ ।

"ज्योतिर्ज्ञानं ज्योतिःशास्त्रम्, आदिशब्दादायुर्वेदादि तत्रैव बहुधा ज्योतिःशास्त्रादौ तत्तत् दृष्टं हि तदर्थमस्य समर्थितत्वात् बहुतरमन्यदपि सर्वं तदेव दृष्टमेवान्यथा तद्विषयानुपदेशा त्रिकालमन्वयव्यतिरेकाभिसम्बन्धविशेषप्रणयनानुपपत्तेः ।"–न्यायम० टी० लि० पृ० ५६१ ।

पृ० १२ पं० १७ 'सर्वमस्ति'–तुलना–स्याद्वादम० का० १४ ।

"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥"–आप्तमी० का० १५ ।

"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित् कदाचन ॥" श्लोकवा० अभाव० श्लो० १२ ।

पृ० १२ पं० २७ 'ज्ञानमप्रति'–तुलना–शाक्तवा० १ २ ।

"इतिहासपुराणेषु ब्रह्मादिर्योपि सर्ववित् ।
ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं चेति कीर्तितम् ॥" तत्त्वसं० का० ३३६६ ।

पृ० १२ पं० ३० 'यत्कुमारिल'–तुलना– एतावत्कुमारिलेनोक्तं पूर्वपक्षोऽयम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ८३३–८४४ ।

पृ० १३ पं० १ 'मा सर्वज्ञ'—यहाँ आ० हेमचन्द्र ने कुमारिल के प्रति जैसा साम्प्रदायिक रोष व्यक्त किया है वैसा ही कुमारिल, शङ्कराचार्य आदि ने बुद्ध आदि के प्रति व्यक्त किया है ।—"स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविप्लुतमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः ।"–तन्त्रवा० पृ० ११६ ।

पृ० १४ पं० ८ 'बाधकाभावाच्च'–इस सूत्र का जो विषय है उसे विस्तार और बारीकी के साथ समझने के वास्ते तत्त्वसंग्रह की 'अतीन्द्रियदर्शिपुरुषपरीक्षा' का—"यादृशा सिद्धवस्तु स्यादित्यप्राप्तं न बाधकम्" (का० ३२५९) से–"तस्मात्सर्वज्ञसद्भावबाधकं नास्ति किञ्चन (का० ३३ ७)" तक का भाग पञ्जिका सहित ख़ास देखने योग्य है जो मीमांसकों के पूर्वपक्ष का ख़ासा जवाब है ।

पृ० १४ पं० ७ 'सुनिश्चिता'–तुलना–आप्तप० का० ११ । 'यदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्"–लघी० स्ववि० १ ४ । अष्टश० पृ० ४८ ।

पृ० १४ पं० १५ 'प्रथम सकल'– 'बाधकं ज्ञेयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुषपरिषत्परिज्ञानस्य तदन्यतराणुपपत्तेः तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिदनुपलम्भेऽपुण्यवत् । न वै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्व[वक्तृत्वात्]रथ्यापुरुषवत् । पुरुषातिशयसम्भवे अतीन्द्रियदर्शी किं न स्यात् । अत्र अनुपलम्भप्रमाणबलात् सर्वज्ञादिविशेषाभावे कुतः प्रमाणचेत्, अभेदात् साधकबाधकप्रमाणाभावात् ।"–लघी० स्ववि० १ ४

पृ० १४ पं० २१ 'वक्तृत्वात्'–मीमांसक ने सर्वज्ञत्व के निषेध में वक्तृत्व, पुरुषत्वादि जिन हेतुओं का प्रयोग किया है उनकी असाधकता सर्वज्ञत्ववादी शान्तरक्षित (तत्त्वसं० का० ३३५८–३४६६), अकलङ्क (अष्टश० अष्टस० पृ० ४४) और प्रभाचन्द्र ने (प्रमेयक० पृ० ७१ A) अपने अपने ग्रन्थों में बतलाई है पर उक्त तीनों आचार्यों का असाधकत्वप्रदर्शन प्रकार कुछ भिन्न-भिन्न है। वक्तृत्व हेतु के निरास का प्रकार प्रभाचन्द्र और आ० हेमचन्द्र का समान है।

पृ० १५ पं० ११ 'मनसो द्रव्य'–मनःपर्यायज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ देखी जाती हैं। एक परम्परा मानती है कि मनःपर्यायज्ञान, परकीय मन में चिन्त्यमान अर्थों को जानता है जब कि दूसरी परम्परा मानती है कि मनःपर्यायज्ञान चिन्तनव्यापृत मनोद्रव्य के पर्यायों को साक्षात् जानता है और चिन्त्यमान पदार्थ तो पीछे से अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि चिन्त्यमान पदार्थ मूर्त की तरह अमूर्त भी हो सकते हैं जिन्हें मनःपर्यायज्ञान विषय कर नहीं सकता।

पहली परम्परा आवश्यक निर्युक्ति की गाथा (७६)–

"मणपज्जवनाणं पुण जणमणपरिचिन्तियत्थपागडणं।
माणुसखित्तनिबद्धं गुणपच्चइयं चरित्तवओ ॥"

से तथा तत्त्वार्थभाष्य (१.२६) के–"अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यापन्नानि विशुद्धतराणि चेति"–शब्दों से प्रकट होती है। दूसरी परम्परा विशेषावश्यकभाष्य गाथा (८१४)–

"दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणन्ते।
तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेणुमाणाओ ॥"

से तथा नन्दीचूर्णि–'मुणियत्थे पुण पच्चक्खं णो पेक्खइ, जेण मणालंबणं मुत्तममुत्तं वा, सो य छउमत्थो तं अणुमाणओ पेक्खइ त्ति"–पृ० १६ B आदि से स्पष्ट होती है।

इन श्वेताम्बरीय दोनों परम्पराओं में से पहली ही एकमात्र परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय में पाई जाती है–'परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावन्मात्रापेक्षया'–सर्वार्थ० १-२१। गोम्मट० जीव० गा० ४३७। जान पड़ता है कि निर्युक्ति और तत्त्वार्थभाष्यगत परम्परा दिगम्बरीय साहित्य में सुरक्षित रही पर पीछे से साहित्यिक सम्बन्ध बिलकुल टूट जाने के कारण भाष्य-चूर्णि आदि में विकसित दूसरी परम्परा का पक्षान्तर रूप से या खण्डनीय रूप से दिगम्बरीय ग्रन्थों में अस्तित्व तक न आया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती तार्किक श्वेताम्बर आचार्यों की तरह इस जगह दूसरी परम्परा का ही अवलम्बन किया है। सच बात तो यह है कि पहली परम्परा जैन प्राचीन ग्रन्थों में निर्देशरूप से पाई जाती है सही पर व्यवहार में सर्वत्र सिद्धान्तरूप से दूसरी परम्परा का ही अवलम्बन श्वेताम्बर आचार्य करते हैं। पहली परम्परा में दोषोद्भावन

ज्ञान से दूसरी परम्परा का विकास हुआ। विकास के जन्मदाता सम्भवतः क्षमाश्रमण जिनभद्र हैं। विकास की यथार्थता देखकर पीछे से सभी ने क्रमशः उसको अपनाया। फिर भी पहली परम्परा शब्दों में तो प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित रह ही गई।

आश्चर्य तो यह है कि अकलङ्क विद्यानन्द आदि जैसे सूक्ष्मप्रज्ञ दिगम्बराचार्यों को स्वतन्त्र रूप से भी पहली परम्परा के दोष का भान क्यों नहीं हुआ?। उन्होंने उसमें शङ्का क्यों नहीं उठाई?।

पृ० १५. पं० ११ 'मनःपर्याय'–तुलना–'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥'–योगसू० ३.१९। योगभा० ३.१९।

आकङ्खेय्य चे भिक्खवे भिक्खु परसत्तानं परपुग्गलानं चेतसा चेतो परिच्च पजानेय्यं सरागं वा चित्तं सरागं चित्तंऽति पजानेय्यं, वीतरागं सदोसं वीतदोसं समोहं वीतमोहं संखित्तं विक्खित्तं महग्गतं अमहग्गतं सउत्तरं अनुत्तरं समाहितं असमाहितं विमुत्तं अविमुत्तं वा चित्तं अविमुत्तं चित्तंऽति पजानेय्यंऽति, सीलेस्वेवस्स परिपूरकारी सुञ्ञागारानं।'–मज्झिम० १.१.६।

पृ० १५ पं० २७ 'विषयकृतश्च'–तुलना–'रूपिष्ववधेः। तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य।'–तत्त्वार्थ० १. २– २९।

पृ० १६ पं० २ 'सांव्यवहारिकम्'–देखो १.१.११ का टिप्पण पृ० १९।

पृ० १६ पं० ८ 'समीचीनः'–तुलना–प्रमेयक० २.५।

पृ० १६ पं० १० 'इन्द्रियमनोनिमित्तम्'–तुलना–"इन्द्रियज्ञानम्। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्।"–न्यायबि० १.८,९।

पृ० १६ पं० १२ 'ननु स्वसंवेदन'–तुलना–प्रमेयक० २.५।

पृ० १६ पं० १७ 'स्पर्श'–इन्द्रियनिरूपण प्रसङ्ग में मुख्यतया नीचे लिखी बातों पर दर्शनशास्त्रों में विचार पाया जाता है–

इन्द्रिय पद की निरुक्ति, इन्द्रियों का कारण, उनकी संख्या, उनके विषय, उनके आकार, उनका पारस्परिक भेदाभेद, उनके प्रकार तथा द्रव्य-गुणादिरूपविवेक इत्यादि।

अभी तक जो कुछ देखने में आया उससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियपद की निरुक्ति जो सबसे पुरानी लिपिबद्ध है वह पाणिनि के सूत्र[1] में ही है। यद्यपि इस निरुक्तिवाले पाणिनीय सूत्र के ऊपर कोई व्याख्या पतञ्जलि के उपलब्ध महाभाष्य में दृष्टिगोचर नहीं होता

---

१ "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।"–५.२.९३।

तथापि सम्भव है पाणिनीय सूत्रों की अन्य कोई प्राचीन व्याख्या या व्याख्याओं में उस सूत्र पर कुछ व्याख्या लिखी गई हो। जो कुछ हो पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि प्राचीन बौद्ध और जैन दार्शनिक ग्रन्थों में पाई जानेवाली पाणिनीय सूत्रोक्त इन्द्रियपद की निरुक्ति किसी न किसी प्रकार से पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के अभ्यास में से ही उक्त बौद्ध जैन ग्रन्थों में दाखिल हुई है। विशुद्धिमार्ग[1] जैसे प्रतिष्ठित बौद्ध और तत्त्वार्थभाष्य[2] जैसे प्रतिष्ठित जैन दार्शनिक ग्रन्थ में एक बार स्थान प्राप्त कर लेने पर तो फिर वह निरुक्ति उत्तरवर्ती सभी बौद्ध-जैन महत्त्वपूर्ण दर्शन ग्रन्थों का विषय बन गई है।

इस इन्द्रिय पद की निरुक्ति के इतिहास में मुख्यतया दो बातें खास ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि बाद वैयाकरण जो स्वतन्त्र हैं और जो पाणिनीय के व्याख्याकार हैं उन्होंने उस निरुक्ति को अपने अपने ग्रन्थों में कुछ विस्तार से स्थान दिया है। और आ० हेमचन्द्र[3] जैसे स्वतन्त्र जैन वैयाकरण ने भी अपने व्याकरणसूत्र तथा वृत्ति में पूरे विस्तार से उसे स्थान दिया है। दूसरी बात यह कि पाणिनीय सूत्रों के बहुत ही अर्वाचीन व्याख्या ग्रन्थों के अलावा और किसी वैदिक दर्शन के ग्रन्थ में वह इन्द्रियपद की निरुक्ति पाई नहीं जाती जैसी कि बौद्ध जैन दर्शन ग्रन्थों में पाई जाती है। जान पड़ता है, जैसा अनेक स्थलों में हुआ है वैसे ही, इस सम्बन्ध में असल में शाब्दिकों की शब्दनिरुक्ति बौद्ध-जैन दर्शन ग्रन्थों में स्थान पाकर फिर वह दार्शनिकों की चिन्ता का विषय भी बन गई है।

माठरवृत्ति[4] जैसे प्राचीन वैदिक दर्शनग्रन्थ में इन्द्रिय पद की निरुक्ति है पर वह पाणिनीय सूत्र और बौद्ध-जैन दर्शनग्रन्थों में लभ्य निरुक्ति से बिलकुल भिन्न और विलक्षण है।

जान पड़ता है पुराने समय में शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति बतलाना यह एक ऐसा आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था कि जिसकी उपेक्षा कोई बुद्धिमान् लेखक नहीं करता था। व्युत्पत्ति और निरुक्ति बतलाने में ग्रन्थकार अपनी स्वतन्त्र कल्पना का भी पूरा उपयोग करते थे। यह वस्तुस्थिति केवल प्राकृत पाली शब्दों तक ही परिमित न थी बल्कि संस्कृत शब्दों में भी थी। इन्द्रियपद की निरुक्ति इसी का एक उदाहरण है।

---

१ "को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति ? । इन्दलिङ्गट्ठो इन्द्रियट्ठो इन्ददेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो इन्ददिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो इन्दसिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; सो सब्बोपि इध यथायोगं युज्जति। भगवा हि सम्मासम्बुद्धो परमिस्सरियभावतो इन्दो कुसलाकुसलं च कम्मं कम्मेसु कस्सचि इस्सरियाभावतो। तेनेवेत्थ कम्मसञ्जनितानि ताव इन्द्रियानि कुसलाकुसलकम्मं उल्लिङ्गेन्ति। तेन च सिट्ठानीति इन्दलिङ्गट्ठेन इन्दसिट्ठट्ठेन च इन्द्रियानि। सब्बानेव पनेतानि भगवता यथाभूततो पकासितानि अभिसम्बुद्धानि चाति इन्ददेसितट्ठेन इन्ददिट्ठट्ठेन च इन्द्रियानि। तेनेव भगवता मुनिन्देन कानिचि गोचरासेवनाय कानिचि भावनासेवनाय सेवितानीति इन्दजुट्ठट्ठेनापि इन्द्रियानि। अपि च आधिपच्चसङ्खातेन इस्सरियट्ठेनापि एतानि इन्द्रियानि। चक्खुविञ्ञाणादिप्पवत्तियञ्हि चक्खादीनं सिद्धं आधिपच्चं तस्मिं तिक्खे तिक्खत्ता मन्दे मन्दत्ताति। अयं ताव एत्थ अत्थतो विनिच्छयो।"–विसुद्धि० पृ० ४९१।

२ तत्त्वार्थभा० २.१५। सर्वार्थ० १.१४।

३ इन्द्रियम्। –हैमश० ७.१.१७४।

४ "इन इति विषयाणां नाम तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि।"–माठर० का० २६।

मनोरञ्जक बात तो यह है कि शाब्दिक क्षेत्र से चलकर इन्द्रियपद की निरुक्ति ने दार्शनिक क्षेत्र में जब प्रवेश किया तभी उस पर दार्शनिक सम्प्रदाय की छाप लग गई। बुद्धघोष[1] इन्द्रियपद की निरुक्ति में और सब अर्थ पाणिनिकथित बतलाते हैं पर इन्द्र का अर्थ सुगत बतलाकर भी उस निरुक्ति को सङ्गत करने का प्रयत्न करते हैं। जैन आचार्यों ने इन्द्रपद का अर्थ मात्र जीव या आत्मा ही सामान्य रूप से बतलाया है। उन्होंने बुद्धघोष की तरह उस पद का स्वाभिप्रेत तीर्थङ्कर अर्थ नहीं किया है। न्याय-वैशेषिक जैसे ईश्वर कर्तृत्ववादी किसी वैदिक दर्शन के विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में इस निरुक्ति को स्थान दिया होता तो शायद वह इन्द्रपद का ईश्वर अर्थ करके भी निरुक्ति सङ्गत करता।

सांख्यमत के अनुसार इन्द्रियों का उपादान कारण अभिमान है जो प्रकृतिजन्य एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य ही है—सांख्यका० २५। यही मत वेदान्त को मान्य है। न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार (न्यायसू० १. १. १२) इन्द्रियों का कारण पृथ्वी आदि भूतपञ्चक है जो जड़ द्रव्य ही है। यह मत पूर्वमीमांसक को भी अभीष्ट है। बौद्धमत के अनुसार प्रसिद्ध पाँच इन्द्रियाँ रूपजन्य होने से रूप ही हैं जो जड़ द्रव्यविशेष है। जैन दर्शन भी द्रव्य—स्थूल इन्द्रियों के कारणरूप से पुद्गलविशेष का ही निर्देश करता है जो जड़ द्रव्यविशेष ही है।

कर्णशष्कुली, अक्षिगोलककृष्णसार, त्रिपुटिका, जिह्वा और चर्मरूप जिन बाह्य आकारों को साधारण लोग अनुक्रम से कर्ण, नेत्र, घ्राण, रसन और त्वक् इन्द्रिय कहते हैं वे बाह्याकार सर्व दर्शनों में इन्द्रियाधिष्ठान[2] ही माने गये हैं—इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रियाँ तो उन आकारों में स्थित अतीन्द्रिय वस्तुरूप से मानी गई हैं, चाहे वे भौतिक हों या आहङ्कारिक। जैन दर्शन उन पौद्गलिक अधिष्ठानों को द्रव्येन्द्रिय कहकर भी यही भाव सूचित करता है कि—अधिष्ठान वस्तुतः इन्द्रियाँ नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार भी इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं पर वे भौतिक या आभिमानिक जड़ द्रव्य न होकर चेतनशक्तिविशेषरूप हैं जिन्हें जैन दर्शन भावेन्द्रिय—मुख्य इन्द्रिय—कहता है। मन नामक छठ्ठ इन्द्रिय सब दर्शनों में अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण रूप से मानी गई है। इस तरह छः बुद्धि इन्द्रियाँ तो सर्व दर्शन साधारण हैं पर सिर्फ सांख्यदर्शन ऐसा है जो वाक्, पाणि, पादादि पाँच कर्मेन्द्रियों को भी इन्द्रियरूप से गिनकर उनकी ग्यारह संख्या (सांख्यका० २४) बतलाता है। जैसे वाचस्पति मिश्र और जयन्त ने सांख्यपरिगणित कर्मेन्द्रियों को इन्द्रिय मानने के विरुद्ध कहा[3] है वैसे ही आ० हेमचन्द्र ने भी कर्मेन्द्रियों के इन्द्रियत्व का निरास करके अपने पूर्ववर्ती[4] पूज्यपादादि जैनाचार्यों का ही अनुसरण किया है।

---

१ देखो टिप्पण पृ० ३९ टिप्पणी १।
२ न्यायम० पृ० ४७७।
३ तात्पर्य० पृ० ५३१। न्यायम० पृ० ४८३।
४ तत्त्वार्थभा० २. १५। सर्वार्थ० २. १५।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि पूज्यपादादि प्राचीन जैनाचार्य तथा वाचस्पति, जयन्त आदि अन्य विद्वानों ने जब इन्द्रियों की सांख्यसम्मत ग्यारह संख्या का बलपूर्वक खण्डन किया है तब उन्होंने या और किसी ने बौद्ध अभिधर्म[1] में प्रसिद्ध इन्द्रियों की बाईस संख्या का प्रतिषेध या उल्लेख तक क्यों नहीं किया ? । यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उन्होंने किसी संस्कृत अभिधर्म ग्रन्थ को भी न देखा हो । जान पड़ता है बौद्ध अभिधर्मपरम्परा में प्रत्येक मानसशक्ति का इन्द्रियपद से निर्देश करने की साधारण प्रथा है ऐसा विचार करके ही उन्होंने उस परम्परा का उल्लेख या खण्डन नहीं किया है ।

ख. इन्द्रियों के शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि प्रतिनियत विषय मान्य हैं । इसमें तो सभी दर्शन एकमत हैं पर न्याय-वैशेषिक का इन्द्रियों के द्रव्यग्राहकत्व के सम्बन्ध में अन्य सबके साथ मतभेद है । इतर सभी दर्शन इन्द्रियों को गुणग्राहक मानते हुए भी गुण-द्रव्य का अभेद होने के कारण छहों इन्द्रियों को द्रव्यग्राहक भी मानते हैं जब कि न्याय वैशेषिक और पूर्वमीमांसक वैसा नहीं मानते । वे सिर्फ नेत्र, स्पर्शन और मन को द्रव्यग्राहक कहते हैं अन्य को नहीं (मुक्ता० का० ५३-५६) । इसी मतभेद को आ० हेमचन्द्र ने स्पर्श आदि शब्दों की कर्म-भावप्रधान व्युत्पत्ति बतलाकर व्यक्त किया है और साथ ही अपने पूर्वगामी जैनाचार्यों का पदानुगमन भी ।

इन्द्रिय एकत्व और नानात्ववाद की चर्चा दर्शनपरम्पराओं में बहुत पुरानी है—न्यायसू० ३. १. ५२ । कोई इन्द्रिय को एक ही मानकर नाना स्थानों के द्वारा उसके नाना कार्यों का समर्थन करता है, जब कि सभी इन्द्रियनानात्ववादी उस मत का खण्डन करके सिर्फ नानात्ववाद का ही समर्थन करते हैं । आ० हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में जैन प्रक्रिया सुलभ अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों में पारस्परिक एकत्व-नानात्व उभयवाद का समन्वय करके प्राचीन जैनाचार्यों का ही अनुसरण किया है और प्रत्येक एकान्तवाद में परस्पर दिये गये दूषणों का परिहार भी किया है ।

इन्द्रियों के स्वामित्व की चिन्ता भी दर्शनों का एक खास विषय है । पर इस सम्बन्ध में जितनी अधिक और विस्तृत चर्चा जैनदर्शन में पाई जाती है वैसी अन्य दर्शनों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती । वह बौद्ध दर्शन में है पर जैनदर्शन के मुकाबिले में अल्पमात्र है । स्वामित्व की इस चर्चा को आ० हेमचन्द्र ने एकादश-अङ्गावलम्बी तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में से अक्षरशः लेकर इस सम्बन्ध में सारा जैनमन्तव्य प्रदर्शित किया है ।

पृ० १७ पं० ५ 'तत्र स्पर्शनेन्द्रियम्'—तुलना—"वाय्वन्तानामेकम् ।"—तत्त्वार्थ० २. २३ ।

---

१ "कतमानि द्वाविंशतिः । चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं जिह्वेन्द्रियं कायेन्द्रियं मन इन्द्रियं स्त्रीन्द्रियं पुरुषेन्द्रियं जीवितेन्द्रियं सुखेन्द्रियं दुःखेन्द्रियं सौमनस्येन्द्रियं दौर्मनस्येन्द्रियं उपेक्षेन्द्रियं श्रद्धेन्द्रियं वीर्येन्द्रियं स्मृतीन्द्रियं समाधीन्द्रियं प्रज्ञेन्द्रियं अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियं आज्ञेन्द्रियं आज्ञातावीन्द्रियम् ।"—स्फुटा० पृ० ९५ । विसुद्धि० पृ० ४९१ ।

पृ० १७ पं० १२ 'अग्रे वक्ष्यते'—प्रस्तुत ग्रन्थ का आगे का भाग अलभ्य है। अतः आगम और अनुमान के द्वारा जीवत्वसिद्धि किस प्रकार शास्त्र में की जाती है इसके लिये देखो—सन्मतिटी पृ ६५२ टि १; पृ ६५३ टि ४; पृ ६५४ टि १।

पृ० १७ पं० १२ 'स्पर्शनरसनेन्द्रिये'—तुलना—तत्त्वार्थभा २ २४।

पृ० १७ पं० १८ 'ननु वचन'—तुलना—सांख्यका २६, २८।

पृ० १७ पं० २२ 'तेषां च परस्परम्'—तुलना—तत्त्वार्थरा २ १६। तत्त्वार्थश्लो १ १६।

पृ० १८ पं० ७ 'एषामिन्द्रियविषयाणाम्'—तुलना—सर्वार्थ २ २। तत्त्वार्थरा २ १।

पृ० १८ पं० २० 'लम्भनम्'—तुलना—"लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः।"—लघी स्ववि १ ५।

पृ० १८ पं० २ 'यत्सन्निधाना'—तुलना—सर्वार्थ २ १८। "उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः।"—लघी स्ववि १ ५।

पृ० १८ पं० २४ 'तत्र लब्धिस्वभावं तावदिन्द्रियम्'—तुलना तत्त्वार्थश्लो २ १८।

पृ० १९ पं० १ 'स्वार्थप्रकाशने'—तुलना—सर्वार्थ २ १८।

पृ० १९ पं० ८ 'सर्वार्थे'—मन के स्वरूप, कारण, कार्य, धर्म और स्थान आदि अनेक विषयों में दार्शनिकों का नानाविध मतभेद है जो संक्षेप में इस प्रकार है। वैशेषिक (वै सू ७ १ २३) नैयायिक (न्यायसू १ २ ६१) और तदनुगामी पूर्वमीमांसक (प्रकरणप पृ १५१) मन को परमाणुरूप अतएव नित्य—कारणरहित मानते हैं। सांख्य-योग और तदनुगामी वेदान्त उसे परमाणुरूप नहीं फिर भी अणुरूप और जन्य मानकर उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहङ्कार तत्त्व[1] से या अविद्या से मानते हैं। बौद्ध और जैन परम्परा के अनुसार मन न तो व्यापक है और न परमाणुरूप। वे दोनों परम्पराएँ मन को मध्यम परिमाणवाला और जन्य मानती हैं। बौद्ध परम्परा[2] के अनुसार मन विज्ञानात्मक है और वह उत्तरवर्ती विज्ञानों का समनन्तरकारण पूर्ववर्ती विज्ञानरूप है। जैन परम्परा के अनुसार पौद्गलिक मन तो एक खास प्रकार के सूक्ष्मतम मनोवर्गणानामक जड़ द्रव्यों से उत्पन्न होता है और

---

१ "यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि च सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यन्ते मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते।"—माठर का० २७।

२ "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः मन आयतनं च तत्। षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः॥"—अभिधर्म १ १६ १७। तत्त्वसं का ६३१।

यत् यत्समनन्तरनिरुद्धं विज्ञानं तत्तन्मनोधातुरिति। तद्यथा स एव पुत्रोऽन्यस्य पित्राख्यां लभते तदेव चान्यस्य बीजाख्याम्। तथेहापि स एव चक्षुरादिविज्ञानधातुरन्यस्याश्रय इति मनोधात्वाख्यां लभते। य एव षड् विज्ञानधातव स एव मनोधातुः। य एव च मनोधातुस्त एव च षड् विज्ञानधातव इती तरेतरान्तर्भावः षष्ठाश्रयप्रसिद्ध्यर्थं तु षड्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽस्त्यपि मनोधातुः।"—स्फुटा पृ० ४० ४१।

वह प्रतिक्षण शरीर की तरह परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है जब कि भावमन ज्ञानशक्ति और ज्ञानरूप होने से चेतनद्रव्यजन्य है।

सभी दर्शनों के मतानुसार मन का कार्य इच्छा, द्वेष सुख, दुःख आदि गुणों की तथा उन गुणों के अनुभव की उत्पत्ति कराना है, चाहे वे गुण किसी के मत से आत्मगत हों जैसे न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, जैन आदि के मत से या अन्तःकरण–बुद्धि[1] के हों जैसे सांख्य योग-वेदान्तादि के मत से, या स्वगत ही हों जैसे बौद्धमत से। बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान की उत्पत्ति में भी मन निमित्त बनता है और बहिरिन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानादि गुणों की उत्पत्ति में भी वह निमित्त बनता है। बौद्धमत के सिवाय किसी के भी मत से इच्छा, द्वेष, ज्ञान, सुख, दुःख संस्कार आदि धर्म मन के नहीं हैं। वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक और जैन के अनुसार वे गुण आत्मा के हैं पर सांख्य-योग-वेदान्तमत के अनुसार वे गुण बुद्धि—अन्तःकरण—के ही हैं। बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व अलग न मानकर उसके स्थान में नाम—मन ही को मानता है अतएव उसके अनुसार इच्छा, द्वेष, ज्ञान, संस्कार आदि धर्म जो दर्शनभेद से आत्मधर्म या अन्तःकरणधर्म कहे गये हैं वे सभी मन के ही धर्म हैं।

न्याय-वैशेषिक-बौद्ध[2] आदि कुछ दर्शनों की परम्परा मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानती है। सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्म–लिङ्गशरीर में, जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है। और सूक्ष्मशरीर का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर सिद्ध होता है। जैन परम्परा के अनुसार भावमन का स्थान आत्मा ही है। पर द्रव्यमन के बारे में पक्षभेद देखे जाते हैं। दिगम्बर पक्ष द्रव्यमन को हृदयप्रदेशवर्ती मानता है जब कि श्वेताम्बर पक्ष की ऐसी मान्यता का कोई उल्लेख नहीं दिखता। जान पड़ता है श्वेताम्बर परम्परा को समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है।

पृ० १६ पं० १० 'सर्वार्थग्रहणम्'—तुलना– 'सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्ति इति सर्वविषयम् अन्तःकरणं मनः।"—न्यायभा० १.१.६। 'सर्वविषयमवगाहते यस्मात्'—सांख्यका० ३५।

पृ० १६ पं० १७ 'मनोऽपि'—तुलना–"मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः।"—सर्वार्थ० २.११ पृ० १६।

पृ० १६ पं० २२ 'रूपाद्याकमनस्कार'—तुलना—नयचक्र लि० पृ० ४ B। प्रमेयकमल० टी० पृ० २६।

---

[1] "परमार्थतस्तु धर्मा बुद्धेर्नात्मनः" ।—सर्वद० पात० पृ० ३४२।

[2] "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति। —स्फुटा० पृ० ४१।

नागार्जुन की माध्यमिककारिका–

"चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् ।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥"

में (१. २) तथा वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश (परि. २ श्लो. ६१-६४) में चार प्रत्ययों का कथन व वर्णन किया है जिसका खुलासा वाचस्पति मिश्र ने भामती (२. २. १९) में तथा माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. १९) में सविस्तर किया है। वे ही चार प्रत्यय ज्ञाननिमित्तरूप से आ० हेमचन्द्राद्युद्धृत इस कारिका में निर्दिष्ट हैं–

"नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता। समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्रूपग्रहणप्रतिनियमः। आलोकात्सहकारिप्रत्ययहेतोः स्पष्टार्थता। एवं सुखादीनामपि चैत्तानां चित्ताभिन्नहेतुजानां चत्वार्येतान्येव कारणानि।"–भामती २. २. १९।

पृ० १९ पं० २५. 'नार्थालोकौ'–अकलङ्क से लेकर सभी जैन तार्किकों ने जिस अर्थालोककारणतावाद का निरास किया है वह बौद्ध का ही है। न्याय आदि दर्शनों में भी जन्यप्रत्यक्ष के प्रति अर्थ कारण माना गया है और चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोक भी। तब प्रश्न होता है कि क्या उन जैनाचार्यों के सामने उक्त कारणतासमर्थक बौद्ध ग्रन्थ ही थे और न्याय आदि के ग्रन्थ न थे? या नैयायिकों ने उस पर चर्चा ही न की थी?। इसका उत्तर यह है कि उस प्राचीन समय में नैयायिक आदि वैदिक दार्शनिकों ने अर्थ और आलोक की कारणताविषयक कोई खास चर्चा छेड़ी न थी और तद्विषयक खास सिद्धान्त भी स्थिर नहीं किये थे जैसे कि बौद्ध तार्किकों ने इस विषय में विस्तृत ऊहापोह करके सिद्धान्त स्थिर किये थे। अतएव जैन तार्किकों के सामने बौद्धवाद ही उक्त कारणतावादरूप से उपस्थित रहा और उन्होंने उसी का निरास किया। गङ्गेश उपाध्याय ने अपने प्रत्यक्ष चिन्तामणि ग्रन्थ (पृ. ७२) में विषय और आलोक के कारणत्व का स्पष्ट एवं स्थिर सिद्धान्त रखा। पर आ० हेमचन्द्र गङ्गेश के समकालीन होने से उनके देखने में चिन्तामणि-ग्रन्थ नहीं आया। यही कारण है कि आ० हेमचन्द्र ने इस अर्थालोककारणतावाद के निरास में अपने पूर्ववर्ती जैन तार्किकों का ही अनुसरण किया है।

तदुत्पत्ति-तदाकारता का सिद्धान्त भी बौद्ध है। बौद्धों में भी वह सौत्रान्तिक का है क्योंकि सौत्रान्तिक बाह्य विषय का अस्तित्व मानकर ज्ञान को तज्जन्य-तदाकार मानते हैं। इस सिद्धान्त का खण्डन विज्ञानवादी योगाचार बौद्धों ने ही किया है जो प्रमाणवार्तिक और उसकी टीका प्रमाणवार्तिकालङ्कार (पृ. ११) आदि में देखा जाता है। जैन तार्किकों ने प्रथम से ही उसी खण्डनसरणी को लेकर उस वाद का निरास किया है।

पृ० २० पं० १. 'न चासामर्थ्य'–तुलना– 'नानुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय इति वादिगणोक्तम्। तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं आवरणविच्छेदात्।

आलोके सत्यपि संशयज्ञानसम्भवात् काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शुक्लशङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेर्मुमूर्षूणां यथासम्भवमर्थेऽसत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावान्नार्थालोकौ कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ।"—लघी स्ववि १ ७ ।

पृ० २० पं० ३ 'योगिनां च'—तुलना—तत्त्वार्थश्लो० १ १४ ७-९ । प्रमेयक० पृ० ६४ A

पृ० २० पं० १५ 'तस्मात्'—तुलना—

"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥"—लघी १.९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१८ ।

पृ० २० पं० १९ 'तदुत्पत्तिमन्तरेण'—तुलना—

"मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथानेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥"—लघी १ ७ ।

"यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः ।"—लघी स्ववि० १ ७ ।

"न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥"—लघी १ ८ ।

परी २ ८, ९ । प्रमाणन ४ ४६, ४७ ।

अ० १ आ० १ सू० २१ २९ पृ० २१ सब प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति का विचार करते समय सभी भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञानों के कारण, उनके विषय, उनकी उत्पत्ति का क्रम तथा उनके कार्य आदि का अपने-अपने ढङ्ग से विचार किया है । आ० हेमचन्द्र ने यहाँ जो इन्द्रिय-मनोजन्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कारण, विषयादि का कथन किया है वह जैनपरम्परा के अनुसार है । कारण उत्पत्तिक्रम, विषयभेद स्पष्टता का तरतमभाव, स्थिति, कार्य आदि अनेक मुद्दे प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखते हैं ।

बौद्ध परम्परा में चित्तप्रवृत्ति का निरूपण करते हुए चक्षुर्विज्ञान आदि छ: विज्ञान वीथियों को लेकर उन्हीं मुद्दों पर बौद्ध तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया के अनुसार सूक्ष्म और आकर्षक प्रकाश डाला गया है—अभिधम्मत्थ ४ १ से ।

वैदिक दर्शनों में भी न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने, जिनका इस विषय का मत पूर्वमीमांसक को भी मान्य है निर्विकल्पक, सविकल्पक आदि क्रम से प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में उन्हीं मुद्दों पर बड़े विस्तार और बहुत सूक्ष्मता से विचार किया है—प्रश० पृ० १८९ । श्लोकवा० प्रत्यक्ष श्लो० ११२ १२ । मुक्ता० का० ५२ ५१ । सांख्यदर्शन ने भी—जिसकी प्रक्रिया योग, वेदान्तादि दर्शनों को मान्य है—अपनी प्रक्रिया के अनुसार इस सम्बन्ध में विचार किया है—सांख्यका० १ । माठर । तत्त्वकौ० ।

आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत चार सूत्रों में उक्त मुद्दों के ऊपर जैन परम्परा के मन्तव्य का सूत्रण किया है । यह सूत्रण यद्यपि सामान्यरूप से आगमिक और आगमावलम्बी तार्किक

दोनों जैन परम्परा का संग्राहक है तथापि इस सूत्र में जो शाब्दिक रचना और जो आर्थिक वक्तव्य है वह परवर्ती अकलङ्क की कृति के साथ अधिक सादृश्य रखता है।

पृ० २१ पं० ८ 'एतेन दर्शनस्य'—तुलना—"अक्षार्थयोग्यतासत्तायां तदनन्तरभूतं सन्मात्रान्तर्गतं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पम् उत्तरं परिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः।"—लघी० स्ववि० १.५।

पृ० २१ पं० १२ 'प्रतिसंख्यानेन'—बौद्ध तार्किक जिस प्रत्यक्षप्रमाणरूप मानते हैं उस निर्विकल्पक ज्ञान को दर्शन या अनध्यवसाय कहकर आ० हेमचन्द्र ने प्रमाणकोटि से बाहर रक्खा है, और उसके अनन्तरभावी अवग्रह से प्रमाणभूत ज्ञानपरम्परा का प्रारम्भ मानकर इन्द्रियजन्य उस अवग्रह को मानसविकल्प से भी भिन्न कहा है। बौद्ध तार्किक मानसविकल्प को अप्रमाण मानकर उसका प्रतिसंख्यानात्मक समाधिविशेषभावी भावना से नाश मानते हैं—"प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्" "विसंयोगः क्षयो धियाम्" अभिध० १.६; २.५७। तत्त्वसं० प० पृ० ५७०। मध्य० वृ० पृ० १६६, ५१६। अभिधम्मत्थ० १.२८। ब्र० शाङ्करभा० २.२.२२।

पृ० २१ पं० २८ 'ईहित'—आगम और उसकी चूर्णि आदि व्याख्याओं में जब तक प्राकृत भाषा का सम्बन्ध रहा तब तक अवाय शब्द का प्रयोग ही देखा जाता है। प्राकृत 'अवाय' शब्द संस्कृत 'अपाय' और संस्कृत 'अवाय' दोनों से निष्पन्न होता है। उमास्वाति ने अवाय का संस्कृत अपाय बनाकर उसी को मूल सूत्र और भाष्य में प्रयुक्त किया है। पूज्यपाद आदि दिगम्बराचार्यों ने संस्कृत अवाय शब्द को ही सूत्रपाठ एवं अपनी अपनी व्याख्याओं में रखा है।

यद्यपि अकलङ्क ने पूज्यपाद के अनुसार संस्कृत शब्द तो रखा अवाय, पर उनकी दृष्टि भाष्यप्रयुक्त अपाय शब्द की ओर भी गई और उनके मन में प्रश्न हुआ कि क्या संस्कृत में भाष्यानुसार अपाय शब्द का प्रयोग ठीक है या सर्वार्थसिद्धि के अनुसार अवाय शब्द का प्रयोग ठीक है?। इस प्रश्न का जवाब उन्होंने बुद्धिपूर्वक दिया है। उन्होंने देखा कि अपाय और अवाय ये दोनों संस्कृत शब्द प्राकृत अवाय शब्द में से फलित हो सकते हैं। तब दोनों संस्कृत शब्दों का पाठ क्यों न मान लिया जाय?। यह सोचकर उन्होंने संस्कृत में उक्त दोनों शब्दों के प्रयोग को सही बतलाया फिर भी दोनों शब्दों के प्रयोग में थोड़ा-सा अर्थभेद दिखलाया। वे कहते हैं कि जब निर्णय में व्यावृत्तिप्रधानता रहती है तब वह अपाय है और जब विधिप्रधानता रहती है तब वह अवाय है। अपाय में भी विधि अंश गौणरूपेण आ ही जाता है। इसी तरह अवाय में भी गौणरूपेण निषेध अंश आ जाता है। अतएव चाहे अपाय शब्द का प्रयोग करो चाहे अवाय शब्द का पर वस्तुतः दोनों शब्द विशेषावधारणरूप निर्णयबोधक होने से पर्यायमात्र हैं—तत्त्वार्थरा० १.१५।

पृ० २२ पं० ३ 'संख्येयमसंख्येयं वा'–तुलना–

"उग्गहो एक्कं समयं ईहावाया मुहुत्तमंतं तु ।
कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा ॥"–आव० नि० ४। नन्दी० सू० ३४।

पृ० २२ पं० ६ 'ज्ञानादतिरिक्त'–तुलना–प्रशस्त० पृ० २६७। मुक्ता० का० १६, १६१।

पृ० २२ पं० ८ 'न ह्यविच्युतिमपि'–जैनपरम्परा में मतिज्ञान का धारणात्मक चौथा भेद है। आगम (नन्दी सू० ३४), निर्युक्ति (आव० नि० ३) और तत्त्वार्थभाष्य (१. १५) तक में धारणा का पर्यायकथन के सिवाय कोई खास विशेषतापूर्वक अर्थकथन देखा नहीं जाता। जान पड़ता है कि इस बारे में प्रथम प्रयत्न पूज्यपाद का (सर्वार्थ० १. १५) है। पूज्यपाद ने अविस्मृति के कारण को धारणा कहकर जो नया अर्थसूचन किया उसके ऊपर दो परम्पराएँ शुरू हुईं। क्षमाश्रमण जिनभद्र ने निर्युक्ति का भाष्य करते समय धारणा का बारीकी एवं विस्तार के साथ विचार किया और अन्त में बतलाया कि अविच्युति वासना (जिसे संस्कार भी कहते हैं) और स्मृति ये तीनों धारणा[1] हैं। पूज्यपाद के अनुगामी अकलङ्क (तत्त्वार्थरा० १. १५), विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० १. १५. २१, २२) और अनन्तवीर्य इन तीनों प्रसिद्ध दिगम्बराचार्यों ने पूज्यपाद के संक्षिप्त सूचन का ही विस्तार और सतर्क उपपादन करके कहा कि स्मृति का कारण संस्कार–जो जैन दृष्टि से वस्तुतः ज्ञानस्वरूप ही है वह–धारणा है। इस तरह धारणा के अर्थ में दो परम्पराएँ देखी जाती हैं। जिनभद्र की परम्परा के अनुसार अविच्युति संस्कार और स्मृति तीनों धारणा हैं और संस्कार कर्मक्षयोपशमरूप होने से आत्मीय शक्तिविशेष मात्र है, ज्ञानरूप नहीं। अकलङ्क आदि की दिगम्बरीय परम्परा के अनुसार स्मृति का कारण संस्कार ही धारणा है जो वस्तुतः ज्ञानस्वरूप

---

१ "अथापरमाह–अवधारणे इत्यादि, अवधारणेऽत्र प्रतिविधानम्। किम्? इत्याह–'इदं वस्तु तदेव यत् प्रागुपलब्धं मया' इत्येवंभूता कालान्तरे या स्मृतिरूपा बुद्धिरुपजायते नन्विह सा पूर्वप्रवृत्तापायप्रवाह निर्विशेषम्नभिधेव पूर्वप्रवृत्ताऽपायकाले तस्या अभावात्, अपायस्य तु वस्तुनिश्चयमात्रफलत्वेन पूर्वापरदर्शनानुसंधानाऽयोगात्। ततश्च साऽनन्यरूपत्वात् धृतिर्धारणा नामेति मन्यते भवन्त। अतश्च यस्माच्च वासनाविशेषात् पूर्वोपलब्धवस्त्वाहितसंस्कारलक्षणात् तद्विज्ञानावरणक्षयोपशमलाभिप्रायादिरूपतः सा 'इदं तदेव' इति तस्यास्या स्मृतिर्भवति। साऽपि वासनापायादनन्तरभाविनी कृत्वा धृतिर्नाम, इतीदापि संबन्ध। 'या चाऽपायेत्यादि' या चाऽपायादनन्तरमविच्युति प्रवर्तते साऽपि धृतिर्नाम। इदमुक्तं भवति यस्मिन् समये 'स्थाणुरेवाऽयम्' इत्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृत्तः ततः तमसमपूर्वमपि 'स्थाणुरेवाऽयम् स्थाणुरेवाऽयम्' इत्यविच्युता याऽस्तमुहूर्त यावदविच्युतरूपा प्रवृत्ति साऽप्यपायाऽविच्युतिः अपायप्रवृत्तावादनन्तरभावित्वादिह धृतिधारणा नामेति। एवमविच्युति-वासना-स्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा भवति।

वासनापि स्मृतिविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपा तद्विज्ञानजननशक्तिरूपा चेष्यते। सा च यद्यपि स्वयं ज्ञानरूपा न भवति तथापि पूर्वप्रवृत्ताऽविच्युतिलक्षणज्ञानकार्यत्वात् उत्तरकालभाविस्मृतिरूपज्ञानकारणत्वाच्चासावुपचारतो ज्ञानरूपाऽभ्युपगम्यते। तदस्मृतिरूपस्याप्यनभ्युपगमादेव निरस्त। तस्मादविच्युति स्मृति-वासनारूपाया धारणाया त्रिरूपत्वात् न मतेरचैविध्यम् किन्तु चतुर्धा भेदि स्थितम्॥"–विशेषा० वृ० गा० २८८-२८९।

है। जिनभद्रीय परम्परा का स्वीकार याकिनीसूनु हरिभद्र ने किया (आव॰ नि॰ हारि॰ १) और वादी देवसूरि ने उसी परम्परा के आधार पर सूत्र (प्रमाणन॰ २. १) रचकर उसके व्याख्यान में दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का नाम लेकर उनके मत का निरसन करके जिनभद्रीय परम्परा का सयुक्तिक समर्थन किया–स्याद्वादर॰ २. १ ।

यद्यपि आ॰ हेमचन्द्र वादी देवसूरि के समकालीन और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकर के द्रष्टा हैं एवं जिनभद्र, हरिभद्र और देवसूरि तीनों के अनुगामी भी हैं तथापि वे चर्चा के प्रकृतसूत्र में तथा उसके व्याख्यान में दिगम्बराचार्य अकलङ्क और विद्यानन्द आदि का अक्षरशः अनुसरण करते हैं और अपने पूज्य वृद्ध जिनभद्र आदि के मन्तव्य का खण्डन न करके केवल उसका आदरपूर्वक समन्वय करते हैं। अपने पूज्य श्वेताम्बरीय देवसूरि ने जिन विद्यानन्द आदि के मत का खण्डन किया है उसी मत को अपनाकर आ॰ हेमचन्द्र ने सम्प्रदायनिरपेक्ष तार्किकता का परिचय कराया है।

पृ० २२ पं० २० 'सौगते'–तुलना प्रमाणवा॰ १.२८ से।

पृ॰ २२ पं० २१ 'नैयायिकादिभि'–तुलना–कन्दली पृ॰ १ ।

पृ० २२ पं० २१ 'नैयायिकास्तु'–भारतीय दर्शनशास्त्रों में प्रमेय तथा विविध आचार विषयक मतमतान्तर जो बहुत पुराने समय से प्रचलित हैं उनके पारस्परिक खण्डन मण्डन की प्रथा भी बुद्ध-महावीर जितनी पुरानी तो अवश्य ही है पर हम उस प्राचीन खण्डन-मण्डन प्रथा में प्रमाणलक्षणविषयक मतभेदों का पारस्परिक खण्डन-मण्डन नहीं पाते। इसमें तो सन्देह नहीं कि दिङ्नाग के पहिले ही प्रमाणसामान्य और प्रमाणविशेष के लक्षण के सम्बन्ध में बौद्ध, वैदिक आदि तार्किक अपने अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करने के साथ ही मतान्तरों का खण्डन करने लग गये थे, क्योंकि दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में ऐसा खण्डन स्पष्ट हम पाते हैं।

दर्शनसूत्रों के उपलब्ध वात्स्यायन, शाबर प्रशस्त योग आदि प्राचीन भाष्यों में प्रमाण के लक्षण सम्बन्धी मतान्तरों का खण्डन यद्यपि नहीं है तथापि दिङ्नाग के उत्तरवर्ति उन्हीं भाष्यों के व्याख्याग्रन्थों में वह पारस्परिक खण्डन स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप से देखा जाता है। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण सम्बन्धी नैयायिक, मीमांसक आदि के मत का खण्डन किया है *(प्रमाणसमु॰ १. १६ से)*। इसका जवाब वात्स्यायन के टीकाकार उद्योतकर (न्यायवा॰ १.१.४) और शाबर के टीकाकार कुमारिल (श्लोकवा॰ प्रत्यक्ष॰ श्लो॰ ४१ से) आदि ने दिया है। ईसा की छठी सातवीं शताब्दि तक तो यह तार्किकों की एक प्रथा ही हो गई जान पड़ती है कि अपने लक्षण ग्रन्थों में मतान्तरों का खण्डन किये बिना स्वमत स्थापन पूर्णतया न समझा जाय।

जैनपरम्परा में भी प्रमाण के लक्षण सम्बन्धी स्वमतप्रतिपादन तो हम आगमयुग से पाते हैं और वही प्रथा उमास्वाति तक बराबर चली आई जान पड़ती है पर इसमें मतान्तर के खण्डन का प्रवेश पूज्यपाद से (सर्वार्थ॰ १) हुआ जान पड़ता है। प्रमाण

लक्षण सम्बन्धी परमतों का प्रधान रूप से खण्डन करनेवाला जैन तार्किकों में सर्वप्रथम अकलङ्क ही है–न्यायवि० सिद्धिवि० आदि। उत्तरवर्ती दिगम्बर श्वेताम्बर सभी तार्किकों ने अकलङ्क-अवलम्बित खण्डनमार्ग को अपनाकर अपने-अपने प्रमाणविषयक ग्रन्थों में बौद्ध, वैदिक सम्मत लक्षणों का विस्तार के साथ खण्डन किया है। आ० हेमचन्द्र ने इसी प्रथा का अवलम्बन करके यहाँ न्याय, बौद्ध, मीमांसा और सांख्यदर्शन सम्मत प्रत्यक्ष के लक्षणों का पूर्व परम्परा के अनुसार ही खण्डन किया है।

पृ० २२ पं० २४ 'व्याख्यानवैमुख्येन'–वाचस्पति मिश्र और उनके गुरु त्रिलोचन[1] के पहले न्यायसूत्र के व्याख्याकार रूप से वात्स्यायन और उद्योतकर दो ही प्रसिद्ध हैं। इनमें से वात्स्यायन ने न्यायसूत्र (१ १ ३) के भाष्य में प्रत्यक्ष प्रमाणरूप से सन्निकर्ष[2] का भी स्पष्ट कथन किया है जैसा कि वाचस्पति मिश्र को न्यायसूत्र (१ १ ४) की अपनी व्याख्या में अभिप्रेत है। इसी तरह उद्योतकर ने भी न्यायसूत्र (१ १ ३) के वार्तिक में (पृ० २८) भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर इसका सबल समर्थन किया है। वाचस्पति का भी न्यायसूत्र (१ १ ४) की व्याख्या (पृ० १०८) का वही तात्पर्य है। इस तरह जब वाचस्पति का तात्पर्य वात्स्यायन और उद्योतकर की व्याख्या से भिन्न नहीं है तब आचार्य हेमचन्द्र का 'पूर्वाचार्यकृतव्याख्यानवैमुख्येन' यह कथन वाचस्पति के विषय में सङ्गत कैसे हो सकता है यह प्रश्न है। इसका उत्तर केवल इतना ही है कि न्यायसूत्र (१ १ ४) की वात्स्यायन और उद्योतकरकृत व्याख्या सीधी है। उसमें 'यत' आदि किसी पद का अध्याहार नहीं किया गया है जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने उसी सूत्र की व्याख्या में किया है। तात्पर्य में भेद न होने पर भी पूर्वाचार्य के व्याख्यानों में 'यत' पद के अध्याहार का अभाव और वाचस्पति के व्याख्यान में 'यत' पद के अध्याहार का अस्तित्व देखकर ही आचार्य हेमचन्द्र ने वाचस्पति के विषय में 'पूर्वाचार्यकृतव्याख्यानवैमुख्येन' कहा है।

पृ० २२ पं० २६ 'यत'शब्दा'–तात्पर्य पृ० १०८, १२५। न्यायम० पृ० १२ ६६।

पृ० २३ पं० ४ 'अप्राप्यकारित्वात्'–इन्द्रियों का अपने अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें किसी का मतभेद नहीं। पर सन्निकर्ष के स्वरूप में थोड़ासा मतभेद है जिसके आधार पर प्राप्याप्राप्यकारित्व का एक वाद खड़ा हुआ है और सभी दार्शनिकों की चर्चा का विषय बन गया है।

सांख्य (सांख्यसू० १ ८७), न्याय (न्यायसू० ३ १ ३३-५१), वैशेषिक (कन्दली पृ० २३), जैमिनीय (शाबरभा० १ १ ४) आदि सभी वैदिक दर्शन अपनी अपनी प्रक्रिया

---

१ "त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः । यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥"–तात्पर्य० पृ० १३३ ।

२ "अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"–न्यायभा० १ १ ३ ।

के अनुसार पाँचों बहिरिन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। बौद्धदर्शन बहिरिन्द्रियों में घ्राण, रसन, स्पर्शन तीनों को ही प्राप्यकारी मानता है, चक्षु-श्रोत्र को नहीं—"अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा"—अभिधर्म० २. ४३। जैनदर्शन (आव० नि० ५। तत्त्वार्थ १० १. १९) सिर्फ चक्षु के सिवाय चार बहिरिन्द्रियों को ही प्राप्यकारी मानता है।

अन्तरिन्द्रिय मन को तो सिर्फ सांख्य (योगभा० १. ७) तथा वेदान्त ही प्राप्यकारी मानते हैं। बाकी के सभी वैदिक दर्शन तथा बौद्ध और जैनदर्शन भी उसे अप्राप्यकारी ही मानते हैं।

यह प्राप्याप्राप्यकारित्व की चर्चा करीब दो हजार वर्ष के पहिले से प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। फिर क्रमशः वह उत्तरोत्तर विस्तृत होते होते जटिल एवं मनोरञ्जक भी बन गई है।

पृ० २१ पं० ५. 'अप्राप्यकारि'—न्यायवा० पृ० ३५। न्यायम० पृ० ७३।

पृ० २१ पं० ८. 'सौगतास्तु'—बौद्ध न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष लक्षण की दो परम्पराएँ देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्तपद रहित और दूसरी अभ्रान्तपद सहित। पहली परम्परा का पुरस्कर्ता दिङ्नाग और दूसरी का धर्मकीर्ति है। प्रमाणसमुच्चय (१. ३) और न्यायप्रवेश में (पृ० ७) पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्यान है। न्यायबिन्दु (१. ४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्ति में दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में (का० १२१४) धर्मकीर्ति की दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। जान पड़ता है शान्तरक्षित के समय तक बौद्ध तार्किकों में दो पक्ष स्पष्टरूप से हो गये थे जिनमें से एक पक्ष अभ्रान्तपद के सिवाय ही प्रत्यक्ष का पूर्ण लक्षण मानकर पीत शङ्खादि भ्रान्त ज्ञानों में भी (तत्त्वसं० का० १३२४ से) दिङ्नाग कथित प्रमाण लक्षण—घटाने का प्रयत्न करता था।

उस पक्ष को जवाब देते हुए दिङ्नाग के मत का तात्पर्य शान्तरक्षित ने इस प्रकार से बतलाया है कि जिससे दिङ्नाग के अभ्रान्तपद रहित लक्षणवाक्य का समर्थन भी हो और अभ्रान्तपद सहित धर्मकीर्तीय परम्परा का वास्तविकत्व भी बना रहे। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील दोनों की दृष्टि में दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति का समान स्थान था। इसी से उन्होंने दोनों विरोधी बौद्ध तार्किक पक्षों का समन्वय करने का प्रयत्न किया।

बौद्धेतर तर्क ग्रन्थों में उक्त दोनों बौद्ध परम्पराओं का खण्डन देखा जाता है। भामह के काव्यालङ्कार (५. ६ पृ० ३२) और उद्योतकर के न्यायवार्तिक में (१. १. ४ पृ० ४१) दिङ्नागीय प्रत्यक्ष लक्षण का ही उल्लेख पाया जाता है जब कि उद्योतकर के बाद के वाचस्पति (तात्पर्य० पृ० १५४) जयन्त (मञ्जरी पृ० ९२), श्रीधर (कन्दली पृ० १९०) और शालिकनाथ (प्रकरणप० पृ० ४७) आदि सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों की कृतियों में धर्मकीर्तीय प्रत्यक्ष लक्षण का पूर्वपक्ष रूप से उल्लेख है।

जैन आचार्यों ने जो बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है उसमें दिङ्नागीय और धर्मकीर्तीय दोनों लक्षणों का निर्देश एवं प्रतिवाद पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर

की कृति रूप से माने जानेवाले न्यायावतार में जैन परम्परानुसारी प्रमाण लक्षण में जो बाध वर्जितपद—(न्याया० १) है वह अक्षपाद के (न्यायसू० १.१.४) प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारिपद का प्रतिबिम्ब है या कुमारिल कर्तृक समझे जानेवाले 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणं बाधवर्जितम्' लक्षणगत बाधवर्जित पद की अनुकृति है या धर्मकीर्तीय (न्यायबि० १.४) अभ्रान्त पद का रूपान्तर है या स्वयं दिवाकर का मौलिक उद्भावन है यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो कुछ हो पर यह तो निश्चित ही है कि आ० हेमचन्द्र का बौद्ध प्रत्यक्षलक्षण विषयक खण्डन धर्मकीर्तीय परम्परा को उद्देश में रखकर ही है दिङ्नागीय परम्परा को उद्देश में रखकर नहीं।

पृ० २३ पं० ८ 'अभिलाप'—बौद्ध लक्षणगत कल्पनाऽपोढ पद में स्थित कल्पना शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में खुद बौद्ध तार्किकों में अनेक भिन्न-भिन्न मत थे जिनका कुछ ख्याल शान्तरक्षित (तत्त्वसं० का० १२१४ से) की इससे सम्बन्ध रखनेवाली विस्तृत चर्चा से आ सकता है, एवं अनेक वैदिक और जैन तार्किक जिन्होंने बौद्ध-मत का खण्डन किया है उनके विस्तृत ऊहापोहात्मक खण्डन ग्रन्थ से भी कल्पनाशब्द के माने जानेवाले अनेक अर्थों का पता चलता है[1]। खासकर जब हम केवल खण्डनप्रधान तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ (पृ० ४१) देखते हैं तब तो कल्पना शब्द के प्रचलित और सम्भावित करीब-करीब सभी अर्थों या तद्विषयक मतों का एक बड़ा भारी संग्रह हमारे सामने उपस्थित होता है।

ऐसा होने पर भी आ० हेमचन्द्र ने तो सिर्फ धर्मकीर्ति अभिमत (न्यायबि० १.५) कल्पना स्वरूप का—जिसका स्वीकार और समर्थन शान्तरक्षित ने भी (तत्त्वसं० का० १२१४) किया है—ही उल्लेख अपने खण्डन ग्रन्थ में किया है अन्य कल्पनास्वरूप का नहीं।

पृ० २३ पं० १३ 'निर्विकल्पाचरकाल'—तत्त्वसं० का० ११ ६।

पृ० २३ पं० १६ 'जैमिनीयास्तु'—मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय (१.१.४) सूत्र में ही मिलता है। इस सूत्र के ऊपर शाबरभाष्य के अलावा अन्य भी व्याख्याएँ और वृत्तियाँ थीं। उनमें से भवदास की व्याख्या इस सूत्र को प्रत्यक्ष लक्षण का विधायक माननेवाली थी—श्लो० न्याय० प्रत्यक्ष० श्लो० १। दूसरी कोई व्याख्या इस सूत्र को विधायक नहीं पर अनुवादक माननेवाली थी—श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० १६। कोई वृत्ति ऐसी भी थी (शाबरभा० १.१.५) जो इस सूत्र के शाब्दिक विन्यास में मतभेद रखकर पाठान्तर माननेवाली थी अर्थात् सूत्र में जो सत् और तत् शब्द का क्रमिक स्थान है उसके बदले तत् और सत् शब्द का व्यत्यय मानती थी।

कुमारिल ने इस सूत्र को लक्षण का विधान या स्वतन्त्र अनुवादरूप माननेवाले पूर्व मतों का निरास करके अपने अनोखे ढङ्ग से अन्त में उस सूत्र का अनुवादरूप ही स्थापित किया है और साथ ही उस पाठान्तर माननेवाले मत का भी निरास किया है (श्लोकवा०

---

१ न्यायमा० पृ० ९१। तात्पर्य० पृ० १५३। कन्दली पृ० १८९। न्यायम० पृ० ९२-९५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। प्रमेयक० पृ० १८. B.।

प्रत्यक्ष श्लो० ९-१६) जैसा कि प्रभाकर ने अपने बृहती ग्रन्थ में। प्रत्यक्ष लक्षण परक प्रस्तुत जैमिनीय सूत्र का खण्डन मीमांसकभिन्न वैदिक बौद्ध और जैन सभी तार्किकों ने किया है। बौद्ध परम्परा में सबसे प्रथम खण्डन करनेवाले दिङ्नाग (प्रमाणसमु० १. १०) जान पड़ते हैं। उसी का अनुसरण शान्तरक्षित आदि ने किया है। वैदिक परम्परा में प्रथम खण्डन करनेवाले उद्योतकर ही (न्यायवा० पृ० ४१) जान पड़ते हैं। वाचस्पति तो उद्योतकर के ही टीकाकार हैं (तात्पर्य० पृ० १५५) पर जयन्त ने (न्यायम० पृ० १) इसके खण्डन में विस्तार और स्वतन्त्रता से काम लिया है। जैन परम्परा में इसके खण्डनकार सर्वप्रथम अकलङ्क या विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७ श्लो० १०) जान पड़ते हैं। अभयदेव (सन्मतिटी० पृ० ५१४) आदि ने उन्हीं का अनुगमन किया है। आ० हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती जैन तार्किकों का इस जैमिनीय सूत्र के खण्डन में जो अनुसरण किया है वह जयन्त के न्यायमंजरीगत (पृ० १) खण्डन भाग का ही प्रतिबिम्ब मात्र है जैसा कि अन्य जैन तार्किक ग्रन्थों (स्याद्वादर० पृ० ३८१) में है।

खण्डन करते समय आ० हेमचन्द्र ने कुमारिल-सम्मत अनुवादभङ्गी का निर्देश किया है और उस व्यत्ययवाले पाठान्तर का भी।

पृ० २३ पं० २१ 'अत्र संशयविपर्यय'–श्लोकवा० प्रत्यक्ष श्लो० १।

पृ० २३ पं० २२ 'अथ सत्संप्रयोग इति सता'– 'सम्बद्धासेन हि सता सम्प्रयोग इति उच्यते'–श्लो० न्याय० प्रत्यक्ष श्लो० ३९।

पृ० २३ पं० २३ 'अथ सति सम्प्रयोग'–शाबरभा० १. १. ४।

पृ० २४ पं० १३ 'श्रोत्रादिवृत्तिः'–सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष लक्षण के मुख्य तीन प्रकार हैं। पहिला प्रकार विन्ध्यवासी के लक्षण का है जिसे वाचस्पति ने वार्षगण्य के नाम से निर्दिष्ट किया है–तात्पर्य० पृ० १५५। दूसरा प्रकार ईश्वरकृष्ण के लक्षण का (सांख्यका० ५) और तीसरा सांख्यसूत्रगत (सांख्यसू० १. ८९) लक्षण का है।

बौद्धों जैनों और नैयायिकों ने सांख्य के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है। ध्यान रखने की बात यह है कि विन्ध्यवासी के लक्षण का खण्डन तो सभी ने किया है पर ईश्वरकृष्ण जैसे प्राचीन सांख्याचार्य के लक्षण का खण्डन सिर्फ जयन्त (पृ० ११९) ही ने किया है पर सांख्यसूत्रगत लक्षण का खण्डन तो किसी ने भी नहीं किया है।

बौद्धों में प्रथम खण्डनकार दिङ्नाग (प्रमाणसमु० १. २७) नैयायिकों में प्रथम खण्डनकार उद्योतकर (न्यायवा० पृ० ४१) और जैनों में प्रथम खण्डनकार अकलङ्क (न्यायवि० १. १६५) ही जान पड़ते हैं।

आ० हेमचन्द्र ने सांख्य के लक्षण खण्डन में पूर्वाचार्यों का अनुसरण किया है पर उनका खण्डन खासकर अकलङ्कृत (न्यायम० पृ० १०६) खण्डनानुसारी है। जयन्त ने ही

विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण दोनों के प्रत्यक्षलक्षण का खण्डन किया है, हेमचन्द्र ने भी उन्हीं के शब्दों में दोनों ही के लक्षण का खण्डन किया है।

पृ० २४ पं० २४ 'प्रमाणविषय'–तुलना–"तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम्, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः, चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते।"–न्यायभा० १. १. १।

अ० १ आ० १ सू० ३० ३३. पृ० २४ विश्व के स्वरूप विषयक चिन्तन का मूल ऋग्वेद से भी प्राचीन है[१]। इस चिन्तन के फलस्वरूप विविध दर्शन क्रमशः विकसित और स्थापित हुए जो संक्षेप में पाँच प्रकार में समा जाते हैं—केवल नित्यवाद, केवल अनित्यवाद, परिणामी नित्यवाद, नित्यानित्य उभयवाद और नित्यानित्यात्मकवाद। केवल ब्रह्मवादी वेदान्ती केवल नित्यवादी हैं क्योंकि उनके मत से अनित्यत्व आभासिक मात्र है। बौद्ध क्षणिकवादी होने से केवलानित्यवादी हैं। सांख्ययोगादि चेतनभिन्न जगत् को परिणामी नित्य मानने के कारण परिणामी नित्यवादी हैं। न्याय-वैशेषिक आदि कुछ पदार्थों को मात्र नित्य और कुछ को मात्र अनित्य मानने के कारण नित्यानित्य उभयवादी हैं। जैनदर्शन सभी पदार्थों को नित्यानित्यात्मक मानने के कारण नित्यानित्यात्मकवादी है। नित्यानित्यत्व विषयक दार्शनिकों के उक्त सिद्धान्त श्रुति और आगमकालीन उनके अपने अपने ग्रन्थ में स्पष्टरूप से वर्णित पाये जाते हैं और थोड़ा बहुत विरोधी मन्तव्यों का प्रतिवाद भी उनमें देखा जाता है–प्रशम० १. १. १५. १८। इस तरह तर्क युग के पहिले भी विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना दर्शन और उनमें पारस्परिक पक्ष प्रतिपक्षभाव स्थापित हो गया था।

तर्कयुग अर्थात् करीब दो हजार वर्ष के दर्शनसाहित्य में उसी पारस्परिक पक्षप्रतिपक्ष भाव के आधार पर वे दर्शन अपने अपने मन्तव्य का समर्थन और विरोधी मन्तव्यों का खण्डन विशेष विशेष युक्ति-तर्क के द्वारा करते हुए देखे जाते हैं। इसी तर्कयुग के फलस्वरूप तर्कप्रधान दर्शनग्रन्थों में यह निरूपण सब दार्शनिकों के वास्ते आवश्यक हो गया कि प्रमाणनिरूपण के बाद प्रमाण के विषय का स्वरूप अपनी अपनी दृष्टि से बतलाना, अपने मन्तव्य की कोई कसौटी रखना और उस कसौटी को अपने ही पक्ष में लागू करके अपने पक्ष की यथार्थता साबित करना एवं विरोधी पक्षों में उस कसौटी का अभाव दिखाकर उनकी अवास्तविकता साबित करना।

आ० हेमचन्द्र ने इसी तर्कयुग की शैली का अनुसरण करके प्रस्तुत चार सूत्रों में प्रमाण के विषयरूप से समस्त विश्व का जैनदर्शनसम्मत सिद्धान्त, उसकी कसौटी और उस कसौटी

---

१ "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"–ऋग्० अष्ट० २ अ० ३ व० २३ मं० ४६। नासदीयसूक्त ऋग्० १० १२९। हिरण्यगर्भसूक्त ऋग्० १० १२१।

का प्रथम ही पक्ष में सम्भव यह सब बतलाया है। वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायात्मकत्व नित्यानित्यत्व या सदसदात्मकत्वादिरूप जो आगमों में विशेष युक्ति, हेतु या कसौटी के सिवाय वर्णित पाया जाता है (भग श १ उ १ श ८ उ ११) उसी को आ० हेमचन्द्र ने बतलाया है, पर तर्क और हेतुपूर्वक। तर्कयुग में वस्तुस्वरूप की निश्चायक जो विविध कसौटियाँ मानी जाती थीं जैसे कि न्यायसम्मत–सत्ता योगरूप सत्त्व, सांख्यसम्मत प्रमाण विषयस्वरूप सत्त्व तथा बौद्धसम्मत–अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व इत्यादि—उनमें से अन्तिम अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व को ही आ० हेमचन्द्र कसौटी रूप से स्वीकार करते हैं जो सम्भवतः पहिले पहिल बौद्ध तार्किकों के द्वारा (प्रमाणवा १ १) ही स्थापित हुई जान पड़ती है। जिस अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी को लागू करके बौद्ध तार्किकों ने वस्तुमात्र में क्षणिकत्व सिद्ध किया है और जिस कसौटी के द्वारा ही उन्होंने केवल नित्यवाद (तत्त्वसं का १९४ से) और जैन सम्मत नित्यानित्यात्मक वादादि का (तत्त्वसं का १७१८ से) विकट तर्क जाल से खण्डन किया है, आ० हेमचन्द्र ने उसी कसौटी का अपने पक्ष में लागू करके जैन सम्मत नित्यानित्यात्मकत्व अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मकत्व वाद का सयुक्तिक समर्थन किया है और वेदान्त आदि के केवल नित्यवाद तथा बौद्धों के केवल अनित्यत्व वाद का उसी कसौटी के द्वारा प्रबल खण्डन भी किया है।

पृ० २४ पं० २८ 'खापयमपि'—तुलना–न्यायवि टी १ १७।

पृ० २४ पं० ३० 'द्रवति'—प्राकृत-पाली दव्व-दब्ब शब्द और संस्कृत द्रव्य शब्द बहुत प्राचीन है। लोकव्यवहार में तथा काव्य, व्याकरण, आयुर्वेद दर्शन आदि नाना शास्त्रों में भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका प्रयोग भी बहुत प्राचीन एवं रूढ जान पड़ता है उसके प्रयोग प्रचार की व्यापकता को देखकर पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में उसे स्थान देकर दो प्रकार से उसकी व्युत्पत्ति बतलाई है जिसका अनुकरण पिछले सभी वैयाकरणों ने किया है। तद्धित प्रकरण में द्रव्य शब्द के साधक खास जो दो सूत्र (५. १ १ ४ ४ १११) बनाये गये हैं उनके अलावा द्रव्य शब्द सिद्धि का एक तीसरा भी प्रकार कृत् प्रकरण में है। तद्धित के अनुसार पहली व्युत्पत्ति यह है कि द्रु = वृक्ष या काष्ठ + य = विकार या अवयव अर्थात् वृक्ष या काष्ठ का विकार तथा अवयव द्रव्य। दूसरी व्युत्पत्ति यों है—द्रु = काष्ठ + य = तुल्य अर्थात् जैसे सीधा और साफ़ सुथरी लकड़ी बनाने पर इष्ट आकार धारण कर सकती है वैसे ही जो राजपुत्र आदि शिक्षा दिये जाने पर राज योग्य गुण धारण करने का पात्र है वह भावी गुणों की योग्यता के कारण द्रव्य कहलाता है। इसी प्रकार अनेक उपकारों की योग्यता रखने के कारण धन भी द्रव्य कहा जाता है। कृदन्त प्रकरण के अनुसार गति-प्राप्ति अर्थवाले द्रु धातु से कर्मार्थक य प्रत्यय आने पर भी द्रव्य शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है प्राप्ति योग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। यहाँ व्याकरण के नियमानुसार उक्त तीन प्रकार की व्युत्पत्ति में लोक-शास्त्र प्रसिद्ध द्रव्य शब्द के सभी अर्थों का किसी न किसी प्रकार से समावेश हो ही जाता है।

यद्यपि जैन साहित्य में भी करीब-करीब उन्हीं सभी अर्थों में प्रयुक्त द्रव्य शब्द देखा जाता है तथापि द्रव्य शब्द की जैन प्रयोग परिपाटी अनेक अंशों में अन्य सब शास्त्रों से भिन्न भी है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि निक्षेप (तत्त्वार्थ १.५) प्रसङ्ग में द्रव्य क्षेत्र, काल भाव आदि प्रसङ्ग में (भग० श० २ उ० १) द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकरूप नय के प्रसङ्ग में (तत्त्वार्थभा० ५.३१) द्रव्याचार्य (पञ्चाशक ६), भावाचार्य आदि प्रसङ्ग में द्रव्यकर्म, भावकर्म आदि प्रसङ्ग में प्रयुक्त होनेवाला द्रव्य शब्द जैन परिभाषा के अनुसार खास-खास अर्थ का बोधक है जो अर्थ तद्धित प्रकरणसाधित भव्य–योग्य अर्थवाले द्रव्य शब्द के बहुत नजदीक हैं अर्थात् वे सभी अर्थ भव्य अर्थ के भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। विश्व के मौलिक पदार्थों के अर्थ में भी द्रव्य शब्द जैन दर्शन में पाया जाता है जैसे जीव पुद्गल आदि छः द्रव्य।

न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में (वै० सू० १.१.१५) द्रव्य शब्द गुण कर्माधार अर्थ में प्रसिद्ध है जैसे पृथ्वी जल आदि नव द्रव्य। इसी अर्थ को लेकर भी उत्तराध्ययन (२८.६) जैसे प्राचीन आगम में द्रव्य शब्द जैन दर्शन सम्मत छः द्रव्यों में लागू किया गया देखा जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने (पात० महा० पृ० ५८) अनेक भिन्न-भिन्न स्थलों में द्रव्य शब्द के अर्थ की चर्चा की है। उन्होंने एक जगह कहा है कि घड़े को तोड़कर कुण्डी और कुण्डी को तोड़कर घड़ा बनाया जाता है एवं कटक कुण्डल आदि भिन्न-भिन्न अलङ्कार एक दूसरे को तोड़कर एक दूसरे के बदले में बनाये जाते हैं फिर भी उन सब भिन्न भिन्न कालीन भिन्न भिन्न आकृतियों में जो मिट्टी या सुवर्ण नामक तत्त्व कायम रहता है वही अनेक भिन्न-भिन्न आकारों में स्थिर रहनेवाला तत्त्व द्रव्य कहलाता है। द्रव्य शब्द की यह व्याख्या योगसूत्र के व्यासभाष्य में (३.१३) भी ज्यों की त्यों है और मीमांसक कुमारिल ने भी वही (श्लोकवा० वन० श्लो० २१, २२) व्याख्या की है। पतञ्जलि ने दूसरी जगह (पात० महा० ४.१.३; ५.१.११९) गुण समुदाय या गुण सन्द्राव को द्रव्य कहा है। यह व्याख्या बौद्ध प्रक्रिया में विशेष सङ्गत है। जुदे-जुदे गुणों के प्रादुर्भाव होते रहने पर भी अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार पर्यायों के नवनवोत्पाद होते रहने पर भी जिसके मौलिकत्व का नाश नहीं होता वह द्रव्य ऐसी भी संक्षिप्त व्याख्या पतञ्जलि के महाभाष्य (५.१.११९) में है। महाभाष्यप्रसिद्ध और बाद के व्यासभाष्य, श्लोकवार्तिक आदि में समर्थित द्रव्य शब्द की उक्त सभी व्याख्याएँ जैन परम्परा में उमास्वाति के सूत्र और भाष्य में (५.२९, ३७) सबसे पहिले संगृहीत देखी जाती हैं। जिनभद्र क्षमाश्रमण ने तो (विशेषा० गा० २८) अपने भाष्य में अपने समय तक प्रचलित सभी व्याख्याओं का संग्रह करके द्रव्य शब्द का निर्वचन बतलाया है।

अकलङ्क के (लघी० २.१) ही शब्दों में विषय का स्वरूप बतलाते हुए आ० हेमचन्द्र ने द्रव्य शब्द का प्रयोग करके उसका आगमप्रसिद्ध और व्याकरण तथा दर्शनान्तरसम्मत ध्रुवभाव (शाश्वत स्थिर) अर्थ ही बतलाया है। ऐसा अर्थ बतलाते समय उसकी जो व्युत्पत्ति दिखाई है वह कृत् प्रकरणानुसारी अर्थात् द्रु धातु + य प्रत्यय जनित है।

प्रमाणविषय के स्वरूपकथन में द्रव्य के साथ पर्यायशब्द का भी प्रयोग है। संस्कृत, प्राकृत पाली जैसी शास्त्रीय भाषाओं में यह शब्द बहुत पुराना और प्रसिद्ध है पर जैन दर्शन में उसका जो पारिभाषिक अर्थ है वह अर्थ अन्य दर्शनों में नहीं देखा जाता। उत्पाद विनाशशाली या आविर्भाव तिरोभाववाले जो धर्म या विशेष या जो अवस्थाएँ द्रव्यगत होती हैं वे ही पर्याय या परिणाम के नाम से जैन दर्शन में प्रसिद्ध हैं जिनके वास्ते न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में गुण शब्द प्रयुक्त होता है। गुण क्रिया आदि सभी द्रव्यगत धर्मों के अर्थ में आ० हेमचन्द्र ने पर्यायशब्द का प्रयोग किया है पर गुण तथा पर्याय शब्द के बारे में जैन दर्शन का इतिहास खास ज्ञातव्य है।

भगवती आदि प्राचीनतर आगमों में गुण और पर्याय दोनों शब्द देखे जाते हैं। उत्तराध्ययन (२८. १३) में उनका अर्थभेद स्पष्ट है। कुन्दकुन्द, उमास्वाति (तत्त्वार्थ ५. ३७) और पूज्यपाद ने भी उसी अर्थभेद का कथन एवं समर्थन किया है। विद्यानन्द ने भी अपने तर्कवाद से उसी भेद का समर्थन किया है पर विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अकलङ्क ने गुण और पर्याय के अर्थों का भेदाभेद बतलाया है जिसका अनुकरण अमृतचन्द्र ने भी किया है और वैसा ही भेदाभेद समर्थन तत्त्वार्थभाष्य की टीका में सिद्धसेन ने भी किया है। इस बारे में सिद्धसेन दिवाकर का एक नया प्रस्थान जैन तत्त्वज्ञान में शुरू होता है जिसमें गुण और पर्याय दोनों शब्दों को केवल एकार्थक ही स्थापित किया है और कहा है कि वे दोनों शब्द पर्याय मात्र हैं। दिवाकर की अभेद समर्थक युक्ति यह है कि आगमों में गुणपद का यदि पर्याय पद से भिन्न अर्थ अभिप्रेत होता तो जैसे भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार से देशना की है वैसे वे तीसरी गुणार्थिक देशना भी करते। जान पड़ता है इसी युक्ति का असर हरिभद्र पर पड़ा जिससे उसने भी अभेदवाद ही मान्य रक्खा। यद्यपि देवसूरि ने गुण और पर्याय दोनों के अर्थभेद बतलाने की चेष्टा की (प्रमाणन० ५. ७-८) है फिर भी जान पड़ता है उनके दिल पर भी अभेद का ही प्रभाव है। आ० हेमचन्द्र ने तो विषयलक्षण सूत्र में गुणपद का स्थान ही नहीं दिया और न गुण पर्याय शब्दों के अर्थ विषयक भेदाभेद की चर्चा ही की। इससे आ० हेमचन्द्र का इस बारे में मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि वे भी अभेद के ही समर्थक हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी इसी अभेद पक्ष को स्थापित किया है। इस विस्तृत इतिहास से इतना कहा जा सकता है कि आगम जैसे प्राचीन युग में गुण-पर्याय दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे होंगे। तर्कयुग के आरम्भ और विकास के साथ ही साथ उनके अर्थविषयक भेद अभेद की चर्चा शुरू हुई और आगे बढ़ी। फलस्वरूप भिन्न भिन्न आचार्यों ने इस विषय में अपना भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दु प्रकट किया और स्थापित भी किया[1]।

इस प्रसङ्ग में गुण और पर्याय शब्द के अर्थविषयक पारस्परिक भेदाभेद की तरह पर्याय-गुण और द्रव्य इन दोनों के पारस्परिक भेदाभेद विषयक चर्चा का दार्शनिक इतिहास

१ इस विषय के सभी प्रमाण के लिए देखो सन्मतिटी० पृ० ६३१ टि० ४।

जानने योग्य है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन भेदवादी होने से प्रथम से ही आज तक गुण, कर्म आदि का द्रव्य से भेद मानते हैं। अभेदवादी सांख्य, वेदान्तादि उनका द्रव्य से अभेद मानते आये हैं। ये भेदाभेद के पक्ष बहुत पुराने हैं क्योंकि खुद महाभाष्यकार पतञ्जलि इस बारे में मनोरञ्जक और विशद चर्चा शुरू करते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि द्रव्य, शब्द, स्पर्श आदि गुणों से अन्य है या अनन्य ?। दोनों पक्षों को स्पष्ट करके फिर वे अन्त में भेदपक्ष का समर्थन करते हैं[1]।

जानने योग्य खास बात तो यह है कि गुण-द्रव्य या गुण पर्याय के बिच भेदाभेद की स्थापना एवं समर्थन के वास्ते सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैन तार्किकों ने अपनी कृतियों में खासा पुरुषार्थ किया है उसी भेदाभेदवाद का समर्थन मीमांसकधुरीण कुमारिल ने भी बड़ी स्पष्टता एवं तर्कवाद से किया है—श्लोकवा० आकृ० श्लो० ४-६४ वन० श्लो० २१-८०।

आ० हेमचन्द्र को द्रव्य पर्याय का पारस्परिक भेदाभेद वाद ही सम्मत है जैसा अन्य जैनाचार्यों का।

पृ० २५ पं० १ 'पूर्वोत्तरविवर्त'—तुलना—"परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।"—परी० ४. ५। प्रमाणन० ५. ५।

पृ० २५ पं० ८ 'दोहिं'—व्याख्या "द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेत्रा द्रव्यगुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यानित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् तच्चैतत् शास्त्रं यद्यपि मिथ्यात्वम् तत्प्रदर्शितपदार्थषट्कस्य प्रमाणबाधित त्वात् अं सविमय इत्यादिना गाथापश्चार्द्धेन हेतुमाह—यस्मात् स्वविषयप्रधानतया स्वितोऽन्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रित तत्, अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितत्वस्य मिथ्यात्वादिनाऽविना भूतत्वात्।"—सन्मतिटी० पृ० ६५१ ७ ४।

—

पृ० २५ पं० २४ 'तत्र न द्रव्यैकरूपा'—भारतीय दर्शनों में केवल नित्यत्व, केवल अनित्यत्व नित्यानित्य—उभय, और परिणामिनित्यत्व इन चारों वादों के मूल भगवान् महावीर और बुद्ध के पहिले भी देखे जाते हैं पर इन वादों की विशेष स्पष्ट स्थापना और उस स्थापना

---

१ 'किं पुनर्द्रव्यं के पुनर्गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणास्ततोऽन्यद् द्रव्यम्। किं पुनरन्य च्छब्दादिभ्यो द्रव्यमाहोस्विदनन्यत्। गुणस्यायं भावात् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयत्यन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति। अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। न ह्यन्यदुपलभ्यते। पशो खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्य-स्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते। अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। तत् त्वनुमानगम्यम्। तद्यथा। ओषधिवनस्पतीनां वृद्धिह्रासौ। ज्योतिषां गतिरिति। कोऽसावनुमानः। इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे च अन्यत्तुलाग्रं भवति लोहस्य अन्यत् कार्पासानां यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चिदेकेनैव प्रहारेण व्य पवर्गं करोति कश्चिद् द्वाभ्यामपि न करोति। यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्। तद्यथा। आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति। आमलकं बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।'—पात० महा० ५. १. ११९।

के अनुकूल युक्तिवाद का पता उस पुराने समय के साहित्य में नहीं चलता। बुद्ध ने प्रतीत अनित्यत्व की भावना के ऊपर इतना जोर दिया कि जिससे आगे जाकर क्रमशः दो परिणाम दर्शनक्षेत्र में प्रकट हुए। एक तो यह कि अन्य सभी वाद उस अनित्यत्व अर्थात् क्षणिकत्ववाद के विरुद्ध कमर कसकर खड़े हुए और सभी ने अपना स्थापन अपने ढङ्ग से करते हुए क्षणिकत्व के निरास का प्रबल प्रयत्न किया। दूसरा परिणाम यह आया कि खुद बौद्ध परम्परा में क्षणिकत्ववाद जो मूल में वैराग्यपोषक भावनारूप होने से एक नैतिक या चारित्रीय वस्तुस्वरूप था उसने तत्त्वज्ञान का पूरा व्यापकरूप धारण किया। और वह उसके समर्थक तथा विरोधियों की दृष्टि में अन्य तात्त्विक विषयों की तरह तात्त्विकरूप से ही चिन्ता का विषय बन गया।

बुद्ध, महावीर के समय से लेकर अनेक शताब्दियों तक के दार्शनिक साहित्य में हम देखते हैं कि प्रत्येक वाद की सत्यता की कसौटी एकमात्र बन्धमोक्ष-व्यवस्था और कर्म फल के कर्तृत्व भोक्तृत्व की व्यवस्था रही है[1]। केवल अनित्यत्ववादी बौद्धों की अपने पक्ष की यथार्थता के बारे में दलील यही रही कि आत्मा आदि को केवल नित्य मानने से न तो बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था ही घट सकती है और न कर्म-फल के कर्तृत्व भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य ही। केवल नित्यत्ववादी औपनिषद आदि दार्शनिकों (ब्र० शाङ्करभा० २. २. १८) की भी बौद्ध वाद के विरुद्ध यही दलील रही। परिणामिनित्यत्ववादी जैनदर्शन ने भी केवल नित्यत्व और केवल अनित्यत्व वाद के विरुद्ध यही कहा कि आत्मा केवल नित्य या केवल अनित्य-मात्र हो तो संसार-मोक्ष की व्यवस्था, कर्म के कर्ता को ही कर्मफल मिलने की व्यवस्था, मोक्षोपाय रूप से दान आदि शुभ कर्म का विधान और दीक्षा आदि का उपादान ये सब घट नहीं सकते[2]।

भारतीय दर्शनों की तात्त्विक चिन्ता का उत्थान और खास कर उसका पोषण एवं विकास कर्मसिद्धान्त एवं संसारनिवृत्ति तथा मोक्षप्राप्ति की भावना में से फलित हुआ है। इससे शुरू में यह स्वाभाविक था कि हर एक दर्शन अपने वाद की यथार्थता में और दूसरे दर्शनों के वाद की अयथार्थता में उन्हीं कर्मसिद्धान्त आदि की दुहाई दें। पर जैसे-जैसे अध्यात्ममूलक इस दार्शनिक क्षेत्र में तर्कवाद का प्रवेश अधिकाधिक होने लगा और वह क्रमशः यहाँ तक बढ़ा कि शुद्ध तर्कवाद के सामने आध्यात्मिकवाद एक तरह से गौण सा हो गया तब केवल नित्यत्वादि उन वादों की सत्यता की कसौटी भी अन्य हो गई। तर्क ने कहा कि जो अर्थक्रियाकारी है वही वस्तु सत् हो सकती है दूसरी नहीं। अर्थक्रिया

---

१ तदेव सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते –इति च सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे च अकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। –न्यायभा० ३. १. ४।

२ "दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा। अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयस्स॥"–सन्मति० १. ५२। "न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ न संवृतिः सापि मृषास्वभावा। मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या॥"–युक्त्य० का० १५।

कारित्व की इस तार्किक कसौटी का श्रेय जहाँ तक ज्ञात है, बौद्ध परम्परा को है। इससे यह स्वाभाविक है कि बौद्ध दार्शनिक क्षणिकत्व के पक्ष में इस कसौटी का उपयोग करें और दूसरे वादों के विरुद्ध। हम देखते हैं कि हुआ भी ऐसा ही। बौद्धों ने कहा कि जो क्षणिक नहीं वह अर्थक्रियाकारी हो नहीं सकता और जो अर्थक्रियाकारी नहीं वह सत् अर्थात् पारमार्थिक हो नहीं सकता—ऐसी व्याप्ति निश्चित करके उन्होंने कूटस्थनित्यपक्ष में अर्थक्रियाकारित्व का असंभव दिखाने के वास्ते क्रम और यौगपद्य का जटिल विकल्पजाल रचा और उस विकल्पजाल से अन्त में सिद्ध किया कि कूटस्थ नित्य पदार्थ अर्थक्रिया कर ही नहीं सकता अतएव वैसा पदार्थ पारमार्थिक हो नहीं सकता—तत्त्वसं० [illegible] । बौद्धों ने कूटस्थनित्यत्ववाद (तत्त्वसं० का० ३९४) की तरह जैनसम्मत परिणामिनित्यत्ववाद अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मकवाद या एक वस्तु को द्विरूप माननेवाले वाद के निरास में भी उसी अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी का उपयोग किया—तत्त्वसं० का० १७३८। उन्होंने कहा कि एक ही पदार्थ सत् असत् उभयरूप नहीं बन सकता। क्योंकि एक ही पदार्थ अर्थक्रिया का करनेवाला और नहीं करनेवाला कैसे कहा जा सकता है?। इस तरह बौद्धों के प्रतिवादी दर्शन वैदिक और जैन दो विभाग में बँट जाते हैं।

वैदिक परंपरा में से जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले वाचस्पति मिश्र और जयन्त ने इस बौद्धोद्भावित अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी का प्रतिवाद किया। यद्यपि वाचस्पति और जयन्त दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह यह कि अक्षणिक एवं नित्य वस्तु सिद्ध करना, तो भी उन्होंने अर्थक्रियाकारित्व जिसे बौद्धों ने कूटस्थनित्यपक्ष में असम्भव बतलाया था उसको बौद्ध-सम्मत क्षणिकपक्ष में असम्भव बतलाते हुए भिन्न-भिन्न विचारसरणी का अनुसरण किया है। वाचस्पति ने सापेक्षत्व अनपेक्षत्व का विकल्प करके क्षणिक में अर्थक्रियाकारित्व को असम्भव साबित किया (तात्पर्य० पृ० ३५४-६। न्यायकणिका पृ० ११०-६) तो जयन्त ने बौद्ध स्वीकृत क्रमयौगपद्य के विकल्पजाल को ही लेकर बौद्धवाद का खण्डन किया—न्यायम० पृ० ४५३, ४६४। भदन्त योगसेन ने भी जिनका पूर्वपक्ष रूप से निर्देश कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में किया है बौद्ध सम्मत क्षणिकत्ववाद के विरुद्ध जो विकल्पजाल रचा है उसमें भी बौद्धस्वीकृत क्रमयौगपद्यविकल्पचक्र को ही बौद्धों के विरुद्ध चलाया है—तत्त्वसं० का० ४२८ से। यद्यपि भदन्त विशेषण होने से योगसेन के बौद्ध होने की सम्भावना की जाती है तथापि जहाँ तक बौद्ध परंपरा में नित्यत्व—स्थिरत्व पोषक पक्ष के अस्तित्व का प्रामाणिक पता न चले तब तक यही कल्पना ठीक होगी कि शायद वह जैन श्रावक या सांख्यपरिव्राजक हो। जो कुछ हो यह तो निश्चित ही है कि बौद्धों की अर्थक्रियाकारित्ववाली तार्किक कसौटी को लेकर ही बौद्धसम्मत क्षणिकत्ववाद का खण्डन नित्यवादी वैदिक विद्वानों ने किया।

क्षणिकत्ववाद के दूसरे प्रबल प्रतिवादी जैन रहे। उन्होंने भी तर्कयुग में क्षणिकत्व का निरास उसी अर्थक्रियाकारित्ववाली बौद्धोद्भावित तार्किक कसौटी को लेकर ही

किया। जहाँ तक मालूम है जैन परंपरा में सबसे पहिले इस कसौटी के द्वारा क्षणिकत्व का निरास करनेवाले अकलङ्क[1] हैं। उन्होंने उस कसौटी के द्वारा वैदिकसम्मत कूटस्थ नित्यत्ववाद का खण्डन तो वैसे ही किया जैसा बौद्धों ने। और उसी कसौटी के द्वारा क्षणिकत्व वाद का खण्डन भी वैसे ही किया जैसा भदन्त योगसेन और जयन्त ने किया है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि नित्यत्व या क्षणिकत्वादि वादों के खण्डन-मण्डन में विविध विकल्प के साथ अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी का प्रवेश तर्कयुग में हुआ तब भी उक्त वादों के खण्डन मण्डन में काम आई गई प्राचीन बन्धमोक्षव्यवस्था आदि कसौटी का उपयोग बिलकुल शून्य नहीं हुआ, वह गौणमात्र अवश्य हो गया।

एक ही वस्तु की द्रव्य-पर्यायरूप से या सदसद् एवं नित्यानित्यादि रूप से जैन एवं जैमिनीय आदि दर्शनसम्मत द्विरूपता का बौद्धों ने जो खण्डन किया (तत्त्वसं० का० २२२, १११ ३११) उसका जवाब बौद्धों की ही विकल्पजालजटिल अर्थक्रियाकारित्ववाली दलील से देना अकलङ्क आदि जैनाचार्यों ने शुरू किया जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकों ने किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्ग का अवलम्बन करके इस जगह पहिले कूटस्थनित्यत्ववाद का खण्डन बौद्धों के ही शब्दों में करते हैं और केवलक्षणिकत्ववाद का खण्डन भी भदन्त योगसेन या जयन्त आदि के शब्दों में करते हैं और साथ ही जैनदर्शन सम्मत द्रव्यपर्यायवाद के समर्थन के वास्ते उसी कसौटी का उपयोग करके कहते हैं कि अर्थक्रियाकारित्व जैनवाद पक्ष में ही घट सकता है।

पृ० २६ पं० १७ 'समर्थोऽपि'–तुलना–प्रमती २ २.१९।

पृ० २६ पं० २० 'पर्यायैकान्त'–तुलना–तत्त्वसं० का० ४२८–४१८।

पृ० २६ पं० २१ 'सन्तानस्य'–बौद्धदर्शन क्षणिकवादी होने से किसी भी वस्तु को एक क्षण से अधिक स्थिर नहीं मानता। वह कार्यकारणभावरूप से प्रवृत्त क्षणिक भावों के अविच्छिन्न प्रवाह को संतान कहकर उसके द्वारा एकत्व स्थिरत्वादि की प्रतीति घटाता है। पर वह सन्तान नामक किसी चीज़ को क्षणिकभिन्न पारमार्थिक सत्त्व रूप नहीं मानता। उसके मतानुसार जैसे अनेक वृक्षों के वास्ते वन शब्द व्यवहार के सुभीते की दृष्टि से सांकेतिक है वैसे ही सन्तान शब्द भी अनेक भिन्न-भिन्न क्षणिक भावों के वास्ते ही सांकेतिक है। इस भाव का प्रतिपादन खुद बौद्ध विद्वानों ने ही अपने-अपने पाली तथा संस्कृत ग्रन्थों में किया है–विसुद्धि० पृ० ५. ५; बोधिचर्या० पृ० ३३४; तत्त्वसं० का० १८०३।

बौद्धसम्मत क्षणिकवाद का विरोध सभी वैदिक दर्शनों और जैनदर्शन ने भी किया है। उन्होंने किसी न किसी प्रकार से स्थिरत्व सिद्ध करने के वास्ते बौद्धसम्मत सन्तान पद के अर्थ की यथार्थ समालोचना की है। जैनदर्शन को सन्तानवाद इष्ट होने पर भी बौद्धदर्शन की तरह केवल काल्पनिक सन्तान इष्ट नहीं है। वह दो या अधिक क्षणों के बीच एक वास्तविक

---

[1] "अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः। क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता॥"–लघी० २.१।

स्थिर अन्वयांश को मानता है (तत्त्वार्थ ५. २९) जिसे बौद्धदर्शन नहीं मानता, सन्तान के खण्डन के विषय में आ० हेमचन्द्र ने सन्तानखण्डनकारी पूर्ववर्ती वैदिक और जैन परंपरा का अनुसरण किया है[१]।

पृ० २८ पं० १० 'सभागयोगात्'–तुलना–तथा ४ १। अन्ययो ७ ८।

पृ० २८ पं० २ 'न चासौ'—एक ही वस्तु को यथासम्भव अनेक दृष्टियों से विचारना और तदनुसार उसका प्रतिपादन करना यह अनेकान्तदृष्टि या अनेकान्तवाद है। इस भाव के सूचक अनेकान्तवाद, स्याद्वाद विभज्यवाद आदि शब्द प्रसिद्ध हैं। ये शब्द बुद्ध महावीर के समकालीन और उनके कुछ पूर्ववर्ती साहित्य तक में संस्कृत प्राकृत भाषाओं में करीब-करीब उसी भाव में प्रयुक्त पाये जाते हैं[२]। भगवान् महावीर के समकालीन बौद्ध और वैदिक दर्शनों में तथा उनके कुछ पूर्ववर्ती वैदिक दर्शनों तक में हम देखते हैं कि वे दर्शन अपने अपने अभिमत सिद्धान्त का केवल एक ही दृष्टि से विचार नहीं करते, वे भी—यथासम्भव विविध दृष्टियों से अपने अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं[३]। ऐसी दशा में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि भगवान् महावीर जैसे आध्यात्मिक और गम्भीर पुरुष ने अपने ही को अनेकान्तवादी या विभज्यवादी कैसे कहा ?। अथवा यों कहिए कि जैनदर्शन ही अनेकान्तवादी या विभज्यवादी कैसे समझा जाने लगा ?। इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि बेशक प्रसिद्ध वैदिक बौद्ध आदि दर्शनों में भी तत्त्व का चिन्तन अनेक दृष्टियों से होता था फिर भी महावीर का यह दृढ़ मन्तव्य था और सच भी था कि बौद्ध सिद्धान्त में तात्त्विक रूप से क्षणिकत्व को ही स्थान है उसमें नित्यत्व उपचरित और अवास्तविकरूप से माना जाता है। इसी तरह औपनिषदादि सिद्धान्तों में आत्मा आदि तात्त्विकरूप से नित्य ही हैं अनित्यत्व या परिणाममात्र औपचारिक या अवास्तविकरूप से माना जाता है, जब कि महावीर आत्मा आदि पदार्थों को तात्त्विकरूप से नित्य अनित्य उभय स्वरूप मानकर उभय अंश को समान रूप से वास्तविक ही बतलाते थे। बहुत सम्भव है इसी दृष्टिभेद को लेकर भगवान् महावीर ने अपने दर्शन को अनेकान्त कहा और औरों को एकान्त। महावीर के उपदिष्ट प्राचीन उपदेशों में हम देखते हैं कि आत्मा लोक आदि के सम्बन्ध में उनकी द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक तथा शाश्वत अशाश्वत दोनों दृष्टियाँ समप्रधान[४] हैं कोई एक वास्तविक और दूसरी अवास्तविक नहीं है। यही कारण है कि इनके बाद के आज तक के जैन विचारविकास में इस बारे में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता। जान पड़ता है किसी एक तत्त्व की निरूपक विविध दृष्टियों के समप्राधान्य और वर्गीकरण की ओर भगवान् महावीर का खास झुकाव था इसी कारण

---

१ न्यायम० पृ० ४६७। प्रमाण० प्रमाणमी० पृ० १६५।

२ सूत्रकृ० १. १४. १९–२२। मज्झिम० २. ५. ९।

३ महावग्ग ६. ६. ४. ८। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—ऋग्वेद अष्ट० २. अ० ३. व० २३ म० ४६।

४ भग० श० १ उ० ३ श० ६ उ० ३३।

उनके उपदेशों में नय निक्षेप आदि रूप से दृष्टियों का विभाजन और संग्रह पाया जाता है, चाहे वह प्राचीन रूप में ही क्यों न हो, जैसा कि जैनेतर दर्शन साहित्य में नहीं है और जिसके आधार पर उत्तरकालीन जैन साहित्य में नयवाद अनेकान्तवाद नामक स्वतन्त्र साहित्य का प्रकार ही विकसित हुआ।

प्राचीन जैन आगमों के देखने से जान पड़ता है कि उन दिनों आत्मा लोक (भग० श० २. उ० १; श० १ उ० ११; श० १२ उ० १०) आदि तात्त्विक पदार्थ ही नय या अनेकान्त की विचारसरणी के मुख्यतया विषय रहे आचार नहीं। बौद्ध शास्त्रों के देखने से जान पड़ता है कि बुद्ध की अनेकान्त दृष्टि मध्यमप्रतिपदारूप से (संयुत्त ५५. २. २) मुख्यतया आचार विषयक ही थी (मज्झिम १. १. १)। यद्यपि उत्तरकालीन जैनसाहित्य[2] में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग अहिंसा सत्य आदि आचार के विषय में भी हुआ है तथापि आज तक के नयवाद एवं अनेकान्तवाद विषयक ग्रन्थों में उसकी मूल प्रकृति का स्पष्ट दर्शन होता है क्योंकि नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व, सामान्य, विशेष अभिलाप्यत्व अनभिलाप्यत्व इत्यादि तात्त्विक चिन्तन में ही वह वाद समाप्त हो जाता है। अनेकान्त दृष्टि से एक वस्तु को नित्यानित्य आदि द्विरूप माननेवाले केवल जैन ही नहीं बल्कि मीमांसक और सांख्य आदि[3] भी थे। और प्रतिवादी बौद्ध आदि स्याद्वाद का खण्डन करते समय जैनों के साथ-साथ मीमांसक सांख्य आदि[4] के भी तात्त्विक मन्तव्य का खण्डन करते थे। फिर भी

---

१ 'णाम ठवणा दविए त्ति काल य। ... मणुसोगस्स उ णिक्खेवो होई मर्णना ॥' आव० नि० ११६। '... ' -आव० नि० गा० ७५४। न्या० ७।

२ "न य घायइ त्ति हिंसो नाघायन्तो त्ति निच्छियमहिंसो। न विरलजीवमहिंसो न य जीवघणं ति तो हिंसो ॥ अहणन्तो वि हु हिंसो दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरो व्व ॥ बाहिन्तो न वि हिंसो सुद्धत्तणओ जहा विज्जो ॥ असुहो जो परिणामो सो हिंसा सो उ बाहिरनिमित्तं। को वि अवेक्खेज्ज न वा जम्हा ऽणेगन्तियं बज्झं ॥"-विशेषा० गा० १७६३ १७६४ १७६६। आप्तमी० का० ६३-६४। पुरुषार्थ का० ४४ ४८। ... -इत्यादि-यशोवि० धर्मपरी० पृ० १ ३ अ।

३ 'वस्तुन्यस्मिन् ... ॥ न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥'-श्लोकवा० आत्मवा० श्लो० २८, ३। "एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥"-योगसू० ३. १३। योगभा० ३. १३। पात० महा० पृ० ५८। मनुस्मृति जो वेदान्ती था उसका मत अनेकान्त नाम से प्रसिद्ध था क्योंकि वह भेदाभेद व ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी रहा अच्युत वर्ष ३ अं० ४ पृ० ८-११।

४ "अस्तिनास्तिविरोधेन ... । ... ॥"-तत्त्वसं० का० १७०६।

शङ्करादि जैसे दार्शनिक[1] भी जैनों को ही स्याद्वादी समझते व कहते हैं, मीमांसक सांख्य आदि को नहीं। इसका सबब यह जान पड़ता है कि एक तो जैनदर्शन में स्याद्वाद स्थापन विषयक जितना और जैसा प्रचुर साहित्य बना वैसा मीमांसक, सांख्यादि दर्शन में नहीं है। और दूसरा सबब यह है कि सांख्य, योग आदि[2] दर्शनों में आत्मा जो तत्त्वज्ञान का मुख्य चिन्त्य विषय है उसको छोड़कर ही प्रकृति परमाणु आदि में नित्यानित्यत्व का चिन्तन किया है, जब कि जैनदर्शन में जड़ की तरह चेतन में भी मुख्यरूप से नित्यानित्यत्वादि का समर्थन किया है।

जान पड़ता है जैनेतर तार्किकों ने जो अनेकान्तवाद का खंडन शुरू किया वह उस बाद के जैन आचार्यों के द्वारा प्राकृत आगमों में से संस्कृतरूप में अवतीर्ण होने के बाद ही। और यह भी जान पड़ता है कि अनेकान्तवाद के खण्डन करनेवाले जैनेतर तार्किकों में सबसे पहिले बौद्ध ही रहे हैं[3]। बौद्ध विद्वानों के द्वारा किये गये अनेकान्त का खण्डन देखकर ही वैदिक विद्वान् उस खण्डन की ओर विशेष अग्रसर हुए। ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्तवाद का खण्डन यदि सचमुच असल में जैनदर्शन को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है तो भी वह खण्डन बौद्धकृत किसी खण्डन के बाद ही का होना चाहिए। यह भी हो सकता है कि असल में ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्त का खण्डन जैनदर्शन को लक्ष्य में रखकर न किया गया हो पर भर्तृ प्रपञ्च जैसे वेदान्त तथा सांख्य-मीमांसक आदि को लक्ष्य में रखकर किया गया हो। वैसा ब्रह्मसूत्र के उपलब्ध भाष्यों में शाङ्करभाष्य ही प्राचीन है और उसमें जैनदर्शन को ही प्रतिपक्षी समझकर उस अनेकान्तवाद के खण्डन का अर्थ शङ्कराचार्य ने लगाया है। शङ्कराचार्य के बारे में यह कहना दु:साहस मालूम होता है कि वे मीमांसक कुमारिल प्रतिपादित अनेकान्त को या सांख्य सिद्धान्त की अनेकान्तात्मकता को जानते न थे। यदि यह कल्पना ठीक है तो फिर प्रश्न होता है कि शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रगत अनेकान्त के खण्डन को केवल जैन प्रक्रियाप्रसिद्ध अनेकान्त, सप्तभङ्गी आदि के खण्डन के द्वारा ही कैसे घटाया? इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि जैसे अनेकान्तस्थापन विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैनसाहित्य में बने और थे वैसे मीमांसा और सांख्य दर्शन में न बने और न थे। उनमें प्रसंगात् अनेकान्तपोषक चर्चा पाई जाती थी। अतएव अनेकान्त सप्तभङ्गी आदि के समर्थक स्वतन्त्र जैन-ग्रन्थों के दृष्टिगोचर होने के कारण शङ्कराचार्य ने केवल जैनमत रूप से ही अनेकान्त का खण्डन किया। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट ने भी मुख्यतया जैनमत रूप से अनेकान्तवाद का खण्डन[4] किया है उसका भी तात्पर्य यही हो सकता है।

---

१ "अथ विवसनमतं निरस्यते (ब्र० शाङ्करभा० २. २. ३३)–नैकस्मिन्नसम्भवात्" ब्रह्मसू० २. २. ३३ से।

२ 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'–सांख्यका० ३। योगभा० १. ४।

३ "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"–इत्यादि-प्रमाणवा० १. १८३-४।

४ हेतुबि० टी० पृ० १०४–१०७।

सामान्यरूप से दार्शनिक क्षेत्र में यह मान्यता रूढ़ है कि जैनदर्शन ही अनेकान्तवादी है अतएव जैसे जैनेतर दार्शनिक अपने दर्शनों में सम्भव अनेकान्त विचार की ओर दृष्टि दिये बिना ही अनेकान्त को मात्र जैनवाद समझकर उसका खण्डन करते हैं वैसे ही जैनाचार्य भी उस वाद को सिर्फ अपना ही मानकर उस खण्डन का पूरे ज़ोर से जवाब देते हुए अनेकान्त का विविधरूप से स्थापन करते आए हैं जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य में नय, सप्तभङ्गी, निक्षेप अनेकान्तादि समर्थक एक बड़ी स्वतन्त्र ग्रन्थ-राशि बन गई है[1]। अनेकान्त के ऊपर जैनेतर तार्किकों के द्वारा दिये गये दूषणों का उद्धार करते हुए जैनाचार्य ऐसे आठ दोषों का उल्लेख[2] करते हैं। जहाँ तक देखने में आया है उन आठ दोषों में से तीन दोषों का स्पष्ट रूप से नामनिर्देश तो शङ्कराचार्यकृत खण्डन (२. २. ३३) और तत्त्वसंग्रहकृत खण्डन (का० १७०६) से मिलता है पर उन आठों दोषों का स्पष्ट नामनिर्देश किसी एक जगह या भिन्न भिन्न स्थान में मिलाकर के देखा नहीं जाता। सम्भव है कोई अनेकान्त के खण्डनवाला ऐसा भी ग्रन्थ रहा हो जिसमें उन आठ दोषों का स्पष्ट नामनिर्देश रहा हो। और यह भी हो सकता है कि ऐसे आठ दोषों के अलग अलग नाम और उनके लक्षण किसी ग्रन्थ में आये न हों। सिर्फ अनेकान्त खण्डन परायण विचारशैली और भाषा रचना को देखकर उस खण्डन में से अधिक से अधिक फलित होनेवाले आठ दोषों के नाम और लक्षण जवाब देने के वास्ते स्वयं ही अलग छाँटकर जैनाचार्यों ने उनका युक्तिपूर्ण निरसन किया हो। कुमारिल ने[3] अनेकान्त के ऊपर विरोध और संशय इन दो दोषों की सम्भावना कर के ही उनका निवारण किया है। शङ्कराचार्य के खण्डन में (ब्र० शांकरभा० २. २. ३३) मुख्यतया उक्त दो ही दोष फलित होते हैं। शान्तरक्षित के खण्डन में उक्त दो दोषों के अलावा सङ्कर नामक (तत्त्वसं० का० १७२२) तीसरे दोष का स्पष्ट निर्देश है।

अनेकान्तवाद के ऊपर प्रतिवादियों के द्वारा दिये गये दोषों का उद्धार करनेवाले जैनाचार्यों में व्यवस्थित और विश्लेषणपूर्वक उन दोषों का निवारण करनेवाले सबसे प्रथम अकलङ्क और हरिभद्र ही जान पड़ते हैं[4]। इनका अनुगमन पिछले सभी जैन विद्वानों ने किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी उसी मार्ग का अनुसरण करके आठ दोषों का उद्धार किया है और स्याद्वाद का एक पूर्ण और निर्दोष वाद स्थापित किया है।

असल में स्यात्पद युक्त होने के कारण केवल सप्तभङ्गी का ही नाम स्याद्वाद है। व्यवहार निश्चय, नैगम संग्रह आदि नय ये सब नयवाद के अन्तर्गत हैं। स्याद्वाद और

---

१ उदाहरणार्थ–सन्मतितर्क आप्तमीमांसा नयचक्र तत्त्वार्थराजवा०–प्रथम अध्याय का छठा सूत्र तथा चतुर्थाध्याय का अन्तिम सूत्र, अनेकान्तजयपताका अनेकान्तप्रवेश स्याद्वादरत्नाकर–६ठाँ ७वाँ परि० अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका नयप्रदीप नयोपदेश नयरहस्य अनेकान्तव्यवस्था सप्तभङ्गीतरङ्गिणी आदि।

२ प्रमाणम० लि० पृ० ६७ A।

३ श्लोकवा० आकृ० ५६, पृ० ७६–८०।

४ प्रमाणमी० लि० पृ० ६७ A। अनेकान्तज० टी० पृ० ३० स। शास्त्रवा० ७. ३४–३८।

नयवाद ये दोनों एकमात्र अनेकान्त दृष्टि के फलस्वरूप भिन्न भिन्न वाद हैं जो शैली, शब्द रचना, पृथक्करण आदि में भिन्न होने पर भी अनेकान्तसूचक रूप से अभिन्न ही हैं। जैन शास्त्रों की व्याख्या का निक्षेपात्मक प्रकार और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदिवाला पृथक्करण प्रकार भी अनेकान्त दृष्टि का ही द्योतक है। अनेकान्तवाद यह व्यापक शब्द है, जिसमें स्याद्वाद, नयवाद, निक्षेपपद्धति आदि सबका समावेश हो जाता है। यद्यपि इस समय अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनों शब्द पर्यायरूप से व्यवहृत देखे जाते हैं तथापि स्याद्वाद असल में अनेकान्तवाद का एक विशेष अंशमात्र है।

पृ० २८ पं० ३ 'विरोधादि'—अन्य वादियों के द्वारा अनेकान्त के ऊपर दिये गये दोषों का परिहार जैन आचार्यों ने किया है। इस परिहार में परिहृत दोषों की संख्या के विषय में तथा स्वरूप के विषय में नाना परम्पराएँ हैं। भट्टारक अकलङ्क ने संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, उभयदोषप्रसङ्ग, अनवस्था, सङ्कर, अभाव इन दोषों का परिगणन किया है। आचार्य हरिभद्र ने (शास्त्रवा स्तो का ५१–५१८) संख्या का निर्देश बिना किये ही विरोध, अनवस्था, उभय संशय इन दोषों का स्पष्ट निर्देश किया है और आदि शब्द से अन्य दोषों का सूचन भी किया है। विद्यानन्द ने अष्टस (२२७) विरोध वैयधिकरण्य, संशय व्यतिकर, सङ्कर अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इस तरह स्पष्ट ही नामपूर्वक आठ दोष गिनाये हैं। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयक पृ १५१ आठ दोष गिनाये हैं, पर दोनों की दी हुई नामावली में थोड़ा सा अन्तर है क्योंकि विद्यानन्द 'उभय' दोष का उल्लेख नहीं करते पर अप्रतिपत्ति को दोष कहकर आठ संख्या की पूर्ति करते हैं जब कि प्रभाचन्द्र 'उभय' दोष को गिनाकर ही आठ दोष की संख्या पूर्ण करते हैं और अप्रतिपत्ति को अलग दोष नहीं गिनते। इस तरह दिगम्बरीय ग्रन्थों में संख्या आठ होने पर भी उसकी दो परम्पराएँ हुईं।

अभयदेव ने 'उभय' दोष का उल्लेख किया है सन्मतिटी पृ ४५१) पर उनकी दोष संख्या सात की है, जो वादी देवसूरि को भी अभिमत है फिर भी वादी देवसूरि (स्याद्वादर पृ ७१८) और अभयदेव दोनों की सात संख्या की पूर्ति एक सी नहीं है। क्योंकि अभयदेव की गणना में अभाव' दोष है पर व्यतिकर नहीं जब कि वादी देवसूरि की गणना में 'व्यतिकर' है, 'अभाव' नहीं। इस तरह श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में सात संख्या की दो परम्पराएँ हुईं।

आचार्य हेमचन्द्र ने जिन आठ दोषों का परिहार किया है वे ठीक विद्यानन्दसम्मत ही आठ हैं। हेमचन्द्र के द्वारा आठ दोषों का परिहार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में प्रथम दाखिल हुआ जान पड़ता है जिसका अनुकरण उन्हीं के अनुगामी मल्लिषेण सूरि ने स्याद्वादमञ्जरी (का २४) में किया है। अनेकान्तवाद पर जब से दार्शनिक क्षेत्र में आक्षेप होने लगे तब से आक्षेपकों के द्वारा दिये गये दोषों की संख्या भी एक-सी नहीं रही है, वह क्रमशः वृद्धिङ्गत जान पड़ती है। उन दोषों के निवारक जैन आचार्यों के ग्रन्थों में भी परिहृत दोषों की संख्या का उत्तरोत्तर विकास ही हुआ है। यहाँ तक कि अन्तिम जैन तार्किक उपाध्याय

यशोविजयजी ने (शास्त्रवा० टी० पृ० २६६ A) पाठ के अलावा अन्य दोषों—आत्माश्रय, परस्पराश्रय, चक्रक आदि—का भी निर्देश करके उनका निवारण किया है।

पृ० २८. पं० ६ 'नैवम्'–तुलना–प्रमेयक० पृ० १५६-१५८।

पृ० २९. पं० १ 'प्रत्येकं यो'–तुलना–"आह च–

भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथं न ते ॥"–हेतुबि० टी० पृ० ११।

अ० १. आ० १. सू० ३४–४१. पृ० २९. दार्शनिकक्षेत्र में प्रमाण और उसके फल की चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। यों तो यह विषय तर्कयुग के पहिले श्रुति-आगम युग में भी विचारप्रदेश में आया है। उपनिषदों, पिटकों और आगमों में ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—के फल का कथन है। उस युग में वैदिक, बौद्ध, जैन सभी परम्परा में ज्ञान का फल अविद्यानाश या वस्तुविषयक अधिगम कहा है पर वह आध्यात्मिक दृष्टि से—अर्थात् मोक्ष लाभ की दृष्टि से। उस अध्यात्म युग में ज्ञान इसी लिए उपादेय समझा जाता था कि उसके द्वारा अविद्या—अज्ञान—का नाश होकर एवं वस्तु का वास्तविक बोध होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो[1], पर तर्कयुग में यह चर्चा व्यावहारिक दृष्टि से भी होने लगी अतएव इस तर्कयुग में होनेवाली प्रमाणफलविषयक चर्चा में अध्यात्मयुगीन अलौकिक दृष्टि और तर्कयुगीन लौकिक दृष्टि दोनों पाते हैं[2]। लौकिक दृष्टि में केवल इसी भाव को सामने रखकर प्रमाण के फल का विचार किया जाता है कि प्रमाण के द्वारा व्यवहार में साक्षात् क्या सिद्ध होता है, और परम्परा से क्या, चाहे अन्त में मोक्षलाभ होता हो या नहीं। क्योंकि लौकिक दृष्टि में मोक्षानधिकारी पुरुषगत प्रमाणों के फल की चर्चा का भी समावेश होता है।

तीनों परम्परा की तर्कयुगीन प्रमाणफलविषयक चर्चा में मुख्यतया विचारणीय अंश दो देखे जाते हैं—एक तो फल और प्रमाण का पारस्परिक भेद अभेद और दूसरा फल का स्वरूप। न्याय वैशेषिक मीमांसक आदि वैदिक दर्शन फल को प्रमाण से भिन्न ही मानते

---

१ "सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य"–मुण्डको० २. १. १०। श्वेताश्व० ३.७ ६८। कठ० ४८. २, ३। "यमेन दुक्खेन–यदा च आत्मना वा धम्मं तथानि अभिसमेस्सति। तदा अविज्जूपसमा उपसन्तो चरिस्सति॥"–विसुद्धि० पृ० ५४४।

२ "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" वै० सू० १. १. ३। "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः"–न्यायसू० १. १. १। "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्"–न्यायभा० १. १. ३।

है[1]। बौद्ध दर्शन उसे अभिन्न कहता है[2] जब कि जैन दर्शन अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनुसार फल प्रमाण का भेदाभेद बतलाता है[3]।

फल के स्वरूप के विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मन्तव्य एक सा ही है[4]। वे सभी इन्द्रियव्यापार के बाद होनेवाले सन्निकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी उस परम्परा में से पूर्व पूर्व फल को उत्तर उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण भी कहते हैं अर्थात् उनके कथनानुसार इन्द्रिय तो प्रमाण ही है फल नहीं और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि जो अन्तिम फल है वह फल ही है प्रमाण नहीं। पर बीच के सन्निकर्ष, निर्विकल्प और सविकल्प ये तीनों पूर्व प्रमाण की अपेक्षा से फल और उत्तरफल की अपेक्षा से प्रमाण भी हैं। इस मन्तव्य में फल प्रमाण कहलाता है पर वह स्वभिन्न उत्तरफल की अपेक्षा से। इस तरह इस मत में प्रमाण-फल का भेद स्पष्ट ही है। वाचस्पति मिश्र ने इसी भेद को ध्यान में रखकर सांख्य प्रक्रिया में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था अपनी कौमुदी में की है[5]।

बौद्ध परम्परा में फल के स्वरूप के विषय में दो मन्तव्य हैं—पहला विषयाधिगम को और दूसरा स्वसंवित्ति को फल कहता है। यद्यपि दिङ्नागसंगृहीत[6] इन दो मन्तव्यों में से पहले का ही कथन और विवरण धर्मकीर्त्ति[7] तथा उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने किया है तथापि शान्तरक्षित ने उन दोनों बौद्ध मन्तव्यों का संग्रह करने के अलावा उनका सयुक्तिक उपपादन और उनके पारस्परिक अन्तर का प्रतिपादन भी किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बाह्यार्थवाद, जिसे पार्थसारथि मिश्र ने सौत्रान्तिक का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत विषयसारूप्य प्रमाण है और विषयाधिगति फल, जब कि विज्ञानवाद जिसे पार्थसारथि ने योगाचार का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत स्वसंवेदन ही फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाण है[8]। यह ध्यान में रहे कि बौद्ध मतानुसार प्रमाण और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जाने के कारण वे अभिन्न कहे गये हैं। कुमारिल ने इस बौद्धसम्मत अभेदवाद का खण्डन

---

१ श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ७४, ७५।

२ प्रमाणसमु० १. ६। न्यायबि० टी० १. २१।

३ "करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् नानात्वं च परश्वादिवत्" –अष्टश० अष्टस० पृ० २८३, २८४।

४ 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"– न्यायभा० १. १. ३। श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ५६–७३। प्रकरणप० पृ० ६४। कन्दली पृ० १९८-९।

५ सांख्यत० का० ४।

६ प्रमाणसमु० १. १०–१२। श्लो० न्याय० पृ० १५८–१५९।

७ न्यायबि० १. १८–१९।

८ "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"– तत्त्वसं० का० १३४४। श्लो० न्याय० पृ० १५८–१५९।

यशोविजयजी ने (शास्त्रवा टी पृ २११ A) पाठ के अलावा अन्य दोषों—आत्माश्रय, परस्पराश्रय, चक्रक आदि—का भी निर्देश करके उनका निवारण किया है।

पृ० २८ पं० ६ 'नैवम्'–तुलना–प्रमेयक पृ १५६ १५८।

—

पृ० २९ पं० ३ 'प्रत्येकं यो'–तुलना–"आह च–

भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।

प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथं न ते॥"–हेतुबि टी पृ १४।

—

अ० १ आ० १ सू ३४–४१ पृ० २९ दार्शनिकक्षेत्र में प्रमाण और उसके फल की चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। यों तो यह विषय तर्कयुग के पहिले श्रुति-आगम युग में भी विचारप्रदेश में आया है। उपनिषदों पिटकों और आगमों में ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—के फल का कथन है। उस युग में वैदिक बौद्ध, जैन सभी परम्परा में ज्ञान का फल अविद्यानाश या वस्तुविषयक अधिगम कहा है पर वह आध्यात्मिक दृष्टि से—अर्थात् मोक्ष लाभ की दृष्टि से। उस अध्यात्म युग में ज्ञान इसी लिए उपादेय समझा जाता था कि उसके द्वारा अविद्या—अज्ञान—का नाश होकर एवं वस्तु का वास्तविक बोध होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो[1] पर तर्कयुग में यह चर्चा व्यावहारिक दृष्टि से भी होने लगी अतएव इस तर्कयुग में होनेवाली–प्रमाणफलविषयक चर्चा में अध्यात्मयुगीन अलौकिक दृष्टि और तर्कयुगीन लौकिक दृष्टि दोनों पाते हैं[2]। लौकिक दृष्टि में केवल इसी भाव को सामने रखकर प्रमाण के फल का विचार किया जाता है कि प्रमाण के द्वारा व्यवहार में साक्षात् क्या सिद्ध होता है, और परम्परा से क्या चाहे अन्त में मोक्षलाभ होता हो या नहीं। क्योंकि लौकिक दृष्टि में मोक्षानधिकारी पुरुषगत प्रमाणों के फल की चर्चा का भी समावेश होता है।

तीनों परम्परा की तर्कयुगीन प्रमाणफलविषयक चर्चा में मुख्यतया विचारणीय अंश दो देखे जाते हैं—एक तो फल और प्रमाण का पारस्परिक भेद-अभेद और दूसरा फल का स्वरूप। न्याय वैशेषिक मीमांसक आदि वैदिक दर्शन फल को प्रमाण से भिन्न ही मानते

---

१ 'सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य'–मुण्डको० २. १ १०। स्त्रांख्यका ६७ ६८। कठ २८. २, ३। 'समेत बुवति–यथा च आत्मा मे धर्मं सत्यानि अभिसमेस्सति। तथा अविज्जूपसमा उपसन्तो चरिस्सति॥" विसुद्धि० पृ ४४४।

२ " तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"–वै सू० १ १ ३। तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः"–न्यायसू० १ १ १। "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्"–न्यायभा० १ १ ३।

है[1]। बौद्ध दर्शन उसे अभिन्न कहता है[2] जब कि जैन दर्शन अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनुसार फल-प्रमाण का भेदाभेद बतलाता है[3]।

फल के स्वरूप के विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मन्तव्य एक सा ही है[4]। वे सभी इन्द्रियव्यापार के बाद होनेवाले सन्निकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी उस परम्परा में से पूर्व पूर्व फल को उत्तर उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण भी कहते हैं अर्थात् उनके कथनानुसार इन्द्रिय तो प्रमाण ही है फल नहीं और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि जो अन्तिम फल है वह फल ही है प्रमाण नहीं। पर बीच के सन्निकर्ष, निर्विकल्प और सविकल्प ये तीनों पूर्व प्रमाण की अपेक्षा से फल और उत्तरफल की अपेक्षा से प्रमाण भी हैं। इस मन्तव्य में फल प्रमाण कहलाता है पर वह स्वभिन्न उत्तरफल की अपेक्षा से। इस तरह इस मत में प्रमाण-फल का भेद स्पष्ट ही है। वाचस्पति मिश्र ने इसी भेद को ध्यान में रखकर सांख्य प्रक्रिया में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था अपनी कौमुदी में की है[5]।

बौद्ध परम्परा में फल के स्वरूप के विषय में दो मन्तव्य हैं—पहला विषयाधिगम को और दूसरा स्वसंवित्ति को फल कहता है। यद्यपि दिङ्नागसंगृहीत[6] इन दो मन्तव्यों में से पहले का ही कथन और विवरण धर्मकीर्ति[7] तथा उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने किया है तथापि शान्तरक्षित ने उन दोनों बौद्ध मन्तव्यों का संग्रह करने के अलावा उनका सयुक्तिक उपपादन और उनके पारस्परिक अन्तर का प्रतिपादन भी किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बाह्यार्थवाद, जिसे पार्थसारथि मिश्र ने सौत्रान्तिक का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत विषयसारूप्य प्रमाण है और विषयाधिगति फल, जब कि विज्ञानवाद जिसे पार्थसारथि ने योगाचार का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत स्वसंवेदन ही फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाण है[8]। यह ध्यान में रहे कि बौद्ध मतानुसार प्रमाण और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जाने के कारण वे अभिन्न कहे गये हैं। कुमारिल ने इस बौद्धसम्मत अभेदवाद का खण्डन

---

१ श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ७४ ७५।

२ प्रमाणसमु० १. ६। न्यायबि० टी० १. २१।

३ 'करणस्य क्रियायाश्च कथञ्चिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् नानात्वं च परश्वादिवत्'—अष्टश० अष्टस० पृ० २८३ २८४।

४ 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।'—न्यायभा० १. १. ३। श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ५९–७३। प्रकरणप० पृ० ६४। कन्दली पृ० १९८. ६।

५ सांख्यत० का० ४।

६ प्रमाणसमु० १. १०–१२। श्लो० न्याय० पृ० १५८–१५९।

७ न्यायबि० १. १८–२१।

८ 'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥'—तत्त्वसं० का० १३४४। श्लो० न्याय० पृ० १५८–१५९।

(श्लोकवा० प्रत्यक्ष श्लो० ७४ से) करके जो वैशेषिक-नैयायिक के भेदवाद का अभिमतरूप से स्थापन किया है उसका जवाब शान्तरक्षित ने अवतरण देकर बौद्धसम्मत अभेदवाद की युक्तियुक्तता दिखाई है—तत्त्वसं० का० १३४ से।

जैन परम्परा में सबसे पहिले तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्र ही हैं जिन्होंने लौकिक दृष्टि से भी प्रमाण के फल का विचार जैन परम्परा के अनुसार व्यवस्थित किया है। उक्त दोनों आचार्यों का फलविषयक कथन शब्द और भाव में समान ही है—न्याया० का० २८, आप्तमी० का० १०२। दोनों के कथनानुसार प्रमाण का साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति ही है। पर व्यवहित फल यथासंभव हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है। सिद्धसेन और समन्तभद्र के कथन में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१—अज्ञाननिवृत्ति का फलरूप से उल्लेख जिसका वैदिक-बौद्ध परंपरा में निर्देश नहीं देखा जाता। २—वैदिक परम्परा में जो मध्यवर्ती फलों का सापेक्ष भाव से प्रमाण और फल रूप से कथन है उसके उल्लेख का अभाव जैसा कि बौद्ध तर्कग्रन्थों में भी है। ३—प्रमाण और फल के भेदाभेद विषयक कथन का अभाव। सिद्धसेन और समन्तभद्र के बाद अकलङ्क ही इस विषय में मुख्य देखे जाते हैं जिन्होंने सिद्धसेन-समन्तभद्रदर्शित फलविषयक जैन मन्तव्य का संग्रह करते हुए उसमें अनिर्दिष्ट दोनों अंशों की स्पष्टतया पूर्ति की, अर्थात् अकलङ्क ने प्रमाण और फल के भेदाभेदविषयक जैनमन्तव्य को स्पष्टतया कहा (अष्टश० अष्टस० पृ० २८३-४) और मध्यवर्ती फलों को प्रमाण तथा फल उभयरूप कहने की वैशेषिक नैयायिक मीमांसक की सापेक्ष शैली को जैन प्रक्रिया के अनुसार घटाकर उसका स्पष्ट निर्देश किया[1]। माणिक्यनन्दी (परी० ५. १-३ से) और देवसूरि ने (प्रमाणन० ६. १ से) अपने अपने सूत्रों में प्रमाण का फल बतलाते हुए सिर्फ वही बात कही है जो सिद्धसेन और समन्तभद्र ने। अलबत्ता उन्होंने अकलङ्कनिर्दिष्ट प्रमाण-फल के भेदाभेद का जैन मन्तव्य सूचित किया है पर उन्होंने मध्यवर्ती फलों को सापेक्षभाव से प्रमाण और फल कहने की अकलङ्कसूचित जैनशैली का सूचन नहीं किया। विद्यानन्द की तीव्र दृष्टि अज्ञाननिवृत्ति और स्व-परव्यवसिति शब्द की ओर गई। योगाचार और सौत्रान्तिक सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण के फलरूप से फलित होनेवाली स्व और पर व्यवसिति को ही विद्यानन्द ने अज्ञाननिवृत्तिरूप बतलाया (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६८; प्रमाणप० पृ० ७९) जिसका अनुसरण प्रभाचन्द्र ने मार्तण्ड में और देवसूरि ने रत्नाकर में किया। अब तक में जैनतार्किकों का एक स्थिर सा मन्तव्य ही हो गया कि जिसे सिद्धसेन-समन्तभद्र ने अज्ञाननिवृत्ति कहा है वह वस्तुतः स्व-परव्यवसिति ही है।

आ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत चर्चा में पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकों के मतों का संग्रह तो किया ही है पर साथ ही उसमें अपनी विशेषता भी दिखाई है। उन्होंने प्रमाणफल और

---

१ अवग्रहावायधारणात् स्वार्थविदाम्। पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्॥ —लघी० १. ६।

देवसूरि की तरह स्व-परव्यवसिति का ही अज्ञाननिवृत्ति न कहकर दोनों को अलग अलग फल माना है। प्रमाण और फल के अभेद पक्ष में कुमारिल ने बौद्धों के ऊपर जो दोष दिये थे और जिनका निरास धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुव्याख्या तथा शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में है उन्हीं दोषों का निवारण बौद्ध ढंग से करते हुए भी आ० हेमचन्द्र ने अपना वैयाकरणत्व आकर्षक तार्किकशैली में व्यक्त किया है। जैसे अनेक विषयों में आ० हेमचन्द्र अकलङ्क का खास अनुसरण करते हैं वैसे ही इस चर्चा में भी उन्होंने अव्यवहित फलों का सापेक्षभाव से प्रमाण और फल कहनेवाली अकलङ्कस्थापित जैनशैली को सूत्र में शब्दशः स्थान दिया। इस तरह हम प्रमाण फल के चर्चाविषयक प्रस्तुत सूत्रों में वैदिक, बौद्ध और जैन सभी परम्पराओं का यथासम्भव जैनमत रूप से समन्वय एक ही जगह पाते हैं।

पृ० २९ पं० १९ 'नन्वेवं प्रमाणमेव'—तुलना—"ननु च ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यं तथा च सति तदेव ज्ञानं प्रमाणं तदेव प्रमाणफलम्। न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते। तत्कथं सारूप्यं प्रमाणमित्याह—

तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति॥

तद्वशादिति। अर्थस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञानं सारूप्यवशात् सिध्यति, प्रतीतं भवतीत्यर्थः। नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतः तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते न तद्वशात्तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यते अवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते। न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः येनैकस्मिन्वस्तुनि विरोधः स्यात्, अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते।"—न्यायबि० टी० १. २१।

पृ० ३० पं० २३ 'ईहाधारणयोः'—तुलना—'ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात्।'—लघी० स्ववि० १. ६।

पृ० ३० पं० २४ 'तथा धारणा प्रमाणम्'—तुलना—लघी० स्ववि० १. ६।

पृ० ३१ पं० ९ 'अभेदे'—तुलना—परी० ५. ६७। प्रमाणन० ६. ८४।

पृ० ३१ पं० १० 'अप्रमाणात्'—तुलना—'तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित्प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्। व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावोऽपि कथमेकस्य ज्ञानस्येति चेत्। उच्यते। सदृशमनुभूयमानं तद्विज्ञानं यतो नीलस्य ग्राहकमवस्थाप्यते निश्चयप्रत्ययेन तस्मात् सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनहेतुः। निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनमवस्थाप्यमानं व्यव

स्वाप्यम्। तस्मात्स्वात्मव्यवहृत्या सामर्थ्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः। घनीभूतबोधस्वा-भूतया च नीलबाधस्वपरं व्याख्याप्यम्।' –न्यायवि टी० १. २१।

पृ० ३१ पं० ११ 'एवं सति'–तुलना–वही १. ९८. ११।

पृ० ३१ पं० १४ 'तथा तस्यैवात्मन'–तुलना–वही ५. ३। प्रमाणन० १. ६. ११।

पृ० ३१ पं० १५ 'भट्ट तु'–तुलना–वही १. ७१।

पृ० ३१ पं० १५ 'अथ यत्रैवात्मनि'–तुलना–प्रमेयर० १. ७१, ७२।

पृ० ३१ पं० १९ 'प्रमाणात् फलम्'–वही ५. २। प्रमाणर० पृ० ७९।

पृ० ३१ पं० २१ 'स्वपराभासी'–भारत में दार्शनिकों की चिन्ता का मुख्य और अन्तिम विषय आत्मा ही रहा है। अन्य सभी चीज़ें आत्मा की खोज में से ही फलित हुई हैं। अतएव आत्मा के अस्तित्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में बिलकुल परस्परविरोधी ऐसे अनेक मत अति चिरकाल से दर्शनशास्त्रों में पाये जाते हैं। उपनिषद् काल के पहिले ही से आत्मा को सर्वथा नित्य—कूटस्थ—माननेवाले दर्शन पाये जाते हैं जो औपनिषद, सांख्य आदि नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मा अर्थात् चित्त या नाम को भी सर्वथा क्षणिक मानने का बौद्ध सिद्धान्त है जो गौतम बुद्ध से तो अर्वाचीन नहीं है। इन सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा क्षणिकत्व स्वरूप दो एकान्तों के बीच होकर चलनेवाला अर्थात् उक्त दो एकान्तों के समन्वय का पुरस्कर्ता नित्यानित्यत्ववाद आत्मा के विषय में भी भगवान् महावीर के द्वारा स्पष्टतया आगमों में प्रतिपादित (भग० श० ७ उ० २) देखा जाता है। इस जैनाभिमत आत्मनित्यानित्यत्ववाद का समर्थन मीमांसकधुरीण कुमारिल ने (श्लोकवा० आत्म० श्लो० २८ से) भी बड़ी स्पष्टता एवं तार्किकता से किया है जैसा कि जैनतार्किकग्रन्थों में भी देखा जाता है। इस बारे में यद्यपि आ० हेमचन्द्र ने जैनमत की पुष्टि में तत्त्वसंग्रहगत श्लोकों का ही अक्षरशः अवतरण दिया है तथापि वे श्लोक वस्तुतः कुमारिल के श्लोकवार्त्तिकगत श्लोकों के ही सार मात्र का निर्देशक होने से मीमांसकमत के ही पोषक हैं।

ज्ञान एवं आत्मा में स्वावभासित्व-परावभासित्व विषयक विचार के बीज तो श्रुति आगमकालीन साहित्य[1] में भी पाये जाते हैं पर इन विचारों का स्पष्टीकरण एवं समर्थन तो विशेषकर तर्कयुग में ही हुआ है। परोक्ष ज्ञानवादी कुमारिल आदि मीमांसक के मतानुसार ही ज्ञान और उससे अभिन्न आत्मा इन दोनों का परोक्षत्व अर्थात् मात्र परावभासित्व सिद्ध होता है। योगाचार बौद्ध के मतानुसार विज्ञानवाद किसी बौद्ध का अस्तित्व न होने से और विज्ञान स्वसंविदित होने से ज्ञान और तद्रूप आत्मा का मात्र स्वावभासित्व फलित होता है। इस बारे में भी जैनदर्शन ने अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनुसार ही अपना मत स्थिर किया है। ज्ञान एवं आत्मा दोनों को स्पष्ट रूप से स्वपराभासी

1. [illegible]

कहनेवाले जैनाचार्यों में सबसे पहिले सिद्धसेन ही हैं—न्याया० ११। आ० हेमचन्द्र ने सिद्धसेन के ही कथन को दोहराया है।

देवसूरि ने आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए जो मतान्तरव्यावर्तक अनेक विशेषण दिये हैं (प्रमाणन० ७.५४,५५) उनमें एक विशेषण देहव्यापित्व यह भी है। आ० हेमचन्द्र ने जैनाभिमत आत्मा के स्वरूप को सूत्रबद्ध करते हुए भी उस विशेषण का उपादान नहीं किया। इस विशेषणत्याग से आत्मपरिमाण के विषय में (जैसे नित्यानित्यत्व विषय में है वैसे) कुमारिल के मत के साथ जैनमत की एकता की भ्रान्ति न हो इसलिए आ० हेमचन्द्र ने स्पष्ट ही कह दिया है कि देहव्यापित्व इष्ट है पर अन्य जैनाचार्यों की तरह सूत्र में उसका निर्देश इसलिए नहीं किया है कि वह प्रस्तुत में उपयोगी नहीं है।

पृ० ३२ पं० ६ 'यथाहे'—तुलना—

"स्यातामत्यन्तनाशेऽस्य कृतनाशाकृतागमौ।
न त्ववस्थान्तरप्राप्तौ लोके बाल्ययुवादिवत्॥ २३॥
अवस्थान्तरभाग्येतत् फलं मम शुभाशुभम्।
इति ज्ञात्वाऽनुतिष्ठंश्च विजहच्चैव जनः॥ २४॥
अनवस्थान्तरप्राप्तिर्व्यक्ता न च कस्यचित्।
अनुच्छेदात्तु नाऽन्यत्वं मानतुल्योऽवगच्छति॥ २५॥
सुखदुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम।
चैतन्यद्रव्यसत्त्वादिरूपं नैव विमुञ्चति॥ २६॥
दुःखिनः सुख्यवस्थायां नश्येयुः सर्व एव ते।
दुःखित्वं चानुवर्तेत विनाशे विक्रियात्मकः॥ २७॥
तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्॥ २८॥
न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थासमाश्रिते।
तेनाऽवस्थावतस्तत्त्वात् कर्तैवाप्नोति तत्फलम्॥ २९॥
स्वरूपेण ह्यवस्थानामन्योन्यस्य विरोधिता।
अविरुद्धस्तु सर्वासु सामान्यात्मा प्रवर्तते॥ ३०॥"—श्लोकवा० आत्म०।
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्॥"—न्यायवि० २. १०६।

द्वितीयाह्निक ।

अ० १ आ० २ सू० १–५ पृ० ३३ पं० १ से ९-१० का टिप्पण—टिप्पण पृ० ११।

पृ० ३३ पं० १६ 'वासनोद्बोध'—सभी तार्किक विद्वान् स्मरण का लक्षण किसी एक आधार पर नहीं करते। कणाद ने आभ्यन्तर कारण संस्कार के आधार पर ही स्मरण का लक्षण प्रणयन किया है[1]। पतञ्जलि ने[2] विषय-स्वरूप के निर्देश द्वारा ही स्मृति को लक्षित किया है जब कि कणाद के अनुगामी प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में कारण विषय और कार्य इन तीन के द्वारा स्मरण का निरूपण किया है[3]। जैन परम्परा में स्मरण और उसके कारण पर तार्किकशैली से विचार करने का प्रारम्भ पूज्यपाद (तत्त्वार्थ १.१३) और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (विशेषा० गा० १८८,१८९) द्वारा हुआ जान पड़ता है। विद्यानन्द ने (प्रमाणप० पृ० ६९) पतञ्जलि की तरह विषयनिर्देश द्वारा ही स्मृति का लक्षण रचा। पर उसमें आकार का निर्देश बढ़ाया। माणिक्यनन्दी ने (परी० ३.३) कणाद की तरह संस्कारात्मक कारण के द्वारा ही स्मृति का लक्षण बाँधा, फिर भी उसमें आकारनिर्देश बढ़ाया ही। वादी देव ने (प्रमाणन० ३.३) विद्यानन्द और माणिक्यनन्दी दोनों का अनुसरण करके अपने स्मृति लक्षण में कारण, विषय और आकार तीनों का निर्देश किया। आ० हेमचन्द्र ने तो माणिक्यनन्दी का ही अनुसरण किया और तदनुसार अपने लक्षणसूत्र में स्मृति के आकार और कारण को ही स्थान दिया।

पृ० ३३ पं० २ 'सदृशदर्शनादि'—"प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।"—न्यायसू० ३.२.४१।

इस सूत्र में जितने संस्कारोद्बोधक निमित्त संगृहीत हैं उतने एक जगह कहीं देखने में नहीं आये।

पृ० ३३ पं० २५. 'सा च प्रमाणम्'—स्मृति को प्रमा—प्रमाण—मानने के बारे में मुख्य दो परम्पराएँ हैं—जैन और जैनेतर। जैन परम्परा उसे प्रमाण मानकर परोक्ष के भेद रूप से इसका वर्णन करती है। जैनेतर परम्परावाले वैदिक बौद्ध, सभी दर्शन उसे प्रमाण नहीं मानते अतएव वे किसी प्रमाणरूप से उसकी चर्चा नहीं करते। स्मृति को प्रमाण न माननेवाले भी उसे अप्रमाण—मिथ्याज्ञान—नहीं कहते पर वे प्रमाण शब्द से उसका केवल व्यवहार नहीं करते।

---

१ "आत्मनःसंयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः"—वैशे० ९.२.६।

२ "अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।"—योगसू० १.११।

३ प्रशस्त० पृ० २५६।

स्मरणात्मक ज्ञान में प्रमाण शब्द का प्रयोग करने न करने का जो मतभेद देखा जाता है इसका बीज धर्मशास्त्र के इतिहास में है। वैदिक परम्परा में धर्मशास्त्र रूप से वेद अर्थात् श्रुति का ही मुख्य प्रामाण्य माना जाता है। मन्वादिस्मृतिरूप धर्मशास्त्र प्रमाण हैं सही पर उनका प्रामाण्य श्रुतिमूलक है। जो स्मृति श्रुतिमूलक है या श्रुति से अविरुद्ध है वही प्रमाण है अर्थात् स्मृति का प्रामाण्य श्रुतिप्रामाण्यतन्त्र है स्वतन्त्र नहीं[1]। धर्मशास्त्र के प्रामाण्य की इस व्यवस्था का विचार बहुत पुराने समय से मीमांसादर्शन ने किया है। जान पड़ता है जब स्मृतिरूप धर्मशास्त्र को छोड़कर भी स्मृतिरूप ज्ञानमात्र के विषय में प्रामाण्यविषयक प्रश्न मीमांसकों के सामने आया तब भी उन्होंने अपना धर्मशास्त्रविषयक उस सिद्धान्त का उपयोग करके एक साधारण ही नियम बाँध दिया कि स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, उसका प्रामाण्य उसके कारणभूत अनुभव के प्रामाण्य पर निर्भर है अत एव वह मुख्य प्रमाणरूप से गिनी जाने योग्य नहीं। सम्भवतः वैदिक धर्मजीवी मीमांसा दर्शन के इस धर्मशास्त्रीय या तत्त्वज्ञानीय निर्णय का प्रभाव सभी न्याय, वैशेषिक, सांख्य[2], योग आदि इतर वैदिक दर्शनों पर पड़ा है। अतएव वे अपने अपने मन्तव्य की पुष्टि में चाहे युक्ति भिन्न भिन्न बतलावें फिर भी वे सभी एक मत से स्मृतिरूप ज्ञान में प्रमाण शब्द का व्यवहार न करने के ही पक्ष में हैं।

कुमारिल आदि मीमांसक कहते हैं कि स्मृतिज्ञान अनुभव द्वारा ज्ञात विषय को ही उपस्थित करके कृतकृत्य हो जाने के कारण किसी अपूर्व अर्थ का प्रकाशक नहीं, वह केवल गृहीतग्राही है और इसी से वह प्रमाण नहीं[3]। प्रशस्तपाद के अनुगामी श्रीधर ने भी उसी मीमांसक की गृहीतग्राहित्ववाली युक्ति का अवलम्बन करके स्मृति को प्रमाणबाह्य माना है—कन्दली पृ० २५७। पर अक्षपाद के अनुगामी जयन्त ने दूसरी ही युक्ति बतलाई है। वे कहते हैं कि स्मृतिज्ञान विषयरूप अर्थ के सिवाय ही उत्पन्न होने के कारण अनर्थज होने से प्रमाण नहीं[4]। जयन्त की इस युक्ति का निरास श्रीधर[5] ने किया है। अक्षपाद के ही अनुगामी वाचस्पति मिश्र ने तीसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं कि लोकव्यवहार

---

१ "पारतन्त्र्यात् स्वतो नैषा प्रमाणत्वेनावधार्यते। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥"–तन्त्रवा० पृ० ६९।

२ 'एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति तद्विषया तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।"–तत्त्ववै० १. ११।

३ "तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता॥"–श्लोकवा० अनु० श्लो० १६०। प्रकरणप० पृ० ४२।

४ "न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्॥"–न्यायम० पृ० २३।

५ "ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः तेषामतीतानागतविषयस्यानुमानस्याप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम्॥"–कन्दली० पृ० २५७।

स्मृति को प्रमाण मानने के पक्ष में नहीं हैं अतएव उसे प्रमा कहना योग्य नहीं। वे प्रमा की व्याख्या करते समय स्मृतिभिन्न ज्ञान को लेकर ही विचार करते हैं— तात्पर्य० पृ० २ । जयन्ताचार्य ने भी स्मृति को प्रमाण न माननेवाले सभी पूर्ववर्ती तार्किकों की युक्तियों का निरास करके अन्त में वाचस्पति मिश्र के तात्पर्य का अनुसरण करते हुए यही कहा है कि अनपेक्ष होने के कारण अनुभव ही प्रमाण कोटि में गिना जाना चाहिए स्मृति नहीं, क्योंकि वह अनुभवसापेक्ष है और ऐसा मानने का कारण लोकव्यवहार ही है[1] ।

बौद्धदर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानता। उसकी युक्ति भी मीमांसक या वैशेषिक जैसी ही है अर्थात् स्मृति गृहीतग्राहिणी होने से ही प्रमाण नहीं—तत्त्वसं० प० का० १२९८। फिर भी इस मन्तव्य के बारे में जैसे न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों पर मीमांसा—धर्मशास्त्र—का प्रभाव कहा जा सकता है वैसे बौद्ध-दर्शन पर कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह वेद का ही प्रामाण्य नहीं मानता। विकल्पज्ञानमात्र[2] को प्रमाण न मानने के कारण बौद्ध दर्शन में स्मृति का प्रामाण्य प्रसक्त ही नहीं है।

जैन तार्किक स्मृति को प्रमाण न माननेवाले भिन्न-भिन्न उपर्युक्त दर्शनों की गृहीतग्राहित्व, अनर्थजत्व लोकव्यवहाराभाव आदि सभी[3] युक्तियों का निरास करके केवल यही कहते हैं, कि जैसे संवादी होने के कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे जाते हैं वैसे ही स्मृति को भी संवादी होने ही से प्रमाण कहना युक्त है। इस जैन मन्तव्य में कोई मतभेद नहीं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी स्मृतिप्रामाण्य की पूर्व जैन परम्परा का ही अनुसरण किया है।

स्मृतिज्ञान का अविसंवादित्व सभी को मान्य है। वस्तुस्थिति में मतभेद न होने पर भी मतभेद केवल प्रमा शब्द से स्मृतिज्ञान का व्यवहार करने न करने में है।

पृ० १३ पं० २१ 'सा च प्रमाणम्'—तुलना—

"अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽभिनिबोधिकैः।
व्यवहाराविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा॥"—लघी० ४४। प्रमाणप० पृ० ६९। अष्टस० पृ० २७९। प्रमेयक० १९ A। स्याद्वादर० पृ० ४८७। प्रमाणन० २२।

पृ० १४ पं० ४ 'मानत्वकृतान्वय'—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वलक्षणजन्य ही मानकर प्रमाण माननेवाले सौत्रान्तिक आदि बौद्धों का सिद्धान्त है कि विषयता कारणता

---

१ 'कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः ?। अननुभवत्वेनैव। यथार्थो ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति। 'तत्त्वज्ञानात्' इति सूत्रणात्। अव्यभिचारि ज्ञानमिति च। ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्याद् यथार्थज्ञानत्वात् प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेत्। न। सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम् अव्यवस्थया लोकव्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्। न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति पृथगनुपदेशात्।—न्यायकु० ५. १।

२ "गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतम् ..."—(सांवृतम्—विकल्पज्ञानम्—मनोरथ) प्रमाणवा० २. ५।

३ "तथाहि—अनुभवाऽऽभासत्वं कुतोऽप्रमाणीकुर्वीत किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद् वा।"—स्याद्वादर० ३. ४।

व्याप्त है । नैयायिक आदि का भी ज्ञानलक्षणा अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति विषयविधया धर्म को कारण मानने का सिद्धान्त सुविदित है ।

पृ० ३४ पं० ११ 'दर्शनस्मरण'—प्रत्यभिज्ञा के विषय में दो बातें ऐसी हैं जिनमें दार्शनिकों का मतभेद रहा है—पहली प्रामाण्य की और दूसरी स्वरूप की । बौद्ध परम्परा प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण नहीं मानती क्योंकि वह क्षणिकवादी होने से प्रत्यभिज्ञा का विषय माने जानेवाले स्थिरत्व को ही वास्तविक नहीं मानती । वह स्थिरत्वप्रतीति को सादृश्यमूलक मानकर भ्रान्त ही समझती है[1] । पर बौद्धभिन्न जैन, वैदिक दोनों परम्परा के सभी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण मानते हैं । वे प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य के आधार पर ही बौद्ध सम्मत क्षणभङ्ग का निरास और नित्यत्व—स्थिरत्व—का समर्थन करते हैं । जैन परम्परा न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनों की तरह एकान्त नित्यत्व किंवा कूटस्थ नित्यत्व नहीं मानती तथापि वह विभिन्न पूर्वापर अवस्थाओं में ध्रुवत्व को वास्तविक रूप से मानती है अत एव वह भी प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य की पक्षपातिनी है ।

प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन पक्ष हैं—बौद्ध, वैदिक और जैन । बौद्धपक्ष कहता है कि प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष ये समुच्चित दो ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा शब्द से व्यवहृत होते हैं[2] । उसका 'तत्' अंश अतीत होने से परोक्षरूप होने के कारण स्मरणग्राह्य है वह प्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता, जब कि 'इदम्' अंश वर्तमान होने के कारण प्रत्यक्षग्राह्य है वह प्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता । इस तरह विषयगत परोक्षापरोक्षत्व के आधार पर दो ज्ञान के समुच्चय को प्रत्यभिज्ञा कहनेवाले बौद्धपक्ष के विरुद्ध न्याय, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा यह प्रत्यक्ष रूप एक ज्ञान है प्रत्यक्ष-स्मरण दो नहीं । इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में वर्तमान मात्र विषयकत्व का जो नियम है वह सामान्य नियम है अतएव सामग्रीविशेषदशा में वह नियम सापवाद बन जाता है । वाचस्पति मिश्र प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्षत्व का उपपादन करते हुए कहते हैं कि संस्कार या स्मरणरूप सहकारी के बल से वर्तमानमात्रग्राही भी इन्द्रिय, अतीतावस्थाविशिष्ट वर्तमान को ग्रहण कर सकने के कारण, प्रत्यभिज्ञाजनक हो सकती है[3] । जयन्त वाचस्पति के उक्त कथन का अनुसरण करने के अलावा भी एक नई युक्ति प्रदर्शित करते हैं । वे कहते हैं कि स्मरणसहकृतइन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के बाद एक मानसज्ञान होता है जो प्रत्यभिज्ञा कहलाता[4] है । जयन्त का यह कथन पिछले नैयायिकों के अलौकिकप्रत्यक्षवाद की कल्पना का बीज मालूम होता है ।

---

१ प्रमाणवा० ३. ५०१-२ । तत्त्वसं० का० ४४७ ।

२ "तस्मात् द्वे एते ज्ञाने स इति स्मरणम् अयम् इत्यनुभवः"—न्यायम० पृ० ४४९ ।

३ तात्पर्य० पृ० १३६ ।

४ "एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा ।"—न्यायम० पृ० ४६१ ।

जैन तार्किक प्रत्यभिज्ञा को न तो बौद्ध के समान ज्ञानसमुच्चय मानते हैं और न नैयायिकादि की तरह बहिरिन्द्रियज प्रत्यक्ष। वे प्रत्यभिज्ञा को परोक्ष ज्ञान मानते हैं। और कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्मरण के बाद एक संकलनात्मक विजातीय मानस ज्ञान पैदा होता है वही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अकलङ्कोपज्ञ (लघी० ३. १ से) प्रत्यभिज्ञा की यह व्यवस्था जो स्वरूप में जयन्त की मानसज्ञान की कल्पना के समान है वह सभी जैन तार्किकों के द्वारा निर्विवादरूप से मान ली गई है। आचार्य हेमचन्द्र भी उसी व्यवस्था के अनुसार प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप मानकर परपक्षनिराकरण और स्वपक्षसमर्थन करते हैं।

मीमांसक (श्लोकवा० उ० ४ श्लो० ११२–११७), नैयायिक (न्यायसू० १. १. ६) आदि उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं जो सादृश्य-वैसदृश्य विषयक है। उनके मतानुसार ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि विषयक अनेक सप्रतियोगिक ज्ञान ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ही हैं। जैन तार्किकों ने प्रथम से ही उन सब का समावेश, प्रत्यभिज्ञान को मतिज्ञान के प्रकारविशेषरूप या स्वतन्त्र प्रमाण मानकर, उसी में किया है, जो ऐकमत्य से सर्वमान्य हो गया है।

पृ० ३४ पं० १७ 'आदिग्रहणात्'–तुलना–प्रमेयक० ३. १।

पृ० ३४ पं० २० 'पयोम्बुभेदी'–स्याद्वादर० पृ० ४९८। प्रमेयक० पृ० १ A।

पृ० ३४ पं० २५ 'यथा गौस्तथा गवय इति'–तुलना–तात्पर्य० पृ० १९८।

पृ० ३५ पं० १ 'येषां तु सादृश्यविषय'–तुलना– 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।'–न्यायसू० १. १. ६। प्रमेयक० ३. ५।

पृ० ३५ पं० ११ "अथ साधर्म्यमुपलक्षणम्"–तुलना–"साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोपलक्षणमिति कस्मसंज्ञाप्रतिपत्तिरप्युपमानफलमेवेति नाव्याप्तिः"–तात्पर्य० पृ० २।

पृ० ३५ पं० १३ 'अल्पाक्षर'–तुलना–तात्पर्य० १. १. २। पारमर्ष पृ० १८।

पृ० ३५ पं० १६ 'ननु 'तत्' इति'–तुलना–प्रमेयक० २. १।

पृ० ३५ पं० २० 'पूर्वमिव'–तुलना–' कुमारिलमतेन गृहीतग्राहित्वस्याविशिष्टत्वात्स्मृतिः पूर्वप्रमितः'–तत्त्वसं० का० ४५१।

पृ० ३५ पं० २० 'उपलम्भ'–भगवान् महावीर, बुद्ध और उपनिषद् के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी ऋक् (ऋग्० २. १११. १) और शत० (शतपथ० १. ६५. १२) ये दो धातु तथा तज्जन्य रूप संस्कृत-प्राकृत भाषा में प्रचलित रहे। आगम, पिटक और दर्शनसूत्रों में उनका प्रयोग विविध प्रसङ्गों में थोड़े-बहुत भेद के साथ विविध अर्थों में देखा जाता है[2]। सब अर्थों में सामान्य अंश एक ही है और वह यह कि

---

१ "उपलम्भस्य ऊहतः।"–पा० सू० ७. ४. २१। नैषा तर्केण मतिरापनेया" कठ० २. ९।

२ तक्का जत्थ न विज्जइ" आचा० सू० १७०। विदिता विजा"–मज्झिम० सब्बासवसु० २. १। "तर्काप्रतिष्ठानात्"–ब्रह्मसू० २. १. ११। न्यायसू० १. १. ४०।

विचारात्मक ज्ञानव्यापार। जैमिनीय सूत्र और उसके शाबरभाष्य आदि[1] व्याख्या ग्रन्थों में उसी भाव का द्योतक ऊह शब्द देखा जाता है, जिसको जयन्त ने मञ्जरी में अनुमानात्मक या शब्दात्मक प्रमाण समझकर खण्डन किया है—न्यायम० पृ० ५८८। न्याय सूत्र (१. १. ४०) में तर्क का लक्षण है जिसमें ऊह शब्द भी प्रयुक्त है और उसका अर्थ यह है कि तर्कात्मक विचार स्वयं प्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणानुकूल मनोव्यापार मात्र है। पिछले नैयायिकों ने तर्क का अर्थ विशेष स्थिर एवं स्पष्ट किया है। और निर्णय किया है कि तर्क कोई प्रमाणात्मक ज्ञान नहीं है किन्तु व्याप्तिज्ञान में बाधक होनेवाली अप्रयोजकत्वशङ्का को निरस्त करनेवाला व्याप्यारोपपूर्वक व्यापकारोपस्वरूप आहार्य ज्ञान मात्र है जो उस व्यभिचारशङ्का को हटाकर व्याप्तिनिर्णय में सहकारी या उपयोगी हो सकता है—चिन्ता० अनु० पृ० २१; न्याय० पृ० ११४। प्राचीन समय से ही न्याय दर्शन में तर्क का स्थान प्रमाणकोटि में नहीं है[2]। न्यायदर्शन के विकास के साथ ही तर्क के अर्थ एवं उपयोग का इतना विशदीकरण हुआ है कि इस विषय पर बड़े सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ग्रन्थ लिखे गये हैं जिसका आरम्भ गङ्गेश उपाध्याय से होता है।

बौद्धवार्तिक (हेतुबि० टी० लि० पृ० २९) भी तर्कात्मक विकल्पज्ञान को व्याप्तिज्ञानोपयोगी मानते हुए भी प्रमाण नहीं मानते। इस तरह तर्क को प्रमाणरूप मानने की मीमांसक परम्परा और अप्रमाणरूप होकर भी प्रमाणानुग्राहक मानने की नैयायिक और बौद्ध परम्परा है।

जैन परम्परा में प्रमाणरूप से माने जानेवाले मतिज्ञान का द्वितीय प्रकार ईहा जो वस्तुतः गुणदोषविचारणात्मक ज्ञानव्यापार ही है उसके पर्यायरूप से ऊह और तर्क दोनों शब्दों का प्रयोग उमास्वाति ने किया है—तत्त्वार्थभा० १. १५। जब जैन परम्परा में तार्किक पद्धति से प्रमाण के भेद और लक्षण आदि की व्यवस्था होने लगी तब सम्भवतः सर्व प्रथम अकलङ्क ने ही तर्क का स्वरूप, विषय, उपयोग आदि स्थिर किया (लघी० स्ववि० १. २) जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकों ने किया है। जैन परम्परा मीमांसकों की तरह तर्क या ऊह को प्रमाणात्मक ज्ञान ही मानती आई है। जैन तार्किक कहते हैं कि व्याप्तिज्ञान ही तर्क या ऊह शब्द का अर्थ है। चिरायात आर्षपरम्परा के प्रति परिचित ऊह या तर्क शब्द को लेकर ही अकलङ्क ने परोक्षप्रमाण के एक भेद रूप से तर्कप्रमाण स्थिर किया। और वाचस्पति मिश्र आदि[3] नैयायिकों ने व्याप्तिज्ञान को कहीं मानसप्रत्यक्षरूप, कहीं लौकिकप्रत्यक्षरूप कहीं अनुमिति आदि रूप माना है उसका निरास करके जैन तार्किक व्याप्तिज्ञान को एकरूप ही मानते आये हैं वह रूप है उनकी परिभाषा के अनुसार तर्कपदप्रतिपाद्य। आचार्य हेमचन्द्र उसी पूर्वपरम्परा के समर्थक हैं।

---

१ विविधश्च ऊहः। मन्त्रसामसंस्कारविषय P"–शाबरभा० ९. १. १। जैमिनीयन्या० अध्याय ९. पाद १ अधि० १।

२ न्यायसू० १. २. १।

३ तात्पर्य० पृ० १५९–१६७। न्यायम० पृ० १२३।

पृ० १६ पं० २१ 'उपलम्भ' प्रमाणमात्र'–तुलना–प्रमेयक० पृ० १०० B। स्याद्वादर० ३.७। प्रमेयर० ३.१२।

पृ० १६ पं० २४ 'न चायं व्याप्तिग्रह'–"न हि प्रत्यक्षं यावान्कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नान्यस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्"–लघी० स्ववि० १.२। अष्टश० पृ० २८०। प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ० १०० B। स्याद्वादर० पृ० ५१६। प्रमेयर० ३.२।

पृ० १७ पं० ५ 'अनुमानान्तरेण'–तुलना–श्लोकवा० अनु० श्लो० १५१-१५२। हेतुबि० टी० लि० पृ० २९।

पृ० १७ पं० ७ 'तर्हि तस्यापि'–तुलना–"यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते भवतु तस्यायं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।"–हेतुबि० टी० लि० पृ० २५ B। "देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसौ इष्यते"–मनोरथ० पृ० ७।

पृ० १७ पं० ११ 'पक्षवचनवदोहवत्'–तुलना–
"साध्याभिधान इत्येवं पक्षवचनवदोहवत्।"–न्यायम० पृ० १११।

पृ० १७ पं० ११ 'एतेन–अनुपलम्भात्'–तुलना–

"प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्।
तयोः सन्निहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः ॥ १५३ ॥
कारणानुपलम्भाच्चेत् कार्यकारणतानुमा।
व्यापकानुपलम्भाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा ॥ १५४ ॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः।
परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यसंश्रयः ॥ १५५ ॥"

तत्त्वार्थश्लो० १.१। प्रमाणप० पृ० ६६। प्रमेयर० पृ० १८.१६।

पृ० १७ पं० १४ 'नैयायिकास्तु'–तुलना–प्रमेयर० पृ० १६। प्रमाणप० पृ० ६६।

पृ० १७ पं० २० 'मीमांसकास्तु'–तुलना–तात्पर्य० पृ० १६१, १६७।

पृ० १८ पं० ३ 'व्याप्ति'–आगे दसवें सूत्र में अविनाभाव का लक्षण है जो वस्तुतः व्याप्ति ही है फिर भी तर्क लक्षण के बाद तर्कविषयरूप से निर्दिष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सूत्र के द्वारा आ० हेमचन्द्र ने क्यों किया ऐसा प्रश्न यहाँ होता है। इसका खुलासा यह है कि हेतुबिन्दुविवरण में अर्चट ने प्रयोजन विशेष बतलाने के वास्ते व्याप्यधर्मरूप से और व्यापक धर्मरूप से भिन्न भिन्न व्याप्तिस्वरूप का निदर्शन बड़े आकर्षक ढङ्ग से किया है जिसे देखकर आ० हेमचन्द्र की चकोर दृष्टि उस अंश को अपनाने का लोभ संवृत कर न सकी। आ०

हेमचन्द्र ने अर्चटोक्त इस चर्चा को अक्षरशः लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में अवतरित कर दिया है।

अर्चट के सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ठ ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनियतरूप से अनुयोगी प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साध्य अनियतरूप से हेतुसाध्य क्यों न हों अर्थात् उनमें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ?। इस प्रश्न के आक्षेपात्मक किसी तार्किक की ओर से उठाये जाने का अर्चट ने उल्लेख किया है। इसका जवाब अर्चट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकरूप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से भिन्न भिन्न स्वरूप बतलाकर दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है। गम्यगमकभाव सर्वत्र अनियत नहीं है जैसे आधाराधेयभाव।

उस पुराने समय में हेतु-साध्य में अनियतरूप से गम्यगमकभाव की आपत्ति को टालने के वास्ते अर्चट जैसे तार्किकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर न्यायशास्त्र के विकास के साथ ही इस आपत्ति का निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकार से देखते हैं। नव्यन्याय के सूत्रधार गङ्गेश ने चिन्तामणि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरूप से अनेकविध व्याप्तियों का निरूपण किया है—चिन्ता० गादा० पृ० १४१-३६। पूर्वपक्षीय व्याप्तियों में अव्यभिचरितत्व का परिष्कार[1] है जो वस्तुतः अविनाभाव या अर्चटोक्त व्याप्यधर्मरूप है। सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकत्व का परिष्कारांश[2] है वही अर्चटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है। अर्थात् अर्चट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति को गमकत्वानियामक कहा है उसे गङ्गेश व्याप्ति ही नहीं कहते, वे उसे व्यापकत्व मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापक के सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं[3]। गङ्गेश का यह निरूपण विशेष सूक्ष्म है। गङ्गेश जैसे तार्किकों के अव्यभिचरितत्व, व्यापकत्व आदि विषयक निरूपण आ० हेमचन्द्र की दृष्टि में आये होते तो उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकरण में अवश्य देखा जाता।

व्याप्ति अविनाभाव, नियतसाहचर्य ये पर्यायशब्द शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। अविनाभाव का रूप दिखाकर जो व्याप्ति का स्वरूप कहा जाता है वह तो माणिक्यनन्दी (परी० ३. १०-१८) आदि सभी जैनतार्किकों के ग्रन्थों में देखा जाता है पर अर्चटोक्त नव विचार का संग्रह आ० हेमचन्द्र के सिवाय किसी अन्य जैन तार्किक के ग्रन्थ में देखने में नहीं आया।

---

१ "न तावदव्यभिचरितत्वं तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं ... साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा।"—चिन्ता० गादा० पृ० १४१।

२ "प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति" चिन्ता० गादा० पृ० ३११।

३ "तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।" चिन्ता० गादा० पृ० ३११।

पृ० ३६ पं० २१ 'उपलम्भ' प्रमाणमात्र'—तुलना-प्रमेयक० पृ० १ B। स्याद्वादर १ ७। प्रमेयर १ १२।

पृ० ३६ पं० २४ 'न चायं व्याप्तिग्रह'—"न हि प्रत्यक्षं यावान्कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं संनिहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्"—लघी० स्ववि० १ २। अष्टश० पृ० २८०। प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ० १ B। स्याद्वादर० पृ० ५ ६। प्रमेयर० २ २।

पृ० ३७ पं० ५ 'अनुमानान्तरेण'—तुलना—श्लोकवा० अनु० श्लो० १६१-१६३। हेतुबि० टी० लि० पृ० १५।

पृ० ३७ पं० ७ 'तर्हि तत्पृष्ठ'—तुलना—"यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते भवतां तदभावे दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।"—हेतुबि० टी० लि० पृ० १५ B। "देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसौ इष्यते"—मनोरथ० पृ० ७

पृ० ३७ पं० ११ 'पचपाचनपदवाद'—तुलना—

"साध्याभिधाय इत्येवं पचपाचनपदोहव।"—न्यायम० पृ० १११।

पृ० ३७ पं० ११ 'एतेन-अनुपलम्भात्'—तुलना—

"प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्।
तयोः संनिहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः॥ १५३॥
कारणानुपलम्भाच्चेत् कार्यकारणतानुमा।
व्यापकानुपलम्भाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा॥ १५४॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः।
परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यसंश्रयः॥ १५५॥"

तत्त्वार्थश्लो० १ १ । प्रमाणप० पृ० ६६। प्रमेयर० पृ० १८ १६।

पृ० ३७ पं० १४ 'बौद्धिकास्तु'—तुलना-प्रमेयर० पृ० १६। प्रमाणप० पृ० ६६।

पृ० ३७ पं० २० 'यौगास्तु'—तुलना-तात्पर्य० पृ० १६१ १६७।

पृ० ३८ पं० १ 'व्याप्ति'—आगे दसवें सूत्र में अविनाभाव का लक्षण है जो वस्तुतः व्याप्ति ही है फिर भी तर्क लक्षण के बाद तर्कविषयरूप से निर्दिष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सूत्र के द्वारा आ० हेमचन्द्र ने क्यों किया ऐसा प्रश्न यहाँ होता है। इसका खुलासा यह है कि हेतुबिन्दुविवरण में अर्चट ने प्रयोजन विशेष बतलाने के वास्ते व्याप्यधर्मरूप से और व्यापकधर्मरूप से भिन्न भिन्न व्याप्तिस्वरूप का निदर्शन बड़े आकर्षक ढङ्ग से किया है जिसे देखकर आ० हेमचन्द्र की चकोर दृष्टि उस अंश को अपनाने का लोभ संवृत कर न सकी। आ०

हेमचन्द्र ने अर्चटोक्त उस चर्चा को अक्षरशः लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में व्यवस्थित कर दिया है।

अर्चट के सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ठ ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनियतरूप से अनुयोगी प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साध्य अनियतरूप से हेतुसाध्य क्यों न हों अर्थात् उनमें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ? । इस प्रश्न के आधारभूत ... किसी तार्किक की ओर से उठाये जाने का अर्चट ने उल्लेख किया है। इसका जवाब अर्चट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकरूप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से विभिन्न स्वरूप बतलाकर दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है। गम्यगमकभाव सर्वत्र अनियत नहीं है जैसे आधाराधेयभाव।

उस पुराने समय में हेतु-साध्य में अनियतरूप से गम्यगमकभाव की आपत्ति को टालने के वास्ते अर्चट जैसे तार्किकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर न्यायशास्त्र के विकास के साथ ही इस आपत्ति का निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकार से देखते हैं। नव्यन्याय के सूत्रधार गङ्गेश ने चिन्तामणि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरूप से अनेकविध व्याप्तियों का निरूपण किया है—चिन्ता० गादा० पृ० १४१–२११। पूर्वपक्षीय व्याप्तियों में अव्यभिचरितत्व का परिष्कार[1] है जो वस्तुतः अविनाभाव या अर्चटोक्त व्याप्यधर्मरूप है। सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकत्व का परिष्कार[2] है वही अर्चटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है। अर्थात् अर्चट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति को गमकत्वानियामक कहा है उसे गङ्गेश व्याप्ति ही नहीं कहते, वे उसे व्यापकत्व मात्र कहते हैं और यथाविध व्यापक के सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं[3]। गङ्गेश का यह निरूपण विशेष सूक्ष्म है। गङ्गेश जैसे तार्किकों के अव्यभिचरितत्व व्यापकत्व आदि विषयक निरूपण आ० हेमचन्द्र की दृष्टि में आये होते तो उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकरण में अवश्य देखा जाता।

व्याप्ति अविनाभाव, नियतसाहचर्य ये पर्यायशब्द शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। अविनाभाव का रूप दिखाकर जो व्याप्ति का स्वरूप कहा जाता है वह तो माणिक्यनन्दी (परी० ३. १७. १८) आदि सभी जैनतार्किकों के ग्रन्थों में देखा जाता है पर अर्चटोक्त नये विचार का संग्रह आ० हेमचन्द्र के सिवाय किसी अन्य जैन तार्किक के ग्रन्थ में देखने में नहीं आया।

---

१ "न तावदव्यभिचरितत्वं तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं ... वा।"—चिन्ता० गादा० पृ० १४१।

२ "प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति" चिन्ता० गादा० पृ० २११।

३ "तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः॥"—चिन्ता० गादा० पृ० २११।

पृ० ३६ पं० २१ 'उपलम्भः प्रमाणमात्रं'—तुलना-प्रमेयक० पृ० १ B। स्याद्वादर० १ ७। प्रमेयर० १ १२।

पृ० ३६ पं० २४ 'न चार्यं व्याप्तिग्रहः'—"न हि प्रत्यक्षं यावान्कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्।"—लघी० स्ववि० १ २। प्रमाणप० पृ० ६८। प्रमाणप० पृ० ७। प्रमेयक० पृ० १ B। स्याद्वादर० पृ० ५ १। प्रमेयर० २ २।

पृ० ३७ पं० ९ 'अनुमानान्तरेण'—तुलना-श्लोकवा० अनु० श्लो० १४१-१४३। हेतुबि० टी० लि० पृ० ९५।

पृ० ३७ पं० ७ 'तर्हि तत्पृष्ठ'—तुलना-'यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते भवतु तस्यायं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।'—हेतुबि० टी० लि० पृ० २५ B। "देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसौ इष्यते।"—मनोरथ० पृ० ७।

पृ० ३७ पं० ११ 'पक्षधर्मतानुपलम्भ'—तुलना—

"साध्याभिलाप इत्येवं पक्षाधर्मपक्षोदयः।"—न्यायम० पृ० १११।

पृ० ३७ पं० ११ 'एतेन प्रत्यक्षानुपलम्भात्'—तुलना—

"प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्।
तयोः सन्निहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः॥ १५३॥
कारणानुपलम्भाच्चेत् कार्यकारणतानुमा।
व्यापकानुपलम्भाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा॥ १५४॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः।
परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यसंश्रयः॥ १५५॥"

तत्त्वार्थश्लो० १ १। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमेयर० पृ० ३८, ३९।

पृ० ३७ पं० १९ 'वैशेषिकास्तु'—तुलना-प्रमेयर० पृ० ३९। प्रमाणप० पृ० ६९।

पृ० ३७ पं० २० 'यौगास्तु'—तुलना-तात्पर्य० पृ० १६१ १६७।

पृ० ३८ पं० ३ 'व्याप्तिः'—यद्यपि दूसरे सूत्र में अविनाभाव का लक्षण है जो वस्तुतः व्याप्ति ही है फिर भी तर्क लक्षण के बाद तर्कविषयरूप से निर्दिष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सूत्र के द्वारा आ० हेमचन्द्र ने क्यों किया ऐसा प्रश्न यहाँ होता है। इसका खुलासा यह है कि हेतुबिन्दुविवरण में अर्चट ने प्रयोजन विशेष बतलाने के वास्ते व्याप्यधर्मरूप से और व्यापकधर्मरूप से भिन्न भिन्न व्याप्तिस्वरूप का निदर्शन बड़े आकर्षक ढङ्ग से किया है जिसे देखकर आ० हेमचन्द्र भी अपनी दृष्टि उस अंश को अपनाने का लोभ संवृत कर न सके। आ०

हेमचन्द्र ने अर्चटोक्त उस चर्चा को अपनाकर लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में व्यवस्थित कर दिया है।

अर्चट के सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ठ ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनियतरूप से अनुयोगी प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साध्य अनियतरूप से हेतुसाध्य क्यों न हों अर्थात् उनमें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ?। इस प्रश्न के आचार्योपनायक किसी तार्किक की ओर से उठाये जाने का अर्चट ने उल्लेख किया है। इसका जवाब अर्चट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकरूप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से भिन्नभिन्न स्वरूप बतलाकर दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है। गम्यगमकभाव सर्वत्र अनियत नहीं है जैसे आधाराधेयभाव।

उस पुराने समय में हेतु-साध्य में अनियतरूप से गम्यगमकभाव की आपत्ति को टालने के वास्ते अर्चट जैसे तार्किकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर न्यायशास्त्र के विकास के साथ ही इस आपत्ति का निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकार से देखते हैं। नव्यन्याय के सूत्रधार गङ्गेश ने चिन्तामणि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरूप से अनेकविध व्याप्तियों का निरूपण किया है—चिन्ता गादा पृ १४१–१६। पूर्वपक्षीय व्याप्तियों में अव्यभिचरितत्व का परिष्कार[1] है जो वस्तुतः अविनाभाव या अर्चटोक्त व्याप्यधर्मरूप है। सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकत्व का परिष्कारांश[2] है वही अर्चटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है। अर्थात् अर्चट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति को गमकत्वानियामक कहा है उसे गङ्गेश व्याप्ति ही नहीं कहते, वे उसे व्यापकत्व मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापक के सामानाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं[3]। गङ्गेश का यह निरूपण विशद सूक्ष्म है। गङ्गेश जैसे तार्किकों के अव्यभिचरितत्व, व्यापकत्व आदि विषयक निरूपण आ० हेमचन्द्र की दृष्टि में आये होते तो उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकरण में अवश्य देखा जाता।

व्याप्ति अविनाभाव, नियतसाहचर्य ये पर्यायशब्द तर्कशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। अविनाभाव का रूप दिखाकर जो व्याप्ति का स्वरूप कहा जाता है वह तो माणिक्यनन्दी (परी ३. १७ १८) आदि सभी जैनतार्किकों के ग्रन्थों में देखा जाता है पर अर्चटोक्त नव विचार का संग्रह आ० हेमचन्द्र के सिवाय किसी अन्य जैन तार्किक के ग्रन्थ में देखने में नहीं आता।

---

१ "न तावदव्यभिचरितत्वं तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा।"–चिन्ता० गादा० पृ० १४१।

२ "प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति"—चिन्ता० गादा० पृ० ३६६।

३ "तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" ॥ –चिन्ता० गादा० पृ० ३६६।

पृ० ३८ पं० ४ 'व्याप्तिः' इति'–तुलना–"तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिः यो व्याप्नोति यस्य च व्याप्यते तदुभयधर्म … ता व्यापकस्य गम्यस्य तत्रेति स्वरूपसम्बन्धप्रधानमेतत् भावार्थप्रधानम्, धर्मो वा धर्म … यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र भाव एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः यत् … । न त्वेवमवधार्यते। व्यापकस्यैव तत्र भाव इति। हेत्वभावप्रसङ्गाद् व्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि 'तत्रैव' इति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुतापत्तेः साधारणस्य हेतुः स्यात्, नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्। यदा तु व्याप्यधर्मताविवक्षा व्याप्तिस्तदा व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति। यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव भावो न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति। अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यवधार्यं हेत्वभावप्रसङ्गात् नाश्रितम्, अव्याप्यस्यापि तत्र भावात् नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेति सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः साधारणस्य हेतुत्वं स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति। व्याप्यव्यापकधर्मतासंकथने तु व्याप्तावुभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रतीतिः संयोगिवद् मा भूदिति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम् उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः?। तदुक्तम्–

लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः।
नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ॥–इति ॥" हेतुबि० टी० लि० पृ० १८ ब।

पृ० ३९ पं० ५. 'स्वार्थपरार्थभेदात्'—आचार्य हेमचन्द्र ने स्वार्थ-परार्थरूप से अनुमान के जो दो भेद किये हैं वे सभी वैदिक, बौद्ध और जैन तार्किकों में साधारण हैं। अनुमान की तरह प्रत्यक्ष को भी परार्थ कहकर उसके स्वार्थ-परार्थरूप से दो भेद दिखानेवाला जहाँ तक मालूम है सर्वप्रथम सिद्धसेन ही है—

"स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥"—न्याया० १०।

सिद्धसेन के इस प्रत्यक्ष द्वैविध्य को देवसूरि ने भी मान्य रखा—प्रमाणन० ३. २४। आ० हेमचन्द्र ने उस सिद्धसेनोपज्ञ प्रत्यक्ष विभाग को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया है।

पृ० ३९ पं० ९ 'व्यामोह'—तुलना–

"तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद् व्यामूढमनसामिह।"—न्याया० ३।

पृ० ३९ पं० १२. 'इह च न'—तुलना–"यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य निमित्तम्। यथा बीजमङ्कुरस्य। अदृष्टाद् धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः। नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं परोक्षार्थप्रकाशनम्। यथा प्रदीपो घटादेः। दृष्टादप्यनिश्चितसम्बन्धादप्रतिपत्तेः। तस्मात् परोक्षार्थेनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः।"—न्यायबि० टी० २. ५।

पृ० ३९ पं० १६ 'ननु च असिद्ध'—हेतु के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में चार परम्पराएँ देखी जाती हैं—१–वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, २–नैयायिक, ३–अज्ञातनामक, ४–जैन।

प्रथम परम्परा के अनुसार हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व ये तीन रूप हैं। इस परम्परा के अनुगामी वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीन दर्शन हैं, जिनमें वैशेषिक और सांख्य ही प्राचीन जान पड़ते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान रूप से प्रमाणद्वय विभाग के विषय में जैन बौद्ध तार्किकों के ऊपर कणाद दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है वैसे ही हेतु के त्रैरूप्य के विषय में भी वैशेषिक दर्शन का ही अनुसरण बौद्ध तार्किकों ने किया जान पड़ता है[1]। प्रशस्तपाद खुद भी लिङ्ग के स्वरूप के वर्णन में एक कारिका का अवतरण देते हैं जिसमें त्रिरूप हेतु का काश्यपकथित रूप से निर्देश[2] है। माठर अपनी वृत्ति में उन्हीं तीन रूपों का निर्देश करते हैं—माठर ५। अभिधर्मकोश, प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश (पृ० १) न्यायबिन्दु (२.५ से) हेतुबिन्दु (पृ० ४) और तत्त्वसंग्रह (का० १३६२) आदि सभी बौद्धग्रन्थों में उन्हीं तीन रूपों को हेतु लक्षण मानकर त्रिरूप हेतु का ही समर्थन किया है। तीन रूपों के स्वरूपवर्णन एवं समर्थन तथा परपक्षनिराकरण में जितना विस्तार एवं विशदीकरण बौद्ध ग्रन्थों में देखा जाता है उतना किसी केवल वैशेषिक या सांख्य ग्रन्थ में नहीं।

नैयायिक उपर्युक्त तीन रूपों के अलावा अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व ये दो रूप मानकर हेतु के पाञ्चरूप्य का समर्थन करते हैं। यह समर्थन सबसे पहले किसने शुरू किया यह निश्चय रूप से अभी कहा नहीं जा सकता। पर सम्भवतः इसका प्रथम समर्थक उद्योतकर (न्यायवा० १.१.५) होने चाहिएँ। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट ने (पृ० १६५) तथा प्रशस्तपादानुगामी श्रीधर ने नैयायिकोक्त पाञ्चरूप्य का त्रैरूप्य में समावेश किया है। यद्यपि वाचस्पति (तात्पर्य० १.१.५, १.१.३६), जयन्त (न्यायक० पृ० ११) आदि पिछले सभी नैयायिकों ने उक्त पाञ्चरूप्य का समर्थन एवं वर्णन किया है तथापि विचारस्वतन्त्र न्यायपरम्परा में वह पाञ्चरूप्य वज्रलेपस्थिति की तरह स्थिर नहीं रहा। गदाधर आदि नैयायिकों ने व्याप्ति और पक्षधर्मतारूप से हेतु के गमकतोपयोगी तीन रूप का ही सद्धेत्वादि में संसूचन किया है। इस तरह पाञ्चरूप्य का प्रामाणिक नैयायिकाग्रह शिथिल होकर त्रैरूप्य तक आ गया। उक्त पाञ्चरूप्य के अलावा छठा अज्ञातत्व रूप गिनाकर षड्रूप हेतु माननेवाली भी कोई परम्परा थी जिसका निर्देश और खण्डन अर्चट ने

1. प्रो० चार्वास्की के कथनानुसार इस त्रैरूप्य के विषय में बौद्धों का ऊपर वैशेषिकों का असर है—Buddhist Logic vol. I P. 244।

2. 'यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥' –प्रशस्त० पृ० २००। कन्दली पृ० २०३।

3. "षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते। कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्त इत्याह—त्रीणि चैतानि पक्षधर्मत्वसपक्षेसत्त्वविपक्षाव्यावृत्तिरूपाणि तथा अबाधितविषयत्वं चतुर्थं रूपम् ...तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरम्—एका संख्या यस्य हेतुद्रव्यस्य तदेकसंख्यं...प्रतिहेतुरहितत्वमित्यर्थः...तथा ज्ञातत्वं च, न ह्यज्ञातो हेतुः स्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति।"—हेतुबि० टी० १९४ B।

ने 'नैयायिक-मीमांसकादयः' ऐसा सामान्य कथन करके किया है। न्यायशास्त्र में ज्ञायमान लिङ्ग की करणता का जो प्राचीन मत (ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि–मुक्ता० का० ६७) खण्डनीय रूप से निर्दिष्ट है उसका मूल शायद उसी षड्रूप हेतुवाद की परम्परा में हो।

जैन परम्परा हेतु के एकरूप को ही मानती है और वह रूप है अविनाभावनियम। उसका कहना यह नहीं कि हेतु में जो तीन या पाँच रूपादि माने जाते हैं वे असत् हैं। उसका कहना मात्र इतना ही है कि जब तीन या पाँच रूप न होने पर भी किन्हीं हेतुओं से निर्विवाद सदनुमान होता है तब अविनाभावनियम के सिवाय सकलहेतुसाधारण दूसरा कोई लक्षण सरलता से बनाया ही नहीं जा सकता। अतएव तीन या पाँच रूप अविनाभावनियम के यथासम्भव प्रपञ्चमात्र हैं। यद्यपि सिद्धसेन ने न्यायावतार में हेतु को साध्याविनाभावी कहा है फिर भी अविनाभावनियम ही हेतु का एकमात्र रूप है ऐसा समर्थन करनेवाले सम्भवतः सर्वप्रथम पात्रस्वामी हैं। तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने जैनपरम्परासम्मत अविनाभावनियमरूप एक लक्षण का पात्रस्वामी के मन्तव्यरूप से ही निर्देश करके खण्डन किया है[1]। जान पड़ता है पूर्ववर्ती अन्य जैनतार्किकों ने हेतु के स्वरूप रूप से अविनाभावनियम का कथन सामान्यतः किया होगा। पर उसका सयुक्तिक समर्थन और बौद्धसम्मत त्रैरूप्य का खण्डन सर्वप्रथम पात्रस्वामी ने ही किया होगा।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"–न्यायवि० पृ० २ ।

यह खण्डनकारिका अकलङ्क, विद्यानन्द (प्रमाणप० पृ० ७२) आदि ने उद्धृत की है वह पात्रस्वामिकर्तृक होनी चाहिए। पात्रस्वामी के द्वारा जो परसम्मत त्रैरूप्य का खण्डन जैनपरम्परा में शुरू हुआ उसी का पिछले अकलङ्क (प्रमाणसं० पृ० ६६ A) आदि दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकों ने अनुसरण किया है। त्रैरूप्यखण्डन के बाद जैनपरम्परा में पाञ्चरूप्य का भी खण्डन शुरू हुआ। अतएव विद्यानन्द (प्रमाणप० पृ० ७२), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १०१ B) वादी देवसूरि (स्याद्वादर० पृ० ५२१) आदि के दिगम्बरीय-श्वेताम्बरीय पिछले तर्कग्रन्थों में त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य का साथ ही सविस्तर खण्डन देखा जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र उसी परम्परा को लेकर त्रैरूप्य तथा पाञ्चरूप्य दोनों का निरास करते हैं। यद्यपि विषयदृष्टि से आ० हेमचन्द्र का खण्डन विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के खण्डन के समान ही है तथापि इसका शाब्दिक साम्य विशेषतः अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला के साथ है। अन्य सभी पूर्ववर्ती जैनतार्किकों से आ० हेमचन्द्र की एक विशेषता जो अनेक स्थलों में देखी जाती है वह यहाँ भी है। वह विशेषता –संक्षेप में जो किसी न

---

१ "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते–नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"–तत्त्वसं० का० १३६४–६९।

किसी नये विचार का जैनपरम्परा में संग्रहीकरणमात्र है। हम देखते हैं कि आ० हेमचन्द्र ने बौद्धसम्मत त्रैरूप्य का पूर्वपक्ष रखते समय जो विस्तृत अवतरण न्यायबिन्दु की धर्मोत्तरीय वृत्ति में से अक्षरशः लिया है वह अन्य किसी पूर्ववर्ती जैन तर्कग्रन्थ में नहीं है। यद्यपि वह विचार बौद्धतार्किककृत है तथापि जैन तर्कशास्त्र के अभ्यासियों के वास्ते चाहे पूर्वपक्ष रूप से भी वह विचार खास ज्ञातव्य है।

ऊपर जिस 'अन्यथानुपपन्नत्व' कारिका का उल्लेख किया है वह निःसन्देह तर्कसिद्ध होने के कारण सर्वत्र जैनपरम्परा में प्रतिष्ठित हो गई है। यहाँ तक कि उसी कारिका का अनुकरण करके विद्यानन्द ने थोड़े हेर-फेर के साथ पाञ्चरूप्यखण्डन विषयक भी कारिका बना डाली है–प्रमाणप० पृ० ७२। इस कारिका की प्रतिष्ठा तर्कबल पर और तर्कक्षेत्र में ही रहनी चाहिए थी पर इसके प्रभाव के कायल अतार्किक भक्तों ने इसकी प्रतिष्ठा मनगढन्त ढङ्ग से बढ़ाई। और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्कग्रन्थलेखक आचार्य भी उस कल्पित ढङ्ग के शिकार बने। किसी ने कहा कि उस कारिका के कर्ता और दाता मूल में सीमन्धरस्वामी नामक तीर्थङ्कर हैं। किसी ने कहा कि सीमन्धरस्वामी से पद्मावती नामक देवता इस कारिका को लाई और पात्रकेसरी स्वामी को उसने वह कारिका दी। इस तरह किसी भी तार्किक मनुष्य के मुख में से निकलने की ऐकान्तिक योग्यता रखनेवाली इस कारिका को सीमन्धरस्वामी के मुख में से अन्धभक्ति के कारण जन्म लेना पड़ा—सन्मतिटी० पृ० ५९६ (७)। अस्तु। जो कुछ हो आ० हेमचन्द्र भी उस कारिका का उपयोग करते हैं। इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि इस कारिका के सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्परा के ही हैं क्योंकि भक्तिपूर्ण उन मनगढन्त कल्पनाओं की सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है।

पृ० ३९ पं० १७ 'तथाहि–अनुमेये'–तुलना–न्यायबि० टी० २. ५-७।

पृ० ४१ पं० १७ 'अर्थैवंविध'–तुलना–प्रमेयर० १. १६।

पृ० ४२ पं० १ 'स्वभाव'–जैन तर्कपरम्परा में हेतु के प्रकारों का वर्णन तो अकलङ्क के ग्रन्थों (प्रमाणसं० पृ० ९७-९८) में देखा जाता है पर उसका विधि या निषेध-साधक रूप से स्पष्ट वर्गीकरण हम माणिक्यनन्दी विद्यानन्द आदि के ग्रन्थों में ही पाते हैं। माणिक्यनन्दी, विद्यानन्द, देवसूरि और आ० हेमचन्द्र इन चार का किया हुआ ही वह वर्गीकरण ध्यान देने योग्य है। हेतुप्रकारों के जैनग्रन्थगत वर्गीकरण मुख्यतया वैशेषिक सूत्र और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर अवलम्बित हैं। वैशेषिकसूत्र (९.२.१) में कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी रूप से पञ्चविध लिङ्ग का स्पष्ट निर्देश है। न्यायबिन्दु (२.११) में स्वभाव, कार्य और अनुपलम्भ रूप से त्रिविध लिङ्ग का वर्णन है तथा अनुपलब्धि के ग्यारह

प्रकार[१] मात्र निषेधसाधकरूप से वर्णित हैं, विधिसाधक रूप से एक भी अनुपलब्धि नहीं बतलाई गई है। अकलङ्क और माणिक्यनन्दी ने न्यायबिन्दु की अनुपलब्धि तो स्वीकृत की पर उसमें बहुत कुछ सुधार और वृद्धि की। धर्मकीर्ति अनुपलब्धि शब्द से सभी अनुपलब्धियों को या उपलब्धियों को लेकर एकमात्र प्रतिषेध की सिद्धि बतलाते हैं तब माणिक्यनन्दी अनुपलब्धि से विधि और निषेध उभय की सिद्धि का निरूपण करते हैं इतना ही नहीं बल्कि उपलब्धि को भी वे विधि निषेध उभयसाधक बतलाते हैं[२]। विद्यानन्द का वर्गीकरण वैशेषिकसूत्र के आधार पर है। वैशेषिकसूत्र में अभूत भूत का, भूत अभूत का और भूत भूत का इस तरह त्रिविधलिङ्ग निर्दिष्ट है[३]। पर विद्यानन्द ने उसमें अभूत अभूत का—यह एक प्रकार बढ़ाकर चार प्रकारों के अन्तर्गत सभी विधिनिषेधसाधक उपलब्धियों तथा सभी विधिनिषेधसाधक अनुपलब्धियों का समावेश किया है—प्रमाणप० पृ० ७२-७४। इस विस्तृत समावेशकरण में किन्हीं पूर्वाचार्यों की संग्रहकारिकाओं को[४] उद्धृत करके उन्होंने सब प्रकारों की सब संख्याओं को निर्दिष्ट किया है मानो विद्यानन्द के वर्गीकरण में वैशेषिकसूत्र के अलावा अकलङ्क या माणिक्यनन्दी जैसे किसी जैनतार्किक का या किसी बौद्ध तार्किक का आधार है।

देवसूरि ने अपने वर्गीकरण में परीक्षामुख के वर्गीकरण को ही आधार माना हुआ जान पड़ता है फिर भी देवसूरि ने इतना सुधार अवश्य किया है कि जब परीक्षामुख विधिसाधक छः उपलब्धियों (३.५९) और तीन अनुपलब्धियों (३.८९) को वर्णित करते हैं तब प्रमाणनयतत्त्वालोक विधिसाधक छः उपलब्धियों (३.६४) का और पाँच अनुपलब्धियों

---

१ 'स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। कार्यानुपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात्। व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्। स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणात्। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति अग्नेरिति। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति। कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात्। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्निहितदहनविशेषत्वादिति। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति॥ –न्यायबि० २. ३२–४२।

२ परी० ३. ५७–५९, ७८, ८९।

३ विरोध्यभूतं भूतस्य। भूतमभूतस्य। भूतोऽभूतस्य। –वै० सू० ३. ११–१३।

४ 'अत्र संग्रहश्लोकाः—स्यात्कार्यं कारणव्याप्यं प्राक्सहोत्तरचारि च। लिङ्गं तल्लक्षणव्याप्तेर्भूतं भूतस्य साधकम्॥ षोढा विरुद्धकार्यादि साक्षादेवोपवर्णितम्। लिङ्गं भूतमभूतस्य लिङ्गलक्षणयोगतः॥ पारम्पर्यात्तु कार्यं स्यात् कारणं व्याप्यमेव च। सहचारि च निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्विधम्॥ कारणात् द्विष्ठकार्यादिभेदेनोदाहृतं पुरा। यथा षोडशभेदं स्यात् द्वाविंशतिविधं ततः॥ लिङ्गं समुदितं तु यदन्यथानुपपत्तिमत्। तथा भूतमभूतस्याप्यूह्यमन्यदपीदृशम्॥ अभूतं भूतमुन्नीतं भूतस्यानेकधा बुधैः। तथाऽभूतमभूतस्य यथायोग्यमुदाहरेत्॥ बहुधाप्येवमाख्यातं संक्षेपेण चतुर्विधम्। अतिसंक्षेपतो द्वेधोपलम्भानुपलम्भभृत्॥ –प्रमाणप० पृ० ७२–७४।

(१६६) का वर्णन करता है। निषेधसाधकरूप से छः उपलब्धियों (१७१) का और सात अनुपलब्धियों (१७८) का वर्णन परीक्षामुख में है तब प्रमाणनयतत्त्वालोक में निषेधसाधक अनुपलब्धि (१६) और उपलब्धि (१७१) दोनों सात सात प्रकार की हैं।

आचार्य हेमचन्द्र वैशेषिकसूत्र और न्यायबिन्दु दोनों के आधार पर विद्यानन्द की तरह वर्गीकरण करते हैं फिर भी विद्यानन्द से विभिन्नता यह है कि आ० हेमचन्द्र के वर्गीकरण में कोई भी अनुपलब्धि विधिसाधक रूप से वर्णित नहीं है किन्तु न्यायबिन्दु की तरह मात्र निषेधसाधकरूप से वर्णित है। वर्गीकरण की अनेकविधता तथा भेदों की संख्या में न्यूनाधिकता होने पर भी तत्त्वतः सभी वर्गीकरणों का सार एक ही है। वाचस्पति मिश्र ने केवल बौद्धसम्मत वर्गीकरण का ही नहीं बल्कि वैशेषिकसूत्रगत वर्गीकरण का भी निरास किया है—तात्पर्य० पृ० १५८–१६४।

पृ० ४२. पं० ६ 'तद्विपक्षस्य'–तुलना–"यदुत्पत्तिमत् तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः। यत् कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति। एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः।"–न्यायबि० ३. १३–१५।

"यथा च कृतकशब्दो भिन्नविशेषणस्वभावाभिधाय्येवं प्रत्ययभेदभेदित्वादिर्येषां प्रयत्नानन्तरीयकत्वादीनां तेऽपि स्वभावहेतोः प्रयोगा भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायिनो द्रष्टव्याः।"–न्यायबि० टी० ३. १५।

पृ० ४२ पं० ९ 'पक्षादन्यस्यैव'–तुलना–"नैव चास्य साध्यधर्मिणि स्वसाध्याविनाभाविता सैव गमकत्वनिबन्धनं साध्यधर्मिणि। स च स्वसाध्याविनाभावः प्रतिबन्धसाधकप्रमाणनिबन्धनो न सपक्षे क्वचिद् बहुशो वा सहभावमात्रदर्शननिबन्धनः, नहि लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठादिवत् इति तदन्यत्र पार्थिवत्वस्य लोहलेख्यत्वाविनाभावेऽपि तथाभावो भवति। यदि च पक्षीकृतादन्यत्रैव व्याप्तिप्रदर्शनमित्ययमेव नियमः तदा सत्त्वं कथं क्षणिकतां भावेषु प्रतिपादयेत्? तस्मात्—स्वसाध्यप्रतिबन्धात् हेतुः तेन व्याप्तः सिद्ध्यति स च विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या साध्यधर्मिण्यपि सिद्ध्यति इति न किञ्चिद् अन्यत्रानुसरणापेक्षया। अत एवान्यत्र (विनिश्चये) उक्तम्—यत्र क्वचिद् दृष्ट तस्य यत्र प्रतिबन्धः तद्गत तस्य तद् गमकं तथैव वस्तुगतिरिति।"–हेतुबि० टी० लि० पृ० १५B, १६B

पृ० ४२. पं० २४ 'सूक्ष्मदर्शिनापि'–कार्यलिङ्गक अनुमान को तो सभी मानते हैं पर कारणलिङ्गक अनुमान मानने में मतभेद है। बौद्धतार्किक खासकर धर्मकीर्ति कहीं भी कारणलिङ्गक अनुमान का स्वीकार नहीं करते पर वैशेषिक, नैयायिक दोनों कारणलिङ्गक अनुमान को प्रथम से ही मानते आये हैं। अपने पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकों ने जैसे कारणलिङ्गक अनुमान का बड़े जोरों से उपपादन किया है वैसे ही आ० हेमचन्द्र ने भी उसका उपपादन किया है। आ० हेमचन्द्र न्यायवादी शब्द से धर्मकीर्ति का ही सूचित करते हैं। यद्यपि आ० हेमचन्द्र धर्मकीर्ति के मन्तव्य का निरसन करते हैं तथापि उनका धर्मकीर्ति के प्रति विशेष आदर है जो 'सूक्ष्मदर्शिनापि' इस शब्द से व्यक्त होता है।

पृ० ४४ पं० ८ 'तथा चेतनां विना'–कार्यलिङ्गक अनुमान के मानने में किसी का मतभेद नहीं फिर भी उसके किसी किसी उदाहरण में मतभेद आता है। 'जीवत् शरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्' इस अनुमान को बौद्ध सदनुमान नहीं मानते वे उसे मिथ्यानुमान मानकर हेत्वाभास में प्राणादिहेतु को गिनाते हैं–न्यायबि० ३. ९९। बौद्ध लोग इतर दार्शनिकों की तरह शरीर में वर्तमान नित्य आत्मतत्त्व को नहीं मानते इसी से वे अन्य दार्शनिकसम्मत सात्मकत्व का प्राणादि द्वारा अनुमान नहीं मानते जब कि वैशेषिक, नैयायिक जैन आदि सभी पृथगात्मवादी दर्शन प्राणादि द्वारा शरीर में आत्मसिद्धि मानकर उसे सदनुमान ही मानते हैं। अतएव आत्मवादी दार्शनिकों के लिये यह सिद्धान्त आवश्यक है कि सपक्षवृत्तित्व रूप अन्वय को सद्धेतु का अनिवार्य रूप न मानना। केवल व्यतिरेकवाले अर्थात् अन्वयशून्य लिङ्ग को भी वे अनुमितिप्रयोजक मानकर प्राणादिहेतु को सद्धेतु मानते हैं[1]। इसका समर्थन नैयायिकों की तरह जैनतार्किकों ने बड़े विस्तार से किया है।

आ० हेमचन्द्र भी उसी का अनुसरण करते हैं और कहते हैं कि अन्वय के अभाव में भी हेत्वाभास नहीं होता इसलिये अन्वय को हेतु का रूप मानना न चाहिए। बौद्धसम्मत [illegible] धर्मकीर्तिनिर्दिष्ट अन्वयसन्देह का अनैकान्तिकप्रयोजकरूप से खण्डन करते हुए आ० हेमचन्द्र कहते हैं कि व्यतिरेकाभावमात्र को ही विरुद्ध और अनैकान्तिक दोनों का प्रयोजक मानना चाहिए। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में व्यतिरेकाभाव के साथ अन्वयसन्देह को भी अनैकान्तिकता का प्रयोजक कहा[2] है उसी का निषेध आ० हेमचन्द्र करते हैं। न्यायवादी धर्मकीर्ति के किसी उपलब्ध ग्रन्थ में जैसा आ० हेमचन्द्र लिखते हैं वैसा नहीं पाया कि व्यतिरेकाभाव ही दोनों विरुद्ध और अनैकान्तिक या दोनों प्रकार के अनैकान्तिक का प्रयोजक हो। तब "न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभासावुक्तौ" यह आ० हेमचन्द्र का कथन असङ्गत हो जाता है। धर्मकीर्ति के किसी ग्रन्थ में इस आ० हेमचन्द्रोक्त भाव का उल्लेख न मिले तो आ० हेमचन्द्र के इस कथन का अर्थ खींचातानी करके यही करना चाहिए कि न्यायवादी ने भी दो हेत्वाभास कहे हैं पर उनका प्रयोजकरूप जैसा हम मानते हैं वैसा व्यतिरेकाभाव ही माना जाय क्योंकि उस अंश में किसी का विवाद नहीं अतएव निर्विवादरूप से स्वीकृत व्यतिरेकाभाव को ही उक्त हेत्वाभासद्वय का प्रयोजक मानना, अन्वयसन्देह को नहीं।

यहाँ एक बात खास लिख देनी चाहिए। वह यह कि बौद्ध तार्किक हेतु के त्रैरूप्य का समर्थन करते हुए अन्वय को आवश्यक इसलिए बतलाते हैं कि वे विपक्षासत्त्वरूप व्यतिरेक का सम्भव सपक्षसत्त्वरूप अन्वय के बिना नहीं मानते। वे कहते हैं कि

---

१ नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति न शक्नुमः इत्यवधारणानुमानं च । –न्यायम० पृ० ५३८। तात्पर्य० पृ० ६८३। कन्दली पृ० २०४।

२ "अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः।"–न्यायबि० ३. ६८।

अन्वय होने से ही व्यतिरेक फलित होता है चाहे वह किसी वस्तु में फलित हो या अवस्तु में। अगर अन्वय न हो तो व्यतिरेक भी सम्भव नहीं। अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूप परस्पराश्रित होने पर भी बौद्ध तार्किकों के मत से भिन्न ही हैं। अतएव वे व्यतिरेक की तरह अन्वय के ऊपर भी समान ही भार देते हैं। जैनपरम्परा ऐसा नहीं मानती। उसके अनुसार विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक ही हेतु का मुख्य स्वरूप है। जैनपरम्परा के अनुसार उसी एक ही रूप के अन्वय या व्यतिरेक दो जुदे जुदे नाममात्र हैं। इसी सिद्धान्त का अनुसरण करके आ० हेमचन्द्र ने अन्त में कह दिया है कि 'सपक्ष एव सत्त्व' को अगर अन्वय कहते हो तब तो वह हमारा अभिप्रेत अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक ही हुआ। सारांश यह है कि बौद्धतार्किक जिस तत्त्व को अन्वय और व्यतिरेक परस्पराश्रित रूपों में विभाजित करके दोनों ही रूपों का हेतुलक्षण में समावेश करते हैं, जैनतार्किक उसी तत्त्व को एकमात्र अन्यथानुपपत्ति या व्यतिरेकरूप से स्वीकार करके उसकी दूसरी भावात्मक बाजू को लक्षण में नहीं लेते।

पृ० ४५ पं० १६ 'विरोधि तु'–व्याख्या–"स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति। प्रतिषेध्यस्य शीतस्पर्शस्य स्वभाव तस्य विरुद्धो वह्निस्तस्य चेहोपलब्धि। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति वह्नेरिति। अप्रतिबद्धसामर्थ्यमेव कारणं कार्यं जनयति न सर्वं ततो विशेषणोपादानम्। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं तस्य विरुद्धो वह्नि तस्येहोपलब्धि। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्ति सन्निहितदहनविशेषत्वात्। प्रतिषेध्यानां रोमहर्षादिविशेषाणां कारणं शीतम्, तस्य विरुद्धो दहनविशेषस्तस्य चेहोपलब्धि। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो दहनात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्येह विरुद्धो दहनविशेषः तस्येहोपलब्धि। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो दहनात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्येह विरुद्धो दहनविशेषः तस्येहोपलब्धिः। स्वभावविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो धूमात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य च स्वभाव तस्य विरुद्धो वह्नि। तस्य कार्यं धूम तस्य चेहोपलब्धि। कार्यविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति धूमादिति। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं तस्य विरुद्धो वह्नि तस्य कार्यं धूमः तस्येहोपलब्धिः। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न रोमहर्षादियुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमात्। प्रतिषेध्यानां हि रोमहर्षादिविशेषाणां कारणं शीतं तस्य विरुद्धो वह्नि तस्य कार्यं धूम तस्येहोपलब्धि। व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शो धूमात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्य विरुद्धोऽग्निस्तस्य कार्यं धूमस्तस्येहोपलब्धि।"–तर्कभाषा परि० २।

अ० १ आ० २ सू० ११-१७ पृ० ४५ पक्ष के सम्बन्ध में यहाँ चार बातों पर विचार है—१–पक्ष का लक्षण—स्वरूप, २–लक्षणान्तर्गत विशेषण की व्यावृत्ति, ३–पक्ष के आकारनिर्देश, ४–उसके प्रकार।

१—बहुत पहिले से ही पक्ष का स्वरूप विचारपथ में आकर निश्चित सा हो गया था फिर भी प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञालक्षण करते समय उसका चित्रण स्पष्ट कर दिया है[1]। न्यायप्रवेश में[2] और न्यायबिन्दु में[3] तो यहाँ तक स्वरूप की भाषा निश्चित हो गई है कि इसके बाद के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने उसी बौद्ध भाषा का उन्हीं शब्दों से या पर्यायान्तर से अनुवाद करके ही अपने अपने ग्रन्थों में पक्ष का स्वरूप बतलाया है जिसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है।

२—आचार्य के इष्ट असिद्ध और अबाधित इन तीनों विशेषणों की व्यावृत्ति प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में नहीं देखी जाती किन्तु अबाधित इस एक विशेषण की व्यावृत्ति उनमें स्पष्ट है[4]। न्यायबिन्दु में उक्त तीनों की व्यावृत्ति[5] है। जैनग्रन्थों में भी तीनों विशेषणों की व्यावृत्ति स्पष्टतया बतलाई गई है। अन्तर इतना ही है कि माणिक्यनन्दी (परी० ३. २०) और देवसूरि ने (प्रमाणन० ३. १४-१७) तो सभी व्यावृत्तियाँ धर्मकीर्ति की तरह मूल सूत्र में ही दरसाई हैं जब कि आ० हेमचन्द्र ने दो विशेषणों की व्यावृत्तियों का वृत्ति में बतलाकर सिर्फ अबाध्य विशेषण की व्यावृत्ति का सूत्रबद्ध किया है। प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, स्वशास्त्रविरुद्ध और स्ववचनविरुद्ध रूप से पाँच बाधितपक्ष बतलाये हैं। न्यायप्रवेश में भी बाधितपक्ष तो पाँच ही हैं पर स्वशास्त्रविरुद्ध के स्थान में लोकविरुद्ध का समावेश है। न्यायबिन्दु में आगम और लोकविरुद्ध दोनों नहीं हैं पर प्रतीति

---

१ 'प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा ... अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति।'—प्रशस्त० पृ० २३४।

२ 'तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः। प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः। तद्यथा नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति।'—न्यायप्र० पृ० १।

३ 'स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।' न्यायबि० ३. ४०।

४ 'यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी, घनमम्बरमिति अनुमानविरोधी, ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधी, वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी, न शब्दोऽर्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी।'—प्रशस्त० पृ० २३४। 'साधयितुमिष्टोऽपि प्रत्यक्षादिविरुद्धः पक्षाभासः। तद्यथा—प्रत्यक्षविरुद्धः, अनुमानविरुद्धः, आगमविरुद्धः, लोकविरुद्धः, स्ववचनविरुद्धः, अप्रसिद्धविशेषणः, अप्रसिद्धविशेष्यः, अप्रसिद्धोभयः, प्रसिद्धसम्बन्धश्चेति।'—न्यायप्र० पृ० २।

५ 'स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः। स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनैवेष्टो न साधनत्वेनापि। यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यम्, न पुनस्तदिह साध्यत्वेनेष्टं साधनत्वेनाभिधानात्। स्वयमिति वादिना। यस्तदा साधनमाह। एतेन यदपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति। इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यः। तदधिकरणत्वाद्विवादस्य। यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति। अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थता साध्या। अनेन स एव साध्यो यः साध्यत्वेनेष्टः। अनिराकृत इति एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्।'—न्यायबि० ३. ४१-५०।

विरुद्ध का समावेश करके कुल प्रत्यक्ष, अनुमान, स्ववचन और प्रतीतिविरुद्ध रूप से चार बाधित पक्ष बतलाये हैं। जान पड़ता है, बौद्ध परम्परागत आगमप्रामाण्य के अस्वीकार का विचार करके धर्मकीर्ति ने आगमविरुद्ध को हटा दिया है। पर साथ ही प्रतीतिविरुद्ध को बढ़ाया। माणिक्यनन्दी ने (परी ६.१५) इस विषय में न्यायबिन्दु का नहीं पर न्याय प्रवेश का अनुसरण करके उसी के पाँच बाधित पक्ष मान लिये जिनको देवसूरि ने भी मान लिया। अलबत्ता देवसूरि ने (प्रमाणन० ६ ४) माणिक्यनन्दी का और न्यायप्रवेश का अनुसरण करते हुए भी आदिपद रख दिया और अपनी व्याख्या रत्नाकर में स्मरणविरुद्ध, तर्क विरुद्ध रूप से अन्य बाधित पक्षों को भी दिखाया। आ० हेमचन्द्र ने न्यायबिन्दु का प्रतीति विरुद्ध ले लिया, बाकी के पाँच न्यायप्रवेश और परीक्षामुख से लेकर कुल छः बाधित पक्षों को सूत्रबद्ध किया है। माठर (सांख्यका ५) जो संभवतः न्यायप्रवेश से पुराने हैं उन्होंने पक्षाभासों की नव संख्या मात्र का निर्देश किया है, उदाहरण नहीं दिये। न्यायप्रवेश में सोदाहरण नव पक्षाभास निर्दिष्ट हैं।

३—आ० हेमचन्द्र ने साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी को और साध्यधर्म मात्र को पक्ष कहकर उसके दो आकार बतलाये हैं, जो उनके पूर्ववर्ती माणिक्यनन्दी (३ २५-२६, ३३) और देव सूरि ने (३ १६-१८) भी बतलाये हैं। धर्मकीर्ति ने सूत्र में तो एक ही आकार निर्दिष्ट किया है पर उसकी व्याख्या में धर्मोत्तर ने (२८) केवल धर्मी, केवल धर्म और धर्मधर्मिसमुदाय रूप से पक्ष के तीन आकार बतलाये हैं। साथ ही उस प्रत्येक आकार का उपयोग किस किस समय होता है यह भी बतलाया है जो कि अपूर्व है। वात्स्यायन ने (न्यायभा १ १ ३६) धर्मविशिष्ट धर्मी और धर्मिविशिष्ट धर्म रूप से पक्ष के दो आकारों का निर्देश किया है। पर आकार के उपयोगों का वर्णन धर्मोत्तर की उस व्याख्या के अलावा अन्यत्र पूर्व ग्रन्थों में नहीं देखा जाता। माणिक्यनन्दी ने इस धर्मोत्तरीय वस्तु को सूत्र में ही अपना लिया जिसका देवसूरि ने भी सूत्र द्वारा ही अनुकरण किया। आ० हेमचन्द्र ने उसका अनुकरण तो किया पर उसे सूत्रबद्ध न कर वृत्ति में ही कह दिया।

४—इतर सभी जैन तार्किकों की तरह आ० हेमचन्द्र ने भी प्रमाणसिद्ध, विकल्पसिद्ध और उभयसिद्ध रूप से पक्ष के तीन प्रकार बतलाये हैं। प्रमाणसिद्ध पक्ष मानने के बारे में तो किसी का मतभेद है ही नहीं पर विकल्पसिद्ध और उभयसिद्ध पक्ष मानने में मतभेद है। विकल्पसिद्ध और प्रमाण-विकल्पसिद्ध पक्ष के विरुद्ध, जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले प्रश्न उठानेवाले धर्मकीर्ति ही हैं। यह अभी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि धर्मकीर्ति का वह आक्षेप मीमांसकों के ऊपर रहा या जैनों के ऊपर या दोनों के ऊपर। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति के इस आक्षेप का सविस्तर जवाब जैन तर्कग्रन्थों में ही देखा जाता है। जवाब की जैन प्रक्रिया में सभी ने धर्मकीर्ति के उस आक्षेपीय पद्य (प्रमाणवा १ १९२) का उद्धृत भी किया है।

मणिकार गङ्गेश ने[1] पक्षता का जो अन्तिम और सूक्ष्मतम निरूपण किया है उसका आ० हेमचन्द्र की कृति में आने का सम्भव ही न था फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन सभी पक्ष लक्षणों के तुलनात्मक विचार के बाद इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि गङ्गेश का वह परिष्कृत विचार सभी पूर्ववर्ती नैयायिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में पुरानी परिभाषा और पुराने ढङ्ग से पाया जाता है।

पृ० ४६ पं० १४ 'एतत्'–तुलना–"अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्म्यनुमेयः। अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः। व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय इति दर्शयितुमत्र ग्रहणम्। जिज्ञासितो ह्यनुमितो विशेषो धर्मो यस्य धर्मिणः स तथोक्तः।"–न्यायबि० टी० २.८। परी० ३.२५, २६ ३२, ३३। प्रमाणन० ३.१६,१८।

पृ० ४६ पं० १९ 'प्रसिद्ध'–तुलना–'प्रसिद्धो धर्मीति।'–परी० ३.२७।

पृ० ४६ पं० २० 'एतेन सर्व एव'–तुलना–प्रमेयर० ३.२६,२७।

पृ० ४७ पं० ४ 'तत्र बुद्धिसिद्धे'–परी० ३.२७–३१।

पृ० ४७ पं० ७ 'ननु धर्मिणि'–तुलना–प्रमेयर० ३.२९।

पृ० ४७ पं० १८ 'उभयसिद्धो धर्मी'–तुलना–प्रमेयर० ३.३३।

अ० १ आ० २ सू० १८–२३ पृ० ४७ दृष्टान्त के विषय में इस जगह तीन बातें प्रस्तुत हैं—१–अनुमानाङ्गत्व का प्रश्न २–लक्षण, ३–उपयोग।

१–धर्मकीर्ति ने हेतु का त्रैरूप्यकथन जो हेतुसमर्थन के नाम से प्रसिद्ध है उसमें ही दृष्टान्त का समावेश कर दिया है अतएव उनके मतानुसार दृष्टान्त हेतुसमर्थनघटक रूप से अनुमान का अङ्ग है और वह भी अविद्वानों के वास्ते। विद्वानों के वास्ते तो उक्त समर्थन के सिवाय हेतुमात्र ही कार्यसाधक होता है (प्रमाणवा० १.२८) इसलिए दृष्टान्त उनके लिए अनुमानाङ्ग नहीं। माणिक्यनन्दी (३.३७–४२) देवसूरि (प्रमाणन० ३.२८, ३४–३८) और आ० हेमचन्द्र सभी ने दृष्टान्त को अनुमानाङ्ग नहीं माना है और विकल्प द्वारा अनुमान में उसकी उपयोगिता का खण्डन भी किया है, फिर भी उन सभी ने केवल मन्दमति शिष्यों के लिए परार्थानुमान में (प्रमाणन० ३.४२, परी० ३.४६) उसे व्याप्तिस्मारक बतलाया है तब प्रश्न होता है कि उनके अनुमानाङ्गत्व के खंडन का अर्थ क्या है?। इसका जवाब यही

---

१ "उच्यते–सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभावो यत्रास्ति स पक्षः, तेन सिषाधयिषाविरहविशिष्टं साधकप्रमाणं यत्रास्ति स न पक्षः, यत्र साधकप्रमाणे सत्यपि वा सिषाधयिषा यत्र चोभयाभावस्तत्र विशिष्टाभावात् पक्षत्वम्।"–चिन्ता० अनु० गादा० पृ० ४३१–३२।

है कि इन्होंने जो दृष्टान्त की अनुमानाङ्गता का प्रतिषेध किया है वह सकलानुमान की दृष्टि से अर्थात् अनुमान मात्र में दृष्टान्त को वे अङ्ग नहीं मानते। सिद्धसेन ने भी यही भाव संक्षिप्त रूप में सूचित किया है–न्याया० २०। अतएव विचार करने पर बौद्ध और जैन तात्पर्य में कोई ख़ास अन्तर नज़र नहीं आता।

२–दृष्टान्त का सामान्य लक्षण न्यायसूत्र (१.१.२५) में है पर बौद्ध ग्रन्थों में वह नहीं देखा जाता। माणिक्यनन्दी ने भी सामान्य लक्षण नहीं कहा जैसा कि सिद्धसेन ने पर देवसूरि (प्रमाणन० ३.४०) और आ० हेमचन्द्र ने सामान्य लक्षण भी बतला दिया है। न्यायसूत्र का दृष्टान्तलक्षण इतना व्यापक है कि अनुमान से भिन्न सामान्य व्यवहार में भी वह लागू पड़ जाता है जब कि जैनों का सामान्य दृष्टान्तलक्षण मात्र अनुमानोपयोगी है। साधर्म्य वैधर्म्य रूप से दृष्टान्त के दो भेद और उनके अलग अलग लक्षण न्यायप्रवेश (पृ० १, २), न्यायावतार (का० १७, १८) में वैसे ही देखे जाते हैं जैसे परीक्षामुख (३.४७ से) आदि (प्रमाणन० ३.४१ से) पिछले ग्रन्थों में।

३–दृष्टान्त के उपयोग के सम्बन्ध में जैन विचारसरणी ऐकान्तिक नहीं। जैन तार्किक परार्थानुमान में जहाँ श्रोता अव्युत्पन्न हो वहाँ दृष्टान्त का सार्थक्य मानते हैं। स्वार्थानुमान स्थल में भी जो प्रमाता व्याप्ति सम्बन्ध को भूल गया हो उसी को उसकी याद दिलाने के वास्ते दृष्टान्त की चरितार्थता मानते हैं–स्याद्वादर० ३.४२।

—

द्वितीयाध्याय।

अ० २ आ० १ सू० १–२. पृ० ४६ परार्थानुमान की चर्चा वैदिक, बौद्ध, जैन—तीनों परम्पराओं में पाई जाती है। यों तो स्वार्थ और परार्थ अनुमान का विभाग कणाद और न्यायसूत्र में सूचित होता है, फिर भी उपलब्ध प्रमाणग्रन्थों में परार्थ अनुमान का स्पष्ट लक्षणनिर्देश प्रशस्तपाद[1] और न्यायप्रवेश[2] में ही प्राचीन जान पड़ता है। प्रशस्तपाद के अनुगामी भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ५) आदि सभी नैयायिकों ने प्रशस्तपाद के ही कथन को थोड़े हेर-फेर के साथ दुहराया है। न्यायप्रवेशगत परार्थानुमान सम्बन्धी जो लक्षणनिर्देश है, उसी को पिछले धर्मकीर्ति (न्यायबि० ३. १), शान्तरक्षित (तत्त्वसं० का० ११६१) आदि बौद्ध तार्किकों ने विशेष स्पष्ट करके कहा है। जहाँ तक मालूम है, जैन परम्परा में परार्थ अनुमान के स्पष्ट लक्षण को बतलानेवाले सब से पहिले सिद्धसेन दिवाकर ही हैं—न्याया० १०। उनके मार्ग का पिछले जैन तार्किकों ने अनुसरण किया है—परी० ३. ५५, प्रमाणन० ३. २३।

आ० हेमचन्द्र ने परार्थ अनुमान के लक्षणप्रसङ्ग में मुख्यतया दो बातें कही हैं। पहली तो उसका स्पष्ट-लक्षणनिर्देश और दूसरी बात है शब्द में आरोप से परार्थानुमानत्व के व्यवहार का समर्थन। यह दोनों बातें वैदिक, बौद्ध और जैन सभी पूर्ववर्ती तर्कग्रन्थों में पाई जाती हैं। आरोप का बीज जो लक्षणा सम्बन्धी विचार करनेवाले आलङ्कारिक[3] आदि ग्रन्थों में देखा जाता है उसका स्पष्टीकरण भी आ० हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह ही किया है।

पृ० ४६ पं० ८ 'अचेतनं हि वचनं'—तुलना—प्रमेयक० ३. ५५. ५६।
पृ० ४६ पं० ९ 'उपचारश्चात्र'—तुलना—न्यायबि० टी० ३. १।

अ० २. आ० १ सू० ३–६ पृ० ४६ प्रस्तुत चार सूत्रों में परार्थ अनुमान के प्रयोग-द्वैविध्य की चर्चा है। परार्थ अनुमान का दो प्रकार का प्रयोग वैदिक, बौद्ध, जैन—तीनों परम्पराओं को मान्य है पर वैदिक और बौद्ध दो परम्पराओं में साधर्म्य उदाहरण, वैधर्म्य उदाहरण, साधर्म्य उपनय, वैधर्म्य उपनय आदिरूप प्रयोगद्वैविध्य प्रसिद्ध है। हेतु के प्रयोग-

---

१ 'पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्।'—प्रशस्त० पृ० २११।
२ 'तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्।'—न्यायप्र० पृ० १।
३ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥—काव्यप्र० २. ९। काव्यानुशा० १. १७–१८।

भेद से परार्थ अनुमान का भेद उक्त दो परम्पराओं में प्रसिद्ध नहीं है जैसा कि जैन परम्परा में प्रसिद्ध है।

जैन परम्परा में उदाहरण आदि के प्रयोगभेद से परार्थ अनुमान का प्रयोगभेद मानने के अलावा हेतु के प्रयोगभेद से भी उसका भेद माना जाता है। हेतु के प्रयोग भेद की रीति सबसे पहले सिद्धसेन के न्यायावतार (का० १७) में स्थापित जान पड़ती है। पिछले सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने उसी हेतुप्रयोग की द्विविध रीति को निर्विवाद रूप से मान लिया है। आ० हेमचन्द्र ने भी उसी रीति को अपने सूत्रों में दर्शाया है।

इस विषय में आ० हेमचन्द्र की रचना की विशेषता यह है कि धर्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु और उसकी धर्मोत्तरीयवृत्ति का (३.७) प्रस्तुत प्रकरण में शब्दशः अनुकरण पाया जाता है, जैसा कि अन्य पूर्ववर्ती जैन तर्कग्रन्थों में नहीं है।

पृ० ५० पं० ८ 'एतदुक्तं भवति'–तुलना–"एतदुक्तं भवति–अन्यदभिधेयमन्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम्। तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते। प्रकाश्यं त्वभिन्नम्। अन्वये हि कथिते सामर्थ्यादेव न्यायेन व्यतिरेकगतिर्भवति। व्यतिरेके चान्वयगति। ततस्तेन्नयं लिङ्ग प्रकाश्य मभिन्नम्। न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र सामर्थ्यगम्योऽप्यर्थो भिद्यते। यस्मात् पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदेऽपि गम्यमानमेकमेव तद्वदिहाभिधेयभेदेऽपि गम्यमानं वस्त्वेकमेव।"–न्यायबि० टी० ३.७

अ० २, आ० १ सू० ७–८ पृ० ५० परार्थानुमान में पक्ष का प्रयोग करने न करने का मतभेद है। नैयायिक आदि वैदिक परम्परा पक्ष का प्रयोग आवश्यक समझती है। बौद्ध परम्परा में न्यायप्रवेश में तो पक्षवचन साधनवाक्याङ्ग रूप से माना ही है पर उत्तरवर्ती धर्मकीर्ति ने[1] प्रतिज्ञा का व्यर्थ ही बतलाया है और कहा है कि उसका प्रयोग साधन वाक्य का अङ्ग नहीं है। जैन परम्परा पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता का समर्थन करती है। सिद्धसेन ने खुद ही पक्ष के प्रयोग का विधान किया है (तत् प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यः–न्याया० १४), जो सम्भवतः धर्मकीर्त्ति के प्रतिज्ञानिषेध के खण्डन के लिये है। उसी का समर्थन करते हुए पिछले जैन तार्किकों ने बौद्ध मन्तव्य के विरुद्ध अपनी दलीलें दी हैं। परीक्षामुख, प्रमाणनयतत्त्वालोक और उनकी व्याख्याओं की अपेक्षा आ० हेमचन्द्र की कृति की इस सम्बन्ध में विशेषता यह है कि उन्होंने वाचस्पति मिश्र कृत (तात्प० टी० पृ० २७४) पक्ष समर्थनप्रकार अक्षरशः इस जगह अवतारित किया है, अन्तर है तो इतना ही कि वाचस्पति मिश्रने ब्राह्मणपरम्परासुलभ ब्राह्मण गुरु-शिष्य का उदाहरण दिया है जब कि आ० हेमचन्द्र

---

१ "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।"–न्यायबि० ३.१। "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि ... "–वादन्याय पृ० ६१।

न उस उदाहरण के स्थान में प्रतिवादी बौद्ध परम्परा का ही भिक्षु-शील प्रसंग उदाहरण रूप से वर्णित किया है।

पृ० ५१ पं० १ 'अयमर्थ'-तुलना-"यथाहि परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयन्ति प्रेक्षावन्त तदेव च परं बोधयितव्या यद् बुभुत्सन्ते तथासत्यनेनापेक्षिताभिधानात् परो बोधितो भवति; न खल्वाम्रान् पृष्टः कोविदारानाचक्षाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति। अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम?। यथा च माठर समिधमाहरेति गुरुणा प्रेषित एषोऽहमाहरामीत्यनुक्त्वा तदर्थं यदायं गृहं प्रविशति तदाऽस्मै कुप्यति गुरुः आः शिष्यापसद छान्दसबटर माठर मामवधीरयसीति ब्रुवाणः। एवमनित्यः शब्दं बुभुत्समानायानित्य शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किञ्चिदुच्यते कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा कृतकश्च शब्द इति वा, तत् सर्वमस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानम्। तथा चायमहितो न वाक्यमर्हतीति। यत् कृतकं ... । अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षिते कस्मात् इत्यपेक्षायां कृतकत्वादिति हेतुरुपतिष्ठते।"-तात्पर्य० पृ० २७४।

पृ० ५२ पं० १ 'साध्यस्यास्' -तुलना-प्रमेयर० ३.१६।

प्र० २, आ० १ सू० ९-१० पृ० ५२ परार्थ अनुमान स्थल में प्रयोगपरिपाटी के सम्बन्ध में मतभेद है। सांख्य तार्किक प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं-माठर ५। मीमांसक वादिदेव के कथनानुसार, तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं-स्याद्वादर० पृ० ५५६। पर आ० हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य के कथनानुसार वे चार अवयवों का प्रयोग मानते हैं-प्रमेयर० ३.१०। शालिकनाथ, जो मीमांसक प्रभाकर के अनुगामी हैं उन्होंने अपनी प्रकरणपञ्चिका में (पृ० ८३-८५), तथा पार्थसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या में (अनु० श्लो० ५४) मीमांसकसम्मत तीन अवयवों का ही निर्देश किया है। वादिदेव का कथन शालिकनाथ तथा पार्थसारथि के अनुसार ही है पर आ० हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य का नहीं। अगर आ० हेमचन्द्र और अनन्तवीर्य दोनों मीमांसकसम्मत चतुरवयव कथन में भ्रान्त नहीं हैं तो समझना चाहिए कि उनके सामने चतुरवयववाद की कोई मीमांसक परम्परा रही हो जिसका उन्होंने निर्देश किया है। नैयायिक पाँच अवयवों का प्रयोग मानते हैं-न्यायसू० १.१.३२। बौद्ध तार्किक, अधिक से अधिक हेतु-दृष्टान्त दो का ही प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा० १.१८; स्याद्वादर० पृ० ५५९) और कम से कम केवल हेतु का ही प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा० ३.२८)। इस नाना प्रकार के मतभेद के बीच जैन तार्किकों ने अपना मत जैसा अन्यत्र भी देखा जाता है, वैसे ही अनेकान्त दृष्टि के अनुसार निर्युक्ति-

क्रम से[1] ही स्थिर किया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनाचार्य अवयवप्रयोग में किसी एक संख्या को न मानकर श्रोता की न्यूनाधिक योग्यता के अनुसार न्यूनाधिक संख्या को मानते हैं।

माणिक्यनन्दी ने कम से कम प्रतिज्ञा हेतु-इन दो अवयवों का प्रयोग स्वीकार करके विशिष्ट श्रोता की अपेक्षा से निगमन पर्यन्त पाँच अवयवों का भी प्रयोग स्वीकार किया है–परी० ३. ३७-४६। आ० हेमचन्द्र के प्रस्तुत सूत्रों के और उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति के शब्दों से भी माणिक्यनन्दी कृत सूत्र और उनकी प्रभाचन्द्र आदि कृत वृत्ति का ही वह भाव फलित होता है अर्थात् आ० हेमचन्द्र भी कम से कम प्रतिज्ञाहेतु रूप अवयवद्वय को ही स्वीकार करके अन्त में पाँच अवयव को भी स्वीकार करते हैं परन्तु वादिदेव का मन्तव्य इससे जुदा है। वादिदेव सूरि ने अपनी स्वोपज्ञ व्याख्या में श्रोता की विचित्रता बतलाते हुए यहाँ तक मान लिया है कि विशिष्ट अधिकारी के वास्ते केवल हेतु का ही प्रयोग पर्याप्त है (स्याद्वादर० पृ० ५४८) जैसा कि बौद्धों ने भी माना है। अधिकारी विशेष के वास्ते प्रतिज्ञा और हेतु दो, अन्यविध अधिकारी के वास्ते प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीन, इसी तरह अन्य के वास्ते सोपनय चार, या सनिगमन पाँच अवयवों का प्रयोग स्वीकार किया है–स्याद्वादर० पृ० ५६४।

इस जगह दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा की एक खास विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए, जो ऐतिहासिक महत्त्व की है। वह यह है कि किसी भी दिगम्बर आचार्य ने उस अति प्राचीन भद्रबाहुकर्तृक मानी जानेवाली निर्युक्ति में निर्दिष्ट व वर्णित[2] दश अवयवों का, जो वात्स्यायन[3] कथित दश अवयवों से भिन्न हैं, उल्लेख तक नहीं किया है, जब कि सभी श्वेताम्बर तार्किकों (स्याद्वादर० पृ० ५६५) ने उत्कृष्टवाद कथा में अधिकारी विशेष के वास्ते पाँच अवयवों से आगे बढ़कर निर्युक्तिगत दश अवयवों के प्रयोग का भी निर्युक्ति के ही अनुसार वर्णन किया है। जान पड़ता है इस तफावत का कारण दिगम्बर परम्परा के द्वारा आगम आदि प्राचीन साहित्य का त्यक्त होना–यही है।

एक बात माणिक्यनन्दी ने अपने सूत्र में कही है वह मार्के की जान पड़ती है। सो यह है कि दो और पाँच अवयवों का प्रयोगभेद प्रदेश की अपेक्षा से समझना चाहिये अर्थात् वादप्रदेश में तो दो अवयवों का प्रयोग नियत है पर शास्त्रप्रदेश में अधिकारी के अनुसार दो या पाँच अवयवों का प्रयोग वैकल्पिक है। वादिदेव की एक खास बात भी स्मरण में रखने

---

१ "जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं। आसज्ज उ सोयारं हेऊ वि कहिंचि भण्णेज्जा ॥ कत्थइ पंचावयवं दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं। न य पुण सव्वं भण्णइ हंदी सवियारमक्खायं ।" दश० नि० गा० ४९, ५०।

२ "ते उ पइन्नविभत्ती हेउविभत्ती विवक्खपडिसेहो दिट्ठंतो आसंका तप्पडिसेहो निगमणं च ॥"– दश० नि० गा० १३७।

३ "दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति"–न्यायभा० १. १. ३२।

योग्य है वह यह कि जैसा बौद्ध विशिष्ट विद्वानों के वास्ते हेतु मात्र का प्रयोग मानते हैं वैसे ही वादिदेव भी विद्वान् अधिकारी के वास्ते एक हेतुमात्र का प्रयोग भी मान लेते हैं। ऐसा स्पष्ट स्वीकार आ० हेमचन्द्र ने नहीं किया है।

पृ० ५२. पं० ४ 'प्रतिज्ञाहेतू'–तुलना–"पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्" –माठर का० ५।

पृ० ५२. पं० ११ 'यथाहुः सौगताः'–तुलना–"तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि ..."–वादन्याय पृ० ६१

'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥"–प्रमाणवा० १. २८।

अ० २. आ० १ सू० ११–१२ पृ० ५२–माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरि ने अपने अपने सूत्रग्रन्थों में परार्थ अनुमान की चर्चा की है पर उन्होंने उसके शब्दात्मक पाँच अवयवों के लक्षण नहीं किये जब कि आ० हेमचन्द्र ने इस जगह अक्षपाद (न्यायसू० १. १. ३२ से) और अक्षपादानुसारी भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ५.) का अनुसरण करके पाँचों शब्दावयवों के लक्षण बतलाये हैं।

पृ० ५४ पं० ३ 'असिद्ध'–हेत्वाभास सामान्य के विभाग में तार्किकों की विप्रतिपत्ति है। अक्षपाद[1] पाँच हेत्वाभासों को मानते व वर्णन करते हैं। कणाद के सूत्र में[2] स्पष्टतया तीन हेत्वाभासों का निर्देश है, तथापि प्रशस्तपाद[3] उस सूत्र का आशय बतलाते हुए चार हेत्वाभासों का कथन करते हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक यह तीन तो अक्षपादकथित पाँच हेत्वाभासों में भी आते ही हैं। प्रशस्तपाद ने अनध्यवसित नामक चौथा हेत्वाभास बतलाया है जो न्यायसूत्र में नहीं है। अक्षपाद और कणाद उभय के अनुगामी भासर्वज्ञ ने[4] छः हेत्वाभास वर्णित किये हैं जो न्याय और वैशेषिक दोनों प्राचीन परम्पराओं का कुल जोड़ मात्र है।

दिङ्नाग कर्तृक माने जानेवाले न्यायप्रवेश में[5] असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीनों का ही संग्रह है। उत्तरवर्ती धर्मकीर्ति आदि सभी बौद्ध तार्किकों ने भी न्यायप्रवेश की ही मान्यता को दोहराया और स्पष्ट किया है। पुराने सांख्याचार्य माठर[6] ने

---

१ न्यायसू० १. २. ४।
२ "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः।" –वै० सू० ३. १. १५।
३ "एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानाम् अनपदेशत्वमुक्तं भवति।"–प्रश० पृ० २३८।
४ "असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः।" न्यायसार पृ० ७।
५ "असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः।" न्यायप्र० पृ० ३।
६ "अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः।"–माठर ५।

भी उक्त तीन ही हेत्वाभासों का सूचन व संग्रह किया है। जान पड़ता है मूल में सांख्य और कणाद की हेत्वाभाससंख्या विषयक परम्परा एक ही रही है।

जैन परम्परा वस्तुतः कणाद सांख्य और बौद्ध परम्परा के अनुसार तीन ही हेत्वाभासों को मानती है। सिद्धसेन[1] और वादिदेव ने (प्रमाणन० ६. ४७) असिद्ध आदि तीनों का ही वर्णन किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्ग के अनुगामी हैं। आ० हेमचन्द्र ने न्याय सूत्रोक्त कालातीत आदि दो हेत्वाभासों का निरास किया है पर प्रशस्तपाद और भासर्वज्ञ कथित अनध्यवसित हेत्वाभास का निरास नहीं किया है। जैन परम्परा में भी इस जगह एक मतभेद है—वह यह कि अकलङ्क और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दी आदि दिगम्बर तार्किकों ने चार हेत्वाभास बतलाये हैं[2] जिनमें तीन तो असिद्ध आदि साधारण ही हैं पर चौथा अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास बिलकुल नया है जिसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। परन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी[3] में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभास को मानने का पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्त के पहिले कभी से चला आता हुआ जान पड़ता है। अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर इन दो शब्दों में स्पष्ट भेद होने पर भी आपाततः उनके अर्थ में एकता का भास होता है। परन्तु जयन्त ने अप्रयोजक का जो अर्थ बतलाया है और अकिञ्चित्कर का जो अर्थ माणिक्यनन्दी के अनुगामी प्रभाचन्द्र ने[4] किया है उनमें बिलकुल अन्तर है इससे यह कहना कठिन है कि अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर का विचार मूल में एक है फिर भी यह प्रश्न हो ही जाता है कि पूर्ववर्ती बौद्ध या जैन न्यायग्रन्थों में अकिञ्चित्कर का नाम निर्देश नहीं तब अकलङ्क ने उसे स्थान कैसे दिया, अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थ के आधार पर ही अकलङ्क ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की अपने ढंग से नई सृष्टि की हो। इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का खण्डन केवल वादिदेव के सूत्र की व्याख्या (स्याद्वादर० पृ० १२३१) में देखा जाता है।

ऊपर जो हेत्वाभाससंख्या विषयक नाना परम्पराएँ दिखाई गई हैं उन सब का मतभेद मुख्यतया संख्याविषयक है, तत्त्वविषयक नहीं। ऐसा नहीं है कि एक परम्परा जिसे अमुक

---

१ "असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते। विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥"—न्याया० का० २३।

२ "असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः ॥ विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः।"—न्यायवि० २. १९५। परी० ६. २१।

३ "अन्ये तु अन्यथासिद्धत्वं नाम षष्ठं हेत्वाभासमिच्छन्ति यस्य हेतोर्धर्मिणि वृत्तिर्भवत्यपि साध्यधर्मप्रयुक्ता भवति न सोऽन्यथासिद्धः यथा नित्य आत्मा ... मूर्तत्वादिति ... न चास्य प्रयोज्यप्रयोजकभावो नास्तीत्यत एवासावन्यथासिद्धोऽप्रयोजक इति कथ्यते। कथं पुनरस्याप्रयोजकत्वमवगतम्?"—न्यायम० पृ० ६०७।

४ सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोतीति अकिञ्चित्करोऽनर्थकः। —प्रमेयक० पृ० १९३ A।

हेत्वाभास रूप दोष कहती है मगर वह सचमुच दोष हो तो उसे दूसरी परम्परा स्वीकार न करती हो। ऐसे स्थल में दूसरी परम्परा या तो उस दोष को अपने अभिप्रेत किसी हेत्वाभास में अन्तर्भावित कर देती है या पक्षाभास आदि अन्य किसी दोष में या अपने अभिप्रेत हेत्वाभास के किसी न किसी प्रकार में।

आ० हेमचन्द्र ने हेत्वाभास शब्द के प्रयोग का अनौचित्य बतलाते हुए भी साधनाभास अर्थ में उस शब्द के प्रयोग का समर्थन करने में एक तीर से दो पक्षी का वेध किया है–पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसरण का विवेक भी बतलाया और उनकी गलती भी दर्शाई। इसी तरह का विवेक माणिक्यनन्दी ने भी दर्शाया है। उन्होंने अपने पूज्य अकलङ्क कथित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का वर्णन तो किया पर उन्हें जब उस हेत्वाभास के अलग स्वीकार का औचित्य न दिखाई दिया तब उन्होंने एक सूत्र में इस ढङ्ग से उसका समर्थन किया कि समर्थन भी हो और उसके अलग स्वीकार का अनौचित्य भी व्यक्त हो–'लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।'–परी० ६. ३६।

पृ० ५४ पं० ८ 'प्रत्यक्षागमबाधित'–तुलना 'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।'–न्यायसू० १. २. ९। "यत्र च प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः ... स सर्वः प्रमाणतो विपरीतनिश्चयेन सन्देहविशिष्टः कालमतिपतति सोऽयं कालस्य अत्ययेन अपदिश्यमानः कालातीत इति।"–वात्स्य० पृ० १४७। न्यायसार पृ० ७। 'इतो प्रयोगकाल प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रह समय एव तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवति।"–न्यायम० पृ० ६११।

अ० २ आ० १ सू० १७–१९ पृ० ५४ न्यायसूत्र (१. २. ८) में असिद्ध का नाम साध्यसम है। केवल नाम के ही विषय में न्यायसूत्र का अन्य ग्रन्थों से वैलक्षण्य नहीं है किन्तु अन्य विषय में भी। वह अन्य विषय यह है कि जब अन्य सभी ग्रन्थ असिद्ध के कम या अधिक प्रकारों का उदाहरण सहित वर्णन करते हैं तब न्यायसूत्र और उसका भाष्य ऐसा कुछ भी न करके केवल असिद्ध का सामान्य स्वरूप बतलाते हैं।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में असिद्ध के चार प्रकारों का स्पष्ट और समानप्राय[1] वर्णन है। माठर (का० ५) भी उसके चार भेदों का निर्देश करते हैं जो सम्भवतः उनकी दृष्टि में वे ही रहे होंगे। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति ने प्रशस्तपादादिकथित चार प्रकारों का तो वर्णन किया ही है पर उन्होंने प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेश की तरह आश्रयासिद्ध का एक उदाहरण न देकर उसके दो उदाहरण दिये हैं और इस तरह असिद्ध के चौथे प्रकार आश्रयासिद्ध के भी प्रभेद कर दिये हैं। धर्मकीर्ति का वर्णन वस्तुतः प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश गत प्रस्तुत वर्णन का थोड़ा सा संशोधन मात्र है–न्यायबि० ३. ५८–६७।

---

१ 'उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः तद्भावासिद्धोऽनुमेयासिद्धश्चेति।"–प्रशस्त० पृ० २३८। "उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः सन्दिग्धासिद्धः आश्रयासिद्धश्चेति।"–न्यायप्र० पृ० ३।

न्यायसार (पृ० ८) में असिद्ध के चौदह प्रकार सोदाहरण बतलाये गये हैं। न्यायमञ्जरी (पृ० ६१) में भी उसी ढङ्ग पर अनेक भेदों की सृष्टि का वर्णन है। माणिक्यनन्दी शब्द रचना बदलते हैं (परी० ६.२२-२८) पर वस्तुतः वे असिद्ध के वर्णन में धर्मकीर्ति के ही अनुगामी हैं। प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख की टीका मार्तण्ड में (पृ० १६१ A) मूल सूत्र में न पाये जानेवाले असिद्ध के अनेक भेदों के नाम तथा उदाहरण दिये हैं जो न्यायसारगत ही हैं। आ० हेमचन्द्र के असिद्धविषयक सूत्रों की सृष्टि न्यायबिन्दु और परीक्षामुख का अनुसरण करनेवाली है। उनकी उदाहरणमाला में भी शब्दशः न्यायसार का अनुसरण है। धर्मकीर्ति और माणिक्यनन्दी का अक्षरशः अनुसरण न करने के कारण वादिदेव के असिद्ध विषयक सामान्य लक्षण (प्रमाणन० ६.४८) में आ० हेमचन्द्र के सामान्य लक्षण की अपेक्षा विशेष परिष्कृतता जान पड़ती है। वादिदेव के प्रस्तुत सूत्रों की व्याख्या रत्नाकर अवतारिका में जो असिद्ध के भेदों की उदाहरणमाला है वह न्यायसार और न्यायमञ्जरी के उदाहरणों का अक्षरशः सङ्कलन मात्र है। इतना अन्तर अवश्य है कि कुछ उदाहरणों में वस्तुविन्यास वादी देवसूरि का अपना है।

पृ० ५५ पं० १७ सामान्यविशेषवत्त्वात्–तुलना–"सामान्यवत्त्वात्"–न्यायसार पृ० ८।

पृ० ५५ पं० २० विपरीत'–जैसा प्रशस्तपाद में विरुद्ध के सामान्य स्वरूप का वर्णन है विशेष भेदों का नहीं वैसे ही न्यायसूत्र और उसके भाष्य में भी विरुद्ध का सामान्य रूप से वर्णन है विशेष रूप से नहीं। इतना साम्य होते हुए भी सभाष्यन्याय सूत्र और प्रशस्तपाद में उदाहरण एवं प्रतिपादन का भेद[१] स्पष्ट है। जान पड़ता है न्याय सूत्र की और प्रशस्तपाद की विरुद्ध विषयक विचारपरम्परा एक नहीं है।

न्यायप्रवेश (पृ० ५) में विरुद्ध के चार भेद सोदाहरण बतलाये हैं। सम्भवतः माठर (का० ५) को भी वे ही अभिप्रेत हैं। न्यायबिन्दु (३.८१-८८) में विरुद्ध के प्रकार दो ही उदाहरणों में समाप्त किये गये हैं और तीसरे 'इष्टविघातकृत्' नामक अधिक भेद होने की आशङ्का (३.८६-९४) करके उसका समावेश अभिप्रेत दो भेदों में ही कर दिया गया है। इष्टविघातकृत् नाम न्यायप्रवेश में नहीं है पर उस नाम से जो उदाहरण न्यायबिन्दु (३.६) में दिया गया है वह न्यायप्रवेश (पृ० ५) में वर्तमान है। जान पड़ता है न्यायप्रवेश में जो 'परार्थाः चक्षुरादयः' यह धर्मविशेषविरुद्ध का उदाहरण है उसी का कोई इष्टविघातकृत् नाम से व्यवहार करते होंगे जिसका निर्देश करके धर्मकीर्ति

---

१ 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। –न्यायसू० १.२.६। "यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यत इत्येवं हेतुः – व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्ति इत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते अस्तित्वं चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्तीति।"–न्यायभा० १.२.६। "यो ह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति।"–प्रशस्त० पृ० २३८।

ने अन्तर्भाव किया है। जयन्त ने (न्यायम० पृ० ६ ... ६ ६) गौतमसूत्र की ही व्याख्या करते हुए धर्मविशेषविरुद्ध और धर्मिविशेषविरुद्ध इन दो दिङ्नागीय विरुद्ध भेदों का स्पष्ट खण्डन किया है जो न्यायप्रवेशवाली परम्परा का ही खण्डन जान पड़ता है। न्यायसार (पृ० ६) में विरुद्ध के भेदों का वर्णन सबसे अधिक और जटिल भी है। उसमें सपक्ष के अस्तित्ववाले चार, नास्तित्ववाले चार ऐसे विरुद्ध के आठ भेद जिन उदाहरणों के साथ हैं उन्हीं उदाहरणों के साथ वही आठ भेद प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या में भी हैं–प्रमाणन० ६.५२.५३। यद्यपि परीक्षामुख की व्याख्या मार्तण्ड में (पृ० १९० A) न्यायसारवाले वे ही आठ भेद हैं तथापि किसी किसी उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्तन हो गया है। आ० हेमचन्द्र ने तो प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या की तरह अपनी वृत्ति में शब्दशः न्यायसार के आठ भेद सोदाहरण बतलाकर उनमें से चार विरुद्धों का असिद्ध एवं विरुद्ध दोनों नाम से व्यवहृत करने की न्यायमञ्जरी और न्यायसार की दलीलों का अपना लिया है।

पृ० १६ पं० ६ 'सति सपक्षे'–तुलना–' विरुद्धभेदास्तु सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः पक्षविपक्षव्यापको यथा ...'–न्यायसार पृ० ६। प्रमेयक० पृ० १९२ A। स्याद्वादर० पृ० १ २१।

पृ० १६ [illegible] १७ 'नियमस्य'–अनैकान्तिक हेत्वाभास के नाम के विषय में मुख्य दो परम्पराएँ प्राचीन हैं। पहली गौतम की और दूसरी कणाद की। गौतम अपने न्याय सूत्र में जिसे सव्यभिचार (१.२.५.) कहते हैं उसी को कणाद अपने सूत्रों (३.१.१५.) में सन्दिग्ध कहते हैं। इस नामभेद की परम्परा भी कुछ अर्थ रखती है और वह अर्थ आगे सब व्याख्याकारों से स्पष्ट हो जाता है। वह अर्थ यह है कि एक परम्परा अनैकान्तिकता का अर्थात् साध्य और उसके अभाव के साथ हेतु के साहचर्य का, सव्यभिचार हेत्वाभास का नियामक रूप मानती है संशयजनकत्व का नहीं जब दूसरी परम्परा संशयजनकत्व को ही अनैकान्तिक हेत्वाभासता का नियामक रूप मानती है साध्य-तदभावसाहचर्य को नहीं। पहली परम्परा के अनुसार जो हेतु साध्य-तदभावसहचरित है चाहे वह संशयजनक हो या नहीं–वही सव्यभिचार या अनैकान्तिक कहलाता है। दूसरी परम्परा के अनुसार जो हेतु संशयजनक है—चाहे वह साध्य-तदभावसहचरित हो या नहीं–वही अनैकान्तिक या सव्यभिचार कहलाता है। अनैकान्तिकता के इस नियामकभेदवाली दो उक्त परम्पराओं के अनुसार उदाहरणों में भी अन्तर पड़ जाता है। अतएव गौतम की परम्परा में असाधारण या विरुद्धाव्यभिचारी का अनैकान्तिक हेत्वाभास में स्थान सम्भव ही नहीं क्योंकि वे दोनों साध्याभावसहचरित नहीं। उक्त सार्थकनामभेद वाली दोनों परम्पराओं के परस्पर भिन्न ऐसे दो दृष्टिकोण आगे भी चालू रहे पर उत्तरवर्ती सभी व्याख्याओं में–चाहे वे वैदिक हों, बौद्ध हों या जैन–नाम तो केवल गौतमीय परम्परा का अनैकान्तिक ही जारी रहा। कणादीय परम्परा का सन्दिग्ध नाम व्यवहार में नहीं रहा।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश इन दोनों का पौर्वापर्य अभी सुनिश्चित नहीं अतएव यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि अमुक एक का प्रभाव दूसरे पर है, तथापि न्यायप्रवेश

और प्रशस्तपाद इन दोनों की विचारसरणी का असामञ्जस्य और पारस्परिक महत्त्व का भेद खास ध्यान देने योग्य है। न्यायप्रवेश में यद्यपि नाम तो अनैकान्तिक है सन्दिग्ध नहीं, फिर भी उसमें अनैकान्तिकता का नियामक रूप प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को ही माना है। अतएव न्यायप्रवेशकार ने अनैकान्तिक के छः भेद बतलाते हुए उनके सभी उदाहरणों में संशयजनकत्व स्पष्ट बतलाया है[1]। प्रशस्तपाद न्यायप्रवेश की तरह संशयजनकत्व को तो अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानते हैं सही, पर वे न्यायप्रवेश में अनैकान्तिक रूप से उदाहृत किये गये असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी इन दो भेदों को अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेत्वाभास में नहीं गिनते बल्कि न्यायप्रवेशसम्मत उक्त दोनों हेत्वाभासों की सन्दिग्धता का यह कह करके खण्डन करते हैं कि असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी संशयजनक ही नहीं[2]। प्रशस्तपाद के खण्डनीय भागवाला कोई पूर्ववर्ती वैशेषिक ग्रन्थ या न्यायप्रवेशभिन्न बौद्धग्रन्थ न मिले तब तक यह कहा जा सकता है कि शायद प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेश का ही खण्डन किया है। जो कुछ हो, यह तो निश्चित ही है कि प्रशस्तपाद ने असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को सन्दिग्ध या अनैकान्तिक मानने से इन्कार किया है। प्रशस्तपाद ने इस प्रश्न का, कि क्या तब असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी कोई हेत्वाभास ही नहीं? जवाब भी बड़ा बुद्धिमानी से दिया है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि असाधारण हेत्वाभास है सही, पर वह संशयजनक न होने से अनैकान्तिक नहीं, किन्तु उसे अनध्यवसित कहना चाहिए। इसी तरह वे विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक न मानकर या तो असाधारणरूप अनध्यवसित में गिनते हैं या उसे विरुद्धविशेष ही कहते (अयं तु विरुद्धभेद एव–प्रश० पृ० २३९) हैं। कुछ भी हो पर वे किसी तरह असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को न्यायप्रवेश की तरह संशयजनक मानने को तैयार नहीं हैं फिर भी वे उन दोनों को किसी न किसी हेत्वाभास में सन्निविष्ट करते ही हैं। इस चर्चा के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद की और भी दो बातें खास ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह है कि अनध्यवसित नामक हेत्वाभास की कल्पना और दूसरी यह कि न्यायप्रवेशगत विरुद्धाव्यभिचारी के उदाहरण से विभिन्न उदाहरण को लेकर विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक मानने न मानने का शास्त्रार्थ। यह कहा नहीं जा सकता

---

१ 'तत्र साधारणः–शब्दः प्रमेयत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षयोः साधारणत्वादनैकान्तिकम्। किं घटवत् प्रमेयत्वादनित्यः शब्दः आहोस्विदाकाशवत् प्रमेयत्वान्नित्य इति।' –इत्यादि–न्यायप्र० पृ० ३।

२ 'असाधारणः–श्रावणत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वान्नित्यानित्यविनिर्मुक्तस्य चान्यस्यासंभवात् संशयहेतुः किंभूतस्यास्य श्रावणत्वमिति।... विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्। नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति। उभयोः संशयहेतुत्वात् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।" न्यायप्र० पृ० ३, ४। "एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् यथा मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति। नन्वयमसाधारण एवाचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्याम।"–प्रशस्त० पृ० २३८, २३९।

कि कणादसूत्र में अविद्यमान अनध्यवसित पद पहिले पहिल प्रशस्तपाद ने ही प्रयुक्त किया या उसके पहिले भी इसका प्रयोग अलग हेत्वाभास अर्थ में रहा। न्यायप्रवेश में विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण– 'नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' यह है, जब कि प्रशस्तपाद में उदाहरण– 'मनः मूर्त्तम् क्रियावत्त्वात्, मनः अमूर्त्तम् अस्पर्शवत्त्वात्'[1]–यह है। प्रशस्तपाद का उदाहरण तो वैशेषिक प्रक्रिया अनुसार है ही पर आश्चर्य की बात यह है कि बौद्ध न्यायप्रवेश का उदाहरण खुद बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार न होकर एक तरह से वैदिक प्रक्रिया के अनुसार ही है क्योंकि जैसे वैशेषिक आदि वैदिक तार्किक शब्दत्व को जातिरूप मानते हैं वैसे बौद्ध तार्किक जाति को नित्य नहीं मानते। अस्तु यह विवाद आगे भी चला।

तार्किकप्रवर धर्मकीर्ति ने हेत्वाभास की प्ररूपणा अक्षसम्मत हेतुत्रैरूप्य के आधार पर की, जो उनके पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों में अभी तक देखने में नहीं आई। जान पड़ता है प्रशस्तपाद का अनैकान्तिक हेत्वाभास विषयक बौद्ध मन्तव्य का खण्डन बराबर धर्मकीर्ति के ध्यान में रहा। उन्होंने प्रशस्तपाद को जवाब देकर न्यायप्रवेश का बचाव किया। धर्मकीर्ति ने व्यभिचार या अनैकान्तिकता का नियामकरूप न्यायसूत्र की तरह माना फिर भी उन्होंने न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को भी उसका नियामक रूप मान लिया। प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेशसम्मत असाधारण को अनैकान्तिक मानने का यह कहकर के खण्डन किया था कि वह संशयजनक नहीं है। इसका जवाब धर्मकीर्ति ने असाधारण का न्यायप्रवेश की अपेक्षा जुदा उदाहरण रखकर और उसकी संशयजनकता दिखाकर दिया और बतलाया कि असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास ही है[2]। इतना करके ही धर्मकीर्ति सन्तुष्ट न रहे पर अपनी मान्य आचार्य दिङ्नाग की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाये रखने का और भी प्रयत्न किया। प्रशस्तपाद ने विरुद्धाव्यभिचारी के खण्डन में जो दलील दी थी उसका स्वीकार करके भी प्रशस्तपाद के खण्डन के विरुद्ध उन्होंने विरुद्धाव्यभिचारी का समर्थन किया और वह भी इस ढंग से कि दिङ्नाग की प्रतिष्ठा भी बनी रहे और प्रशस्तपाद को जवाब भी हो। ऐसा करते समय धर्मकीर्ति ने विरुद्धाव्यभिचारी का जो उदाहरण दिया है वह न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के उदाहरण से जुदा है फिर भी वह उदाहरण वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार होने से प्रशस्तपाद का जवाब नहीं हो सकता[3]। इस तरह बौद्ध और वैदिक तार्किकों की इस विषय में यहाँ तक चर्चा आई

१ [illegible] इत्यादि–न्यायबि० ३. ५७ से।

२ "अनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः। यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति। ... अत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहादनैकान्तिकः। साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्।"–न्यायबि० ३. ९८-११०।

३ विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः। [illegible]

जिसका ग्रन्थ न्यायमञ्जरी में छपा जान पड़ता है। जयन्त फिर अपने पूर्वाचार्यों का पक्ष लेकर न्यायप्रवेश और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु का सामना करते हैं। वे असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को अनैकान्तिक न मानने का प्रशस्तपादगत मत का बड़े विस्तार से समर्थन करते हैं पर साथ ही वे संशयजनकत्व को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने से भी इन्कार करते हैं[१]।

भासर्वज्ञ ने बौद्ध, वैदिक तार्किकों के प्रस्तुत विवाद का स्पर्श न कर अनैकान्तिक हेत्वाभास के आठ उदाहरण दिये हैं (न्यायसार पृ० १) और कहीं संशयजनकता का उल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है वह गौतमीय परम्परा का अनुगामी है।

जैन परम्परा में अनैकान्तिक और सन्दिग्ध यह दोनों ही नाम मिलते हैं। अकलङ्क (न्यायवि० २. १९७) सन्दिग्ध शब्द का प्रयोग करते हैं जब कि सिद्धसेन (न्याया० २३) आदि अन्य जैन तार्किक अनैकान्तिक पद का प्रयोग करते हैं। माणिक्यनन्दी की अनैकान्तिक निरूपण विषयक सूत्ररचना आ० हेमचन्द्र की सूत्ररचना की तरह ही वस्तुतः न्यायबिन्दु की सूत्ररचना की संक्षिप्त प्रतिच्छाया है। इस विषय में वादिदेव की सूत्ररचना वैसी परिमार्जित नहीं जैसी माणिक्यनन्दी और हेमचन्द्र की है क्योंकि वादिदेव ने अनैकान्तिक के सामान्य लक्षण में ही जो 'सन्दिग्धवृत्ति' का प्रयोग किया है वह खटकी नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो पर इस बारे में प्रभाचन्द्र, वादिदेव और हेमचन्द्र इन तीनों का एक ही मार्ग है कि वे सभी अपने अपने ग्रन्थों में भासर्वज्ञ के आठ प्रकार के अनैकान्तिक को लेकर अपने अपने लक्षण में समाविष्ट करते हैं। प्रमाचन्द्र के (प्रमेयक० पृ० १९२ B) सिवाय औरों के ग्रन्थों में तो आठ उदाहरण भी वे ही हैं जो न्यायसार में हैं। प्रभाचन्द्र ने कुछ उदाहरण बदले हैं।

यहाँ यह स्मरण रहे कि किसी जैनाचार्य ने साध्यसंदेहजनकत्व को या साध्यव्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने न मानने की बौद्ध-वैशेषिकग्रन्थगत चर्चा को नहीं किया है।

पृ० ५६ पं० २१ 'नि त्यान्ये'–तुलना–'पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्।' न्यायसार पृ० १। न्यायप्र० पृ० ३। प्रमेयक० पृ० १९२ B स्याद्वादर० पृ० ११९८।

अ० २ आ० १ सू० २२–२७ पृ० ५७ परार्थ अनुमान प्रसङ्ग में हेत्वाभास का निरूपण बहुत प्राचीन है। कणादसूत्र (३. १. १५) और न्यायसूत्र (१. २. ४-९) में वह स्पष्ट

मिष्टु गमस् सामान्यमिति। द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत् तथास्ति। यथा क्वचिदविद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्तयन्तरालेष्विति। अत्र अनुपलम्भप्रमेय स्वभावश्च परस्परविरुद्धाव साधनादेकत्र संशयं जनयत।"–न्यायबि० ३. ११२-१२१।

१ "असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणौ तु न संशय एव हेत्वाभासाविति न व्याख्यायेत। – – अपि च संशयजननमनैकान्तिकलक्षणमुच्यते चेत् कामम साधारणस्य विरुद्धाव्यभिचारिणो वा यथा तथा संशयहेतुतामविरोध्य कल्पतामनैकान्तिकता न तु स शयजनकत्व तल्लक्षणम् अपि तु पक्षत्रयवृत्तित्वमनैकान्तिकलक्षणम्... "–न्यायम० पृ० ५९८ ५९९।

एवं विस्तृत है । पर दृष्टान्ताभास का निरूपण उतना प्राचीन नहीं जान पड़ता । अगर दृष्टान्ताभास का विचार भी हेत्वाभास जितना ही पुरातन होता तो उसका सूचन कणाद या न्यायसूत्र में थोड़ा बहुत जरूर पाया जाता । जो कुछ हो इतना तो निश्चित है कि हेत्वाभास की कल्पना के ऊपर से ही पीछे से कभी दृष्टान्ताभास पक्षाभास आदि की कल्पना हुई और उसका निरूपण होने लगा । यह निरूपण पहिले वैदिक तार्किकों ने शुरू किया या बौद्ध तार्किकों ने, इस विषय में अभी कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता ।

दिङ्नाग के माने जानेवाले न्यायप्रवेश में पाँच साधर्म्य और पाँच वैधर्म्य ऐसे दस दृष्टान्ताभास हैं[1] । यद्यपि मुख्यतया पाँच पाँच ऐसे दो विभाग उसमें हैं तथापि असिद्ध नामक दृष्टान्ताभास के अवान्तर दो प्रकार भी उसमें किये गये हैं जिससे वस्तुतः न्यायप्रवेश के अनुसार छः साधर्म्य दृष्टान्ताभास और छः वैधर्म्य दृष्टान्ताभास फलित होते हैं । प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं छः छः साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है[2] । न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के निरूपण में उदाहरण और भाव एक से ही हैं अलबत्ता दोनों के नामकरण में अन्तर अवश्य है । प्रशस्तपाद दृष्टान्ताभास शब्द के बदले निदर्शनाभास शब्द का प्रयोग पसन्द करते हैं क्योंकि उनकी अभिमत न्यायवाक्य परिपाटी में उदाहरण का बोधक निदर्शन शब्द आता है । इस सामान्य नाम के सिवाय भी न्यायप्रवेश और प्रशस्तपादगत विशेष नामों में मात्र पर्याय भेद है । माठर (का० ५) भी निदर्शनाभास शब्द ही पसन्द करते हैं । जान पड़ता है वे प्रशस्तपाद के अनुगामी हैं । यद्यपि प्रशस्तपाद के अनुसार निदर्शनाभास की कुल संख्या बारह ही होती है और माठर दस संख्या का उल्लेख करते हैं । पर जान पड़ता है कि इस संख्याभेद का कारण—आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास की माठर ने विवक्षा नहीं की—यही है ।

जयन्त ने (न्यायम० पृ० ५८) न्यायसूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्ववर्ती बौद्ध वैशेषिक आदि ग्रन्थगत दृष्टान्ताभास का निरूपण देखकर न्यायसूत्र में इस निरूपण की कमी का अनुभव किया और उन्होंने न्यायप्रवेशवाले सभी दृष्टान्ताभासों को लेकर अपनाया एवं अपने मान्य ऋषि की निरूपण कमी का भारतीय टीकाकार शिष्यों के ढङ्ग से भक्त के तौर पर दूर किया । न्यायसार में (पृ० ११) उदाहरणाभास नाम से छः साधर्म्य के और छः

---

१ "दृष्टान्ताभासो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण तद्यथा साधनधर्मासिद्धः साध्यधर्मासिद्धः उभयधर्मासिद्धः अनन्वयः विपरीतान्वयश्चेति । वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासः पञ्चप्रकारः तद्यथा साध्याव्यावृत्तः साधनाव्यावृत्तः उभयाव्यावृत्तः अव्यतिरेकः विपरीतव्यतिरेकश्चेति ।" न्यायप्र० पृ० ५–६ ।

२ "अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति । तद्यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यदमूर्तं दृष्टं तन्नित्यम् यथा परमाणुर्यथा कर्म यथा स्थाली यथा तमः अम्बरवदिति यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः । यदनित्यं तन्मूर्तं दृष्टं यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाकाशं यथा तमः घटवद् यन्निष्क्रियं तदद्रव्यं चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति ।" प्रशस्त० पृ० २४७ ।

वैधर्म्य के इस तरह बारह आभास नहीं हैं जो प्रशस्तपाद में हैं। इसके सिवाय न्यायसार में अन्य के नाम से चार साधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध और चार वैधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध ऐसे आठ सन्दिग्ध उदाहरणाभास भी दिये हैं[१]। सन्दिग्ध उदाहरणाभासों की सृष्टि न्याय प्रवेश और प्रशस्तपाद के बाद की जान पड़ती है। धर्मकीर्ति ने साधर्म्य के नव और वैधर्म्य के नव ऐसे अठारह दृष्टान्ताभास सविस्तर वर्णन किये हैं। जान पड़ता है न्यायसार में अन्य के नाम से जो साधर्म्य और वैधर्म्य के चार चार सन्दिग्ध उदाहरणाभास दिये हैं उन आठ सन्दिग्ध भेदों की किसी पूर्ववर्ती परम्परा का संशोधन करके धर्मकीर्ति ने साधर्म्य और वैधर्म्य के तीन-तीन ही सन्दिग्ध दृष्टान्ताभास रक्खे। दृष्टान्ताभासों की संख्या, उदाहरण और उनके पीछे के साम्प्रदायिक भाव इन सब बातों में उत्तरोत्तर विकास होता गया जो धर्मकीर्ति के बाद भी चालू रहा।

जैन परम्परा में जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले दृष्टान्ताभास के निरूपक सिद्धसेन ही हैं उन्होंने बौद्ध परम्परा के दृष्टान्ताभास शब्द को ही चुना न कि वैदिक परम्परा के निदर्शनाभास और उदाहरणाभास शब्द को। सिद्धसेन ने अपने संक्षिप्त कथन में संख्या का निर्देश तो नहीं किया परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषय में धर्मकीर्ति के समान ही नव-नव दृष्टान्ताभासों को माननेवाले हैं[२]। माणिक्यनन्दी ने तो पूर्ववर्ती सभी के विस्तार को कम करके साधर्म्य और वैधर्म्य के चार चार ऐसे कुल आठ ही दृष्टान्ताभास दिखलाये हैं और (परी० ६. ४०-४५) कुछ उदाहरण भी बदलकर नये रचे हैं। वादी देवसूरि ने तो उदाहरण देने में माणिक्यनन्दी का अनुकरण किया, पर भेदों की संख्या, नाम आदि में अक्षरशः धर्मकीर्ति का ही अनुकरण किया है। इस स्थल में वादी देवसूरि ने एक बात नई जरूर की। वह यह कि धर्मकीर्ति ने उदाहरण देने में जो वैदिक ऋषि एवं जैन तीर्थंकरों का असुरत्व दिखाया था उसका बदला वादी देवसूरि ने सम्भवित उदाहरणों में तथागत बुद्ध का असुरत्व दिखाकर पूर्ण रूप से चुकाया। धर्मकीर्ति के द्वारा अपने पूज्य पुरुषों के ऊपर तर्कशास्त्र में की गई चोट को वादिदेव सह न सके, और उसका बदला तर्कशास्त्र में ही प्रतिबन्दी रूप से चुकाया[३]।

---

१ "अन्ये तु संदेहद्वारेणापरानष्टावुदाहरणाभासानुदाहरन्ति। सन्दिग्धसाध्यः सन्दिग्धसाधनः... सन्दिग्धोभयः सन्दिग्धाश्रयः ...सन्दिग्धसाध्याव्यावृत्तः सन्दिग्धसाधनाव्यावृत्तः सन्दिग्धोभयाव्यावृत्तः सन्दिग्धाश्रयः।"—न्यायसार पृ० १३-१४।

२ "साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः॥ वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात्॥"—न्याया० २४-२५।

३ 'यथा नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः। तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्, मरणधर्माऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत्, असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् इति। अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च, यथा यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इति। तथा विपरीतान्वयः, यद् अनित्यं तत् कृतकमिति। साधर्म्येण। वैधर्म्येणापि परमाणुवत् कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः।

प्रा० हेमचन्द्र नाम तो पसन्द करते हैं दृष्टान्ताभास, पर उसे उदाहरणाभास के स्थान में क्यों पसन्द किया इसका युक्तिसिद्ध खुलासा भी कर देते हैं[1]। दृष्टान्ताभास के निरूपण में प्रा० हेमचन्द्र की ध्यान देने योग्य महत्त्व की तीन विशेषताएँ हैं जो उनकी प्रतिभा

तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा, अविद्यमानसर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति। अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथर्षभवर्धमानादिरिति तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः। सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति अत्र वैधर्म्योदाहरणम् ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति, गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा। सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा अवीतरागाः कपिलादयः परिग्रहाग्रहयोगादिति अत्र वैधर्म्योदाहरणम् यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथर्षभादेरिति ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः। अव्यतिरेको यथा अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम् यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता यथोपलखण्ड इति यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः। अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति। विपरीतव्यतिरेको यथा, यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति।"–न्यायबि० ३. १२५–१३६।

"तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वात् दुःखवदिति साध्यधर्मविकल इति। तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकल इति। कलशवदिति उभयधर्मविकल इति। रागादिमानयं वक्तृत्वात् देवदत्तवदिति सन्दिग्धसाध्यधर्मेति। मरणधर्मोऽयं रागादिमत्त्वान्मैत्रवदिति सन्दिग्धसाधनधर्मेति। नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदिति सन्दिग्धोभयधर्मेति। रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदिति अनन्वयः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदित्यप्रदर्शितान्वय इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदनित्यं तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वय इति। वैधर्म्येणापि । तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात्, यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणम् यथा स्वप्नज्ञानमित्यसिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानात् भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तेरिति। निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत् प्रमाणम् यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेकः लैङ्गिकात्प्रमाणत्वस्यानिवृत्तेः। नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात्, यस्तु न नित्यानित्यः स न सन् तद्यथा स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः, स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेरिति। असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलः अक्षणिकैकान्तवादित्वात्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगत इति सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः सन्देहादिति। अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वात्, यः पुनरादेयवचनः स वीतरागः तद्यथा शौद्धोदनिरिति सन्दिग्धसाधनव्यतिरेकः शौद्धोदनौ रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयादिति। न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति सन्दिग्धोभयव्यतिरेक इति तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणास्पदेष्वपि परमकृपयानर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः सन्देहादिति। न वीतरागः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेक इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेक इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदकृतकं तन्नित्यं यथाकाशमिति विपरीतव्यतिरेक इति।"–प्रमाणन० ६. ६०–७९।

१ "परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात्तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते।"–प्र० मी० २. १. २२।

की सूचक है—१—इन्होंने सूत्ररचना, उदाहरण आदि में यद्यपि धर्मकीर्ति को आदर्श रखा है तथापि वादिदेव की तरह पूरा अनुकरण न करके धर्मकीर्ति के निरूपण में थोड़ा सा बुद्धिसिद्ध संशोधन भी किया है। धर्मकीर्ति ने अनन्वय और अव्यतिरेक ऐसे जो दो भेद दिखाये हैं उनको आ० हेमचन्द्र अलग न मानकर कहते हैं कि बाकी के आठ आठ भेद ही अनन्वय और अव्यतिरेक रूप होने से उन दोनों का पार्थक्य अनावश्यक है—प्र० मी० २. १. २७। आ० हेमचन्द्र की यह दृष्टि ठीक है। २—आ० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्त्ति के ही शब्दों में अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक ऐसे दो भेद अपने सोलह भेदों में दिखाये हैं (२. १. २७), पर इन दो भेदों के उदाहरणों में धर्मकीर्त्ति की अपेक्षा विचारपूर्वक संशोधन किया है। धर्मकीर्ति ने पूर्ववर्ती अनन्वय और अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास जो न्यायप्रवेश आदि में रहे[1] उनका निरूपण दो अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित व्यतिरेक ऐसे नये दो अन्वर्थ स्पष्ट नाम रखकर किया[2] और न्यायप्रवेश आदि के अनन्वय और अव्यतिरेक शब्द को रख भी लिया तथा उन नामों से नये उदाहरण दिखाये[3] जो उन नामों के साथ मेल खा सकें और जो न्यायप्रवेश आदि में नहीं भी थे। आ० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति की ही संशोधित दृष्टि का उपयोग करके पूर्ववर्ती दिङ्नाग, प्रशस्तपाद और धर्मकीर्त्ति तक के सामने कहा कि अप्रदर्शितान्वय या अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास तभी कहा जा सकता है जब उसमें प्रमाण अर्थात् दृष्टान्त ही न रहे, वीप्सा आदि पदों का अप्रयोग इन दोनों का नियामक ही नहीं केवल दृष्टान्त का अप्रदर्शन ही इन दोनों का नियामक है। पूर्ववर्ती सभी आचार्य इन दो दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों में कम से कम—अम्बरवत् घटवत्—जितना प्रयोग अनिवार्य रूप से मानते थे। आ० हेमचन्द्र के अनुसार ऐसे दृष्टान्तबोधक वत्' प्रत्ययान्त किसी शब्दप्रयोग की जरूरत ही नहीं—इसी अपने भाव को इन्होंने प्रमाणमीमांसा २. १. २७ सूत्र की वृत्ति में निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट किया है— "एतौ च प्रमाणस्य अनुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेषु, असति प्रमाणे तयोरसिद्धेरिति।"

३—आ० हेमचन्द्र की तीसरी विशेषता अनेक दृष्टियों से बड़े मार्के की है। उस साम्प्रदायिकता के समय में जब कि धर्मकीर्ति ने वैदिक और जैन सम्प्रदाय पर प्रबल चोट की और जब कि अपने ही पूज्य वादी देवसूरि तक ने 'शाठ्यं कुर्यात् शठं प्रति' इस नीति का आश्रय

१ "अनन्वयो यत्र विनान्वयेन साध्यसाधनयोः सहभावः प्रदर्श्यते। यथा घटे कृतकत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति। अव्यतिरेको यत्र विना साध्यसाधननिवृत्त्या तद्विपक्षभावो निदर्श्यते। यथा घटे मूर्तत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति।"—न्यायप्र० पृ० ६–७। "नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् .. अम्बरवदिति अननुगत घटवत्, अव्यावृत्त "—प्रशस्त० पृ० २४७।

२ "अप्रदर्शितान्वयः अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इति। अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति।"—न्यायबि० ३. १२३, १२५।

३ "अनन्वयो यथा यो वक्ता स रागादिमान् इष्टपुरुषवत्। अव्यतिरेको यथा अवीतरागो वक्तृत्वात् वैधर्म्योदाहरणम् यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता यथोपलखण्ड इति।"—न्यायबि० ३. १२७, १३४।

करके धर्मकीर्ति का बदला चुकाया तब आ० हेमचन्द्र ने इस स्थान में बुद्धिपूर्वक उदारता दिखाकर साम्प्रदायिक भाव के विष को कम करने की चेष्टा की। जान पड़ता है अपने व्याकरण की तरह अपने प्रमाणग्रन्थ को भी सर्वपार्षद—सर्वसाधारण बनाने की आ० हेमचन्द्र की उदार इच्छा का ही यह परिणाम है। धर्मकीर्ति के द्वारा ऋषभ वर्धमान आदि पर किये गये कटाक्ष और वादिदेव के द्वारा सुगत पर किये गये प्रतिकटाक्ष का तर्कशास्त्र में कितना धर्मप्रविष्ट है उससे कितना रुचिभङ्ग होता है, यह सब सोचकर आ० हेमचन्द्र ने ऐसे उदाहरण[2] रखे जिससे सबका मतलब सिद्ध हो पर किसी को आघात न हो।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व की है। धर्मकीर्ति[1] ने अपने उदाहरणों में कपिल आदि में असर्वज्ञत्व और अनाप्तत्व साधक जो अनुमान प्रयोग रखे हैं उनका स्वरूप तथा तदन्तर्गत हेतु का स्वरूप विचारते हुए जान पड़ता है कि सिद्धसेन के सन्मति जैसे और समन्तभद्र के आप्तमीमांसा जैसे कोई दूसरे ग्रन्थ धर्मकीर्ति के सामने अवश्य रहे हैं जिनमें जैन तार्किकों ने अन्य सांख्य आदि दर्शनसम्मत कपिल आदि की सर्वज्ञता का और आप्तता का निराकरण किया होगा।

पृ० ५९ पं० ७ 'ननु अनन्वय'-तुलना-न्यायवि० ३ १२७ १२८।

अ० २ आ० १ सू० १८-२६ पृ० ५९ परार्थानुमान का एक प्रकार कथा[3] भी है जो पक्ष प्रतिपक्षभाव के सिवाय कभी शुरू नहीं होती। इस कथा से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थों का निरूपण करनेवाला साहित्य विशाल परिमाण में इस देश में निर्मित हुआ है। यह साहित्य मुख्यतया दो परम्पराओं में विभाजित है—ब्राह्मण—वैदिक परम्परा और श्रमण—वैदिकेतर परम्परा। वैदिक परम्परा में न्याय तथा वैद्यक सम्प्रदाय का समावेश है। श्रमण परम्परा में बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय का समावेश है। वैदिक परम्परा के कथासम्बन्धी इस वक्त उपलब्ध साहित्य में अक्षपाद के न्यायसूत्र तथा चरक का एक प्रकरण—विमानस्थान मुख्य एवं प्राचीन हैं। न्यायभाष्य न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका न्यायमञ्जरी आदि उनके टीकाग्रन्थ तथा न्यायकलिका भी उतने ही महत्त्व के हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय के प्रस्तुत विषयक साहित्य में उपायहृदय तर्कशास्त्र प्रमाणसमुच्चय न्यायमुख न्यायबिन्दु, वादन्याय इत्यादि ग्रन्थ मुख्य एवं प्रतिष्ठित हैं।

---

१ "सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम्।" – हैमश० १ १ २।

२ प्र० मी० २ १ २५।

३ पुरातत्त्व पु० ३ अङ्क ३ में मेरा लिखा 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' नामक लेख देखो।

जैन सम्प्रदाय के प्रस्तुत साहित्य में न्यायावतार, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणनयतत्त्वालोक इत्यादि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। उक्त सब परम्पराओं के ऊपर निर्दिष्ट साहित्य के आधार से यहाँ कथासम्बन्धी कतिपय पदार्थों के बारे में कुछ मुद्दों पर लिखा जाता है जिनमें से सबसे पहले दूषण और दूषणाभास को लेकर विचार किया जाता है। दूषण और दूषणाभास के नीचे लिखे मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है—१ इतिहास, २. पर्याय—समानार्थक शब्द, ३ निरूपणप्रयोजन, ४ प्रयोग की अनुमति या विरोध, ५ भेद प्रभेद।

१—दूषण और दूषणाभास का शास्त्रीय निरूपण तथा कथा का इतिहास कितना पुराना है यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहार में तथा शास्त्र में कथा का स्वरूप निश्चित हो जाने के बाद बहुत ही जल्दी दूषण और दूषणाभास का स्वरूप तथा वर्गीकरण शास्त्रबद्ध हुआ होगा। दूषण और दूषणाभास के कमोबेश निरूपण का प्राथमिक यश ब्राह्मण परम्परा को है। बौद्ध परम्परा में उसका निरूपण ब्राह्मण परम्परा द्वारा ही दाखिल हुआ है। जैन परम्परा में उस निरूपण का प्रथम प्रवेश साक्षात् तो बौद्ध साहित्य के द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। परम्परया न्याय साहित्य का भी इस पर प्रभाव अवश्य है। फिर भी इस बारे में वैद्यक साहित्य का जैन निरूपण पर कुछ भी प्रभाव पड़ा नहीं है जैसा कि इस विषय के बौद्ध साहित्य पर कुछ पड़ा हुआ जान पड़ता है। प्रस्तुत विषयक साहित्य का निर्माण ब्राह्मण परम्परा में ई० स० पूर्व दो या चार शताब्दियों में कभी प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध परम्परा में वह ईसवी सन् के बाद ही शुरू हुआ और जैनपरम्परा में तो और भी पीछे से शुरू हुआ है। बौद्ध परम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी के बाद तीसरी शताब्दी से पुराना शायद ही हो और जैनपरम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी सन् के बाद पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना शायद ही हो।

२—उपालम्भ प्रतिषेध, दूषण खण्डन उत्तर इत्यादि पर्याय शब्द हैं। इनमें से उपालम्भ प्रतिषेध आदि शब्द न्यायसूत्र (१ १) में प्रयुक्त हैं, जब कि दूषण आदि शब्द उसके भाष्य में आते हैं। प्रस्तुतविषयक बौद्ध साहित्य में से तर्कशास्त्र जो प्रो० टुची द्वारा प्रतिसंस्कृत हुआ है उसमें खण्डन शब्द का बार-बार प्रयोग है जब कि दिङ्नाग, शङ्कर स्वामी धर्मकीर्ति आदि ने दूषण शब्द का ही प्रयोग किया है। देखो—न्यायमुख का १६, न्यायप्रवेश पृ ८, न्यायबिन्दु ३ ११८। जैन साहित्य में भिन्न भिन्न ग्रन्थों में उपालम्भ दूषण आदि सभी पर्याय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जाति, असदुत्तर असम्यक् खण्डन दूषणाभास आदि शब्द पर्यायभूत हैं जिनमें से जाति शब्द न्याय परम्परा के साहित्य में प्रधानतया प्रयुक्त देखा जाता है। बौद्ध साहित्य में असम्यक् खण्डन तथा जाति शब्द का प्रयोग कुछ प्राचीन ग्रन्थों में है, पर दिङ्नाग से लेकर सभी बौद्धतार्किकों के तर्कग्रन्थों में दूषणाभास शब्द के प्रयोग का प्राधान्य हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में मिथ्योत्तर, जाति और दूषणाभास आदि शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं।

३—उद्देश विभाग और लक्षण आदि द्वारा दोषों तथा दोषाभासों के निरूपण का प्रयोजन सभी परम्पराओं में एक ही माना गया है और वह यह कि उनका यथार्थ ज्ञान किया जाय जिससे वादी स्वयं अपने स्थापनावाक्य में उन दोषों से बच जाय और प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित दोषाभास का दोषाभासत्व दिखाकर अपने प्रयोग को निर्दोष साबित कर सके। इसी मुख्य प्रयोजन से प्रेरित होकर किसी ने अपने ग्रन्थ में संक्षेप से तो किसी ने विस्तार से, किसी ने अमुक एक प्रकार के वर्गीकरण से तो किसी ने दूसरे प्रकार के वर्गीकरण से, उनका निरूपण किया है।

४—उक्त प्रयोजन के बारे में सब का ऐकमत्य होने पर भी एक विशिष्ट प्रयोजन के विषय में मतभेद अवश्य है जो खास ज्ञातव्य है। वह विशिष्ट प्रयोजन है—जाति, छल आदि रूप से असत्य उत्तर का भी प्रयोग करना। न्याय (न्यायसू० ४.२.५०) हो या वैद्यक (चरक-विमानस्थान पृ० २६४) दोनों ब्राह्मण परम्पराएँ असत्य उत्तर के प्रयोग का भी समर्थन पहले से अभी तक करती आई हैं। बौद्ध परम्परा के भी प्राचीन उपायहृदय आदि कुछ ग्रन्थ जात्युत्तर के प्रयोग का समर्थन ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों की तरह ही साफ़-साफ़ करते हैं, जब कि उस परम्परा के पिछले ग्रन्थों में जात्युत्तरों का वर्णन होते हुए भी उनके प्रयोग का स्पष्ट व सबल निषेध है—वादन्याय पृ० ७०। जैन परम्परा के ग्रन्थों में तो प्रथम से ही लेकर मिथ्या उत्तरों के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया गया है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८९। उनके प्रयोग का समर्थन कभी नहीं किया गया। छल-जाति युक्त कथा कर्तव्य है या नहीं इस प्रश्न पर जब जब जैन तार्किकों ने जैनेतर तार्किकों के साथ चर्चा की तब तब उन्होंने अपना एक मात्र राय यही प्रकट की कि वैसी कथा कर्तव्य नहीं त्याज्य है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी भारतीय दर्शनों का अन्तिम व मुख्य उद्देश मोक्ष बतलाया गया है और मोक्ष की सिद्धि असत्य या मिथ्याज्ञान से शक्य ही नहीं जो जात्युत्तरों में अवश्य गर्भित है। तब केवल जैन-दर्शन के अनुसार ही क्यों बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के अनुसार भी जात्युत्तरों का प्रयोग असंगत है। ऐसा होते हुए भी ब्राह्मण और बौद्ध तार्किक उनके प्रयोग का समर्थन करते हैं और जैन तार्किक नहीं करते इस अन्तर का बीज क्या है, यह प्रश्न अवश्य पैदा होता है। इसका जवाब जैन और जैनेतर दर्शनों के अधिकारियों की प्रकृति में है। जैन दर्शन मुख्यतया त्यागिप्रधान होने से उसके अधिकारियों में मुमुक्षु ही मुख्य हैं, गृहस्थ नहीं। जब कि ब्राह्मण परम्परा चातुराश्रमिक होने से उसके अधिकारियों में गृहस्थों का, खासकर विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थों का वही दर्जा है जो त्यागियों का होता है। गार्हस्थ्य की प्रधानता होने के कारण ब्राह्मण विद्वानों ने व्यावहारिक जीवन में सत्य अहिंसा आदि नियमों पर उतना भार नहीं दिया जितना कि जैन त्यागियों ने उन पर दिया। गार्हस्थ्य के साथ अर्थलाभ जयतृष्णा आदि का त्यागजीवन की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। इन कारणों से ब्राह्मण परम्परा में मोक्ष का उद्देश होते हुए भी छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन होना सहज था। जब

१ देखो सिद्धसेनकृत वादद्वात्रिंशिका, वादाष्टक, न्यायवि० २. २१४।

कि जैन परम्परा के लिए वैसा करना सहज न था। क्या करना यह एक बार प्रकृति के अनुसार तय हो जाता है तब विद्वान् उसी कर्तव्य का सयुक्तिक समर्थन भी कर लेते हैं। कुशाग्रीयबुद्धि ब्राह्मण तार्किकों ने यही किया। उन्होंने कहा कि तत्त्वनिर्णय की रक्षा के वास्ते कभी कभी छल, जाति आदि का प्रयोग भी उपकारक होने से उपादेय है, जैसा कि अङ्कुररक्षा के वास्ते सकण्टक बाड़ का उपयोग। इस दृष्टि से उन्होंने छल, जाति आदि के प्रयोग की भी मोक्ष के साथ सङ्गति बतलाई। उन्होंने अपने समर्थन में एक बात स्पष्ट कह दी कि छल, जाति आदि का प्रयोग भी तत्त्वज्ञान की रक्षा के सिवाय लाभ, ख्याति आदि अन्य किसी भौतिक उद्देश से कर्तव्य नहीं है। इस तरह अवस्थाविशेष में छल जाति आदि के प्रयोग का समर्थन करके उसकी मोक्ष के साथ जो सङ्गति ब्राह्मण तार्किकों ने दिखाई वही बौद्ध तार्किकों ने अक्षरशः स्वीकार करके अपने पक्ष में भी लागू की। उपायहृदय के लेखक बौद्ध तार्किक ने—छल जाति आदि के प्रयोग की मोक्ष के साथ कैसी असङ्गति है यह आशङ्का करके उसका समाधान अक्षपाद के ही शब्दों में किया है कि आम्रफल की रक्षा आदि के वास्ते कण्टकित बाड़ की तरह सद्धर्म की रक्षा के लिए छलादि भी प्रयोगयोग्य हैं। वादसम्बन्धी पदार्थों के प्रथम चिन्तन व निरूपण और सङ्कलन का श्रेय ब्राह्मण परम्परा को है या बौद्ध परम्परा को, इस प्रश्न का सुनिश्चित जवाब छलादि के प्रयोग के उस समान समर्थन में से मिल जाता है। बौद्ध परम्परा मूल से ही जैन परम्परा की तरह त्यागिभिक्षुप्रधान रही है और उसने एकमात्र निर्वाण तथा उसके उपाय पर ही भार दिया है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार शुरू में कभी छल आदि के प्रयोग को सङ्गत मान नहीं सकती जैसा कि ब्राह्मण परम्परा मान सकती है। अतएव इसमें सन्देह नहीं रहता कि बुद्ध के शान्त और अक्लेश धर्म की परम्परा के स्थापन व प्रचार में पड़ जाने के बाद भिक्षुओं को जब ब्राह्मण विद्वानों से लोहा लेना पड़ा तभी उन्होंने उनकी वादपद्धति का विशेष अभ्यास प्रयोग व समर्थन शुरू किया। और वा जो ब्राह्मण कुलागत संस्कृत तथा न्याय विद्या सीखकर बौद्ध परम्परा में दीक्षित हुए वे भी अपनी साथ कुलधर्म की वे ही दलीलें ले आए जो न्याय परम्परा में थीं। उन्होंने नवस्वीकृत बौद्ध परम्परा में उन्हीं वादपदार्थों के अभ्यास और प्रयोग आदि का प्रचार किया जो न्याय या वैद्यक आदि ब्राह्मण परम्परा में प्रसिद्ध रहे। इस तरह प्रकृति में जैन और बौद्ध परम्पराएँ तुल्य होने पर भी ब्राह्मण विद्वानों के प्रथम सम्पर्क और संघर्ष की प्रधानता के कारण से ही बौद्ध परम्परा में ब्राह्मण परम्परानुसारी छल आदि का समर्थन प्रथम किया गया। अगर इस बारे में ब्राह्मण परम्परा पर बौद्ध परम्परा का ही प्रथम प्रभाव होता तो किसी न किसी अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ में तथा बौद्ध ग्रन्थ में बौद्ध प्रकृति के अनुसार

१ "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।"—न्यायसू० ४. २. ५०। "यथाम्रफलपरिपुष्टिकामेन तद्(फल)परिरक्षणार्थं बहिः,तीक्ष्णकण्टकनिकरविक्षेपः क्रियते, वादारम्भोऽपि तथैवाधुना सद्धर्मसंरक्षणेच्छया न तु ख्यातिलाभाय।"—उपायहृदय पृ० ४।

छलादि के वर्जन का ही ऐकान्तिक उपदेश होता। यद्यपि बौद्ध तार्किकों ने शुरू में छलादि के समर्थन को ब्राह्मण परम्परा में से अपनाया पर आगे जाकर उनको इस समर्थन की अपने धर्म की प्रकृति के साथ विशेष असंगति दिखाई दी, जिससे उन्होंने उनके प्रयोग का स्पष्ट व सयुक्तिक निषेध ही किया। परन्तु इस बारे में जैन परम्परा की स्थिति निराली रही। एक तो यह बौद्ध परम्परा की अपेक्षा त्याग और उदासीनता में विशेष प्रसिद्ध रही, दूसरे इसके निर्ग्रन्थ भिक्षुक शुरू में ब्राह्मण तार्किकों के सम्पर्क व संघर्ष में उतने न आये जितने बौद्ध भिक्षुक, तीसरे इस परम्परा में संस्कृत भाषा तथा तदाश्रित विद्याओं का प्रवेश बहुत धीरे से और पीछे से हुआ। जब यह हुआ तब भी जैन परम्परा की उत्कट त्याग की प्रकृति ने उसके विद्वानों को छल आदि के प्रयोग के समर्थन से बिलकुल ही रोका। यही कारण है कि, सब से प्राचीन और प्राथमिक जैन तर्क ग्रन्थों में छलादि के प्रयोग का स्पष्ट निषेध व परिहास[1] मात्र है। ऐसा होते हुए भी आगे जाकर जैन परम्परा को जब दूसरी परम्पराओं से बार बार वाद में भिड़ना पड़ा तब उसे अनुभव हुआ कि छल आदि के प्रयोग का ऐकान्तिक निषेध व्यवहार्य नहीं। इसी अनुभव के कारण कुछ जैन तार्किकों ने छल आदि के प्रयोग का आपवादिक रूप से अवस्थाविशेष में समर्थन भी किया[2]। इस तरह अन्त में बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएँ एक या दूसरे रूप से समान भूमिका पर आ गई। बौद्ध विद्वानों ने पहले छलादि के प्रयोग का समर्थन करके फिर उसका निषेध किया, जब कि जैन विद्वान् पहले आत्यन्तिक विरोध करके अन्त में अंशतः उससे सहमत हुए। यह ध्यान में रहे कि छलादि के आपवादिक प्रयोग का भी समर्थन श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है पर ऐसा समर्थन दिगम्बर तार्किकों के द्वारा किया हुआ देखने में नहीं आता। इस अन्तर के दो कारण मालूम होते हैं। एक तो दिगम्बर परम्परा में औत्सर्गिक त्याग अंश का ही मुख्य विधान है और दूसरा ग्यारहवीं शताब्दि के बाद भी जैसा श्वेताम्बर परम्परा में विविध प्रवृत्तिगामी साहित्य बना वैसा दिगम्बर परम्परा में नहीं हुआ। ब्राह्मण परम्परा को छलादि के प्रयोग का समर्थन तथा निषेध प्रथम से ही अधिकारीविशेषानुसार वैकल्पिक होने से उसको अपनी दृष्टि बदलने की जरूरत ही न हुई।

१—अनुमान प्रयोग के पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि अवयव हैं। उनमें आनेवाले वास्तविक दोषों का उद्भावन करना दूषण है और उन अवयवों के निर्दोष होने पर भी उनमें असत् दोषों का आरोपण करना दूषणाभास है। ब्राह्मण परम्परा के मौलिक ग्रन्थों में दोषों का, खासकर हेतु दोषों का ही वर्णन है। पक्ष दृष्टान्त आदि के दोषों का स्पष्ट वैसा वर्णन नहीं है जैसा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में दिङ्नाग से लेकर वर्णन है। दूषणाभास के छल जाति रूप दो भेद तथा उनके प्रभेदों का जितना विस्तृत व स्पष्ट वर्णन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में

---

१ देखो सिद्धसेनकृत वादद्वात्रिंशिका।

२ "अयमेव विधेयस्तत्त्वज्ञेन तपस्विना। देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥"—यशो० वादद्वा० श्लो० ८।

है उतना प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं है और पिछले बौद्ध ग्रन्थों में तो वह नामशेष मात्र हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में जो दूषण के भेद-प्रभेदों का वर्णन है वह मूलतः बौद्ध ग्रन्थानुसारी ही है और जो दूषणाभास का वर्णन है वह भी बौद्ध परम्परा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है[1]। इसमें जो ब्राह्मण परम्परानुसारी वर्णन खण्डनीयरूप से आया है वह खासकर न्यायसूत्र और उसकी टीका, उपटीका ग्रन्थों से आया है। यह अचरज की बात है कि ब्राह्मण परम्परा के वैद्यक ग्रन्थ में आनेवाले दूषणाभास का निर्देश जैन ग्रन्थों में खण्डनीय रूप से भी कहीं देखा नहीं जाता।

आ० हेमचन्द्र ने दो सूत्रों में क्रम से जो दूषण और दूषणाभास का लक्षण रचा है उसका अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा न्यायप्रवेश (पृ० ८) की शब्दरचना के साथ अधिक सादृश्य है। परन्तु उन्होंने सूत्र की व्याख्या में जो जात्युत्तर शब्द का अर्थप्रदर्शन किया है वह न्यायबिन्दु (३. १४०) की धर्मोत्तरीय व्याख्या से शब्दशः मिलता है। हेमचन्द्र ने दूषणाभासरूप से चौबीस जातियों का तथा तीन छलों का जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० १६-२१) का अवतरणमात्र है।

आ० हेमचन्द्र ने छल को भी जाति की तरह असदुत्तर होने के कारण जात्युत्तर ही माना है। जाति हो या छल सबका प्रतिसमाधान सच्चे उत्तर से ही करने को कहा है, परन्तु प्रत्येक जाति का अलग अलग उत्तर जैसा अक्षपाद ने स्वयं दिया है, वैसा उन्होंने नहीं दिया।

कुछ ग्रन्थों के आधार पर जातिविषयक एक कोष्ठक नीचे दिया जाता है—

न्यायसूत्र।	वादविधि प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, तर्कशास्त्र।	उपायहृदय।
साधर्म्यसम		,
वैधर्म्यसम		
उत्कर्षसम		,
अपकर्षसम		
वर्ण्यसम		
अवर्ण्यसम		
विकल्पसम		
साध्यसम		
प्राप्तिसम	,,	,,
अप्राप्तिसम	,,	,,
प्रसङ्गसम		
प्रतिदृष्टान्तसम		,,
अनुत्पत्तिसम		

१ मिलाओ—न्यायमुख, न्यायप्रवेश और न्यायावतार।

न्यायसूत्र ।	वादविधि प्रमाणसमुच्चय न्यायमुख तर्कशास्त्र ।	उपायहृदय ।
संशयसम	,,	,,
प्रकरणसम	,,	
अहेतुसम	,,	कालसम
अर्थापत्तिसम	,,	
अविशेषसम		
उपपत्तिसम		
उपलब्धिसम	,,	
अनुपलब्धिसम	,,	
नित्यसम		
अनित्यसम	,,	
कार्यसम	कार्यभेद	
	अनुक्ति	
	स्वार्थविरुद्ध	
		भेदाभेद प्रश्नबाहुल्योत्तराल्पता प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य हेतुसम, व्याप्ति, अव्याप्तिसम, विरुद्ध अविरुद्ध असंशय श्रुतिसम श्रुतिभिन्न ।

पृ० ५९ पं० १९ 'साधनस्य'—तुलना—"ये पूर्वं न्यूनतादयोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्तास्तेषामुद्भावकं वचनं तद् दूषणम्।"—न्यायबि० टी० ३. ११९ ।

पृ० ५९ पं० २२ 'जातिशब्दः'—तुलना—"जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणीति । उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वादुत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि ।"—न्यायबि० टी० ३. १४० ।

पृ० ५९ पं० २४ 'तानि च'—तुलना—"सम्यग्धेतौ हेत्वाभासे वा प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्रायं " इत्यादि—न्यायकलिका पृ० २०-२१ ।

पृ० ६२ पं० १६ 'तदेवमुद्भावन'—तुलना—"तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽपि असङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदाः प्रदर्शिताः । प्रतिसमाधानन्तु सर्वजातीनां " इत्यादि—न्यायकलिका पृ० २१ ।

पृ० ६२ पं० २१ 'तत्र परस्य'—तुलना—"तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम् " इत्यादि न्यायकलिका पृ० २१ ।

'छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाक्प्रसङ्गमात्रमेव । तद् द्विविधं वाक्छलं सामान्यच्छलञ्च । वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् ब्रूयात्—नवतन्त्रोऽयं भिषग् इति । भिषग् ब्रूयात्—

नाहं नवतन्त्रः, एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयात्–नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति अपि तु नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति। भिषग् ब्रूयात्–न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधा अभ्यस्तं मया तन्त्रमिति–एतद्वाक्छलम्। सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात्–सत् सत् प्रशमनायेति भवानाह। सन् हि रोग सदौषधम्। यदि च सत् सत् प्रशमनाय भवति सन् हि कासः सन् क्षयः। सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यति इति।"–चरकसं० पृ० २६६।

"नव इति चतुर्विधम्–नवः, नव न व, न व इति। यथा कश्चिदाह–यो मया परिहितः स नवकम्बलः। अत्र दूषणं वदेत्–यद्भवता परिहितं तदेकमेव वस्त्रं कथं नवेति। अत्र प्रतिवदेत्–मया नव इत्युक्तं तथा च नव कम्बलः न तु नवेति। अत्र दूषयेत्–कथं नवः?। नवक्षौमनिमित्तत्वान्नव इत्युक्ते प्रतिवादी वदेत् – वस्त्रतोऽपरिमितानि क्षौमानि कथं नव क्षौमानि इत्युच्यते।

अत्राह–नव इति मया पूर्वमुक्तं न तु नव संख्या। अत्र दूषणम्–यद्युक्तं युष्माकमेवेति ज्ञातं कस्मादेवं न कथ्यते। अत्रोत्तरम्–मया नव इत्युक्तं किन्तु न व इति नोक्तम्। अत्र दूषणम्–भवतः कायं कम्बलो वस्त्र इति प्रत्यक्षमेतत्। कथमुच्यते न व कम्बलः। अयं हृत्वा मास इत्युच्यते वाक्छलं च।

अपरश्च वाक्छलम्–यथा गिरिर्दह्यते इत्युक्ते दूषणम्–तत्त्वतस्तृणवत्त्वा दह्यन्ते कथं गिरिर्दह्यत इत्युक्तम्?। एतद्वाक्छलमित्युच्यते।

अपि च छलं द्विविधम्–पूर्ववत् सामान्यच्छलं च। यथा संस्कृता धर्मा शून्या शान्ता आकाशवदित्युक्ते दूषणम्–यदेव उभयोरपि शून्यत्वमभावश्च, तदा नित्यस्वभावा धर्मा आकाशतुल्या इति सामान्यच्छलम्।

का तावदुत्पत्तिरिति?। अत्रोच्यते सत उत्पत्तिरिति। यथा मृदो घटत्ववत्त्वाद् घटोत्पादकत्वम्। यदि मृदो घटत्वमस्ति तदा मृदेव घटः स्यात्। तदा तदुत्पत्तये कुत्र कुम्भकारसूत्रचक्रसंयोगः। यदि मृद सद्भावेन घटोत्पादकत्वम् तथोदकस्यापि सद्भावेन घटोत्पादकत्वं स्यात्। यद्युदकस्य सद्भावेन घटानुत्पादकत्वं कथं तर्हि मृदो घटोत्पादकत्वम् इति सामान्यच्छलम्।"–उपायहृदय पृ० १४ १५।

पृ० ६१ पं० १. 'तदत्र छलत्रये'–तुलना–"तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव प्रतिसमाधानं वेदितव्यमिति"–न्यायकलिका पृ० १६।

पृ० ६१ पं० ६ 'तत्त्वसंरक्षणार्थम्'–प्रश्नोत्तर रूप से और खण्डन-मण्डन रूप से चर्चा दो प्रकार की है। खण्डन-मण्डन रूप चर्चा अर्थ में सम्भाषा, कथा, वाद, आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। सम्भाषा शब्द चरक आदि वैद्यकीय ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, जब कि कथा शब्द न्याय परम्परा में प्रसिद्ध है। वैद्यक परम्परा में सम्भाषा के सन्धायसम्भाषा

और विगृह्यसम्भाषा ऐसे दो भेद किए हैं (चरक० वि० पृ० २६१)। जब कि न्याय परम्परा में कथा के वाद, जल्प, वितण्डा ये तीन भेद किए हैं—न्यायभा० पृ० १४१। वैद्यक परम्परा की सन्धायसम्भाषा ही न्याय परम्परा की वाद कथा है। क्योंकि वैद्यक परम्परा में सन्धायसम्भाषा के जो और जैसे अधिकारी बताए गए हैं (चरक० वि० पृ० २६१) वे और वैसे ही अधिकारी वाद कथा के न्याय परम्परा (न्यायसू० ४. २. ४८) में माने गए हैं। सन्धायसम्भाषा और वाद कथा का प्रयोजन भी दोनों परम्पराओं में एक ही—तत्त्वनिर्णय—है। वैद्यक परम्परा जिस चर्चा को विगृह्यसम्भाषा कहती है उसी को न्याय परम्परा जल्प और वितण्डा कथा कहती है। चरक ने विगृह्यसम्भाषा ऐसा सामान्य नाम रखकर फिर उसी के जल्प और वितण्डा ये दो भेद बताए हैं—पृ० २६५। न्याय परम्परा में इन दो भेदों के वास्ते 'विगृह्यसम्भाषा' शब्द प्रसिद्ध नहीं है, पर उसमें उक्त दोनों भेद विजिगीषुकथा शब्द से व्यवहृत होते हैं—न्यायभा० पृ० १४१। अतएव वैद्यक परम्परा का 'विगृह्यसम्भाषा' और न्याय परम्परा का 'विजिगीषुकथा' ये दो शब्द बिलकुल समानार्थक हैं। न्याय परम्परा में यद्यपि विगृह्यसम्भाषा इस शब्द का खास व्यवहार नहीं है, तथापि उसका प्रतिबिम्बप्राय 'विगृह्यकथन' शब्द मूल न्यायसूत्र (४. २. ५१) में ही प्रयुक्त है। इस शाब्दिक और आर्थिक संक्षिप्त तुलना से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि मूल में न्याय और वैद्यक दोनों परम्पराएँ एक ही विचार के दो भिन्न प्रवाह मात्र हैं। बौद्ध परम्परा में खास तौर से कथा अर्थ में वाद शब्द के प्रयोग की प्रधानता रही है। कथा के वाद, जल्प आदि अवान्तर भेदों के वास्ते उस परम्परा में प्रायः सद्धर्मवाद, विवाद आदि शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। जैन परम्परा में कथा अर्थ में क्वचित्[1] जल्प शब्द का प्रयोग है पर सामान्य रूप से सर्वत्र उस अर्थ में वाद शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। जैन परम्परा कथा के जल्प और वितण्डा दो प्रकारों को प्रयोगयोग्य नहीं मानती, अतएव उसके मत से वाद शब्द का वही अर्थ है जो वैद्यक परम्परा में सन्धायसम्भाषा शब्द का और न्याय परम्परा में वादकथा का है। बौद्ध तार्किकों ने भी आगे जाकर जल्प और वितण्डा कथा को त्याज्य बतलाकर केवल वाद कथा को ही कर्तव्य रूप कहा है। अतएव इस पिछली बौद्ध मान्यता और जैन परम्परा के बीच वाद शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रहता।

वैद्यकीय सन्धायसम्भाषा के अधिकारी को बतलाते हुए चरक ने महत्त्व का एक अनसूयक विशेषण दिया है जिसका अर्थ है कि वह अधिकारी असूयादोषमुक्त हो। अक्षपाद ने भी वादकथा के अधिकारियों के वर्णन में 'अनसूयि' विशेषण दिया है। इससे सिद्ध है कि चरक और अक्षपाद दोनों के मत से वादकथा के अधिकारियों में कोई अन्तर नहीं। इसी भाव को पिछले नैयायिकों ने वाद का लक्षण करते हुए एक ही शब्द में व्यक्त कर दिया है कि—तत्त्वबुभुत्सुकथा वाद है—केशव० तर्कभाषा पृ० १२६। चरक के कथनानुसार

१ "किं तत् जल्पविधौ ?" इत्यादि—समय वचनम्।—सिद्धिवि० टी० पृ० २५४ B।

विगृह्यसम्भाषा के अधिकारी जय-पराजयेच्छु और छलबलसम्पन्न सिद्ध होते हैं, न्यायपरम्परा के अनुसार जल्प वितण्डा के वैसे ही अधिकारी माने जाते हैं। इसी भाव को नैयायिक 'विजिगीषुकथा–जल्प-वितण्डा' इस लक्षणवाक्य से व्यक्त करते हैं। वाद के अधिकारी तत्त्वबुभुत्सु किस किस गुण से युक्त होने चाहिएँ और वे किस तरह अपना वाद चलावें इसका बहुत ही मनोहर व समान वर्णन चरक तथा न्यायभाष्य आदि में है।

न्याय परम्परा में जल्पवितण्डा कथा करनेवाले को विजिगीषु माना है जैसा कि चरक ने, पर वैसी कथा करते समय वह विजिगीषु प्रतिवादी और अपने बीच किन किन गुण-दोषों की तुलना करे, अपने से श्रेष्ठ, कनिष्ठ या बराबरीवाले प्रतिवादी से किस किस प्रकार की सभा और कैसे सभ्यों के बीच किस किस प्रकार का बर्ताव करे, प्रतिवादी से आटोप के साथ कैसे बोले कभी कैसा झिड़के इत्यादि बातों का जैसा विस्तृत व आँखोंदेखा वर्णन चरक (पृ० २६४) ने किया है वैसा न्याय परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। चरक के इस वर्णन से कुछ मिलता-जुलता वर्णन जैनाचार्य सिद्धसेन ने अपनी एक वादोपनिषद्द्वात्रिंशिका में किया है, जिसे चरक के वर्णन के साथ पढ़ना चाहिए। बौद्ध परम्परा जब तक न्याय परम्परा की तरह जल्पकथा को भी मानती रही तब तक उसके अनुसार भी वाद के अधिकारी तत्त्वबुभुत्सु और जल्पादि के अधिकारी विजिगीषु ही फलित होते हैं, जैसा कि न्यायपरम्परा में। उस प्राचीन समय का बौद्ध विजिगीषु नैयायिक विजिगीषु से भिन्न प्रकार का सम्भव नहीं, पर जब से बौद्ध परम्परा में छल आदि के प्रयोग का निषेध होने के कारण जल्पकथा नाम शेष हो गई और वादकथा ही अवशिष्ट रही तब से उसमें अधिकारिद्वैविध्य का प्रश्न ही नहीं रहा, जैसा कि जैन परम्परा में।

जैन परम्परा के अनुसार चतुरङ्गवाद के अधिकारी विजिगीषु हैं। पर न्याय-वैद्यक परम्परासम्मत विजिगीषु और जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु के अर्थ में बड़ा अन्तर है। क्योंकि न्याय-वैद्यक परम्परा के अनुसार विजिगीषु वही है जो न्याय से या अन्याय से, छल आदि का प्रयोग करके भी प्रतिवादी को परास्त करना चाहे, जब कि जैनपरम्परा विजिगीषु उसी को मानती है जो अपने पक्ष की सिद्धि करना चाहे, पर न्याय से अन्याय से छलादि का प्रयोग करके कभी नहीं। इस दृष्टि से जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु असूयावान् होकर भी न्यायमार्ग से ही अपना पक्ष सिद्ध करने का इच्छुक होने से करीब करीब न्याय-परम्परा सम्मत तत्त्वबुभुत्सु की कोटि का हो जाता है। जैन परम्परा में विजय का अर्थ–अपने पक्ष की न्याय्य सिद्धि–ही किया है, न्याय-वैद्यक परम्परा की तरह, किसी भी तरह से प्रतिवादी को मूक करना नहीं।

जैन परम्परा के प्रामाणिक तार्किकों[1] ने, जो विजिगीषु नहीं हैं ऐसे वीतराग व्यक्तियों का भी वाद माना है। पर वह वाद चतुरङ्ग नहीं है। क्योंकि उसके अधिकारी मत ही

[1] 'परार्थाधिगमस्तत्रानुद्भवद्रागगोचरः। जिगीषुगोचरश्चेति द्विधा शुद्धधियो विदुः ॥ सत्यवाग्भिः विधातव्यः प्रथमस्तत्त्ववेदिभिः। यथाकथंचिदित्येष चतुरङ्गो न सम्मतः ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७७।

पक्ष प्रतिपक्ष लेकर प्रवृत्त हों पर वे असूयायुक्त होने के कारण किसी सभापति या सभ्यों के शासन की अपेक्षा नहीं रखते। वे आपस में ही तत्त्वबोध का विनिमय या स्वीकार कर लेते हैं। जैन परम्परा के विजिगीषु में और उसके पूर्वोक्त तत्त्वनिर्णिनीषु में अन्तर इतना ही है कि विजिगीषु न्यायमार्ग से चलनेवाले होने पर भी ऐसे असूयायुक्त नहीं होते जिससे वे बिना किसी के शासन के किसी बात को स्वयं मान लें, जब कि तत्त्वनिर्णिनीषु न्यायमार्ग से चलनेवाले होने के अलावा तत्त्वनिर्णय के स्वीकार में अन्य के शासन से निरपेक्ष होते हैं। इस प्रकार चतुरङ्गवाद के वादी प्रतिवादी दोनों विजिगीषु होने की पूर्व प्रथा रही[1], इसमें वादिदेवसूरि ने (प्रमाणन० ८.१२-१४) थोड़ा विचारभेद प्रकट किया कि, एकमात्र विजिगीषु वादी या प्रतिवादी के होने पर भी चतुरङ्ग कथा का सम्भव है। उन्होंने यह विचारभेद सम्भवतः अकलङ्क या विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती तार्किकों के सामने रखा है। इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र का मानना अकलङ्क और विद्यानन्द के अनुसार ही जान पड़ता है।

न्याय, बौद्ध और जैन सभी परम्पराओं के अनुसार कथा का मुख्य प्रयोजन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त तत्त्वज्ञान की रक्षा ही है। साध्य में किसी का मतभेद न होने पर भी उसकी साधनप्रणाली में अन्तर अवश्य है, जो पहिले भी बताया जा चुका है। संक्षेप में वह अन्तर इतना ही है कि जैन और उत्तरवर्ती बौद्ध तार्किक छल, जाति आदि के प्रयोग को कभी उपादेय नहीं मानते।

वादी प्रतिवादी, सभ्य और सभापति इन चारों अङ्गों के वर्णन में तीनों[2] परम्पराओं में कोई मतभेद नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो चारों अङ्गों के स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन किया है वह पूर्ववर्ती ग्रन्थों का सार मात्र है।

जैन परम्परा ने जब छलादि के प्रयोग का निषेध ही किया तब उसके अनुसार जल्प या वितण्डा नामक कथा वाद से भिन्न कोई न रही। इस तत्त्व को जैन तार्किकों ने विस्तृत चर्चा के द्वारा सिद्ध किया। इस विषय का सबसे पुराना ग्रन्थ शायद कथात्रयभङ्ग है, जिसका निर्देश सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २८९ A) में है। उन्होंने ग्रन्थ में अपना मन्तव्य स्थिर किया कि—जल्प और वितण्डा नामक कोई वाद से भिन्न कथा ही नहीं, वह तो कथाभास मात्र है। इसी मन्तव्य के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपनी चर्चा में बतलाया कि वाद से भिन्न कोई जल्प नामक कथान्तर नहीं जो ग्राह्य हो।

पृ० ६१ पं० १९ 'स्वसमयपर'–'उभय–स्वसमय'–न्यायप्र० पृ० १४।

---

१ 'वादः सह जिगीषुणा।'—न्यायवि० २.२१४। 'समर्थवचनं वादः प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधनदूषणवचनं वादः।'—प्रमाणसं० परि० ६। 'सिद्धो जिगीषतो वादः चतुरङ्गस्तथा सति।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७७।

२ दे०—चरकसं० पृ० २६४। न्यायप्र० पृ० १४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०।

पृ० ६३ पं० २१ 'ननु तत्त्वसंरक्षणम्'–तुलना–"नहि वादस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थो भवति जल्पवितण्डयोरेव तथात्वात्। तदुक्तम्–तत्त्वाध्यवसाय ... "इत्यादि–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० १६४ B।

पृ० ६३ पं० २६ 'वादलक्षणे'–तुलना–"प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थं सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनम्। 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे। पञ्चावयवोपपन्न इति 'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्' 'हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' इति चैतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति"–न्यायभा० १. २. १।

पृ० ६४ पं० १४ 'दुःशिक्षित'–न्यायम० पृ० ११।

पृ० ६४ पं० १९ 'अथ प्रबलप्रतिवादि'–तुलना–"यदा जानन्नपि परपक्षक्रियमाणं स्वपक्षे दूष्यमाणं च क्वचिदवसरे परप्रयुक्ते साधने दूषणं सपदि न पश्यति स्वपक्षसाधनं च किंचित् न स्मरति तदा छलादिभिरप्युपक्रम्य परमभिभवति आत्मानं च रक्षति इति। ... तथापि एकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति युक्त एव तत्प्रयोगोऽपि स्फुटाटोपकरणम्। ... मुमुक्षोरपि क्वचित्प्रसङ्गे तदुपयोगात्। ..." इत्यादि–न्यायम० पृ० ५९९।

अ० २ आ० १ सू० ११-३५ पृ० ६४ वाद से सम्बन्ध रखनेवाले कुल कितने पदार्थों का निरूपण आचार्य हेमचन्द्र ने किया होगा अथवा करना चाहा होगा सो अज्ञात है तथापि उपलभ्य इस अधूरे प्रमाणमीमांसा ग्रन्थ से इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि उन्होंने 'पत्रवाक्य' का निरूपण आरम्भ किया जो अधूरा ही लभ्य है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनका अभिमत पत्रनिरूपण दिगम्बर तार्किक विद्यानन्द की पत्रपरीक्षा का ही अवलम्बी मुख्यतया होगा। उन्होंने पत्रस्वरूप के निरूपण में बौद्ध आदि प्रतिवादियों का मत खण्डन विद्यानन्द आदि की तरह अवश्य किया होगा, पर सिद्धान्त उनका सम्भवतः वही होगा जो विद्यानन्द आदि का है। इस विषय के साहित्य में से हमारे सामने इस समय लभ्य ग्रन्थ तो पत्रपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ २ ०B) ही हैं। वादी देवसूरिकृत स्याद्वादरत्नाकर का वादपरिच्छेद जिसमें 'पत्र' के स्वरूप का विस्तृत निरूपण होना सम्भवित है, अनुपलभ्य है। इस हालत में जैनपरम्परानुसारी पत्रनिरूपण के जिज्ञासुओं को इस समय केवल उक्त दिगम्बर तार्किकों के ही ग्रन्थों को देखना चाहिए।

आ० हेमचन्द्र का निग्रहस्थानविषयक निरूपण भाग्यवश अखण्डित मिलता है जो ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है और जो जैन तार्किकों की तद्विषयक निरूपण परम्परा में सम्भवतः अन्तिम ही है।

भारतीय तर्क साहित्य में निग्रहस्थान की प्राचीन विचारधारा ब्राह्मण परम्परा की ही है, जो न्याय तथा वैद्यक के ग्रन्थों में देखी जाती है। न्याय परम्परा में अक्षपाद ने जो संक्षेप में विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति रूप से द्विविध निग्रहस्थान को बतलाया और विस्तार से उसके बाईस भेद बतलाये वही परम्परा आज तक के सैकड़ों वर्षों में अनेक प्रकाण्ड नैयायिकों के

होने पर भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहा है। चरक का निग्रहस्थानवर्णन अक्षपाद के वर्णन जैसा नहीं है फिर भी उन दोनों के वर्णन की भित्ति एक ही है। बौद्ध परम्परा का निग्रहस्थानवर्णन दो प्रकार का है। एक ब्राह्मणपरम्परानुसारी और दूसरा स्वतन्त्र। पहिला वर्णन प्राचीन बौद्ध[1] तर्कग्रन्थों में है जो उपाय, संस्था, हृदयशास्त्र आदि प्रकरण ग्रन्थों में बहुधा अक्षपाद के और कभी कभी चरक (पृ० २६६) के वर्णन से मिलता[2] है। ब्राह्मण परम्परा का विरोधी स्वतन्त्र निग्रहस्थाननिरूपण बौद्ध परम्परा में सबसे पहिले किसने शुरू किया यह अभी निश्चित नहीं। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि इस समय ऐसे स्वतन्त्र निरूपणवाला पूर्ण और अति महत्त्व का जो 'वादन्याय' ग्रन्थ हमारे सामने मौजूद है वह धर्मकीर्ति का होने से इस स्वतन्त्र निरूपण का श्रेय धर्मकीर्ति को अवश्य है। सम्भव है इसका कुछ बीजारोपण तार्किकप्रवर दिङ्नाग ने भी किया हो। जैन परम्परा में निग्रहस्थान के निरूपण का प्रारम्भ करनेवाले शायद पात्रकेसरी स्वामी हों। पर उनका कोई ग्रन्थ अभी लभ्य नहीं। अतएव मौजूदा साहित्य के आधार से तो भट्टारक अकलङ्क को ही इसका प्रारम्भक कहना होगा। पिछले सभी जैन तार्किकों ने अपने अपने निग्रहस्थाननिरूपण में भट्टारक अकलङ्क के ही वचन[3] को उद्धृत किया है, जो हमारी उक्त सम्भावना का समर्थक है।

पहिले तो बौद्ध परम्परा ने न्याय परम्परा के ही निग्रहस्थानों को अपनाया इसलिए उसके सामने कोई ऐसी निग्रहस्थानविषयक दूसरी विरोधी परम्परा न थी जिसका बौद्ध तार्किक खण्डन करते पर एक या दूसरे कारण से जब बौद्ध तार्किकों ने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र निरूपण शुरू किया तब उनके सामने न्याय परम्परा वाले निग्रहस्थानों के खण्डन का प्रश्न स्वयं ही आ खड़ा हुआ। उन्होंने इस प्रश्न को बड़े विस्तार व बड़ी सूक्ष्मता से सुलझाया। धर्मकीर्ति ने वादन्याय नामक एक सारा ग्रन्थ इस विषय पर लिख डाला जिस पर शान्तरक्षित ने स्फुट व्याख्या भी लिखी। वादन्याय में धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान का लक्षण एक कारिका में स्वतन्त्र भाव से बाँधकर उस पर विस्तृत चर्चा की और अक्षपादसम्मत एवं वात्स्यायन तथा उद्योतकर के द्वारा व्याख्यात निग्रहस्थानों के लक्षणों का एक एक शब्द लेकर विस्तार से खण्डन किया। इस धर्मकीर्ति की कृति से निग्रहस्थान की निरूपणपरम्परा स्पष्टतया विरोधी दो प्रवाहों में बँट गई। करीब करीब धर्मकीर्ति के समय में या कुछ ही आगे पीछे जैन तार्किकों के सामने भी निग्रहस्थान के निरूपण का प्रश्न आया। किसी भी

---

१ तर्कशास्त्र पृ० ३३। उपायहृदय पृ० १८।

२ Pre Dinnag Buddhist Logic P. XXII

३ "आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः। न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम्॥"–न्यायवि० २. २१३। "तत्र इह तावत्परिसमाप्तिः ? निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षस्यैव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नाऽसाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥ तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० २८१)–स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा। वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा॥"– अष्टस० पृ० ८७।–प्रमेयक० पृ० २०३ A

जैन तार्किक ने ब्राह्मण परम्परा के निग्रहस्थानों को अपनाया हो या स्वतन्त्र बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थाननिरूपण को अपनाया हो ऐसा मालूम नहीं होता। अतएव जैन परम्परा के सामने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र भाव से निरूपण करने का ही प्रश्न रहा जिसको भट्टारक अकलङ्क ने सुलझाया[1]। उन्होंने निग्रहस्थान का लक्षण स्वतन्त्र भाव से ही रचा और उसकी व्यवस्था बाँधी जिसका अक्षरशः अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है। अकलङ्ककृत स्वतन्त्र लक्षण का मात्र स्वीकार कर लेने से जैन तार्किकों का कर्तव्य पूरा हो नहीं सकता था जब तक कि वे अपनी पूर्ववर्ती और अपने सामने उपस्थित ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परम्पराओं के निग्रहस्थान के विचार का खण्डन न करें। इसी दृष्टि से अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि ने विरोधी परम्पराओं के खण्डन का कार्य विशेष रूप से शुरू किया। हम उनके ग्रन्थों में[2] पाते हैं कि पहिले तो उन्होंने न्याय परम्परा के निग्रहस्थानों का खण्डन किया और पीछे बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का। जहाँ तक देखने में आया है उससे मालूम होता है कि धर्मकीर्ति के लक्षण का संक्षेप में स्वतन्त्र खण्डन करनेवाले सर्वप्रथम अकलङ्क हैं और विस्तृत खण्डन करनेवाले विद्यानन्द और तदुपजीवी प्रभाचन्द्र हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने निग्रहस्थाननिरूपण के प्रसङ्ग में मुख्यतया तीन बातें पाँच सूत्रों में निबद्ध की हैं। पहिले दो सूत्र २. १. ३१, ३२ में जय और पराजय की क्रमशः व्याख्या है और तीसरे २. १. ३३ में निग्रह की व्यवस्था है जो अकलङ्करचित है और जो अन्य सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किक सम्मत भी है। चौथे २. १. ३४ सूत्र में न्यायपरम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जिसकी व्याख्या प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड का अधिकांश प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके बाद अन्तिम २. १. ३५ सूत्र में हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के स्वतन्त्र निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जो अक्षरशः प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २०१ A) की ही नकल है।

इस तरह निग्रहस्थान की तीन परम्पराओं में से न्याय व बौद्धसम्मत दो परम्पराओं का खण्डन करके आचार्य हेमचन्द्र ने तीसरी जैन परम्परा का स्थापन किया है।

अन्त में जय-पराजय की व्यवस्था सम्बन्धी तीनों परम्पराओं के मन्तव्य का रहस्य संक्षेप में लिख देना जरूरी है। वो इस प्रकार है—ब्राह्मण परम्परा में छल, जाति आदि का प्रयोग किसी हद तक सम्मत होने के कारण छल आदि के द्वारा किसी को पराजित करने मात्र से भी छल आदि का प्रयोक्ता अपने पक्ष की सिद्धि बिना किए ही जयप्राप्त माना जाता है। अर्थात् ब्राह्मण परम्परा के अनुसार यह नियम नहीं कि जयलाभ के वास्ते पक्षसिद्धि करना अनिवार्य ही हो।

---

१ दिगम्बर परम्परा में कुमारनन्दी आचार्य का भी एक वादन्याय ग्रन्थ रहा। 'कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्'—पत्रपरीक्षा पृ० ३।

२ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८३। प्रमेयक० पृ० २०० B।

धर्मकीर्ति ने उक्त ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठाराघात करके सत्यमूलक नियम बाँध दिया कि कोई छल आदि के प्रयोग से किसी को चुप करा देने मात्र से जीत नहीं सकता। क्योंकि छल आदि का प्रयोग सत्यमूलक न होने से अधर्म है[1]। अतएव धर्मकीर्ति के कथनानुसार[2] यह नियम नहीं कि किसी एक का पराजय ही दूसरे का अवश्यम्भावी जय हो। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाय पर वादी का जय न माना जाय–उदाहरणार्थ वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया हो इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का उद्भावन किया–ऐसी दशा में प्रतिवादी का पराजय अवश्य माना जायगा। क्योंकि उसने प्रथम कर्तव्य रूप से यथार्थ दोषों का उद्भावन न करके मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। जब कि जय के वास्ते वादी का कर्तव्य है कि साधन के यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्ति ने जय पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था की इसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई कि अनेक प्रसङ्गों में यह सरलता से निर्णय करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन है या नहीं। इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से भट्टारक अकलङ्क ने धर्मकीर्तिकृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। अकलङ्क के संशोधन में धर्मकीर्ति सम्मत सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, पर जान पड़ता है अकलङ्क की दृष्टि में इसके अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव अकलङ्क ने कह दिया कि[3] किसी एक पक्ष की सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। अकलङ्क का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं

---

१ तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्तव्यमेव छलादि। विजिगीषुभिरिति चेत् नखचपेटाशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।"–वादन्याय पृ० ७१।

२ "तद्दोषदर्शनेऽपि प्रतिवादिनोऽज्ञानात् प्रतिपक्षसाधनासामर्थ्याद्वा। न हि दुष्टसाधनाभिधानेऽपि वादिनः प्रतिवादिनोऽप्रतिपादिते दोषे पराजयव्यवस्थापना युक्ता। उभयोरेव परस्परसामर्थ्योपघातापेक्षया जयपराजयव्यवस्थास्थानात्। केवलं हेत्वाभासाद्भूतप्रतिपक्षाभावप्रतिपादकस्य जयोऽपि नास्त्येव।"–वादन्याय पृ० ७०।

३ "निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्–स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्गवचनं नाऽदोषोद्भावनं द्वयोः॥"–अष्टश० अष्टस० पृ० ८७। "तथैव वादिनके वादेऽकलङ्के कथितो जयः। स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१।

सकती। अतएव अकलङ्क के मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की जय। अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय समव्याप्तिक हैं। कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजयशून्य नहीं। धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था में अकलङ्क को सूक्ष्म अहिंसा प्रकृति से एक त्रुटि यह भी जान पड़ती है। वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कर्तव्य पालन न करने मात्र से अगर प्रतिवादी को पराजित समझा जाय तो दुष्टसाधन के प्रयोग में सम्यक् साधन के प्रयोग रूप कर्तव्य का पालन न होने से वादी भी पराजित क्यों न समझा जाय ?। अगर धर्मकीर्ति वादी को पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादी को भी पराजित नहीं मानना चाहिए। इस तरह अकलङ्क ने पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादी को पराजित मान लेने की व्यवस्था को एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्ण समभाव मूलक सीधा मार्ग बाँध दिया कि अपने पक्ष की सिद्धि करना ही जय है। और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है। अकलङ्कोपज्ञ यह जय पराजय व्यवस्था का मार्ग अन्तिम है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्य ने या ब्राह्मण विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई। जैन परम्परा में जय पराजय व्यवस्था का यह एक ही मार्ग प्रचलित है जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १६४) वादिराज (न्यायवि० टी० पृ० ५२०B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्वकालीन और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषय में अक्षरशः अकलङ्क के ही अनुगामी हैं।

सूत्र ४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायदर्शनानुसारी निग्रहस्थानों का पूर्वपक्षरूप से जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० २१-२०) के अनुसार है और उन्हीं निग्रहस्थानों का जो खण्डन किया है वह अक्षरशः प्रमेयकमलमार्तण्डानुसारी (पृ० २ B २१ A) है। इसी तरह धर्मकीर्तिसम्मत (वादन्याय) निग्रहस्थानों का वर्णन और उसका खण्डन भी अक्षरशः प्रमेयकमलमार्तण्ड के अनुसार है। यद्यपि न्याय सम्मत निग्रहस्थानों का निर्देश तथा खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० २८१ म) में भी है तथा धर्मकीर्तिसम्मत निग्रहस्थानों का वर्णन तथा खंडन वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (७ १४ में, जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० ६४६) और विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ० ८) में किया है पर हेमचन्द्रीय वर्णन और खण्डन प्रमेयकमलमार्तण्ड से ही शब्दशः मिलता है।

पृ० ६५ पं० २ 'विरुद्धम्'–' तदुक्तम्—विरुद्धं हेत्मुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः। आभासा न्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८ । न्यायवि० टी० लि० पृ० ५१८ A। "अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्—विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य"—स्याद्वादर० ८. २२।

धर्मकीर्ति ने उक्त ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठाराघात करके सत्यमूलक नियम बाँध दिया कि कोई छल आदि के प्रयोग से किसी को चुप करा देने मात्र से जीत नहीं सकता। क्योंकि छल आदि का प्रयोग सत्यमूलक न होने से वर्ज्य है[1]। अतएव धर्मकीर्ति के कथनानुसार[2] यह नियम नहीं कि किसी एक का पराजय ही दूसरे का अवश्यम्भावी जय हो। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाय पर वादी का जय न माना जाय–उदाहरणार्थ वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया हो, इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया, तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का उद्भावन किया–ऐसी दशा में प्रतिवादी का पराजय अवश्य माना जायगा। क्योंकि उसने अपने कर्तव्य रूप से यथार्थ दोषों का उद्भावन न करके मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। जय के वास्ते वादी का कर्तव्य है कि साधन के यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्ति ने जय पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन द्वारा जय पराजय की व्यवस्था की इसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई कि अनेक प्रसङ्गों में यह सरलता से निर्णय करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन है या नहीं। इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से भट्टारक अकलङ्क ने धर्मकीर्तिकृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। अकलङ्क के संशोधन में धर्मकीर्तिसम्मत सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, पर भास पड़ता है अकलङ्क की दृष्टि में इसके अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव अकलङ्क ने कह दिया कि[3] किसी एक पक्ष की सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। अकलङ्क का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं

---

१ "तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्तव्यमेव छलादि। विजिगीषुभिरिति चेत्, नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।"–वादन्याय पृ० ७१।

२ "असाधनाङ्गवचनादि प्रतिवादिनोऽज्ञानात् प्रतिपक्षसाधनासामर्थ्याद्वा। न हि दुष्टसाधनाभिधानेऽपि वादिनः प्रतिवादिनाऽप्रतिपादिते दोषे पराजयव्यवस्थापना युक्ता। तयोरेव परस्परसामर्थ्योपघातापेक्षया जयपराजयव्यवस्थापनात्। केवलं हेत्वाभासाद्भूतप्रतिपत्तेरभावादप्रतिपादकस्य जयोऽपि नास्ति।"–वादन्याय पृ० ७०।

३ "निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्–स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥"–अष्टश० अष्टस० पृ० ८७। "कस्यचित्तत एव स्यात् जयो वादिनो वा। स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१।

सकती। अतएव अकलङ्क के मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की जय। अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय समव्याप्तिक हैं। कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजयशून्य नहीं। धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था में अकलङ्क की सूक्ष्म अहिंसा प्रकृति ने एक त्रुटि देख ली जान पड़ती है। वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कर्तव्य पालन न करने मात्र से अगर प्रतिवादी को पराजित समझा जाय तो दुष्टसाधन के प्रयोग में सम्यक् साधन के प्रयोग रूप कर्तव्य का पालन न होने से वादी भी पराजित क्यों न समझा जाय? । अगर धर्मकीर्ति वादी को पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादी को भी पराजित नहीं मानना चाहिए। इस तरह अकलङ्क ने पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादी को पराजित मान लेने की व्यवस्था को एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्ण समभाव मूलक सीधा मार्ग बाँध दिया कि अपने पक्ष की सिद्धि करना ही जय है। और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है। अकलङ्कोपज्ञ यह जय पराजय व्यवस्था का मार्ग अन्तिम है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्य ने या ब्राह्मण विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई। जैन परम्परा में जय पराजय व्यवस्था का यह एक ही मार्ग प्रचलित है जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १६४), वादिराज (न्यायवि० टी० पृ० ५२०B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्वकालीन और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषय में अक्षरशः अकलङ्क के ही अनुगामी हैं।

सूत्र ४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायदर्शनानुसारी निग्रहस्थानों का पूर्वपक्षरूप से जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० २१-२७) के अनुसार है और उन्हीं निग्रहस्थानों का जो खण्डन किया है वह अक्षरशः प्रमेयकमलमार्तण्डानुसारी (पृ० १ B २१३) है। इसी तरह धर्मकीर्तिसम्मत (वादन्याय) निग्रहस्थानों का वर्णन और उनका खण्डन भी अक्षरशः प्रमेयकमलमार्तण्ड के अनुसार है। यद्यपि न्याय सम्मत निग्रहस्थानों का निर्देश तथा खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २८१ से) में भी है तथा धर्मकीर्तिसम्मत निग्रहस्थानों का वर्णन तथा खंडन वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (७० १से) में, जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० ६४६) और विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ० ८) में किया है पर हेमचन्द्रीय वर्णन और खण्डन प्रमेयकमलमार्तण्ड से ही शब्दशः मिलता है।

पृ० ६५ पं० २ 'विरुद्धम्'– तदुक्तम्—"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः। आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८। न्यायवि० टी० लि० पृ० ११८ A। "अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्—विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य"—रत्नाकरा० ८. २१।

पृ० ६५. पं० २५. 'यत्राननुभाषणे'—तुलना–"यत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्त्या संगृहीतानि शेषाणि विप्रतिपत्त्या"–न्यायम पृ ६१९। न्यायकलिका पृ २२।

इस विषय में न्यायभाष्यकार का मतभेद इस प्रकार है–"तत्राननुभाषणमज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम्। शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।"–न्यायभा १ २ २।

पृ० ६६ पं० ६ 'तदसदसंगतम्'—तुलना–"इति भाष्यकारमतमसंगतमेव, साक्षात् दृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः " इत्यादि–प्रमेयक पृ २ B।

पृ० ६६ पं० १४ 'तद्वदपि व्याख्यानम्'—तुलना–"तद्वदुद्योतकरस्य व्याख्यानं निराकरोति, इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात् " इत्यादि–प्रमेयक पृ १ B।

पृ० ६८ पं० ११ 'दश दाडिमानि'—तुलना–पात० महा० २ १ ४५।

पृ० ६८ पं० २७ 'षड् कदल्याम्'—तुलना–नयचक्र पृ १६ B।

पृ० ७२ पं० १६ 'यथास्य व्याख्यानम्'–तुलना–"इष्टस्यार्थस्य सिद्धिः साधनम्, तस्य निर्वर्तकमङ्गम् तस्यावचनम्—तस्याङ्गस्यानुच्चारणं वादिनो निग्रहाधिकरणम् तस्याप्रतिभया तूष्णींभावात्। साधनाङ्गस्यासमर्थनाद्वा। त्रिविधमेव हि लिङ्गमप्रत्यक्षस्य सिद्धेरङ्गम्–स्वभावः कार्यमनुपलम्भश्च। तस्य समर्थनम्–साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनम्—यथा । अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम्।"–वादन्याय पृ १२।

पृ ७३ पं १४ 'यथोक्तसाधनाङ्गम्'–तुलना–"अन्वयव्यतिरेकवचनयोर्वा साधर्म्यवति वैधर्म्यवति च साधनप्रयोग एकस्यैवाभिधानेन सिद्धेर्भावात् द्वितीयस्यासामर्थ्यमिति तस्यापि साधनाङ्गस्याभिधाने निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव।"–वादन्याय पृ ६५।

पृ ७३ पं० २६ 'ननु न स्वपक्ष'–तुलना–'स्यान्मतम्–न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् इत्यादि–अष्टश पृ ८१। प्रमेयक पृ २४ A।

पृ० ७४ पं० १८ 'यत्त्वदमत्रोपोद्भावनम्' तुलना– अदोषोद्भावनम् प्रतिवादिना निग्रहस्थानम्। वादिना साधने प्रयुक्तेऽभ्युपगतोत्तरपक्षो यत्र विषये प्रतिवादी यदा न दोषमुद्भावयति तदा पराजितो वक्तव्यः। अथवा यो न दोषः साधनस्य तस्योद्भावनेऽपि वादिना तत्साधयितुमिष्टस्यार्थस्य सिद्धिविघाताभावात्। तस्योद्भावने प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणं मिथ्योत्तराभिधानात् " इत्यादि—वादन्याय पृ ६९-७२।

पृ ७४ पं २७ 'अयं च प्रागुक्तः'–तुलना–"अथवा प्रागुक्तचतुरङ्गवाद एवायं जल्पनमभ्यपेक्षते। भवतस्तल्लक्षणम ' प्रमेयक पृ २० B

पृ० ७४ पं २८ 'शक्यमित्याह'–प्रमाणमीमांसा अधूरी होने के कारण 'पत्रपरीक्षा' प्रारम्भ से ही खण्डित है। अभ्यासी इसे पूर्णतया विद्यानन्द की 'पत्रपरीक्षा' जो एक स्वतन्त्र प्रकरण है उससे तथा प्रमेयकमलमार्तण्डगत (पृ २० B) 'पत्रपरीक्षा' से जान लेवें।

वृद्धिपत्रक।

पृ० १ पं० १ 'दर्शन'—दर्शन शब्द के तीन अर्थ सभी परम्पराओं में प्रसिद्ध हैं जैसे—घटदर्शन इत्यादि व्यवहार में चाक्षुष ज्ञान अर्थ में, आत्मदर्शन इत्यादि व्यवहार में साक्षात्कार अर्थ में और न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन इत्यादि व्यवहार में खास खास परम्परासम्मत निश्चित विचारसरणी अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग सर्वसम्मत है पर उसके दो अर्थ जो जैनपरम्परा में प्रसिद्ध हैं वे अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध नहीं। उनमें से एक अर्थ तो है श्रद्धान और दूसरा अर्थ है सामान्यबोध या आलोचन मात्र[1]। जैनशास्त्रों में तत्त्वश्रद्धा को दर्शन पद से व्यवहृत किया जाता है जैसे—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'—तत्त्वार्थ १. २। इसी तरह वस्तु के निर्विशेषसत्तामात्र के बोध को भी दर्शन कहा जाता है जैसे—'विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात्'—प्रमाणन० २. ७। दर्शन शब्द के उक्त पाँच अर्थों में से अन्तिम सामान्यबोधरूप अर्थ लेकर ही यहाँ विचार प्रस्तुत है। इसके सम्बन्ध में यहाँ छः मुद्दों पर कुछ विचार किया जाता है।

१ अस्तित्व—जिस बोध में वस्तु का निर्विशेषणस्वरूपमात्र भासित हो ऐसे बोध का अस्तित्व एक या दूसरे नाम से तीन परम्पराओं के सिवाय सभी परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। जैनपरम्परा जिसे दर्शन कहती है उसी सामान्यमात्र बोध को न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग तथा पूर्वोत्तरमीमांसक निर्विकल्पक और आलोचनमात्र कहते हैं। बौद्धपरम्परा में भी उसका निर्विकल्पक नाम प्रसिद्ध है। उक्त सभी दर्शन ऐसा मानते हैं कि ज्ञानव्यापार के उत्पत्ति क्रम में सर्वप्रथम ऐसे बोध का स्थान अनिवार्यरूप से आता है जो बाह्य विषय के सन्मात्र स्वरूप का ग्रहण करे पर जिसमें कोई अंश विशेष्यविशेषणरूप से भासित न हो। फिर भी[2] मध्व और वल्लभ की दो वेदान्त परम्पराएँ और तीसरी भर्तृहरि और उसके पूर्ववर्ती शाब्दिकों की परम्परा ज्ञानव्यापार के उत्पत्तिक्रम में किसी भी प्रकार के सामान्यमात्र बोध का अस्तित्व स्वीकार नहीं करती। उक्त तीन परम्पराओं का मन्तव्य है कि ऐसा बोध कोई हो ही नहीं सकता जिसमें कोई न कोई विशेष भासित न हो या जिसमें किसी भी प्रकार का विशेष्य

---

१ दर्शन शब्द का आलोचन अर्थ जिसका दूसरा नाम अनाकार उपयोग भी है यहाँ कहा गया है सो श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों परम्परा की अति प्रसिद्ध मान्यता को लेकर। वस्तुतः दोनों परम्पराओं में अनाकार उपयोग के सिवाय अन्य अर्थ भी दर्शन शब्द के देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—लिङ्ग के बिना ही साक्षात् होनेवाला बोध अनाकार या दर्शन है और लिङ्ग सापेक्ष बोध साकार या ज्ञान है—यह एक मत। दूसरा मत ऐसा भी है कि वर्तमानमात्रग्राही बोध—दर्शन और त्रैकालिक ग्राही बोध—ज्ञान—तत्त्वार्थ भा० टी० २.९। दिगम्बरीय धवला टीका का ऐसा भी मत है कि जो आत्ममात्र का अवलोकन वह दर्शन और जो बाह्य अर्थ का प्रकाश वह ज्ञान। यह मत बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका (गा० ४४) तथा लघीयस्त्रयी की अभयचन्द्रकृत टीका (१. ५) में निर्दिष्ट है।

२ Indian Psychology: Perception P 52-54

विशेषणसम्बन्ध भासित न हो। उनका कहना है कि प्राथमिकदशापन्न ज्ञान भी किसी न किसी विशेष को, चाहे वह विशेष स्थूल ही क्यों न हो, प्रकाशित करता ही है अतएव ज्ञानमात्र सविकल्पक हैं। निर्विकल्पक का मतलब इतना ही समझना चाहिए कि उसमें इतर ज्ञानों की अपेक्षा विशेष कम भासित होते हैं। ज्ञानमात्र को सविकल्पक माननेवाली इन तीन परम्पराओं में भी शाब्दिक परम्परा ही प्राचीन है। सम्भव है भर्तृहरि की वह परम्परा को ही मध्व और वल्लभ ने अपनाया हो।

२ लौकिकालौकिकता–निर्विकल्प का अस्तित्व माननेवाली सभी दार्शनिक परम्पराएँ लौकिक निर्विकल्प अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षजन्य निर्विकल्प को तो मानती हैं ही पर यहाँ प्रश्न है अलौकिक निर्विकल्प के अस्तित्व का। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएँ ऐसे भी निर्विकल्पक को मानती हैं जो इन्द्रियसन्निकर्ष के सिवाय भी योग या विशिष्टात्मशक्ति से उत्पन्न होता है। बौद्धपरम्परा में ऐसा अलौकिक निर्विकल्पक योगिसंवेदन के नाम से प्रसिद्ध है जब कि जैनपरम्परा में अवधिदर्शन और केवलदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वोत्तरमीमांसक विविध कक्षावाले योगियों का तथा उनके योगजन्य अलौकिक ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतएव उनके मतानुसार भी अलौकिक निर्विकल्प का अस्तित्व मान लेने में कुछ बाधक जान नहीं पड़ता। अगर यह धारणा ठीक है तो कहना होगा कि सभी निर्विकल्पकास्तित्ववादी सविकल्पक ज्ञान की तरह निर्विकल्पक ज्ञान को भी लौकिक अलौकिकरूप से दो प्रकार का मानते हैं।

३ विषयस्वरूप–सभी निर्विकल्पकवादी सत्तामात्र को निर्विकल्प का विषय मानते हैं पर सत्ता के स्वरूप के बारे में सभी एकमत नहीं। अतएव निर्विकल्पक के ग्राह्य विषय का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न दर्शन के अनुसार जुदा-जुदा ही फलित होता है। बौद्धपरम्परा के अनुसार अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है और वह भी क्षणिक व्यक्तिमात्र में ही पर्यवसित है जब कि शांकर वेदान्त के अनुसार अखण्ड और सर्वव्यापक ब्रह्म ही सत्स्वरूप है जो न देशबद्ध है न कालबद्ध। न्याय वैशेषिक और पूर्व मीमांसक के अनुसार अस्तित्व मात्र सत्ता है या जातिरूप सत्ता है जो बौद्ध और वेदान्तसम्मत सत्ता से भिन्न है। सांख्य-योग और जैनपरम्परा में सत्ता न तो क्षणिक व्यक्ति मात्र नियत है न ब्रह्मस्वरूप है और न जातिरूप है। उक्त तीनों परम्पराएँ परिणामिनित्यत्ववादी होने के कारण उनके मतानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही सत्ता फलित होती है। जो कुछ हो पर इतना तो निर्विवाद है कि सभी निर्विकल्पकवादी निर्विकल्पक के ग्राह्य विषय रूप से सन्मात्र का ही प्रतिपादन करते हैं।

४ मात्र प्रत्यक्षरूप – कोई ज्ञान परोक्षरूप भी होता है और प्रत्यक्षरूप भी जैसे सविकल्पक ज्ञान पर निर्विकल्पक ज्ञान तो सभी निर्विकल्पकवादियों के द्वारा केवल प्रत्यक्षरूप माना गया है। कोई उसको परोक्ष नहीं मानता, क्योंकि निर्विकल्पक, चाहे लौकिक हो या अलौकिक पर उसकी उत्पत्ति किसी ज्ञान से व्यवहित न होने के कारण वह साक्षात्रूप होने से प्रत्यक्ष ही है। परन्तु जैनपरम्परा के अनुसार दर्शन की गणना

परोक्ष में भी की जानी चाहिए, क्योंकि तार्किक परिभाषा के अनुसार परोक्ष मतिज्ञान का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है अतएव तदनुसार मति उपयोग के क्रम में सर्व प्रथम प्रवर्त्त होनेवाले दर्शन नामक बोध को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है पर आगमिक प्राचीन विभाग, जिसमें पारमार्थिक सांव्यवहारिकरूप से प्रत्यक्ष के भेदों का स्थान नहीं है, तदनुसार तो मतिज्ञान परोक्ष मात्र ही माना जाता है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र (१ ११) में देखा जाता है। तदनुसार जैनपरम्परा में इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप ही है प्रत्यक्षरूप नहीं। सारांश यह कि जैन परम्परा में तार्किक परिभाषा के अनुसार दर्शन प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। अवधि और केवल रूप दर्शन तो मात्र प्रत्यक्षरूप ही हैं जब कि इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप होने पर भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु आगमिक परिपाटी के अनुसार इन्द्रियजन्य दर्शन केवल परोक्ष ही है और इन्द्रियनिरपेक्ष अवध्यादि दर्शन केवल प्रत्यक्ष ही हैं।

५ उत्पादक सामग्री–लौकिक निर्विकल्पक जो जैन तार्किक परम्परा के अनुसार सांव्यवहारिक दर्शन है उसकी उत्पादक सामग्री में विषयेन्द्रियसन्निपात और यथासम्भव आलोकादि सन्निविष्ट हैं। पर अलौकिक निर्विकल्प जो जैनपरम्परा के अनुसार पारमार्थिक दर्शन है उसकी उत्पत्ति इन्द्रियसन्निकर्ष के सिवाय ही केवल विशिष्ट आत्मशक्ति से मानी गई है। उत्पादक सामग्री के विषय में जैन और जैनेतर परम्पराएँ कोई मतभेद नहीं रखतीं। फिर भी इस विषय में शाङ्कर वेदान्त का मन्तव्य जुदा है जो ध्यान देने योग्य है। वह मानता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यजन्य अखण्ड ब्रह्मबोध भी निर्विकल्पक है। इसके अनुसार निर्विकल्पक का उत्पादक शब्द आदि भी हुआ जो अन्य परम्परा-सम्मत नहीं।

६ प्रामाण्य–निर्विकल्प के प्रामाण्य के सम्बन्ध में जैनेतर परम्पराएँ भी एकमत नहीं। बौद्ध और वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पक को ही प्रमाण मानते हैं इतना ही नहीं बल्कि उनके मतानुसार निर्विकल्पक ही मुख्य व पारमार्थिक प्रमाण है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में निर्विकल्पक के प्रमाणत्व सम्बन्ध में एकविध कल्पना नहीं है। प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक प्रमाणरूप माना जाता है जैसा कि श्रीधर ने स्पष्ट किया है (कन्दली पृ० १९८) और विश्वनाथ ने भी भ्रमभिन्नत्वरूप प्रमात्व मानकर निर्विकल्पक को प्रमा कहा है (कारिकावली का १३४) परन्तु गङ्गेश की नव्य परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक न प्रमा है और न अप्रमा। तदनुसार प्रमात्व किंवा अप्रमात्व प्रकारताघटित होने से, निर्विकल्पक जो प्रकारताविशून्य है वह प्रमा-अप्रमा उभय विलक्षण है–कारिकावली का १३५। पूर्वमीमांसक और सांख्य-योगदर्शन सामान्यतः ऐसे विषयों में न्याय-वैशेषिकानुसारी होने से उनके मतानुसार भी निर्विकल्पक के प्रमात्व की वे ही कल्पनाएँ मानी जानी चाहिएँ जो न्याय वैशेषिक परम्परा में स्थिर हुई हैं। इस सम्बन्ध में जैन परम्परा का मन्तव्य यहाँ विशेष रूप से वर्णन करने योग्य है।

जैनपरम्परा में प्रमाणत्व किं वा प्रामाण्य का प्रश्न उसमें तर्कयुग आने के बाद का है पहिले का नहीं। पहिले तो उसमें मात्र आगमिक दृष्टि थी। आगमिक दृष्टि के अनुसार दर्शनोपयोग को प्रमाण किं वा अप्रमाण कहने का प्रश्न ही न था। उस दृष्टि के अनुसार दर्शन हो या ज्ञान या तो वह सम्यक् हो सकता है या मिथ्या। उसका सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी आध्यात्मिक भावानुसारी ही माना जाता था। अगर कोई आत्मा कम से कम चतुर्थ गुणस्थान का अधिकारी हो अर्थात् वह सम्यक्त्वप्राप्त हो तो उसका सामान्य या विशेष कोई भी उपयोग मोक्षमार्गरूप तथा सम्यक् माना जाता है। तदनुसार आगमिक दृष्टि से सम्यक्त्वयुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग सम्यग्दर्शन है और मिथ्यादृष्टियुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग मिथ्यादर्शन है। व्यवहार में मिथ्या भ्रम या व्यभिचारी समझा जानेवाला भी दर्शन अगर सम्यक्त्वधारि आत्मगत है तो वह सम्यग्दर्शन ही है जब कि सत्य, प्रमाण और अबाधित समझा जानेवाला भी दर्शनोपयोग अगर मिथ्यादृष्टियुक्त है तो वह मिथ्यादर्शन ही है[1]।

दर्शन के सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का आगमिक दृष्टि से जो आपेक्षिक वर्णन ऊपर किया गया है वह सन्मतिटीकाकार अभयदेव ने दर्शन को भी प्रमाण कहा है इस आधार पर समझना चाहिए। तथा उपाध्याय यशोविजयजी ने संशय आदि ज्ञानों को भी सम्यक् दृष्टियुक्त होने पर सम्यक् कहा है इस आधार पर समझना चाहिए। आगमिक प्राचीन और श्वेताम्बर-दिगम्बर उभय साधारण परम्परा तो ऐसा नहीं मानती, क्योंकि दोनों परम्पराओं के अनुसार चक्षु अचक्षु और अवधि तीनों दर्शन दर्शन ही माने गये हैं। उनमें से न कोई सम्यक् या न कोई मिथ्या और न कोई सम्यक्मिथ्या उभयविध माना गया है जैसा कि मति-श्रुत अवधि ज्ञान सम्यक् और मिथ्या रूप से विभाजित हैं। इससे यही फलित होता है कि दर्शन उपयोग मात्र निराकार होने से उसमें सम्यग्दृष्टि किंवा मिथ्यादृष्टियुक्त अन्तर की कल्पना की नहीं जा सकती। दर्शन चाहे चक्षु हो अचक्षु हो या अवधि—वह दर्शन मात्र है उसे न सम्यग्दर्शन कहना चाहिए और न मिथ्यादर्शन। यही कारण है कि पहिले गुणस्थान में भी वे दर्शन ही माने गए हैं जैसा कि चौथे गुणस्थान में। यह वस्तु गन्धहस्ति सिद्धसेन ने सूचित भी की है— "अत्र च यथा साकाराद्धायां सम्यक्मिथ्यादृष्ट्योर्विशेषः, नैवमस्ति दर्शने अनाकारत्वे द्वयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थः"—तत्त्वार्थभा० टी० १.९।

यह हुई आगमिक दृष्टि की बात जिसके अनुसार उमास्वाति ने उपयोग में सम्यक्त्व असम्यक्त्व का निदर्शन किया है। पर जैनपरम्परा में तर्कयुग दाखिल होते ही प्रमाण अप्रमाण या प्रामाण्य अप्रामाण्य का प्रश्न आया। और उसका विचार भी आध्यात्मिक भावानुसारी न होकर विषयानुसारी किया जाने लगा जैसा कि जैनेतर दर्शनों में तार्किक विद्वान् कर रहे थे। इस तार्किकदृष्टि के अनुसार जैनपरम्परा दर्शन को प्रमाण मानती है, अप्रमाण मानती है उभयरूप मानती है या उभयभिन्न मानती है? यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत है।

१—"सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनां संशयादीनामपि ज्ञानत्वं महाभाष्यकृता परिभाषितत्वात्" —ज्ञानबिन्दु पृ० १३१ B [illegible] पृ० ७१

तार्किकदृष्टि के अनुसार भी जैनपरम्परा में दर्शन के प्रमाणत्व या अप्रमाणत्व के बारे में कोई एकवाक्यता नहीं। सामान्यरूप से श्वेताम्बर हो या दिगम्बर सभी तार्किक दर्शन को प्रमाण कोटि से बाहर ही रखते हैं। क्योंकि वे सभी बौद्धसम्मत निर्विकल्पक के प्रमाणत्व का खण्डन करते हैं और अपने अपने प्रमाण लक्षण में विशेषोपयोगबोधक ज्ञान, निर्णय आदि पद दाखिल करके सामान्य उपयोग दर्शन को प्रमाण लक्षण का अलक्ष्य ही मानते हैं[१]। इस तरह दर्शन को प्रमाण न मानने की तार्किक परम्परा श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी ग्रन्थों में साधारण है। माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरि ने तो दर्शन को न केवल प्रमाणबाह्य ही रखा है बल्कि उसे प्रमाणाभास (परी० ६. २। प्रमाणन० ६. २४,२५।) भी कहा है।

सम्मतिटीकाकार अभयदेव ने (सन्मतिटी० पृ० ४५७) दर्शन को प्रमाण कहा है पर वह कथन तार्किकदृष्टि से न समझना चाहिए। क्योंकि उन्होंने आगमानुसारी सम्मति की व्याख्या करते समय आगमदृष्टि ही लक्ष्य में रखकर दर्शन को सम्यग्दर्शन अर्थ में प्रमाण कहा है, न कि तार्किकदृष्टि से विषयानुसारी प्रमाण। यह विवेक उनके उस सन्दर्भ से हो जाता है।

अलबत्ता उपाध्याय यशोविजयजी के दर्शन सम्बन्धी प्रामाण्य अप्रामाण्य विचार में कुछ विरोध सा जान पड़ता है। एक ओर वे दर्शन को व्यञ्जनावग्रह-अनन्तरभावी नैश्चयिक अवग्रहरूप बतलाते हैं[२] जो मतिव्यापार होने के कारण प्रमाण कोटि में आ सकता है। और दूसरी ओर वे वादिदेव के प्रमाण लक्षणवाले सूत्र की व्याख्या में ज्ञानपद का प्रयोजन बतलाते हुए दर्शन को प्रमाणकोटि से बहिर्भूत बतलाते हैं–तर्कभाषा पृ० १। इस तरह उनके कथन में जहाँ एक ओर दर्शन बिलकुल प्रमाणबहिर्भूत है वहाँ दूसरी ओर अवग्रह रूप होने से प्रमाणकोटि में आने योग्य भी है। परन्तु जान पड़ता है उनका तात्पर्य कुछ और है। और सम्भवतः वह तात्पर्य यह है कि मतिरूप होने पर भी नैश्चयिक अवग्रह प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारक्षम न होने के कारण प्रमाणरूप गिना ही न जाना चाहिए। इसी अभिप्राय से उन्होंने दर्शन को प्रमाणकोटिबहिर्भूत बतलाया है ऐसा मान लेने से फिर कोई विरोध नहीं रहता।

आचार्य हेमचन्द्र ने वृत्ति में दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाले विचार तीन जगह प्रसङ्गवश प्रगट किए हैं। अवग्रह का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि दर्शन जो अविकल्पक है वह अवग्रह नहीं, अवग्रह का परिणामी कारण अवश्य है और वह इन्द्रियार्थसम्बन्ध के बाद पर अवग्रह के पूर्व उत्पन्न होता है–१. १. २६। बौद्धसम्मत निर्विकल्पक ज्ञान को अप्रमाण बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह अनध्यवसाय रूप होने से प्रमाण नहीं, अध्यवसाय या निर्णय ही प्रमाण गिना जाना चाहिए–१. १. ६। उन्होंने निर्णय का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि अनध्यवसाय से भिन्न तथा अविकल्पक एवं संशय से भिन्न ज्ञान ही निर्णय है–

१ लघी० परी० १. ३। प्रमेयक० पृ० ८। प्रमाणन० १. २

२ तर्कभाषा पृ० ५। ज्ञानबिन्दु पृ० १३८।

पृ० १ पं० १। आचार्य के उक्त सभी कथनों से फलित यही होता है कि वे जैनपरम्परा प्रसिद्ध दर्शन और बौद्धपरम्परा प्रसिद्ध निर्विकल्पक को एक ही मानते हैं और इनको अनिर्णय रूप होने से प्रमाण नहीं मानते तथा उनका यह अप्रामाण्य कथन भी तार्किक दृष्टि से है, आगम दृष्टि से नहीं जैसा कि अभयदेव भिन्न सभी जैन तार्किक मानते आए हैं।

आ० हेमचन्द्रोक्त अवग्रह का परिणामिकारणरूप दर्शन ही उपाध्यायजी का नैश्चयिक अवग्रह समझना चाहिए।

पृ० ३ पं० १४ 'स्वनिर्णय'—दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान स्वप्रकाश है, परप्रकाश है या स्व-परप्रकाश है, इन प्रश्नों की बहुत लम्बी और विविधकल्पनापूर्ण चर्चा है। इस विषय में किसका क्या पक्ष है इसका वर्णन करने के पहिले कुछ सामान्य बातें जान लेनी जरूरी हैं जिससे स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व का भाव ठीक ठीक समझा जा सके।

१—ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष योग्य है। ऐसा सिद्धान्त कुछ लोग मानते हैं जब कि दूसरे कोई इससे बिलकुल विपरीत मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव परोक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष परोक्षरूप से ज्ञान के स्वभावभेद की कल्पना ही स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का मूलाधार है।

२—स्वप्रकाश शब्द का अर्थ है स्वप्रत्यक्ष अर्थात् अपने आप ही ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से भासित होना। परन्तु परप्रकाश शब्द के दो अर्थ हैं जिनमें से पहिला तो परप्रत्यक्ष अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञानव्यक्ति में प्रत्यक्षरूप से भासित होना, दूसरा अर्थ है परानुमेय अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में अनुमेयरूपतया भासित होना।

३—स्वप्रत्यक्ष का यह अर्थ नहीं कि कोई ज्ञान स्वप्रत्यक्ष है अत एव उसका अनुमान आदि द्वारा बोध होता ही नहीं पर उसका अर्थ इतना ही है कि जब कोई ज्ञान व्यक्ति पैदा हुई तब वह स्वाधार प्रमाता का प्रत्यक्ष होती ही है अन्य प्रमाताओं के लिये उसकी परोक्षता ही है तथा स्वाधार प्रमाता के लिये भी वह ज्ञान व्यक्ति यदि वर्तमान नहीं तो परोक्ष ही है[1]। परप्रकाश के परप्रत्यक्ष अर्थ के पक्ष में भी यही बात लागू है—अर्थात् वर्तमान ज्ञान व्यक्ति ही स्वाधार प्रमाता के लिये प्रत्यक्ष है अन्यथा नहीं।

विज्ञानवादी बौद्ध (न्यायबि० १. १०) मीमांसक प्रभाकर[2] वेदान्त[3] और जैन ये स्वप्रकाशवादी हैं। ये सब ज्ञान के स्वरूप के विषय में एक मत नहीं। क्योंकि विज्ञानवाद

---

१ 'अनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तं विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति परानुभवस्य हानोपादानादिलिङ्गकानुमानज्ञानविषयत्वात् स्वानुभवस्याप्यतीतस्याज्ञासिषमिति ज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च।"—श्रीभाष्य पृ० ५४।

२ "सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा। साक्षात्कर्तृत्वसामान्यात् प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥"—प्रकरणप० पृ० ५६।

३ भामती पृ० १६। "नित्यं स्वयं प्रकाशानुभूतिः"—श्रीभाष्य पृ० १८। चित्सुखी पृ० ९।

के अनुसार ज्ञानभिन्न अर्थ का अस्तित्व ही नहीं[१] और ज्ञान भी साकार। प्रभाकर के मतानुसार बाह्यार्थ का अस्तित्व है (बृहती पृ० ७४) जिसका संवेदन होता है। वेदान्त के अनुसार ज्ञान मुख्यतया ब्रह्मरूप होने से नित्य ही है। जैन मत प्रभाकर मत की तरह बाह्यार्थ का अस्तित्व और ज्ञान का जन्य स्वीकार करता है। फिर भी वे सभी इस बारे में एकमत हैं कि ज्ञानमात्र स्वप्रत्यक्ष है अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष हो या अनुमिति, शब्द स्मृति आदि रूप हो फिर भी वह स्वस्वरूप के विषय में साक्षात्काररूप ही है उसका अनुमितित्व शाब्दत्व, स्मृतित्व आदि अन्य ग्राह्य की अपेक्षा से समझना चाहिए अर्थात् भिन्न भिन्न सामग्री[२] से प्रत्यक्ष, अनुमेय, स्मर्तव्य आदि विभिन्न विषयों में उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष अनुमिति स्मृति आदि ज्ञान भी स्वस्वरूप के विषय में प्रत्यक्ष ही हैं।

ज्ञान को परप्रत्यक्ष अर्थ में परप्रकाश माननेवाले सांख्य योग[३] और न्याय-वैशेषिक हैं[४]। वे कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष होने का है पर वह अपने आप प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। उसकी प्रत्यक्षता अन्याश्रित है। अतएव ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमिति हो, या शब्द, स्मृति आदि अन्य कोई, फिर भी वे सब स्वविषयक अनुव्यवसाय के द्वारा प्रत्यक्षरूप से गृहीत होते ही हैं। परप्रत्यक्षत्व के विषय में इनका ऐकमत्य होने पर भी पर शब्द के अर्थ के विषय में ऐकमत्य नहीं क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार तो पर का अर्थ है अनुव्यवसाय जिसके द्वारा पूर्ववर्ती कोई भी ज्ञानव्यक्ति प्रत्यक्षतया गृहीत होती है परन्तु सांख्य-योग के अनुसार पर शब्द का अर्थ है चैतन्य जो पुरुष का सहज स्वरूप है और जिसके द्वारा ज्ञानात्मक सभी बुद्धिवृत्तियाँ प्रत्यक्षतया भासित होती हैं।

परानुमेय अर्थ में परप्रकाशवादी केवल कुमारिल हैं जो ज्ञान को स्वभाव से ही परोक्ष मानकर उसका तज्जन्यज्ञाततारूप लिङ्ग के द्वारा अनुमान मानते हैं जो अनुमान कार्यहेतुक कारणविषयक है—शास्त्रदी पृ० १५७। कुमारिल के सिवाय और कोई ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष नहीं मानता। प्रभाकर के मतानुसार जो फलसंवित्ति से ज्ञान का अनुमान माना जाता है वह कुमारिल-संमत प्राकट्यरूप फल से होनेवाले ज्ञानानुमान से बिलकुल जुदा है। कुमारिल तो प्राकट्य से ज्ञान, जो आत्मसमवेत गुण है उसका अनुमान मानते हैं जब कि प्रभाकरमतानुसार संविद्रूप फल से अनुमित होनेवाला ज्ञान वस्तुतः ज्ञान गुण नहीं किन्तु ज्ञानगुणजनक सन्निकर्ष आदि जड सामग्री ही है[५]। इस सामग्री रूप अर्थ में ज्ञान शब्द के प्रयोग का समर्थन करणार्थक 'अन्' प्रत्यय मान कर किया जाता है।

---

१ "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" बृहती पृ० ६६। "प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः। यथा प्रकाशोऽभिमतः तथा धीरात्मवेदिनी।" — प्रमाणवा० ३. ३२९।

२ उपविज्ञानहेतुत्वा ... यावती काचिद्ग्रहणस्मरणरूपा" — प्रकरणप० पृ० ५६।

३ "सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्" — योगसू० ४. १८, १९।

४ "अनीमास्य ज्ञानं तु लभिव्यक्ता ह्येयो मति वृत्तिः"—कारिकावली ५७।

५ सन्निकृष्टसन्निकारस्यात्ममनःसन्निकर्षादेर्ज्ञानस्य तदितरकारणस्य परिकल्पनामानुमानता"—प्रकरणप० पृ० ६३।

आचार्य हेमचन्द्र ने जैन परम्परासम्मत ज्ञानमात्र के प्रत्यक्षत्व स्वभाव का सिद्धान्त मानकर ही उसका स्वनिर्णयत्व स्थापित किया है और उपर्युक्त त्रिविध परप्रकाशत्व का प्रतिवाद किया है। इनके स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-निरास की दलीलें तथा प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण का उपन्यास यह सब वैसा ही है जैसा शालिकनाथ की प्रकरणपञ्चिका तथा श्रीभाष्य आदि में है। स्वपक्ष के ऊपर औरों के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार भी आचार्य का वैसा ही है जैसा उक्त ग्रन्थों में है।

पृ० ६ पं० २६ 'विशद'—प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अन्य मुद्दों पर लिखने के पहले यह बतला देना जरूरी है कि प्राचीन समय में लक्षणकार ऋषि प्रत्यक्ष लक्षण का लक्ष्य कितना समझते थे अर्थात् वे जन्य प्रत्यक्ष मात्र को लक्ष्य मानकर लक्षण रचते थे या जन्य-नित्य-साधारण प्रत्यक्ष को लक्ष्य मानकर लक्षण रचते थे जैसा कि उत्तरकालीन नैयायिकों ने आगे जाकर जन्य नित्य साधारण प्रत्यक्ष का लक्षण रचा है। जहाँ तक देखा गया उससे यही जान पड़ता है कि प्राचीन समय के लक्षणकारों में से किसी ने चाहे वह ईश्वराविरोधी नैयायिक वैशेषिक ही क्यों न हो जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्ष का लक्षण बनाया नहीं है। ईश्वराविरोधी हो या ईश्वरविरोधी सभी दर्शनकारों के प्राचीन मूल ग्रन्थों में एक मात्र जन्यप्रत्यक्ष का ही निरूपण है। नित्यप्रत्यक्ष का किसी में सम्भव भी है और सम्भव है तो वह ईश्वर में ही होता है इस बात का किसी प्राचीन ग्रन्थ में सूचन तक नहीं[1]। अपौरुषेयत्व के द्वारा वेद के प्रामाण्य का समर्थन करनेवाले मीमांसकों के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक दर्शन ने यह स्थापन तो शुरू कर दिया कि वेद शब्दात्मक और अनित्य होने से उसका प्रामाण्य अपौरुषेयत्व-मूलक नहीं किन्तु पौरुषेयत्व-मूलक ही है। फिर भी उस दर्शन के प्राचीन विद्वानों ने वेद प्रणेतारूप से कहीं ईश्वर का स्पष्ट स्थापन नहीं किया है। उन्होंने वेद को आप्त-ऋषिप्रणीत कह कर ही उसका प्रामाण्य मीमांसक-सम्मत प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया और साथ ही वेदाप्रामाण्यवादी जैन बौद्ध आदि को जवाब भी दे दिया कि वेद प्रमाण है क्योंकि उसके प्रणेता हमारे मान्य ऋषि आप्त ही रहे[2]। पिछले व्याख्याकार नैयायिकों ने जैसे ईश्वर को जगत्स्रष्टा भी माना और वेद प्रणेता भी इसी तरह उन्होंने उसमें नित्यज्ञान की कल्पना भी की वैसे किसी भी प्राचीन वैदिक दर्शनसूत्रग्रन्थों में न तो ईश्वर का जगत्स्रष्टा रूप से न वेदकर्ता रूप से स्पष्ट स्थापन है और न कहीं भी उसमें नित्यज्ञान के अस्तित्व का उल्लेख भी है। अतएव यह सुनिश्चित है कि प्राचीन सभी प्रत्यक्ष लक्षणों का लक्ष्य केवल जन्य प्रत्यक्ष ही है। इसी जन्य प्रत्यक्ष को लेकर कुछ मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

---

१ वैशे० ३. १. १८। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' – न्यायसू० १. १. ४। 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' – सांख्यका० ५। सांख्यसू० १. ८९। योगभा० १. ७। "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम् ... " – जैमि० १. १. ४। "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥" – चरक० ११. २०।

२ न्यायसू० १. १. ७। २. १. ६८। वैशे० ६. १. १।

१ लौकिकालौकिकता—प्राचीन समय में प्रत्यक्षकोटि में जन्यमात्र ही निविष्ट था फिर भी चार्वाक के सिवाय सभी दर्शनकारों ने जन्य प्रत्यक्ष के लौकिक अलौकिक ऐसे दो प्रकार माने हैं। सभी ने इन्द्रियजन्य और मनोमात्रजन्य वर्तमान संबद्ध-विषयक ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहा है। अलौकिक प्रत्यक्ष का वर्णन भिन्न भिन्न दर्शनों में भिन्न भिन्न नाम से है। सांख्य-योग,[1] न्याय-वैशेषिक,[2] बौद्ध[3] सभी अलौकिक प्रत्यक्ष का योगि-प्रत्यक्ष या योगि ज्ञान नाम से निरूपण करते हैं जो योगजन्य सामर्थ्य द्वारा जनित माना जाता है।

मीमांसक जो सर्वज्ञत्व का खासकर धर्माधर्मसाक्षात्कार का एकान्त विरोधी है वह भी मोक्षाङ्गभूत एक प्रकार के आत्मज्ञान का अस्तित्व मानता है जो वस्तुतः योगजन्य या अलौकिक ही है[4]।

वेदान्त में जो ईश्वरसाक्षीचैतन्य है वही अलौकिक प्रत्यक्ष स्थानीय है।

जैन दर्शन की आगमिक परम्परा ऐसे प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष कहती है[5] क्योंकि उस परम्परा के अनुसार प्रत्यक्ष केवल वही माना जाता है जो इन्द्रिय जन्य न हो। उस परम्परा के अनुसार तो दर्शनान्तरसंमत लौकिकप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं पर परोक्ष है[6]। फिर भी जैन दर्शन की तार्किक परम्परा प्रत्यक्ष के दो प्रकार मानकर एक को जिसे दर्शनान्तरों में लौकिक प्रत्यक्ष कहा है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहती है[7] और दूसरे को जो दर्शनान्तरों में अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहती है। तथा पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कारणरूप से लब्धि या विशिष्ट आत्मशक्ति का वर्णन करती है, जो एक प्रकार से जैन परिभाषा में योगज धर्म ही है।

२ अलौकिक में निर्विकल्पक का स्थान—अब प्रश्न यह है कि अलौकिक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है या सविकल्पक ही होता है, या उभयरूप?। इसके उत्तर में एकवाक्यता नहीं। तार्किक बौद्ध और शाङ्कर वेदान्त[8] परम्परा के अनुसार तो अलौकिक प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही संभवित है सविकल्पक कभी नहीं। रामानुज का मत[9] इससे बिलकुल उलटा है तदनुसार लौकिक हो या अलौकिक कोई भी प्रत्यक्ष सर्वथा निर्विकल्पक संभव ही नहीं पर न्याय वैशेषिक आदि अन्य वैदिक दर्शन के अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष सविकल्पक

१ योगसू० ३. ५४। सांख्यका० ६४।
२ वैशे० ६. १. ११-१५।
३ न्यायबि० १. ११।
४ 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणात् ॥"—तन्त्रवा० पृ० २४०।
५ तत्त्वार्थ० १. १२।
६ तत्त्वार्थ० १. ११।
७ टिप्पण पृ० ८२।
८ Indian Psychology Perception. P 352
९ "अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेषविषयत्वम्' —श्री भाष्य पृ० २१।

निर्विकल्पक-उभय संभवित जान पड़ता है। यहाँ संभवित शब्द का प्रयोग इसलिये किया है कि भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ४) जैसे प्रबल नैयायिक ने उभयरूप से द्विविध योगिप्रत्यक्ष का स्पष्ट ही कथन किया है फिर भी कणादसूत्र और प्रशस्तपादभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं। जैन परम्परा के अनुसार अलौकिक या पारमार्थिक प्रत्यक्ष उभयरूप है। क्योंकि जैन दर्शन में जो अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन नामक सामान्यबोध माना जाता है वह अलौकिक निर्विकल्पक ही है। और जो अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञानरूप विशेषबोध है वही सविकल्पक है।

३ प्रत्यक्षत्व का नियामक—प्रश्न है कि प्रत्यक्षत्व का नियामक तत्त्व क्या है, जिसके कारण कोई भी बोध या ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है ?। इसका जवाब भी दर्शनों में एकविध नहीं। नव्य शाङ्कर वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्षत्व का नियामक है प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद जैसा कि वेदान्तपरिभाषा (पृ० ११) में सविस्तर वर्णित है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध, मीमांसक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षत्व का नियामक है सन्निकर्षजन्यत्व, जो सन्निकर्ष से, चाहे वह सन्निकर्ष लौकिक हो या अलौकिक जन्य है, वह सब प्रत्यक्ष। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष के नियामक दो तत्त्व हैं। आगमिक परम्परा के अनुसार तो एक मात्र आत्ममात्र सापेक्षत्व ही प्रत्यक्षत्व का नियामक (तत्त्वार्थ १. १२) है। जब कि तार्किक परम्परा के अनुसार उसके अलावा इन्द्रियमनोजन्यत्व भी प्रत्यक्षत्व का नियामक फलित होता है—प्रमाणमी० १. २। वस्तुतः जैनतार्किक परम्परा न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनानुसारिणी ही है।

४ प्रत्यक्षत्व का क्षेत्र—प्रत्यक्षत्व केवल निर्विकल्पक में ही मर्यादित है या वह सविकल्पक में भी है ?। इसके जवाब में बौद्ध का कथन है कि वह मात्र निर्विकल्पक में मर्यादित है। जब कि बौद्ध भिन्न सभी दर्शनों का मन्तव्य निर्विकल्पक-सविकल्पक दोनों में प्रत्यक्षत्व के स्वीकार का है।

५ जन्य-नित्यसाधारण प्रत्यक्ष—अभी तक जन्यमात्र को लक्ष्य मानकर लक्षण की चर्चा हुई पर मध्ययुग में जब कि ईश्वर का जगत्कर्तृरूप से या वेदप्रणेतृरूप से न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों में स्पष्ट स्थान निर्णीत हुआ तभी से ईश्वरीय प्रत्यक्ष नित्य माने जाने के कारण जन्य नित्य उभय साधारण प्रत्यक्ष लक्षण बनाने का प्रश्न ईश्वरवादियों के सामने आया। जान पड़ता है ऐसे साधारण लक्षण का प्रयत्न भासर्वज्ञ ने सर्वप्रथम किया। उसने 'सम्यगपरोक्षानुभव' (न्यायसार पृ० २) को प्रत्यक्ष प्रमा कहकर जन्य-नित्य उभय प्रत्यक्ष का एक ही लक्षण बनाया। शालिकनाथ जो प्रभाकर का अनुगामी है उसने भी 'साक्षात्प्रतीति' (प्रकरणप० पृ० ५१) को प्रत्यक्ष कहकर दूसरे शब्दों में बाह्यविषयक इन्द्रियजन्य तथा आत्मा और ज्ञानग्राही इन्द्रियाजन्य ऐसे द्विविध प्रत्यक्ष (प्रकरणप० पृ० ५१) के साधारण लक्षण का प्रणयन किया। पर आगे जाकर नव्य नैयायिकों ने भासर्वज्ञ के अपरोक्ष पद तथा शालिकनाथ के साक्षात्प्रतीति पद का 'ज्ञानाकरणकज्ञान' को जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्ष कहकर

अन्य परिभाषा में स्पष्टीकरण किया (मुक्ता० ५२)। इधर जैनदर्शन के तार्किकों में भी साधारणलक्षणप्रणयन का प्रश्न उपस्थित हुआ जान पड़ता है। जैन दर्शन नित्यप्रत्यक्ष तो मानता ही नहीं अतएव उसके सामने अन्य नित्यसाधारण लक्षण का प्रश्न न था। पर सांव्यवहारिक, पारमार्थिक उभयविध प्रत्यक्ष के साधारण लक्षण का प्रश्न था। जान पड़ता है इसका जवाब सर्व प्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने ही दिया। उन्होंने अपरोक्षरूप ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर सांव्यवहारिक-पारमार्थिक उभयसाधारण अपरोक्षत्व को लक्षण बनाया। न्याया० ४) यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धसेन के 'अपरोक्ष'पद के प्रयोग का प्रभाव भासर्वज्ञ के लक्षण में है या नहीं ?। पर इतना तो निश्चित ही है कि जैन परम्परा में अपरोक्षत्वरूप से साधारण लक्षण का प्रारम्भ सिद्धसेन ने ही किया।

६ दोष का निवारण—सिद्धसेन ने अपरोक्षत्व को प्रत्यक्ष मात्र का साधारण लक्षण बनाया। पर उसमें एक त्रुटि है जो किसी भी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किक से छिपी रह नहीं सकती। वह यह है कि अगर प्रत्यक्ष का लक्षण अपरोक्ष है तो परोक्ष का लक्षण क्या होगा ?। अगर यह कहा जाय कि परोक्ष का लक्षण प्रत्यक्षभिन्नत्व या अप्रत्यक्षत्व है तो इसमें स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है। जान पड़ता है इस दोष को दूर करने का तथा अपरोक्षत्व के स्वरूप को स्फुट करने का प्रयत्न सर्व प्रथम भट्टारक अकलङ्क ने किया। उन्होंने बहुत ही प्राञ्जल शब्दों में कह दिया कि जो ज्ञान विशद है वही प्रत्यक्ष है—लघी० १. ३। उन्होंने इस वाक्य में साधारण लक्षण तो गर्भित किया ही पर साथ ही उक्त अन्योन्याश्रय दोष को भी टाल दिया। क्योंकि अब अपरोक्षपद ही निकल गया, जो परोक्षत्व के निर्वचन की अपेक्षा रखता था। अकलङ्क की तात्त्विकता ने केवल इतना ही नहीं किया पर साथ ही वैशद्य का स्फोट भी कर दिया। वह स्फोट भी ऐसा कि जिससे सांव्यवहारिक पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्ष का संग्रह हो। उन्होंने कहा कि अनुमानादि की अपेक्षा विशेष प्रतिभास करना ही वैशद्य है—लघी० १. ४। अकलङ्क का यह साधारण लक्षण का प्रयत्न और स्फोट ही उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तार्किकों के प्रत्यक्ष लक्षण में प्रतिबिम्बित हुआ। किसी ने विशद पद के स्थान में 'स्पष्ट' पद (प्रमाणन० २. २) रखा तो किसी ने उसी पद को ही रखा—परी० २. १।

आ० हेमचन्द्र जैसे अनेक स्थलों में अकलङ्कानुगामी हैं वैसे ही प्रत्यक्ष के लक्षण के बारे में भी अकलङ्क के ही अनुगामी हैं। यहाँ तक कि उन्होंने तो विशद पद और वैशद्य का विवरण अकलङ्क के समान ही रखा। अकलङ्क की परिभाषा इतनी दृढ़मूल हो गई कि अन्तिम तार्किक उपाध्याय यशोविजयजी ने भी प्रत्यक्ष के लक्षण में उसीका आश्रय किया—तर्कभाषा पृ० १।

पृ० २१ पं० २२ 'प्रतिसंख्यानेन'—प्रतिसंख्यान शब्द बौद्ध परम्परा में जिस अर्थ में प्रसिद्ध है उसी अर्थ में प्रसंख्यान शब्द न्याय, योग आदि दर्शनों में प्रसिद्ध है—न्यायभा० ४. १. २। योगसू० ४. २९।

अ० १ आ० १ सू० ११-१६ पृ० २९—पीछे हमने लिखा है कि 'आचार्य हेमचन्द्र ने अपना वैयाकरणत्व सकर्मक धात्विक शैली में व्यक्त किया है' (टिप्पण पृ० ९९) इसका खुलासा यों समझना चाहिए। वैयाकरणों की परिभाषा के अनुसार क्रियावाची शब्द धातु[1] कहलाता है और धातुप्रतिपाद्य अर्थ क्रिया[2] कही जाती है। अकर्मक धातु के वाच्य फल और व्यापार दोनों समानाधिकरण अर्थात् कर्तृनिष्ठ होते हैं। जब कि सकर्मक धातु के वाच्य फल और व्यापार दोनों जो धातु वाच्य होने के कारण क्रियारूप हैं वे व्यधिकरण अर्थात् अनुक्रम से कर्मनिष्ठ और कर्तृनिष्ठ होते हैं[3]। प्रकृत प्रमाण्य फल की चर्चा में ज्ञाधातु का व्यापाररूप अर्थ जो कर्तृनिष्ठ है उसको प्रमाण कहा है और उसका फलरूप अर्थ जो कर्मनिष्ठ है उसे फल कहा है। ज्ञाधातु सकर्मक होने से उसके ज्ञानात्मक व्यापार और तज्जन्य प्रकाशरूप फल दोनों अनुक्रम से कर्तृनिष्ठतया और कर्मनिष्ठतया प्रतिपाद्य हैं और दोनों क्रियारूप हैं।

पृ० ३१ पं० २१ 'स्वपराभासी'—आचार्य ने सूत्र में आत्मा को स्वाभासी और पराभासी कहा है। यद्यपि इन दो विशेषणों को लक्षित करके हमने संक्षेप में टिप्पण लिखा है (टिप्पण पृ० ●) फिर भी इस विषय में अन्य दृष्टि से लिखना आवश्यक समझ कर यहाँ थोड़ा सा विचार लिखा जाता है।

'स्वाभासी' पद के 'स्व' का आभासनयोग्य और 'स्व' के द्वारा आभासनयोग्य ऐसे दो अर्थ फलित होते हैं पर वस्तुतः इन दोनों अर्थों में कोई तात्त्विक भेद नहीं। दोनों अर्थों का मतलब स्वप्रकाश से है और स्वप्रकाश का तात्पर्य भी स्वप्रत्यक्ष ही है। परन्तु 'पराभासी' पद से फलित होनेवाले दो अर्थों की मर्यादा एक नहीं। पर का आभासनयोग्य यह एक अर्थ जिसे वृत्ति में आचार्य ने स्वयं ही बतलाया है और पर के द्वारा आभासनयोग्य यह दूसरा अर्थ। इन दोनों अर्थों के भाव में अंतर है। पहिले अर्थ से आत्मा का परप्रकाशन स्वभाव सूचित किया जाता है जब कि दूसरे अर्थ से स्वयं आत्मा का अन्य के द्वारा प्रकाशित होने का स्वभाव सूचित होता है। यह तो समझ ही लेना चाहिए कि उक्त दो अर्थों में से दूसरा अर्थात् पर के द्वारा आभासित होना इस अर्थ का तात्पर्य पर के द्वारा प्रत्यक्ष होना इस अर्थ में है। पहिले अर्थ का तात्पर्य तो पर का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप से भासित करना यह है। जो दर्शन आत्मभिन्न तत्त्व को भी मानते हैं वे सभी आत्मा को पर का अवभासक मानते ही हैं। और जैसे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से पर का अवभासक आत्मा अवश्य होता है वैसे ही वह किसी न किसी रूप से स्व का भी अवभासक होता ही है अत

---

१ 'क्रियार्थो धातुः'—हैमश० ३. ३. ३.। "इति क्रिया प्रवृत्तिर्व्यापार इति यावत्। पूर्वापरीभूता साध्यमानरूपा सा अर्थोऽभिधेयो यस्य स शब्दो धातुसंज्ञो भवति।"—हैमश० बृ० ३. ३. ३.।

२ 'भावस्य साध्यरूपः क्रियासामान्यं भावार्थः स धातुनैवोच्यते।' हैमश० बृ० ५. ३. १८।

३ "फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः। धात्वोस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः॥" वै० भूषण० का० १३।

पर यहाँ जो दार्शनिकों का मतभेद दिखाया जाता है वह स्वप्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष शब्द को लेकर ही समझना चाहिए। स्वप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष मानते हैं और साथ ही ज्ञान आत्मा का अभेद या कथंचिदभेद मानते हैं। शङ्कर, रामानुज आदि वेदान्त, सांख्य, योग, विज्ञानवादी बौद्ध और जैन इनके मत से आत्मा स्वप्रकाश है—चाहे वह आत्मा किसी के मत से शुद्ध व नित्य चैतन्यरूप हो किसी के मत से जन्य ज्ञानरूप ही हो या किसी के मत से चैतन्य ज्ञानोभयरूप हो—क्योंकि वे सभी आत्मा और ज्ञान का अभेद मानते हैं तथा ज्ञानमात्र को स्वप्रत्यक्ष ही मानते हैं। कुमारिल ही एक ऐसे हैं जो ज्ञान को परोक्ष मानकर भी आत्मा को वेदान्त की तरह स्वप्रकाश ही कहते हैं। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि कुमारिल ने आत्मा का स्वरूप श्रुतिसिद्ध ही माना है और श्रुतियों में स्वप्रकाशत्व स्पष्ट है अतएव ज्ञान का परोक्षत्व मानकर भी आत्मा को स्वप्रत्यक्ष बिना माने उनकी दूसरी गति ही नहीं[1]।

परप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न, पर उसका गुण मानते हैं—चाहे वह ज्ञान किसी के मत से स्वप्रकाश हो जैसा प्रभाकर के मत से चाहे किसी के मत से परप्रकाश हो जैसा नैयायिकादि के मत में।

प्रभाकर के मतानुसार प्रत्यक्ष अनुमिति, आदि कोई भी संवित् हो पर उसमें आत्मा प्रत्यक्षरूप से अवश्य भासित होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मतभेद है। उसके अनुगामी प्राचीन हो या अर्वाचीन सभी एक मत से योगी की अपेक्षा आत्मा को परप्रत्यक्ष ही मानते हैं क्योंकि सब के मतानुसार योगज प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है[2]। पर अस्मदादि अर्वाग्दर्शी की अपेक्षा उनमें मतभेद है। प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक विद्वान् अर्वाग्दर्शी के आत्मा को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं[3], जब कि पीछे के न्याय वैशेषिक विद्वान् अर्वाग्दर्शी आत्मा का भी उसके मानसप्रत्यक्ष का विषय मान कर परप्रत्यक्ष बतलाते हैं[4]।

ज्ञान को आत्मा से भिन्न माननेवाले सभी के मत से यह बात फलित होती है कि मुक्तावस्था में योगजन्य या और किसी प्रकार का ज्ञान न रहने के कारण आत्मा न तो साक्षात्कर्ता है और न साक्षात्कार का विषय। इस विषय में दार्शनिक कल्पनाओं का राज्य अनेकधा विस्तृत है पर वह यहाँ प्रस्तुत नहीं।

---

१ आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम्"—श्लोकवा० आत्मवाद श्लो० १४२।

२ युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। —न्यायभा० १ १ ३। आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषाद् आत्मप्रत्यक्षम्—वैशे० ६ १ ११।

३ आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते"—न्यायभा० १ १ १०। तथात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे"—वैशे० ८ १ २।

४ 'तदेवमहंप्रत्ययविषयत्वादात्मा तावत् प्रत्यक्ष "—न्यायवा० पृ० ३४२। 'अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः"—कारिकावली ४०।

पृ० ३८ पं० २२ 'साधनात्'—अनुमान शब्द के अनुमिति और अनुमितिकरण ऐसे दो अर्थ हैं। जब अनुमान शब्द भाववाची हो तब अनुमिति और जब करणवाची हो तब अनुमितिकरण अर्थ निकलता है।

अनुमान शब्द में अनु और मान ऐसे दो अंश हैं। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान अर्थात् जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के बाद ही होता है वह अनुमान। परन्तु वह अन्य ज्ञान खास ज्ञान ही विवक्षित है, जो अनुमिति का कारण होता है। वह खास ज्ञान रूप से व्याप्तिज्ञान—जिसे लिङ्गपरामर्श भी कहते हैं—इष्ट है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान में मुख्य एक अन्तर यह भी है कि प्रत्यक्ष ज्ञान नियम से ज्ञानकारणक नहीं होता, जब कि अनुमान नियम से ज्ञानकारणक ही होता है। यही भाव अनुमान शब्द में मौजूद 'अनु' अंश के द्वारा सूचित किया गया है। यद्यपि प्रत्यक्षभिन्न दूसरे भी ऐसे ज्ञान हैं जो अनुमान कोटि में न गिने जाने पर भी नियम से ज्ञानजन्य ही हैं, जैसे उपमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि तथापि हर एक में जैसा कि वैशेषिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन में माना गया है—प्रमाण के प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रकार हैं। बाकी के सब प्रमाण किसी न किसी तरह अनुमान प्रमाण में समाये जा सकते हैं जैसा कि उक्त द्विप्रमाणवादिदर्शनों ने समाया भी है।

अनुमान किसी भी विषय का हो, वह किसी भी प्रकार के हेतु से जन्य क्यों न हो पर इतना तो निश्चित है कि अनुमान के मूल में कहीं न कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान का अस्तित्व अवश्य होता है। मूल में कहीं भी प्रत्यक्ष न हो ऐसा अनुमान हो ही नहीं सकता। जब कि प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में अनुमान की अपेक्षा कदापि नहीं रखता तब अनुमान अपनी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अवश्य रखता है। यही भाव न्यायसूत्रगत अनुमान के लक्षण में[1] 'तत्पूर्वकम्' (१. १. ५) शब्द से ऋषि ने व्यक्त किया है, जिसका अनुसरण सांख्यकारिका (का० ५) आदि के अनुमान लक्षण में भी देखा जाता है।

अनुमान के स्वरूप और प्रकार निरूपण आदि का जो दार्शनिक विकास हमारे सामने है उसे तीन युगों में विभाजित करके हम ठीक ठीक समझ सकते हैं १ वैदिक युग २ बौद्ध युग और ३ नव्यन्याय युग।

१—विचार करने से जान पड़ता है कि अनुमान प्रमाण के स्वरूप और प्रकार आदि का शास्त्रीय निरूपण वैदिक परंपरा में ही शुरू हुआ और उसी की विविध शाखाओं में विकसित होने लगा। इसका प्रारंभ कब हुआ, कहाँ हुआ, किसने किया, इसके प्राथमिक विकास में कितना समय लिया, वह किन किन प्रदेशों में सिद्ध हुआ इत्यादि प्रश्न शायद सदा ही

---

१ जैसे 'तत्पूर्वक' शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान का पौर्वापर्य प्रदर्शित करता है वैसे ही जैन परम्परा में मति और श्रुतज्ञान के पौर्वापर्य बतलानेवाला "मइपुव्वं जेण सुयं" (नन्दी सू० २४) यह शब्द है। विशेषा० गा० ८६ १ ५ १०६।

निरुत्तर रहेंगे। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके प्राथमिक विकास का मन्थन भी वैदिक परम्परा के प्राचीन अन्य ग्रन्थों में देखा जाता है।

यह विकास वैदिकयुगीन इस लिये भी है कि इसके प्रारम्भ करने में जैन और बौद्ध परम्परा का हिस्सा तो है ही नहीं बल्कि इन दोनों परम्पराओं ने वैदिक परम्परा से ही उक्त शास्त्रीय निरूपण को शुरू में अक्षरशः अपनाया है। यह वैदिकयुगीन अनुमान निरूपण हमें दो वैदिक परम्पराओं में थोड़े बहुत हेर फेर के साथ देखने को मिलता है।

(अ) वैशेषिक और मीमांसक परम्परा—इस परम्परा को स्पष्टतया व्यक्त करनेवाले इस समय हमारे सामने प्रशस्त और शाबर दो भाष्य हैं। दोनों में अनुमान के दो प्रकारों का ही उल्लेख है[1] जो मूल में किसी एक विचार परम्परा का सूचक है। मेरा निजी भी मानना है कि मूल में वैशेषिक और मीमांसक दोनों परम्पराएँ कभी अभिन्न थीं[2], जो आगे जाकर क्रमशः जुदी हुई और भिन्न भिन्न मार्ग से विकास करती गईं।

(ब) दूसरी वैदिक परम्परा में न्याय सांख्य और चरक इन तीन शास्त्रों का समावेश है। इनमें अनुमान के तीन प्रकारों का उल्लेख व वर्णन है[3]। वैशेषिक तथा मीमांसक दर्शन में वर्णित दो प्रकार के बोधक शब्द करीब करीब समान हैं, जब कि न्याय आदि शास्त्रों की दूसरी परम्परा में पाये जानेवाले तीन प्रकारों के बोधक शब्द एक ही हैं। अलबत्ता सब शास्त्रों में उदाहरण एक से नहीं हैं।

जैन परम्परा में सब से पहिले अनुमान के तीन प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में—जो ई० स० पहली शताब्दी का है—ही पाये जाते हैं[4] जिनके बोधक शब्द अक्षरशः न्यायदर्शन के अनुसार ही हैं। फिर भी अनुयोगद्वार वर्णित तीन प्रकारों के उदाहरणों में इतनी विशेषता अवश्य है कि उनमें भेद प्रतिभेद रूप से वैशेषिक-मीमांसक दर्शनवाली द्विविध अनुमान की परम्परा का भी समावेश हो ही गया है।

बौद्ध परम्परा में अनुमान के न्यायसूत्रवाले तीन प्रकार का ही वर्णन है जो एक मात्र उपायहृदय (पृ० ११) में अभी तक देखा जाता है। ऐसा समझा जाता है कि उपाय हृदय अगर नागार्जुनकृत नहीं हो तो भी वह दिङ्नाग का पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी तक के जैन-बौद्ध साहित्य में वैदिकयुगीन उक्त दो परम्पराओं के अनुमान वर्णन का ही संग्रह किया गया है। उस तक में उक्त

1 "तत्तु द्विविधम्—प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च"—शाबरभा० १. १. ५। "तत्तु द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतो दृष्टं च"—प्रशस्त० पृ० २०५।

2 मीमांसा दर्शन 'अथातो धर्मजिज्ञासा' में धर्म से ही शुरू होता है वैसे ही वैशेषिक दर्शन भी 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' सूत्र से धर्मनिरूपण से शुरू होता है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' और 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' दोनों का भाव समान है।

3 'पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च' न्यायसू० १. १. ५। माठर० का० ५। चरक० सूत्रस्थान श्लो० २८, २९।

4 तिविहे पण्णत्ते तंजहा—पुव्ववं सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं। —अनुयो० पृ० २१२A।

दोनों परम्पराएँ मुख्यतया प्रमाण के विषय में खासकर अनुमान प्रणाली के विषय में वैदिक परम्परा का ही अनुसरण करती हुई देखी जाती हैं।

ई० स० की पाँचवीं शताब्दी से इस विषय में बौद्धयुग शुरू होता है। बौद्धयुग इसलिये कि अब तक में जो अनुमान प्रणाली वैदिक परम्परा के अनुसार ही मान्य होती आई थी उसका पूर्ण बल से प्रतिवाद करके दिङ्नाग ने अनुमान का लक्षण स्वतन्त्र भाव से रचा[1] और उसके प्रकार भी अपनी बौद्ध दृष्टि से बतलाए। दिङ्नाग के इस नये अनुमान प्रस्थान का सभी उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वानों ने अपनाया[2] और उन्होंने दिङ्नाग की तरह ही न्याय आदि शास्त्र संमत वैदिक परम्परा के अनुमान लक्षण, प्रकार आदि का खण्डन किया[3] जो कि कभी प्रसिद्ध पूर्ववर्ती बौद्ध तार्किकों ने खुद ही स्वीकृत किया था। अब से वैदिक और बौद्ध तार्किकों के बीच खण्डन-मण्डन की खास आमने सामने छावनियाँ बन गईं। वात्स्यायनभाष्य के टीकानुटीकाकार उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि ने वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध तार्किकों के अनुमानलक्षणप्रणयन आदि का जोर शोर से खण्डन किया[4] जिसका उत्तर क्रमिक बौद्ध तार्किक देते गये हैं।

बौद्धयुग का प्रभाव जैन परम्परा पर भी पड़ा। बौद्धतार्किकों के द्वारा वैदिक परम्परासम्मत अनुमान लक्षण भेद आदि का खण्डन होते और स्वतन्त्रभाव से लक्षणप्रणयन होते देखकर सिद्धसेन[5] जैसे जैन तार्किकों ने भी स्वतन्त्रभाव से अपनी दृष्टि के अनुसार अनुमान का लक्षणप्रणयन किया। भट्टारक अकलङ्क ने उस सिद्धसेनीय लक्षण प्रणयन मात्र में ही संतोष न माना। पर साथ ही बौद्धतार्किकों की तरह वैदिक परम्परा सम्मत अनुमान के भेद प्रभेदों के खण्डन का सूत्रपात भी स्पष्ट किया[6] जिसे विद्यानन्द आदि उत्तरवर्ती दिगम्बरीय तार्किकों ने विस्तृत व पल्लवित किया[7]।

नये बौद्ध युग के दो परिणाम स्पष्ट देखे जाते हैं। पहिला तो यह कि बौद्ध और जैन परम्परा में स्वतन्त्र भाव से अनुमान लक्षण आदि का प्रणयन और अपने ही पूर्वाचार्यों के द्वारा कभी स्वीकृत वैदिक परम्परा संमत अनुमानलक्षण विभाग आदि का खण्डन। दूसरा परिणाम यह है कि सभी वैदिक विद्वानों के द्वारा बौद्ध संमत अनुमानप्रणाली का खण्डन व अपने पूर्वाचार्य सम्मत अनुमान प्रणाली का स्थापन। पर इस दूसरे परिणाम में चाहे गौण रूप से ही सही एक बात यह भी उल्लेखयोग्य हासिल है कि भासर्वज्ञ जैसे वैदिक परम्परा

१ प्रमाणसमु० २. १ Buddhist Logic. Vol. I p. 236
२ 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्' न्यायप्र० पृ० ७। न्यायबि० २. ३। तत्त्वसं० का० १३६२।
३ प्रमाणसमु० परि० २। तत्त्वसं० का० १४४२ तात्पर्य० पृ० १८०।
४ न्यायवा० पृ० ४६। तात्पर्य० पृ० १८०।
५ "साध्याविनाभुवो लिङ्गात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानम्..." —न्यायाव० ५।
६ न्यायवि० २. १७१ १७२।
७ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०४। प्रमेयक० पृ० १०५।

के किसी किसी तार्किक के लक्षण प्रणयन में बौद्ध लक्षण का भी असर आगया[1] जो जैन तार्किकों के लक्षण प्रणयन में तो बौद्धयुग के प्रारम्भ से ही आज तक एकसा चला आया है[2]।

३—तीसरा नव्यन्याययुग उपाध्याय गङ्गेश से शुरू होता है। उन्होंने अपने वैदिक पूर्वाचार्यों के अनुमान लक्षण को कायम रख कर भी उसमें सूक्ष्म परिष्कार[3] किया जिसका आदर उत्तरवर्ती सभी नव्य नैयायिकों ने ही नहीं बल्कि सभी वैदिक दर्शन के परिष्कारकों ने किया। इस नवीन परिष्कार के समय से भारतवर्ष में बौद्ध तार्किक करीब करीब नामशेष हो गये। इस लिये बौद्ध ग्रन्थों में इसके स्वीकार या खण्डन के पाये जाने का तो संभव ही नहीं पर जैन परम्परा के बारे में ऐसा नहीं है। जैन परम्परा तो पूर्व की तरह नव्यन्याययुग से आज तक भारतवर्ष में चली आरही है और यह भी नहीं कि नव्यन्याययुग के मर्मज्ञ कोई जैन तार्किक हुए भी नहीं। उपाध्याय यशोविजयजी जैसे तत्त्वचिन्तामणि और आलोक आदि नव्यन्याय के अभ्यासी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किक जैन परम्परा में हुए हैं फिर भी उनके तर्कभाषा जैसे ग्रन्थ में नव्यन्याययुगीन परिष्कृत अनुमान लक्षण का स्वीकार या खण्डन देखा नहीं जाता। उपाध्यायजी ने भी अपने तर्कभाषा जैसे प्रमाण विषयक मुख्य ग्रन्थ में अनुमान का लक्षण वही रखा है जो सभी पूर्ववर्ती श्वेताम्बर दिगम्बर तार्किकों के द्वारा मान्य किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुमान का जो लक्षण किया है वह सिद्धसेन और अकलङ्क आदि प्राक्तन जैन तार्किकों के द्वारा स्थापित और समर्थित ही रहा। इसमें उन्होंने कोई सुधार या न्यूनाधिकता नहीं की। फिर भी हेमचन्द्रीय अनुमान निरूपण में एक ध्यान देने योग्य विशेषता है। वह यह कि पूर्ववर्ती सभी जैन तार्किकों ने—जिनमें अभयदेव वादी देवसूरि आदि श्वेतांबर तार्किकों का भी समावेश होता है—वैदिक परम्परा संमत त्रिविध अनुमान प्रणाली का साटोप खण्डन[4] किया था उसे आ० हेमचन्द्र ने छोड़ दिया। यह हम नहीं कह सकते कि हेमचन्द्र ने संक्षेपरुचि की दृष्टि से उस खण्डन को जो पहिले से बराबर जैन ग्रन्थों में चला आ रहा था छोड़ा कि पूर्वापर असंगति की दृष्टि से। जो कुछ हो, पर आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा वैदिक परम्परा संमत अनुमान त्रैविध्य के खण्डन का परित्याग होने से जो जैन ग्रन्थों में खास कर श्वेतांबरीय ग्रन्थों में एक प्रकार की असंगति आगई थी वह दूर हो गई। इसका श्रेय आचार्य हेमचन्द्र को ही है।

असंगति यह थी कि आर्यरक्षित जैसे पूर्वधर समझे जाने वाले आगमधर जैन आचार्य ने न्याय संमत अनुमानत्रैविध्य का बड़े विस्तार से स्वीकार और समर्थन किया था जिसका उन्हीं के उत्तराधिकारी अभयदेवादि श्वेतांबर तार्किकों ने सावेश खण्डन किया था।

१ सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्"—न्यायसार पृ० ५।

२ न्याया० ५। न्यायवि० २. १। प्रमाणप० पृ० ७०। परी० ३. १४।

३ 'अतीतानागतधूमादिज्ञानेऽप्यनुमितिदर्शनान्न लिङ्ग तद्धेतु व्यापारपूर्ववर्तितयोरभावात्, किन्तु व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः' — तत्त्वचि० परामर्श पृ० ५३९ ५०।

४ सन्मतिटी० पृ० ५५६। स्याद्वादर० पृ० ५२७।

दिगम्बर परम्परा में तो यह असंगति इसलिये नहीं मानी जा सकती कि वह आर्यरक्षित के अनुयोगद्वार को मानती ही नहीं। अतएव अगर दिगम्बरीय तार्किक अकलङ्क आदि ने न्यायदर्शन संमत अनुमानत्रैविध्य का खण्डन किया तो वह अपने पूर्वाचार्यों के मार्ग से किसी भी प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। पर श्वेताम्बरीय परम्परा की बात दूसरी है। अभयदेव आदि श्वेताम्बरीय तार्किक जिन्होंने न्यायदर्शन संमत अनुमानत्रैविध्य का खण्डन किया वे तो अनुमानत्रैविध्य के पक्षपाती आर्यरक्षित के अनुगामी थे। अतएव उनका वह खण्डन अपने पूर्वाचार्य के उस समर्थन से स्पष्टतया मेल नहीं खाता।

आचार्य हेमचन्द्र ने शायद सोचा कि श्वेताम्बरीय तार्किक अकलङ्क आदि दिगम्बर तार्किकों का अनुसरण करते हुए एक स्वपरम्परा की असंगति में पड़ गए हैं। इसी विचार से उन्होंने शायद अपनी व्याख्या में त्रिविध अनुमान के खण्डन का परित्याग किया। संभव है इसी हेमचन्द्रोपज्ञ असंगति परिहार का आदर उपाध्याय यशोविजयजी ने भी किया और अपने तर्कभाषा ग्रन्थ में वैदिक परम्परा संमत अनुमानत्रैविध्य का निरास नहीं किया जब कि हेतु के न्यायसंमत पाञ्चरूप्य का निरास अवश्य किया।

पृ० ३९ पं० १७ 'मिथ्या' नीचे दिया जानेवाला हेतु और हेत्वाभासों की संख्या का कोष्ठक दिङ्नाग के हेतुचक्र और न्यायमुख (कारिका २) के अनुसार है।

दिङ्नाग के प्रस्तुत मन्तव्य को 'अत्र दिङ्नागेन' ऐसा कह करके वाचस्पति ने (तात्पर्य पृ० २८८) उद्धृत किया है वह इस प्रकार—

"सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा।
प्रत्येकमसपक्षे च सदसद्द्विविधत्वतः॥
तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।
स हेतुर्विपरीतोऽस्माद्विरुद्धोऽन्यस्त्वनिश्चितः॥"

ये कारिकाएँ विद्याभूषण ने प्रमाणसमुच्चय के तृतीय परिच्छेद की बतलाई हैं—देखो— Indian Logic. P. 213

हेतु का सपक्ष और विपक्ष में, गणित के सिद्धान्त के अनुसार जितने भी प्रकार से रहना सम्भव है उन सभी प्रकारों का समावेश इस चक्र में किया गया है। चक्र यही सिद्ध करता है कि हेतु भिन्न भिन्न नव ही प्रकार से सपक्ष और विपक्ष में रह सकता है इससे ज्यादह और कम प्रकार से नहीं। उन नव प्रकारों में से सिर्फ दो ही सद् हेतु हैं और बाकी के सात हेत्वाभास। उन सात हेत्वाभासों में दो तो सद् हेतु से अत्यन्त उलटे होने के कारण विरुद्ध कहे जाते हैं। बाकी के पाँच अनैकान्तिक—सन्दिग्ध कहे जाते हैं क्योंकि उनका सपक्ष विपक्ष में रहना अनिश्चित प्रकार से होता है। या तो वे सपक्ष में रहकर विपक्षैक देश में—जहाँ हेतु का रहना उचित नहीं—भी रहते हैं या सभी सपक्षों में रहकर सभी विपक्षों में भी रहते हैं। अथवा सिर्फ पक्ष में ही रहकर किसी सपक्ष या विपक्ष में रहते ही नहीं। अन्तिम स्थिति में वह हेतु असाधारण या अव्यापक अनैकान्तिक हेत्वाभास हो

जाता है इसी लिए उससे कोई सिद्धि नहीं हो पाती। अगर हेतु सभी सपक्षों और सभी विपक्षों में रहता है तब वह साधारण हेत्वाभास हो जाता है अत उससे भी कोई सिद्धि नहीं हो पाती। उपरोक्त दो साधारण और असाधारण हेत्वाभासों का प्रयोग व्यवहार में विरल है फिर भी उनका सैद्धान्तिक महत्त्व कम नहीं है क्योंकि वे हेत्वाभास की दो अन्तिम सीमा के निदर्शक हैं और इन दोनों अवस्थाओं के बीच ही कहीं हमें सत् हेतु मिल सकता है। बाकी के तीन अनैकान्तिक बचते हैं और असल में ये तीन ही अनैकान्तिक नाम के योग्य हैं क्योंकि ये तीन ही ऐसे हैं जो सपक्ष में रहकर भी या तो सभी विपक्षों में रहते हैं या कुछ विपक्षों में।

इस तरह हेतु की सपक्ष और विपक्ष में भिन्न भिन्न नव अवस्थितियों के आधार पर दो सत् हेतु होंगे, दो विरुद्ध हेत्वाभास होंगे, दो अन्तिम दो सीमा को दिखानेवाले साधारण और असाधारण हेत्वाभास होंगे और बाकी के तीन विपक्ष में भी रहने के कारण अनैकान्तिक होंगे। देखो—Buddhist Logic. Vol I P 321 323

(कोष्ठक के लिये देखो पृ० १४४)

अनैकान्तिक अनैकान्तिक

सत् हेतु

(१) सपक्षवृत्ति और सर्वविपक्षवृत्ति — साधारण	(४) सपक्षवृत्ति और विपक्षावृत्ति — सत् हेतु	(७) सपक्षवृत्ति और विपक्षैकदेशवृत्ति — व्यभिचारी
(२) सपक्षावृत्ति और सर्वविपक्षवृत्ति — विरुद्ध	(५) सपक्षावृत्ति और विपक्षावृत्ति — असाधारण	(८) सपक्षावृत्ति और विपक्षैकदेशवृत्ति — विरुद्ध
(३) सपक्षैकदेशवृत्ति और सर्वविपक्षवृत्ति — व्यभिचारी	(६) सपक्षैकदेशवृत्ति और विपक्षावृत्ति — सत् हेतु	(९) सपक्षैकदेशवृत्ति और विपक्षैकदेशवृत्ति — व्यभिचारी

विरुद्ध विरुद्ध

सत् हेतु

अनैकान्तिक अनैकान्तिक

॥ प्रमाणमीमांसाया परिशिष्टानि ॥

१ प्रमाणमीमांसायाः सूत्रपाठः ।

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥ २ ॥

स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥ ३ ॥

ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥ ४ ॥

अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥५॥

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥ ६ ॥

अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥ ७ ॥

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥

प्रमाणं द्विधा ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥ १० ॥

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥ ११ ॥

भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥१२॥

विशदः प्रत्यक्षम् ॥ १३ ॥

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥ १४ ॥

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥ १५ ॥

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ॥ १६ ॥

बाधकाभावाच्च ॥ १७ ॥

तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ॥ १८ ॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥ १९ ॥

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥ २० ॥

स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥ २१ ॥

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥ २२ ॥

भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥ २३ ॥

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥ २४ ॥

नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥२५॥

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥२६॥

अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥ २७ ॥

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ २८ ॥

स्मृतिहेतुर्धारणा ॥ २९ ॥

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥ ३० ॥

अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥ ३१ ॥

तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥ ३२ ॥

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥

कर्मस्था क्रिया ॥३५॥

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥ ३७ ॥

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायाः प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्—सू-४२ ।

अविशदः परोक्षम् ॥१॥

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ॥२॥

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥५॥

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥६॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥७॥

तद् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥८॥

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥९॥

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥

ऊहात् तन्निश्चयः ॥११॥

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥१२॥

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ॥१३॥

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधाः ॥१४॥

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥१८॥

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥१९॥

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् । सा सू ॥

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ॥१॥

वचनमुपचारात् ॥२॥

तद् द्वेधा ॥३॥

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥

नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥५॥

अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥६॥

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥८॥

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥९॥

बोध्यानुरोधात् प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥१२॥

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ॥१७॥

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥ १८ ॥

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥ १९ ॥

विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः ॥२०॥

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः ॥ २१ ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाणुघटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥ २३ ॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥ २४ ॥

वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥ २५ ॥

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥ २६ ॥

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥ २७ ॥

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥ २८ ॥

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि २९

तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः ॥ ३० ॥

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥ ३१ ॥

असिद्धिः पराजयः ॥ ३२ ॥

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥ ३३ ॥

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥

नाऽप्यसाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावने ॥ ३५ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्याध्यायस्य कियन्ति सूत्राणि—स सू ॥

---

२. प्रमाणमीमांसाया सूत्राणां तुलना ।

१ १ २ परी० १ १। प्रमाणन० १ २ ।
१ १ ५ लघी० स्ववि० १ ४ । प्रमाणन० १ १२ ।
१ १ ६ प्रमाणन० १ १४ ।
१ १ ७ प्रमाणन० १ १० ।
१ १ ८ परी० १ १३ । प्रमाणन० १ २१ ।
१ १ ९ १० परी० २ १ २ । प्रमाणन० २ १ ।
१ १ ११ परी० ६ ५६ ।
१ १ १३ न्याया० ४ । लघी० १ ३ । परी० २ १ । प्रमाणन० २ २ ।
१ १ १४ लघी० १ ४ । परी० २ ४ । प्रमाणन० २ ३ ।
१ १ १५ न्याया० २७ । परी० २ ११ ।
१ १ १६ योगसा० १ २५ ।
१ १ १७ लघी० स्ववि १ ४ ।
१ १ १८ प्रमाणन २ २०-२२ ।
१ १ १९ तत्त्वार्थ० १ २६ ।
१ १ २० तत्त्वार्थ० १ १४ १५ । लघी० १ ५,६ । परी० २ ५ । प्रमाणन० २ ५,६ ।
१ १ २१ न्यायसू० १ १ १२,१४ । तत्त्वार्थ० २ २०,२१ ।
१ १ २२ तत्त्वार्थ० २ १७ ।
१ १ २३ तत्त्वार्थ २ १८ ।
१ १ २४ न्यायमा० १ १ ० ।
१ १ २५ लघी ६ २-७ । लघी० स्ववि ६ ५,७ । परी० २ ६ ।
१ १ २६ २९ लघी १ ५ ६ । प्रमाणन २ ७-१० ।
१ १ २७ लघी स्ववि १ ५ ।
१ १ २८ लघी स्ववि० १ ५ ।
१ १ २९ लघी० स्ववि० १ ६ ।
१ १ ३० न्याया० २९ । लघी० २ १ । परी० ४ १ । प्रमाणन० ५.१ ।
१ १ ३१ ३२ न्यायवि० १ १५ ।
१ १ ३३ परी० ४ २ । प्रमाणन० ५.२ ।
१ १ ३४ न्यायवि० १ १९ । तत्त्वसं० का० १३४४ ।
१ १ ३७ न्यायवि० १ २१ ।
१ १ ३८ न्याया० २८ । आप्तमी० १०२ । परी० ५.१ । प्रमाणन० ६ ३ ।
१ १ ३९ लघी० १ ६ ।
१ १ ४० न्याया० २८ । आप्तमी० १०२ । परी० ५.१ । प्रमाणन० ६ ४,५ ।
१ १ ४१ अष्टश० का० १०२ । परी० ५.२ । प्रमाणन० ६ ६ ।
१ १ ४२ न्याया० ३१ । प्रमाणन ७.५४,५५ ।
१ २ १ न्याया० ४ । लघी० १ ३ । परी० ३ १ । प्रमाणन० ३ १ ।
१ २ २ लघी० ३ १ । परी० ३ २ । प्रमाणन० ३ २ ।
१ २ ३ परी० ३ ३ । प्रमाणन० ३ ३ ।
१ २ ४ परी ३ ५ १० । प्रमाणन० ३ ५,६ ।
१ २ ५ परी० ३ ११ । प्रमाणन० ३ ७ ।
१ २ ६ हेतुबि० टि लि० पृ० १८ ।
१ २ ७ न्याया० ४ । लघी० ३ ३ । न्यायवि २ १ । परी० ३ १४ ।
१ २ ८ न्यायवि० २ १,२ । न्याया १ । परी० ३ ५२,५३ । प्रमाणन० ३ ९ ।
१ २ ९ न्यायवि० २ ३ । न्याया० ५ । लघी० ३ ३ । परी ३ १४,५४ । प्रमाणन ३ १० ।
१ २ १० परी० ३ १६ १८ ।

१ २ ११ न्यायवि० २ १५९। परी० ३ १९।
१ २ १२ वै० सू० ९.२ १।
१ २ १३ न्यायवि० ३ ४०। न्याया० १४। न्यायवि० २ ३। परी० ३ २०। प्रमाणन० ३ १४।
१ २ १४ न्यायवि० ३ ५०। न्याया० १४। परी० ६ १५। प्रमाणन० ६ ४०।
१ २ १५ न्यायवि० २ ८। परी० ३ २५, २६ ३२। प्रमाणन० ३ १८ २०।
१ २ १६–१७ परी० ३ २७–३१। प्रमाणन० ३ २१,२२
१ २ १८ १९ न्यायवि० ३ १२२,१२३। परी० ३ ३७-४३। प्रमाणन० ३ २८,३४ ३८।
१ २ २० प्रमाणन० ३ ४३।
१ २ २१ परी० ३ ४७। प्रमाणन० ३ ४४।
१ २ २२ न्याया० १८। परी ३ ४८। प्रमाणन० ३ ४५।
१ २ २३ न्याया० १९। परी० ३ ४९। प्रमाणन० ४६।
२ १ १ २ न्याया० १०,१३। न्यायवि० ३ १,२। परी० ३ ५५,५६ प्रमाणन० ३ २ ३।
२ १ ३ ६ न्याया० १७। न्यायवि० ३ ३-७। परी० ३ ९४ ९७ प्रमाणन० ३ २९ ३३
२ १ ५ न्यायवि० ३ ६।
२ १ ६ प्रमाणन० ३ ३३
२ १ ७-८ न्याया० १४। परी० ३ ३४ ३६,९८। प्रमाणम० ३ २४ २५
२ १ ९ परी ३ ३७। प्रमाणम० ३ २८।
२ १ १० परी० ३ ४६। प्रमाणन० ३ ४२
२ १ ११ न्यायसू० १ १ ३३।
२ १ १२ न्यायसार पृ० ५।
२ १ १३ न्यायसार पृ० १२।
२ १ १४ परी० ३ ५०। प्रमाणन० ३ ४७।
२ १ १५ परी० ३ ५१। प्रमाणन० ३ ४८
२ १ १६ न्यायप्र० पृ० ३। परी० ६ २१। प्रमाणन० ६ ४७।
२ १ १७ न्याया० २३। परी० ६ २२ २८। प्रमाणन० ६ ४८।
२ १ १८ न्यायवि० ३ ५८। प्रमाणन० ६ ४९।
२ १ १९ प्रमेयक० पृ० १९१ A प० १०
२ १ २० न्याया० २३। परी० ६ २०। प्रमाणन० ६ ५२।
२ १ २१ न्यायवि० ६ ९५। न्याया० २३ परी० ६ ३० ३४। प्रमाणन० ६ ५४ ५७।
२ १ २३ न्यायवि० ३ १२५। परी० ६ ४०,४१। प्रमाणन० ६ ६० ६२।
२ १ २४ न्यायवि० ३ ११०। परी० ६ ४४। प्रमाणन० ६ ७१-७३।
२ १ २५ न्यायवि० ३ १२६,१३१ १३३। प्रमाणन० ६ ६३ ६५, ७४ ७६।
२ १ २६ न्यायवि० ३ १२८,१३६। परी० ६ ४३,४५। प्रमाणन० ३ ६८,७९
२ १ २७ न्यायवि० ३ १२७,१३५। प्रमाणन० ६ ६७,७८।
२ १ २८ न्यायप्र० पृ० ८। न्यायवि० ३ १३८,१३९।
२ १ २९ न्यायप्र० पृ० ८। न्यायवि० ३ १४०,१४१ न्यायवि० २ २०२।
२ १ ३० प्रमाणसं० परि० ४। न्यायवि० २ २१२। प्रमाणन० ८ १।
२ १ ३१ ३३ तत्त्वार्थश्लो०पृ०२८१ प०२।
२ १ ३४ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८३ श्लो० ९० से।
२ १ ३५ न्यायवि० २ २०८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१ श्लो० ६२ से।

-०००○००-

३ प्रमाणमीमांसागतानां विशेषनाम्नां सूची ।

[अ]

अकलङ्क १ ११
अक्षपाद १ ६, ५२. १४, ५९. १६ ७२ ९
अङ्गारमर्दक १८ ११
अद्वैतवादिन् ४० १०
अर्हत् १ ९, १२. ११

[ई]

ईश्वरकृष्ण २४ १

[ए]

एकान्तपरासत्त्ववादिन् ३१ १५
एकान्तनित्यानित्यपक्षवादिन् ३१
एकान्तसदसत्त्ववादिन् ३१ १५

[औ]

औलूक्य २७ २६

[क]

कणाद १ ६
कपिल ५५. १९, २१
काणाद २७ १३, २५. ६
काव्यानुशासन १ ९
कुमारिल १२. ३

[च]

चार्वाक ७ १, ७ १८

[छ]

छन्दोनुशासन १ ९

[ज]

जैन १ ४, ५
जैमिनि १४ १०
जैमिनीय २३ १६

[त]

तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति १ १
त्रिलोचन ७२ २०

[ध]

धर्मकीर्ति १. ११, ८. १६, ७२ १२

[न]

नैयायिक ६ १६, ७. ११, २२. २१, २२, ४१ १, ४३ १९, ५७ ६
न्यायवादिन् ४२. १७, ४३ ६, ४४ १६
न्यायविद् ६१ २३

[प]

पाणिनि १ ६
पारमर्ष २५ ७
पिङ्गल १ ६
प्रमाणपरीक्षा २ १०
प्रमाणमीमांसा १ १०
प्रभाकर ७ १९

[ब]

बौद्ध ४५. १
ब्रह्म १९. ११

[भ]

भट्ट ३६ ९, ५४ १९
भद्रबाहु ५९. ९
भाट्ट ७ १९
भाष्यकार २२. ९
भाष्यकारीय ६६ १
भिक्षु ३९ १०

[म]

महेश्वर १२. ११
मीमांसक ५९. ५

[य]

यौग २५. ९, २८. १६, ३७. १

[ल]

लौकायतिक ७ २५

[व]

वाचक १९. १५
वाचकमुख्य १ ९, २. १०, १९. १२, २५. ३
वाचस्पति २२ १७
वार्त्तिककार ६६ ११
विष्णु १२. ११
वृद्धसम्मति २४ १३
वैशेषिक ७ १, ३७ १५, ४५. ११

[श]

शब्दानुशासन १ ९, २ १

[स]

सांख्य ७ ११, १७ १९, ४२. ५, ११, ४५. ७
सिद्धसेन २५. ७
सौगत ६ २६, ७ १०, ८. २१ ७२ ९, २१ ८, २८. १९, ३९ १३, ४० २१, ४६ ११, ५२. ११, ७२. ९, २१
स्याद्वाद ३० ९
स्याद्वादिन् २८ ९

१ अस्मिन्परिशिष्टे स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माश्च पङ्क्तिसूचकाः ।

४ प्रमाणमीमांसागतानां पारिभाषिकशब्दानां सूची ।

[अ]

अकृताभ्यागम ३२. ३

अक्ष (इन्द्रिय) ७ १८

अक्ष (जीव) ७ १७

अज्ञान ७१ ५.

अज्ञाननिवृत्ति ३० १२

अज्ञानविनिवर्तन ३० १५

अतिप्रसङ्गापादन ६० १७

अतिव्याप्ति ३ १२

अतीन्द्रियार्थदर्शिन् १२. १५

अथ १ १०

अदोषोद्भावन ७२. १

अधिक (निग्रहस्थान) ६९ २१

अध्यवसाय २८ १७

अध्याय १ १५

अनध्यवसाय ५. ११

अननुभाषण ७० २६

अनन्वय ५९. ७

अनन्वयदोष १० १

अनर्थजन्यत्व ५. ७

अनवस्था ३ ११ २८ ६

अनित्यसमा ६२. ६

अनिन्द्रिय १९. १

अनुत्पत्तिसमा ६१ १

अनुपलब्धिसमा ६१ १७

अनुपलम्भ ३६ ९

अनुमानत्व ३ [illegible]

अनुमिति ३ २७

अनुमान ६ ६, ७ १, ८ २५, ११ १९, १४ २१ ३० २ ३२ ७, ३६ २७, ३८ २२

अनुमानाङ्ग ४७ २७

अनुमानानुमेयव्यवहार ४६ २

अनुमानबाधा ४६ ५

अनुवाद ७० १

अनुवादभङ्गी २३ १८

अनुवृत्तिकल्प ११ १२

अनेकान्त १८. ७

अनेकान्तवाद १९. ६

अनैकान्तिक ३९. ११, ५४ ३, ५६ १०

अन्तर्व्याप्ति २. १५, ४८ १५

अन्यथानुपपत्ति ४९ २२

अन्यथानुपपन्न ४५. ११

अन्यथानुपपन्नत्व ४० २५

अन्योन्याश्रय ३ १२

अन्वय १९. २९, ४८. १९, ५० १ , ५८. २१

अन्वयव्यतिरेक ९. २

अपकर्षसमा ६० ८

अपसिद्धान्त ७२. १

अपायक ६८. २२

अपूर्वार्थनिर्णय ४ १९

अपूर्वार्थविज्ञान ४ १८

अपौरुषेय ११ २२, १५ १

अप्रतिपत्ति २८ ९, ६५. १२

अप्रतिभा ७१ १

अप्रदर्शितव्यतिरेक ५८. २५

अप्रदर्शितान्वय ५८ २५

अप्रयोजकत्व ४ ८

अप्राप्तकाल ६९. १२

अप्राप्तिसमा ६० २१

अप्राप्यकारित्व २३ ७

अबाधितविषयत्व ४१ २

अबाध्य ५५. २

अभाव ७ १२ ८ ३

अभाव (दोष) २८ १२

अभावांश ९. १०

अभिधेय ५० ९.

अभूतदोषोद्भावन ५९ २

अर्थ ३ ३, ५, ८, १ , १९. २५

अर्थक्रिया ११ १०, २५. १७

अर्थक्रियानिर्भास ५. २५, ६ ११

अर्थक्रियासामर्थ्य २५ १२

अर्थक्रियोपपत्ति २९. ६

अर्थनिर्णय ३ [illegible]

अर्थपुनरुक्त ७० १२

अर्थप्रकाश २९. १७, ३० ६

अर्थानुत्पाद ५. २

अर्थान्तर ६७ ११
अर्थापत्ति ३ १, ७ ११
अर्थापत्तिसमा ६१ ११
अवग्रह ४ १४ २१ ४ २२. १०, ३० १८
अवधि (ज्ञान) १४. ७
अवयव ७४ ११
अवर्ण्यसमा ६० १६
अवाय २१ १८, ३० ४
अविनाभाव ४ १५, ६ २०, २१ ११, २३ १४
३ १
२२. ९
...वार (ज्ञान) १ १६
६८ १६
अविनाभाव ४१ १५
अविनाभावसम्बन्ध ४८. १
अविनाभावनियम ४० ११
अविरुद्ध ३३ ३
अविशेषसमा ६१ १५
अविसंवादित्व ३३ ११
अविसंवादिन् ६

११
२५. १८
७२. १
असाधारण ३९. ११
असाधारणत्व ४२. ७
असिद्ध (हेत्वाभास) ३९. १६, ५४ ३, १०
असिद्ध ४५. ९
असिद्धि ६५ ३
अहेतु ५४ ७
अहेतुसमा ६१ ८

[आ]

आक्षेप ६७ १५
आगम ७ १, ८. १५, ११ ९, १४ १, ३९ ७
आगमबाधा ४६ ६
आत्मन् १० ११, ३१ २१
आत्मसंवेदन ८. १४
आत्मार्थ ४५. १७
आनन्द १ १
आनुमानिक १४ १९
आलोक १९. १५
आवरण १० १७
आवरणविच्छेद १४ ५
आविर्भाव ५४ ८
आश्रयासिद्ध ५५. १८
आश्रयैकदेशासिद्ध ५५ १९
आह्निक १ १५

[इ]

इतरेतराश्रय ३ २१
इन्द्र (आत्मन्) १६ २१
इन्द्रिय १६ १८, ३६ १
इन्द्रियत्व ८. १७

[ई]

ईश्वर ४ २७, २१ १५, ३० ९

[उ]

उत्कर्षसमा ६० ८
उदाहरण ४८. ११, ५२. १६, ५३ १
उदाहरणदोष ५७ १
उद्देश २. ७
उद्धरण ६५. ११
उपकार २६ ७
उपकार्योपकारकभाव २६ १२
उपचार ४९ ९, १५,
उपचारच्छल ६३ १
उपनय ५२ १६ ५३ १२
उपपत्तिसमा ६१ १०
उपमान ७ ११, ३५. ५
उपयोग (भावेन्द्रिय) १८ १९
उपलब्ध १७ १८
उपलब्धिसमा ६१ ९
उपक्रम ३६ ९
उपसंहार ५३ ११
उपादानभाव २७ ९
उपाक्रम ६३ २७
उभयविकल्प ५७ १५
उभयासिद्ध ४७ १२
उभयान्वयविरोधिन् ५७ ११
उभयान्वय... ५७ [illegible]
उभयासिद्ध ५५. १

[ऊ]

ऊर्ध्वतासामान्य २५. १
ऊह ८ १५, ९१ ११, ३० ९, ३३ १
३६ ९, ४१ १७
ऊहापोह ३७. १५

[ए]
एकत्ववितर्क (ध्यान) १० १३
एकार्थसमवाय ४५ ३
एकार्थसमवायित्व ४४ २२
एकार्थसमवायिन् ४२ १
[औ]
औपचारिक (अनुमान) ४९ १७
[क]
कथञ्चिद्भेदाभेदवाद २८ ९
कथा ६३ १४
करण ६ १८
कल्पना २३ ९
कर्मप्रमातृता ३२ १०
कारण ३४ ७, ४२ १, २२
कारणानुपलब्धि ४५ १३
कार्य ४२ १, ४३ १८
कार्यकारणभाव ४४ २५
कार्यसमा ६२ ११
कार्यानुपलब्धि ४५ १०
कालक्रम २६ २२
कालातीत ५४ ७
कालात्ययापदिष्ट ५५ ९
कूटस्थनित्यता ११ ११
कृतनाश ३२ ३
केवल १० १४, २ ; १३ ७
केवलज्ञान १२ ९
क्रमभावनियम ४१ १२
क्रमभाविन् ४१ १२
क्रिया २९ २६
क्षणभङ्गवाद २७ २
क्षणिक २७ ७
क्षायोपशमिकत्व १५ १५
क्षीणकषाय १५ १७
[ग]
गति १५ २१
गुणस्थान १५
गुणस्थानक १५ २५
गृहीतग्राहिन् ४ १९
गृहीष्यमाणग्राहिन् ४ १९
ग्राह्यग्राहकभाव २० ९
[घ]
घातिकर्मन् ११ १ ; १३ ७
घ्राण १६ १०
[च]
चक्षुष् १६ १०
चतुरङ्ग ७४ २०
चतुरङ्गा ६३ १४
[छ]
छल ६२ २१
[ज]
जन्यजनकभाव २० ९
जय ६४ २६
जल्प ६३ २१, ३
जाति ६० १
जातिवादिन् ६० २०
जात्युत्तर ५९ २
ज्ञान १ १
ज्ञानप्रकाश ४ ९
ज्ञानावरण १० १०, १९ २०
[ड]
डिण्डिकराग ५१ १९
डिम्भहेवाक ८ १२
[त]
तत्त्वसंरक्षण ६३ ९
तथोपपत्ति ४९ २३
तदाकारता २० १०
तदुत्पत्ति २० १०
तर्क २७ २ ; ४१ २५
तात्पर्य ५० ६
तादात्म्य २७ १२
तायिन् १ ९
तिरोभाव ५५ ८
त्रैरूप्य ४० ९
त्रैलक्षण्य ३९ १०
[द]
दर्शन १ १ २१ २
दूषण ५९ १५; ६३ ९
दूषणवाक्य ६८ १२
दूषणवादिन् ७३ २०
दूषणा ५९ १८
दूषणाभास ५९ २
दृष्ट २५ १०
दृष्टान्त ५० २६, ५८ ३, ८
दृष्टान्तदोष ५७ १
दृष्टान्तवचन ५३ ९

दृष्टान्ताभास ५७ ९
दृष्टान्ताभिधान ४८. १३
देशक्रम २६ ११
दोष ५९. १५
द्रविडमण्डकभक्षणन्याय ३३ १
द्रव्य ४ २, ४ २, २७ १५
द्रव्य (इन्द्रिय) १६ १८
द्रव्यपर्यायात्मकत्व २४ २६
द्रव्यपर्यायात्मक २८. १
द्रव्यमनस् १९. १०
द्रव्यवाद १८. १६
द्रव्याचरित १७ २१
द्रव्येन्द्रिय १८. ११
द्रव्यैकरूप २५. १०
द्रव्यैकान्त २६ १९

[ध]

धर्म ४६ ११
धर्मतीर्थ १ २
धर्मधर्मिन्याय ४६ २१
धर्मिन् ४६ १९, १८
धारणा २९. १, ३ २
धारावाहिज्ञान ४ १९, २१

[न]

नामकर्म १६ २१
निगमन ४२. १९, ५३ १०, ७३ १७
निग्रह ६५. ८
निग्रहस्थान ६६ ११
नित्यसमा ६९. १
निरनुयोज्यानुयोग ७१ २
निरर्थक ६८. ५
निर्णय ३ १, ७ ७
निर्विकल्प २३ १३
निषेध ४२. ३
निषेधसाधकत्व ४५ ९
नोइन्द्रिय १९. १
नोदना १९. ८
न्याय ४५ २
न्यून ६९ २१, ७४ १५

[प]

पक्ष ४५ १, ६६ १२
पक्षत्रयव्यापक ५६ २१
पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति ५७ ६
पक्षदोष ५४ ८
पक्षधर्मता ४० १९
पक्षधर्मत्व ३९. १६, ५४ ११,
पक्षधर्मोपसंहार ५१ २२, ७२ १४
पक्षविपक्षव्यापक ५६ ७, १
पक्षविपक्षव्यापकसपक्षैकदेशवृत्ति ५७ १
पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति ५६ ९, १३
पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापिन् ५७. ७
पक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति ५६ ७, ११
पक्षव्यापकसपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति ५७ २
पक्षसपक्षव्यापकविपक्षैकदेशवृत्ति ५७ १
पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापिन् ५७ ५
पक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापक ५६ ८, १२
पक्षैकदेशवृत्तिसपक्षविपक्षव्यापक ५७. ३
पक्षैकदेशासिद्ध ३९. १९
पञ्चदशप्रकार ४१ १
पद ५८ २०
पर १ ११
परपक्ष ६४ ३
परमार्थसत् २५. ६
पराजय ६५ ३
पराजयाधिकरण ७२. ९
परार्थ ३९. ७, ४५ १७, ४९. २
परिणामिन् ३३. ११
परिणामिनित्य ३३ ११
परीक्षा २. ११
परोक्ष ७ १६, ९, ८. १५; ९. ७, ३३ ३
पर्यनुयोज्योपेक्षण ७१ २१
पर्याय ४ १, ११ १२, २५. ९, २७ १९
पर्यायाचरित १७ २२
पर्यायैकान्त २७ १३
पर्यायैकान्तरूप २६ १
पर्यायैकान्तवाद २६ १०
पर्युदास ७४ १९
पाणि १७ १८
पाद १७ १८
पुद्गल १८. ११
पुष्कल ५१ १८, ७० ३
प्रकरण १ १७
प्रकरणसम ५९ ७, १
प्रकरणसमा ६१ ६
प्रकाश ५० २

प्रकाशप्रकाशकभाव ७० १९
प्रज्ञा ११ २९
प्रतिक्षणविनाशिन् २६ ४
प्रतिज्ञा ५० १७, ५२ १६, २७
प्रतिज्ञान्तर ६६ २१
प्रतिज्ञाविरोध ६७ ९
प्रतिज्ञासंन्यास ६७ १९
प्रतिज्ञाहानि ६५ २०
प्रतिदृष्टान्त ६५ २०
प्रतिदृष्टान्तसमा ६० २१
प्रतिपक्ष ६६ १३
प्रतियोगिन् ९ १७
प्रतिवादिन् ५५ ७, ६३ ८, ६५ ८
प्रतिवाद्यसिद्ध ५५ [illegible]
प्रतिसंख्यान २१ १३
प्रतिसमाधान ६२ १०
प्रतीतिबाधा ४६ ९
प्रत्यक्ष ६ ९, ७ १, ११, १९, २१, ८ २५, ९ ९, २९, ११ १८, १४ १, २२ २३, २३ ८, १०, २४ ७, १३, ३५ १६, २५, ३६ २७
प्रत्यक्षबाधा ४६ ३
प्रत्यक्षाभास ५३ २१
प्रत्यक्षेतरप्रमाण ७ २६
प्रत्यभिज्ञान ८ २५, ३० ९, ३३ ७, ३४ १२
प्रत्यवस्थान ५९ २५
प्रत्यासत्ति १७ २०
प्रमाद ५५ १८
प्रमत्त (गुणस्थान) १५ [illegible]
प्रमाण २ ५, ९, ३ १०, १५, ४ १०, ६, १३, २३, २१, ७ ७, ३० ७, १८
प्रमाणफलभाव ३० ९
प्रमाणसंप्लव ७० १
प्रमाणसिद्ध ४६ १८
प्रमाणाभास ५३ २५
प्रमाता ३१ ११
प्रयोग ५० १५
प्रयोगप्रकार ४६ १७
प्रसङ्गसमा ६० २५
प्रसज्यप्रतिषेध ७८ १८
प्राप्तिसमा ६ [illegible]
प्राभाकरिन् २३ ५
प्रामाण्यनिश्चय ६ १
प्राश्निक ६३ ९, १३
प्रैषप्रयोग ५२ ८

[फ]

फल २९ १०, ३० १९

[ब]

बहिर्व्याप्ति ४८ १७
बाधकप्रमाण ४२ ५
बाधा ४१ ८, ४६ २
बुद्धिसिद्ध ४७ २
बुद्ध्यारूढ ४६ ९
बोधिबीज १ ३
बोध्य ४२ १९
ब्रह्म १३ १३, १८ ३

[भ]

भगवत् १४ ७
भवप्रत्यय (अवधिज्ञान) १५ ९
भागासिद्ध ५५ १०
भाव (इन्द्रिय) १६ १८
भावमनस् १९ १८
भावना ९ ११
भावेन्द्र १८ २१
भावेन्द्रिय ४ ९, १३, १८ १९

[म]

मङ्गल २ २, ७
मति १९ १७
मतानुज्ञा ७१ १९
मनःपर्याय १५ ७
मनस् १५ ११, १९ ८
मनस्कार १९ २१
मानस ८ २७, ९ १५
मीमांसा २ ६
मीमांसा (शब्द) २ १७, १८
मुख्य १५ ३
मुख्य (प्रत्यक्ष) १० १७

[य]

याचितकमण्डनन्याय ६ २९
योगिज्ञान ८ १५, ६४ ५
योगिन् ७० ३
योगिप्रत्यक्ष १२ १५

[र]

रसन १६ १०
रूप १९ ११

[ल]

लक्षण २ ८
लक्षणार्थ २ ११
लघिम १८ १९
लिङ्ग ३८ १९, ३९ ११
लिङ्गिन् ३८ १९
लोकभाषा ४६ ७

[व]

वर्ण्यसमा ६० १३
वर्धमानपरिणाम १४ १५
वस्तु ८ ३, २४ ११, ३५ ११
वाक् १७ १८
वाग्दण्ड ६२ १५
वाचकत्व ५० ९
वाद ६३ ७, १५
वादिन् ५५ ७, ६३ ८, ६५ ८
वाच्यसिद्ध ५५ ६
वासवदत्तावत्सराजपरीक्षा २३ १३
वासना २३ १०
वासनाप्रबोध २३ १९
विकल्प ६ १९, ७ १ २१ ११ ३७ ७
विकल्पशुद्धि ४६ १९ ४७ ३
विकल्पसम्म ६ १३
विक्षेप ७१ १९
वितण्डा ६२ १९ ६४ १
विधि १२ १ ८५ ३
विधिसाधकता ४५ ९
विनाशपरावृत्ति ३ ३
विपक्षैकदेशवृत्ति ४० ७
विपरीतनियम ५५ १०
विपरीतव्यतिरेक ५८ १६
विपरीतान्वय ५८ १६
विपर्यय ५ १०
विप्रतिपत्ति ३४ ९ ६५ १३
विभाग २ ९
विरुद्ध ३९ १६ ४५ १६, ५५ ३, ५५ ९
विरुद्धकार्य ४५ १६
विरुद्धधर्माध्यास २२ १७
विरोध ३ ११ २८ १
विरोधिन् ४२ १
विवर्त २५ ९
विवाद ९ १६
विशेषणासिद्धत्वाभाव २६ ११
विशेषणासिद्ध ५५ १६
विशेषसामान्य २ ८ ९
विशेष्यासिद्ध ५५ १७
विषय ४ ११ ३४, ५
विषयव्यवस्था २८ ९
विषयोपदर्शन ४० २७
वीप १ १
वीर्यान्तराय १७ १
वृत्ति २४ १३
वेद १२ १
वैतण्डिक ६४ ३
वैधर्म्य ५८ १८, ५७ ९
वैधर्म्यदृष्टान्त ५८ १०
वैधर्म्यदृष्टान्ताभास ५७ १५
वैधर्म्यसमा ६० ७
वैयर्थ्योद्भावन ५३ १
वैशद्यलक्षण २८ ७
वैशद्य १ ६
व्यभिचार २८ ८
व्यतिरेक २० १, ५८ १९ ५ १ ; ५८ ११
व्यतिरेकिन् ९ ३
व्यभिचार ३ ११
व्यर्थविशेषणासिद्ध ५५ २
व्यर्थविशेष्यासिद्ध ५५ १९
व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव २० ८
व्यापक ३८ ३
व्यापकधर्मता ३८ ५
व्यापकानुपलब्धि ४५ १५
व्याप्ति ३८ ३
व्याप्तिग्रहणप्रकार ४६ १५
व्याप्तिज्ञान ३६ ३
व्याप्तिदर्शनभूमि ४८ ९
व्याप्तिस्मरण ४८ १
व्याप्त्युपदर्शन ५ १४
व्याप्य ३८ ३
व्याप्यधर्मता ३८ ११

[श]

शब्द (प्रमाण) ८ २१
शब्दपुद्गल ७० ११
शब्दार्थ ४० ८
शाब्द ६ १३
शास्त्र १२ १५
शासन १२ २१
शिपञ्चित् २३ १५
शुक्लध्यान १३ ७
शुद्धि ४२. ९ ४३ २१
श्रुत १९. १२
श्रोत्र १६ १८

[स]

सकल १५ २३
सकलासकल १५ २३
संयुक्तसंयोग (सन्निकर्ष) २३ ९
संयोग ७६ ७
संवादक ६ १
संविद् ४ ३, ६ ७
संव्यवहार १६ ८
संशय ५ ७ ७८ ९
संशयसमा ६१ ३
सत्याभास ५३ २९
संस्कार २२. ९ ५
सकलार्थदर्शिन् १४ १८
सङ्कर ७८. ७
सङ्क्रम ३४ १२
सत् २५ ७
सत्तायोग ७७ १९
सत्त्व २७ १०
सन्तान २६ १५, ७७ १
समापत्ति ६३ १२
सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक १४ ३ ४० ८
सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध ५५ १२
सन्दिग्धविशेषणासिद्ध ५५ २१
सन्दिग्धसाधनधर्मान्वय ५८ ७
सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक ५८ ११
सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति ५९. ५
सन्दिग्धसाध्यधर्मान्वय ५८ ९
सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक ५८. १
सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति ५९ ७
सन्दिग्धसाध्यादिव्यतिरेक ५८. २
सन्दिग्धसाध्यान्वय ५८ २
सन्दिग्धान्वय ४० २
सन्दिग्धासिद्ध ४९. २२ ५४ २१
सन्दिग्धोभयधर्मान्वय ५८ ८
सन्दिग्धोभयव्यतिरेक ५८. १२
सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ५९ ५
सन्निकर्ष २२ ११
सपक्ष १७ ९
सपक्षाव्यापिन् ४९ २५
सभ्य ६३ ११
समवसरण १३ ८
समवाय ७६ ८
समवायिन् ४४ २१
समाधान ६७. २५
समय ३ ११
सम्यक्त्व १२ २१
सम्यग् ३ ९
सम्यगुत्तर ६२ १
सर्वज्ञ १२ २१ १४ २२
सर्वज्ञता १२ १९
सविकल्पक २३ १२
सहक्रमभावनियम ४१ १२
सहकारिन् २५ २०
सहचारिभाव ७७ ९
सहभाविन् ४१ १२
सांव्यवहारिक ६ २०, १६ २
साधन ३८ २१, ४२. ९; ४७ २०
साधन (परार्थानुमान) ४९. १५ ६३ ६; १७
साधनत्व ४७ २९
साधनदोष ५४ ७
साधनदोषोद्भावन ५९. १५
साधनधर्म ५३ १८
साधनवचन ४२. २९
साधनवादिन् ७३ २०
साधनविकल ५७ १५
साधनवाक्य ६८. १२
साधनाभास ६५ ५
साधनाभिधान ४९. २
साधनाव्यतिरेकिन् ५७ ११
साधनाव्यावृत्त ५७ १३
साधर्म्य ४८. १४; ५७ ९

साधर्म्यदृष्टान्त ४८ ११
साधर्म्यदृष्टान्ताभास ५० १२
साधर्म्यप्रयोग ६० २
साधर्म्यसमा ६० १
साधर्म्योदाहरण ५३ ८
साधारण ४ ९
साधारणधर्मोपलम्भ ६९ १७
साध्य ४५ २ ; ४६ ११
साध्यधर्मिन् ५३ १७
साध्यनिर्देश ५२ १७
साध्यप्रतिपत्ति ४८ १
साध्यविकल ५७ १५
साध्यविज्ञान ३८ ११ ४९ ५
साध्यसमा ६० १४
साध्यसाधनभाव ४५ २
साध्याव्यतिरेकिन् ५७ २
साध्याविनाभाव ३९ ८
साध्याव्यतिरेकिन् ५७ २१
साध्याभ्यनुज्ञ ५९ ७
सामान्यच्छल ६२ २
सामान्यलक्षण २ ८
सिद्धि ६४ २२
सिषाधयिषित ४५ ९
सूत्र १ १७ ३५ १७
सर्वज्ञ १६ १०
सुगत १० ५
स्मरण ३५ १२
स्मृति ५ १; ८ २५; ३२ १; ३० २ ;
३३ ७; १२
स्याद्वाद १२ १२
स्वनिर्णय ३ १७; ४ २; १
स्वपक्ष ६४ १; २२
स्वपरावभासिन् ३१ ११
स्वभाव ४२ १; ७
स्वभावानुपलब्धि ४५ १२
स्वरूपासिद्ध ५४ १२
स्ववचनबाधा ४६ ८
स्वसंवेदन ३ २०; ४ १; १६ १२
स्वार्थ ३९ २; ८

[ह]

हानादिबुद्धि ३१ ७
हेतु ५२ ११; १२; २२
हेतूपनय ५४ ९
हेतुप्रमाण १९ २२
हेत्वन्तर ६७ २१
हेत्वाभास ५४ १; ७२ ९
हेत्वाभासता ५३ २०



५ प्रमाणमीमांसागतानामवतरणानां सूची।

[अ]

अभिलषमाण क्रमस्य [प्रमाणवा १ १०] ४४ ६
अथ प्रमाणपरीक्षा [प्रमाणप० पृ० १] २ १६
अत्रापि नित्यं परमार्थसत्त्वम् [न्यायम पृ० २११] २७ १
अथापि सदसत्त्वात् [तत्त्वस का १२ ८] १२. ३१
अनिग्रहस्थाने [न्यायसू ५. २ २१] ७१ २०
अनुपलम्भात् कारणव्यापकानुपलम्भाच [ ] ३७ ११
अन्यथाऽनुपपन्नत्वम् [ ] ४० २५
अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता [श्वेताश्व ३. १९] ११ २७
अभिलापसंसर्गयोग्य-[न्यायबि १ ५,६] ७३ ९
अयमेवेति यो ह्येष [श्लोकवा अभाव श्लो १५] ९. ६
अयमिन्द्रिया न युज्येत [कवी २ १] ११ १०
अर्थक्रियाऽसमर्थस्य [प्रमाणवा १ २१५] ४४ २२
अर्थस्यासम्भवेऽभावात् [धर्मकीर्ति] ८ २
अथाऽऽपन्नस्य स्वशब्देन [न्यायसू ५ २ १५] ४१ १८
अर्थेन घटयत्येनाम् [प्रमाणवा ३ ३ ५] ७० २०
अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् [ ] ६ १६
अल्पाक्षरमसन्दिग्धम् [ ] ३४. १२
अविच्चुई धारणा होइ [विशेषा गा १८] ४२. ९
असाधनाङ्गवचनम् [वादन्याय का १] ७२.१२

[आ]

आपेक्षापेक्षिणी सत्ता [ ] ४४ ०
आवर्तवर्तनाशालि-[न्यायम पृ १] ४२ २

[इ]

इदमसर्वं महद्दूरम् [कवी ३ १२] ३४ ९
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् [न्यायसू १ १ ४] ७७ ३२

[उ]

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् [तत्त्वार्थ ५. २९] ५. ३
उपन्नेइ वा विगमेइ वा [ ] ७४ ९
उपमानं प्रसिद्धार्थ-[कवी० ३ १०] ३५. ०

[ए]

एष सत्यनुमानित्वम् [श्लोकवा सू ४ श्लो० ३६] ७३ १९
एकसामग्र्यधीनस्य [प्रमाणवा १ १] ४३ ८
एकार्थसमवायस्तु [ ] ४४ २

[क]

कल्पाइ पञ्चावयवं [दश०नि ५] ५२. २१
कार्यं धूमो हुतभुजः [प्रमाणवा १ ३५] ४३.२५
कार्यव्यासङ्गात् [न्यायसू० ५. २ १९] ७१ १२
कालमसम्यक् सर्वं च [विशेषा गा ३३३] ३३ १८
किन्त्वस्य विनियतत्वे [तत्त्वस का २२५] ३२.१

[ग]

गतानुगतिको लोकः [न्यायम पृ ११] ६४ १६
गम्भीरगर्जितारम्भ [न्यायम पृ १२९] ४३ १७
गृहीत्वा वस्तुसद्भावम् [श्लोकवा अभाव श्लो २७] ९ १७

[ज]

जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं [विशेषा गा ८१७] १४ १७
ज्ञानमप्रतिघं यस्य [ ] १७ २०
ज्ञानादविरिक्तो भावनाख्य [ ] ८२. ६

[ड]

डिण्डिकरागं परित्यज्य [हेतु परि १] ४१ १९

[त]

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम् [न्यायसू ४ २ ५] ६३ २१
तत्रापूर्वार्थविज्ञानम् [ ] ४ १८
तस्मात् प्रयोग पुरुषस्य [धावरमा १ १ ५] ८४ ५
तथैव नित्यचैतन्य-[तत्त्वसं का २२०] ३०. ८
त्रिकालविषयं तत्त्वम् [सिद्धिवि वि पृ ३१७ A] १२. १२

[द]

दुःशिक्षितकुतर्काश-[न्यायम पृ ११] ६४ १४
दृष्टान्ताभावस्त [न्यायवा ५ १ २] ६६ ११
दोहि वि णएहि [सन्मति ३ ४९] ८५. ८

[ध]

धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे [सिद्धिवि॰ टि॰ पृ॰ ४१२ A] १२. ४

न च कार्यमोक्षत्वे [तत्त्वस॰ का॰ २१०] ३२. ११

न तावदिन्द्रियेणैषा [श्लोकवा॰ अभाव॰ श्लो॰ १८] ९. १९

नर्त तदागमात्सिध्येत् [श्लोकवा॰ सू॰ २ श्लो॰ १४४] ११ २१

न स्मृतेरप्रमाणत्वम् [न्यायम॰ पृ॰ २३] ५ ३

नानुकृत्यान्वयव्यतिरेकम् [ ] ३४ ७

नानुपलब्धे न निर्णीते [न्यायभा॰ १ १ १] ४४. २०

नामतो हेतुवा नापि [ ] ५९. ११

नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति [प्रमाणवा॰ १ १९२ ३] ४७ ९

नोदना हि भूतं भवन्तम् [शाबरभा॰ १ १ २] १२. ८

[प]

पक्षधर्मो भवेद्यत्र [ ] ३४ २२

पयोम्बुभेदी हंसः स्यात् [ ] ३४ २

पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन [ ] ३४ १२

पुष्पं सुगन्धि सह [भाव॰ नि॰ ५] ७१ ६

पुरुषो विप्रसन्नवमक्ताया [वशवै॰ ३ १] १७ ९

पूर्वप्रमितमात्रे हि [तत्त्वस॰ का॰ ७५१] ३७ २

प्रतिज्ञाहेतूदाहरण [न्यायसू॰ १ १ ३२] ४२. १८ ७४ १३;

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध [न्यायसू॰ ५. २. ४] ६० ९

प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा [न्यायसू॰ ५. २ २] ६४ १

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् [सांख्यका॰ ५] ७४ १०

प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम् [न्यायबि॰ १ ४] २३ ८

प्रत्यक्षमनुमानं च [प्रमाणसमु॰ १ २ न्यायबि॰ १ ३] ७ १७

प्रत्यक्षागमबाधित- [ ] ४४ ८

प्रत्येकं यो भवेद्दोषः [ ] २९. ३

प्रमाणं स्वपराभासि [न्याया॰ १] ३ १२

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ [न्यायसू॰ १ २ १] ६३ २०

प्रमाणनयैरधिगमः [तत्त्वार्थ॰ १ ६] २. ११

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् [प्रमाणवा॰ २ १] ६ २६

प्रमाणस्य फलं साक्षात् [न्याया॰ २८] ३० १५

प्रमाणेतरसामान्य- [धर्मकीर्ति] ८. १८

[ब]

बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् [हेतु॰ परि॰ ४ ४३] ८

[भ]

भिन्नकालं कथं ग्राह्यम् [प्रमाणवा॰ ३. २४७] २० ११

[म]

मतिश्रुतयोर्निबन्धः [तत्त्वार्थ॰ १ २७] १९.१७

मनेन मानेन मनोभवेन [अयोग॰ २९] १३ १७

[य]

यत्र तत्र समये यथा तथा [अयोग॰ ३१] १४ ३

यथाहि कुण्डलावस्था [तत्त्वसं॰ का॰ २२३] ३२. ६

यथोक्तोपपन्नच्छलजाति- [न्यायसू॰ १ २ २] ६ ६३ ३

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमः [अयोग॰ २१] १० ११

यत्राप्यतिशयो दृष्टः [श्लोकवा॰ सू॰ २ श्लो॰ ११४] ३३ १

यस्मिन्सत्येऽपि भवत्युपलम्भः [ ] ४४ ३

यो यत्रैव स तत्रैव [ ] २६ २३

[र]

रूपं यदन्यतो हेतोः [ ] ४४ १८

रूपालोकमनस्कार- [ ] १९. २२

रूपिष्ववधेः [तत्त्वार्थ॰ १ २८] १५ ७

रोमशो दन्तुरः श्यामः [न्यायम॰ पृ॰ १४३] ३४ १८

रोलम्बगवलव्याल- [षड्द॰ ९ ; न्यायम॰ पृ॰ १२९] ३१ १६

[ल]

लिङ्गस्यानन्वया अष्टौ [ ] ५९. १२

लिङ्गं लिङ्गी भवत्येव [ ] ३८. ११

[व]

वपातपाम्यां किं व्योम्न: [ ] ११ ९
वहद्वरस्त्योवाम–[न्यायम पृ १६] ४३ २२
विदुषा वाच्यो हेतुरेव हि केवलः [प्रमाणवा १ २८] ४२ ११
विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च [न्यायसू १ २ १९] ६५ १
विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य [ ] ६५ ९
व्याप्तिग्रहणकाले [ ] ७१ २२

[श]

शङ्खः कदल्यां कदली च [ ] ६८ २०
श्रुतमनिन्द्रियस्य [तत्त्वार्थ २ २२] १९ १२
श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम् [ ] २४ ११

[स]

सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षम् [ ] ७ २२
सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य [जैमि १ १ ४] २३ १
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनः [न्यायसू १ २ ३] ६४ १
सम्बद्धं वर्तमानं च [श्लोकवा सू० ४ श्लो ८४] १४ ११; ३५ २०
सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् [न्यायसा० पृ १] ६ ११
सम्यगर्थे च संशब्दः [श्लोकवा सू ४ श्लो ३८ ३९] ६३ २१
सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारः [ ] ४६ ९
सर्वमस्ति स्वरूपेण [ ] १ १०
सावयवैरपि न सान्तत्वम् [ ] ४२ ९
साध्यधर्मप्रत्यनीकेन [न्यायभा ५ २ ३] ६६ १
साध्यानुवादाल्लिङ्गस्य [ ] ४८ ११
सापेक्षमसमर्थम् [पात महा ३ १ ८] ७५ २८
सिद्धान्तमभ्युपेत्य [न्यायसू ५ २ २३] ७२ १
स्याद्वादमत्यन्तनाशो हि [तत्त्वसं का०२२६] ३२ ११
स्वसमयपरसमयज्ञः [ ] ६३ १२
स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकम् [परी १ १] ४ १०
स्वार्थव्यवसायात्मकम् [तत्त्वार्थश्लो १ १ ७७] ३ १५

[ह]

हसति हसति स्वामिन्युच्चै [वादन्याय पृ १११] ७० १६
हीनमन्यतमेनापि न्यूनम् [न्यायसू ५.२ १२] ७४ २५
हेतोस्तथोपपत्त्या वा [न्याया १७] ५० १९
हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः [न्यायसू १ १ ३९] ७० १७
हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः [न्यायसू ५ २ २४] ७२ ६



६ भाषाटिप्पणगत शब्दों और विषयों की सूची ।[1]

[अ]

अकलङ्क १ ११
अर्चिमार्ग ६७. १
अज २३ २१; २४ १
अक्षपाद १ ७
अविसंवादकज्ञानसार ४० १५
अचक्षुदर्शन १२८. १०
अज्ञातत्व ८१ [illegible]
अज्ञाननिवृत्ति ९८. ७
अज्ञानवादी २७ २६
अथ २. ११
  शब्द के अर्थ के विषय में मतभाष्य अमर व्यास कइट वाचस्पति और हेमचन्द्र के मन्तव्य २ ११
अथ प्रमाणमीमांसा १ २१
  इसकी रचना के आधार या ऐतिहासिक अथ आरम्भ १ २१
अदृष्टार्थ (आगम) १८. १२
अर्थोपेक्षात्मक १२२ १६
अधिगतार्थक ११ १०
अनधिगम १४ ५; १५
अनध्यवसाय
  प्रत्यक्षपरोक्ष के भेद १५ ८
  हेमचन्द्र १५ १८
अनध्यवसाय १२६ २२
अनध्यवसित (हेत्वाभास) ९१ १८ १०१ १०
अनन्वय (दृष्टान्ताभास) १०७ ३, ६ ८ १२
अनभ्यासदशा १७ २१
अनवस्था ४५ १५
अनसूयक ११६. २०
अनसूयी ११६ २८
अनित्यवाद ५२ ८
अनित्यसम (जाति) ११४ ११
अनुक्ति (जाति) ११४ १३
अनुत्पत्तिसम (जाति) ११३ ३
अनुपलब्धि ८३ १
अनुपलब्धिसम (जाति) ११४ ०
अनुपलम्भ ८३ ३
अनुमान ९१ १
अनुमान
  गर्भगत स्वार्थ परार्थरूप द्वैविध्य ९० १८
  अनुमिति और अनुमितिकरण दोनों का अर्थ ११८. १
  प्रत्यक्ष और अनुमान का पूर्वापर भाव ११८. ४
  अनुमान विभाग के विषय में तीन मुख्य—वैदिक बौद्ध जैनपरम्परा ११८ २१
  वैदिक परंपरा में ही पहले प्रथम अनुमान का विभाग ११८. २६
  वात्स्यायन और मीमांसक का अनुमानद्वैविध्य ११९. ७
  न्याय सांख्य और चरक का अनुमानत्रैविध्य ११९ १२
  जैन-आगमिक परंपरा का अनुमानत्रैविध्य ११९ १
  बौद्धों का अनुमानत्रैविध्य ११९ २१
  दिङ्नागकृत नया प्रस्थान १४० १
  जैन परंपरा पर बौद्धों का प्रभाव १४० १५
  बौद्ध-जैन और ब्राह्मण का संघर्ष १४० २२
  भामहादि पर बौद्धों का असर १४० २७
  दिङ्नागकृत नया प्रस्थान और उसका सर्वशास्त्रों पर प्रभाव १४१ १
  जैन यशोविजयजी जैनन्याय के मर्मज्ञ १४१ १
  हेमचन्द्र की विशेषता १४१ १६
  हैत्वाभासाश्रयक अनुमान त्रैविध्यखण्डन की अर्थमति १४१ २७
  हेमचन्द्रकृत असंगतिपरिहार १४२
अनुमिति ११७ १ ११८ १
अनुमितिकरण ११८. १
अनुमेय ११७ २
अनुव्यवसाय १११ १२
अनेकान्तवाद
  स्वरूप ६१ ५
  सभी दर्शनों में अनेकान्तवाद ६१ १

---

१ इस सूचीमें स्थूलाङ्क 'भाषाटिप्पणानि' का पृष्ठ सूचक और सूक्ष्माङ्क पंक्ति सूचक है ।

जैनदर्शन ही क्यों अनेकान्तवादी ? ६१ १२
जैन-बौद्ध का अनेकान्तवाद ६२ ५
जैन मीमांसक और सांख्य का अनेकान्तवाद
६२ ११
पहिले खण्डनपर बौद्ध ६३ ८
महासूत्रगत अनेकान्तवादखण्डन किसका है ?
६३ १९
अनेकान्तके ऊपर विरोधादि आठ दोष
६४ ९ ६५. ८
दोषोद्धार अनेकान्त अकलङ्क और हरिभद्र ६४ २१
सप्तभङ्गी स्याद्वाद नयवाद और निक्षेप ६५. २२
देखो विरोधसमवायादिदोष
अनेकान्तवादी ६१ १३
अनैकान्तिक
नैयायिकों के सव्यभिचार और वैशेषिकों के
सन्दिग्ध की तुलना १०० १४
न्यायप्रवेश और प्रशस्तपादसम्मत संशयजनकत्व
रूपनियमानैकान्तत्व १०१ २
असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी के संशयजनकत्वका प्रशस्तपादकृत खण्डन १०१ ९
प्रशस्तपाद को धर्मकीर्ति का जवाब १०२ ३
जयन्तकृत प्रशस्तपादका समर्थन १०३ ३
न्यायसार १०३ ६
जैनपरम्परा १०३ ९
अनैकान्तिक १४२. २१ २२; १४३. ९
अन्तःकरण ४० २१ देखो मन
अन्यथानुपपत्ति ८७. ८
अन्यथानुपपन्नत्व ८२. १० देखो हेतु
अन्यथासिद्ध (हेत्वाभास) ६७ १९
अन्वय ८९. ९
अपकर्षसम (जाति) ११३ २१
अपरोक्ष १३५ ५
अपाय ४६ १० देखो अवाय
अपूर्व १२. ६; १३ १२; १५. १
अपौरुषेयत्व १८. १९; १३९. ११
अपौरुषेयवेदवादी २८. ७
अप्रतिपत्ति (दोष) ६५ १५
अप्रतिपत्ति (निग्रहस्थान) ११६ ११
अप्रामाण्योपक्रम ११ ३
अप्रदर्शितव्यतिरेक (दृष्टान्ताभास) १०७ ७
अप्रदर्शितान्वय (") १०७ ६
अप्रयोजक (हेत्वाभास) ६७. १२
अप्रयोजकत्वशङ्का ७७ ८
अप्राप्तिसम (जाति) ११३ २०
अबाधितविषयत्व ८१ १४
अभाव (दोष) ६५. ११
अभावप्रमाणवाद
की प्राचीनता २३ ३
कुमारिल और प्रभाकर का मतभेद २३ ५
अभिनिबोध २१ ७
अभूत (लिङ्ग) ८४ ७
अभ्यासदशा १७ २
अर्थ
न्याय-वैशेषिकसम्मत त्रैविध्य ३ १
धर्मोत्तर प्रभाचन्द्र का द्वैविध्य ३ ७
देवसूरि अभयदेव का त्रैविध्य ३ ९
हेमचन्द्र १० १
अर्थापत्ति २१ ३
अर्थापत्तिसम ११४ ५
अर्थालोककारणतावाद
बौद्ध और नैयायिक सम्मत ४४ १२
अर्थोपलब्धिहेतु (प्रमाण) २३ ७
अलौकिकनिर्विकल्पक १२६ ९
अलौकिकप्रत्यक्ष १३५ ७
अलौकिकप्रत्यक्षवाद ७५ २०
अवग्रह ४६ ७
अवधि (ज्ञान) १२८ १९
अवधि (वचन) १२६ १२; १२८ १०
अवयव २० १७ ६४ १७ देखो न्यायवाक्य
अवर्ण्यसम (जाति) ११३ २१
अवाय
अवायशब्द की प्राचीनता ४६ १५
अपाय और अवाय के अकलङ्ककृत अर्थभेद
४६ ९
अविसंवाद १३ २१
अविसंवादक १२३ २६
अविच्युति ४७ ११ देखो धारणा
अविज्ञातार्थ ६६ ११
अविनाभाव ७८. २५ देखो व्याप्ति
अविनाभावनियम ८९. ७
अविशेष (जाति) ११४ १०
अविशेषसम (जाति) ११४ ६
अव्यतिरेक (दृष्टान्ताभास) १०७ ३

अव्यापक १४२. ११
अर्थापत्तिसम (जाति) ११४ १०
असंभव (जाति) ११४ १०
असत्प्रतिपक्षित्व ८१ १७
असदुत्तर १०६ २८
असम्यग्वचन १०६ २८
असर्वज्ञवाद २६ ११ देखो सर्वज्ञवाद
असाधनांगवचन १२२ १६
असाधारण १ १ ७; १४२ ११ देखो अनैकान्तिक
असाधारणधर्म ४ १७
असिद्ध
    न्यायसूत्र ६८ १९
    प्रशस्त न्यायप्रवेश और माठर में चार प्रकार ६८ २०
    पूर्व परम्परा में धर्मकीर्ति का संशोधन ६८ २६
    न्यायसार और न्यायमञ्जरी ६६. १
    जैनाचार्यों के द्वारा धर्मकीर्ति का अनुसरण और न्यायपरम्परा का खण्डन ६६ २
अहेतुसम (जाति) ११४ ७

[आ]

आगम
    अदृष्टार्थक का प्रामाण्य १८. १
    मीमांसक और नैयायिक-वैशेषिक १८. १४
    प्रामाण्यसमर्थन में अक्षपाद का मन्त्रायुर्वेद का दृष्टान्त १८. २१
    हेमचन्द्र ज्योतिषशास्त्र का उदाहरण क्या नया है। १८ २५
    धर्मकीर्ति की आपत्ति १८ २९
आत्मकर्मसम्बन्ध
    भगवतसूत्र के समय आत्मा के भिन्न एक प्रश्न १४ १७
    समस्त धर्मों के समान समस्या का परिणाम १४ २
    दार्शनिकों के मन्तव्य १४ २१
आत्मज्ञान १११ ९
आत्मसमारोप ११४ १७
आत्मा ७० ९ देखो प्रमाता
आत्माश्रय (दोष) ११. १
आधायक १२१ १७
आश्रयासिद्ध (हेत्वाभास) १ ४ १९
आवरणज्ञान ७३ ८

[इ]

इतरेतराश्रय ८. ९
इन्द्र (सुषम) ४० ३
इन्द्रिय
    पाणिनिकृत निरुक्ति ३८. १५
    जैनबौद्धाचार्यकृत निरुक्ति ३६ ३
    माठरकृत निरुक्ति ३६ १०
    बुद्धघोष की विशेषता ४० १
    दार्शनिकों के मतानुसार उसका कारण ४० ९
    आकार-अधिष्ठान ४० १७
    मन ४० २२
    सांख्यसम्मत पाँच कर्मेन्द्रियाँ ४० २९
    बौद्धसम्मत बाईस इन्द्रियाँ ४१. १
    विषय ४१ ८
    एकत्व-नानात्ववाद ४१ १६
    स्वामी ४१ २२
    प्राप्याप्राप्यकारित्व ४६. २१
इन्द्रियमनोलक्षण ११४ १६
इष्टविघातकृत् ६६ २१

[ई]

ईश्वर ११९ १५
ईश्वरज्ञान २६ ९
ईश्वरवादी १६ १८
ईश्वरसाक्षीचैतन्य १११ ११
ईश्वरविचार २१ २८
ईश्वरविषयकज्ञान २६ ९
ईहा ३१ १; ७३ १०

[उ]

उत्कर्षसम (जाति) ११३ ९
उत्तर १०६ २२
उदाहरणाभास १०४ १५
उपपत्तिसम (जाति) ११४. ७
उपमान २१ १; ७६ १; १०
    देखो प्रत्यभिज्ञान
उपयोग १२८. ११
उपलब्धि ८४ ७
उपलब्धिसम (जाति) ११४ ८
उपालम्भ १०६ २१ देखो दूषणदूषणाभास
ऊर्ध्वग्रीव (अर्थ) १० ३
ऊह ६१ ११
ऊहापोहसंग्रह ६२ ११
ऊर्ध्वताति ६. ९

[ऊ]

ऊह ७१ ११ देखो तर्क

[ए]

एकत्ववितर्क [illegible] २१

[क]

कणाद १ ७

कथा

ब्राह्मण-श्रमण परम्पराएँ और उनका साहित्य १०८. १५ देखो वादकथा

कथा ११५ २१

कथाभास ११८. २४

कर्मप्रकृति ४० १५

कर्मेन्द्रिय ४० २४

कल्पना

शब्द के अर्थ ५१ ८

कारणलिङ्गक (अनुमान)

धर्मकीर्ति नहीं मानते ८४ २१

कार्य (लिङ्ग) ८३ १८

केवलव्यतिरेकि (अनुमान)

प्राणादि हेतु की बौद्धोद्भावित अगमकता ८९ ७

कार्यसम (जाति) ११४ १२

कालसम (जाति) ११४ ४

कालातीत ९८. १३

कालात्ययापदिष्ट ९८. १३

केवलदर्शन १२६ १२

क्रिया १३६. ४

क्षयोपशम ३२. १५

क्षायिकज्ञान ३२ १०

[ख]

खण्डन १ ६ २१

[ग]

गुण ५१ ९ देखो द्रव्य

[च]

चक्रक ६६ २

चक्षुर्दर्शन १२८. १०

चतुरङ्गवाद ११७ ३ देखो वादकथा

चित्त ३२. १३; ३४ ८

चिन्ता २३. ४

छल ११० ९ ११४ २९

[ज]

जन्मप्रत्यय ११९. १७

जयपराजयव्यवस्था

ब्राह्मण परम्परा के अनुसार जय के लिए स्वपक्षसिद्धि आवश्यक नहीं। एक का पराजय दूसरे का जय १२१ १५

धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था-जय के लिए निर्दोष साधन का प्रयोग आवश्यक। एक का पराजय ही दूसरे का जय नहीं १२२ १

जैनाचार्य अकलङ्क के मतानुसार-एक पक्ष की सिद्धि से जय। एक पक्ष की सिद्धि दूसरे की असिद्धि के बिना नहीं १२२ १०

हेमचन्द्र १२३. १९

जल्प ११९ ९ देखो दूषण-दूषणाभास

जाति १०३ १८ ११० ९; ११३ १९

देखो दूषण-दूषणाभास

जात्युत्तर १११ १५; ११४ २१

जीवत्वसिद्धि ४२ ९

जैनतर्कप्रक्रिया

आगमिक और तार्किक प्रक्रिया में क्या भेद है? १९ ११

आगम में तार्किक चर्चा भद्रबाहु के बाद की २० ३

आगम में सर्वप्रथम आर्यरक्षित ने तार्किक प्रमाण चतुष्टय के आधार पर पञ्चज्ञान की चर्चा की २० ११

उमास्वातिकृत पञ्चज्ञान का प्रमाणद्वय में समावेश २० १९

संकलना के समय में स्याद्वाद और नयवाद में प्रमाणद्वय और प्रमाणचतुष्टय का प्रवेश २० २४

आर्यरक्षित के द्वारा मति और श्रुत का प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण में समावेश २१ ४

उमास्वाति के द्वारा मतिश्रुत में अनुमानादि का समावेश २१ १२

पूज्यपाद २१ १५

नन्दीसूत्रकार के द्वारा पञ्चज्ञानका प्रत्यक्ष और परोक्ष में समावेश २१ १०

नन्दीकारके द्वारा उमास्वाति और आर्यरक्षित के मन्तव्यका लौकिक दृष्टि से समन्वय २१ १९

न्यायावतार में तार्किक ज्ञान चर्चा में अनुमान
निरूपण मुख्य ४१. २९
जिनभद्रोक्त सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष ४२. १
अकलङ्क के द्वारा परोक्षप्रमाण के अनुमानादि
पांच भेदों का स्थापन ४२. १०
राजवार्तिक में उमास्वात्यनुसारी ज्ञान निरूपण
४२. २१
हेमचन्द्र ४३. १
ज्ञातता १११. २
ज्ञान १११. १५
ज्ञानचर्चा १४. २१ देखो जैनज्ञानप्रक्रिया
ज्ञानोत्पत्तिप्रक्रिया
जैनदर्शन ४५. ११
बौद्धपरम्परा ४५. २२
वैदिकदर्शन ४५. २७
हेमचन्द्र और अकलङ्क ४५. ३१
ज्ञेयावरण १२. १५
ज्योतिर्ज्ञान १५. २८

[त]

तत्त्वनिर्णिनीषु ११८. ३
तत्त्वबुभुत्सु ११७. २
तत्त्वबुभुत्सुकथा ११९. ३१
तदुत्पत्तिताद्रूप्यता
सौत्रान्तिकमत ७४. २१
तर्क
ऊह और तर्कसंज्ञक प्रमाण की प्राचीनता
७६. २८
जैमिनि ७७. १
नव्य नैयायिकों का मन्तव्य ७७. ९
प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार प्रमाणकोटि से
बाह्य ७७. ३
बौद्ध-मन्तव्य ७७. १४
जैनाभिमत प्रामाण्य ७७. १८
तात्त्विक १. ३
तिमिरादिदोष १६. १
त्रिपुटिका ५०. १५

[द]

दर्शन ४६. ३
दर्शन
विविध अर्थ १२५. १
निर्विकल्प और दर्शन की एकता १२५. १७
मन्त्र दर्शन और समुद्दृष्टि का निर्देश १२५. १८
लौकिक और अलौकिक १२६. ७
विषय के बारे में दार्शनिकों का मन्तव्य
१२६. १८
धर्मसंमत प्रत्यक्ष और परोक्ष दर्शन १२६. २९
उत्पादक सामग्री शङ्कर का मतभेद १२७. १२
प्रामाण्य के विषय में बौद्ध वेदान्त न्याय-वैशेषिक
मीमांसक और सांख्य-योग १२७. २१
जैनागम दृष्टि से सम्यग् और मिथ्यादर्शन
१२८. १
प्राचीन जैन परम्परा के अनुसार सम्यग्मिथ्या-
रूप दर्शन का विभाग नहीं १२८. १५
जैन-तार्किकों की दृष्टि से प्रमाणप्रमेयादि-
प्रमाणाभास १२९. १
अभयदेवसम्मतप्रामाण्य १२९. ९
यशोविजय १२९. १४
हेमचन्द्र १२९. २५
दूषण ११४. ९
दूषण-दूषणाभास
निरूपण सर्वप्रथम ब्राह्मण परंपरा में फिर क्रमशः
बौद्ध-जैन में १०९. ८
ब्राह्मण बौद्ध जैनशास्त्रों में प्रयुक्त समानार्थक
शब्द १०९. २२
निरूपण का प्रयोजन ११०. १
ब्राह्मण-परम्परा में छल जाति के प्रयोग का
समर्थन ११०. ३
छलादि प्रयोग के बारे में बौद्धों में ऐकमत्य
नहीं ११०. १२
जैन-परम्परा में छलादि प्रयोग का निषेध
११ १५
छलादि प्रयोग के समर्थन और निषेध के पीछे
क्या रहस्य है ? ११०. २५
छलादि प्रयोग के बारे में बौद्धों के द्वारा ब्राह्मणों
का अनुसरण १११. ३
आगे चलकर बौद्धों के द्वारा छलादि का निषेध
११२. १
जैन-परम्परा में प्रथम से ही निषेध ११२. ७
अनन्तर जैन परम्परा में आगे चलकर समर्थन
११२. ११
ब्राह्मण-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में शिष्ट
हेतुदोष का निरूपण ११२. २०

दिङ्नाग से दूषणों का विकसित वर्णन
११२. २८
दूषणाभास का विस्तृत वर्णन प्राचीन ब्राह्मण
ग्रन्थों में ११२. २९
बौद्ध ग्रन्थों में अल्प-भाग ११३ १
वर्णन में जैनों द्वारा बौद्ध-ब्राह्मण का
अनुसरण ११३ ५
हेमचन्द्र ११३ ७
जातिविषयक परम्पराओं का कोष्टक ११३ १०
दूष्याभास १०३ २८ देखो दूषण-दूष्याभास
दृष्टान्त
अनुमानाङ्गत्व के विषय में धर्मकीर्ति का मन्तव्य
९० १७
जैनाचार्यों का मन्तव्य ९० २१
लक्षण और प्रकार ९१ ५
जैनाचार्यों की दृष्टि से उपयोग ९१ १६
दृष्टान्त ९६ ७
दृष्टान्ताभास
न्याय-वैशेषिक सूत्र में निरूपण नहीं १०३ २६
न्यायप्रवेश प्रशस्त और माठर के भेदों की
तुलना १०४ ७
वचन का निरूपण बौद्ध-वैशेषिक के आधार
पर १०४ २१
न्यायसारगत संदिग्धउदाहरणाभास १०५. १
धर्मकीर्ति १०५ ७
धर्मकीर्ति और सिद्धसेनादि जैनाचार्य १०५ ११
हेमचन्द्र की विशेषता १०६ १
देवसर्वज्ञवाद २९ ११
दोषाभास ११० १
द्रव्य
वैयाकरणों की व्युत्पत्ति ५४ १०
जैनों के द्वारा द्रव्यशब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न
अर्थ में ५५ १
न्याय-वैशेषिककृत व्याख्या ५५. १
व्याख्या में महाभाष्य, योगभाष्य, कुमारिल
और जैनाचार्यों की एकवाक्यता ५५. १२
पर्याय ५६ १
गुण और पर्याय के भेदाभेद के बारे में
जैनाचार्यों का मतभेद ५६ ९
द्रव्य और गुण के भेदाभेद के बारे में
दार्शनिकों का मतभेद ५६. २१
द्रव्यार्थिक ५६ १८
द्रव्यास्तिक ६१ २७
द्रव्येन्द्रिय ४० १९

[ध]

धर्मकीर्ति १ १७
धर्मज्ञ ३० १
धर्मज्ञवाद २८. ४ देखो सर्वज्ञवाद
धर्मदेशक ३० १०
धर्मविशेषविरुद्ध ९९. २२
धर्मशास्त्र ३० १
धर्मिविशेषविरुद्ध १०० २
धातु ११६. २
धारणा
आगम-नियुक्तिकालीन ४७. ५
पूज्यपाद ४७ ८
जिनभद्रकृत तीन भेद ४७ १
अकलङ्कादि दिगम्बराचार्यों का मतभेद ४७ १३
हेमचन्द्र का समन्वय ४८. ५
धारणा ६३ २
धारावाहिकज्ञान
प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा का धर्मकीर्ति के
द्वारा प्रमाणशास्त्र में प्रवेश ११ १०
न्याय-वैशेषिकसम्मत प्रामाण्य ११ २१
मीमांसक के द्वारा प्रामाण्य समर्थन १२ १
बौद्ध धर्मोत्तर सम्मत अप्रामाण्य १२. ५
अर्चटसम्मत प्रामाण्य-अप्रामाण्य १२. ११
जैनाचार्यों का मन्तव्य १३ १
हेमचन्द्र की विशेषता १४ १

[न]

नय ६२ १
नयवाद ६२. ३, ६५. २० देखो अनेकान्तवाद
निक्षेप ६२. १
निक्षेपपद्धति ६५. ५ देखो अनेकान्तवाद
निग्रहस्थान
न्यायदर्शन चरक और प्राचीन बौद्ध का
ऐकमत्य ११९ २९
धर्मकीर्ति के वादन्याय में स्वतन्त्रनिरूपण
१२० ६
जैनाचार्य पात्रस्वामी और अकलङ्क १२० १
धर्मकीर्तिकृत ब्राह्मण-परम्परा का खण्डन और
नई परम्परा का स्थापन १२० १६

जैनाचार्य अकलङ्ककृत ब्राह्मण-बौद्ध
परम्परा का खण्डन १२० २६
हेमचन्द्र १२१ १७
देखो जयपराजयव्यवस्था
नित्यज्ञान ११२. २५
नित्यप्रत्यक्ष ११२. १५
नित्यवाद ५३ ८
नित्यानित्यउभयवाद ५३ ९
नित्यानित्यात्मकवाद ५३ ९
नित्यसम (जाति) ११७ १
निदर्शनाभास १०४ [illegible] देखो दृष्टान्ताभास
नियतसाहचर्य ७३ २५ देखो व्याप्ति
निर्णय ६ ३, १२६ ३
निर्विकल्प १३१ २१
निर्विकल्पक १२५. १५ देखो दर्शन
निर्विकल्पकप्रत्यक्ष ७४ २७
नैरात्म्यदर्शन ३२. १५
नैश्चयिकप्रत्यक्ष १२६ १५
न्यायवाक्य
सांख्यसम्मत तीन अवयव ६४. १०
मीमांसकसम्मत तीन और चार अवयव ६४ १६
नैयायिकसम्मत पञ्चावयव ६४ २१
बौद्धसम्मत एक और दो अवयव ६४ ३
जैनों का अनेकान्तवाद ६४ ३२
भद्रबाहु और वात्स्यायन के दशावयव ६४ १५

[प]

पक्ष
प्रशस्तपादके द्वारा स्वरूपनिर्णय ८८. १
जैनाचार्यों के द्वारा बौद्धों का अनुकरण ८८ ३
पक्षगतविशेषणों की व्याप्ति ८८.
धर्मिसत्ता के विषय में प्रशस्त न्यायप्रवेश
न्यायबिन्दु भासर्व और जैनाचार्यों के मन्तव्य
की तुलना ८८. १६
आकार के विषय में वात्स्यायन बौद्ध और
जैनाचार्यों के मन्तव्य की तुलना ८६ ११
विकल्पसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध के विषय में
जैन और धर्मकीर्ति का विवाद ८६ [illegible]
प्रयोग ९० ३ देखो पक्षप्रयोग
पक्षप्रयोग ९१ १०
वैदिकदर्शनों के मतानुसार आवश्यक [illegible] १४
धर्मकीर्ति का निषेध ९१ ३
जैनाचार्यों का समर्थन ९१. २१
हेमचन्द्र और वाचस्पति ९१ २५ देखो पक्ष
पक्षसत्त्व ८१ १
पक्षसिद्धि १२१ ३
पक्षपरीक्षा १२५. ३
पक्षाभास ११६ १०
परचित्तज्ञान ३८. ७
परप्रकाश १३० ७ देखो स्वप्रकाश
परप्रकाशकत्व १० २६
परप्रकाशवादी १३१ १९
परतस्त्व ११० २१
परतस्त्ववादी ११७ १२
परमेष्ठी (जैनसम्मत) ३ १
परस्पराश्रय ४१ २
पराजय १२१ १६ देखो जयपराजयव्यवस्था
परानुमेय १२१ १९
परामर्श ११६ १०
परार्थानुमान
प्रशस्त और न्यायप्रवेश में प्राचीनलक्षण ९२. १
धर्मकीर्ति शान्तरक्षित और सिद्धसेन ९२.
हेमचन्द्र ९२. १२
सर्वसम्मत प्रयोगद्वैविध्य ९२ २
जैनदर्शन की विशेषता ९३. ३
हेमचन्द्र ९३ ८ देखो पक्षप्रयोग न्यायवाक्य
परिणामिनित्यत्ववादी १२६ २६
परिणामिनित्यवाद ५३ ९
परोक्ष २५. ३, १२७ १; ११७. ८
पर्याय ४३ ९ देखो द्रव्य
पर्यायार्थिक ५३ १८
पर्यायास्तिक ४१ २७
पाणिनि १ १
पारमार्थिक २५. ७; १२७ ९
पारमार्थिकप्रत्यक्ष ११३. १
पिटक १ ७
पुष्कल ३७ १
पूर्वचर (हेतु) ११५. १४
पौरुषेयत्व ११२. १६
प्रकरणसम (जाति) ११७. ३
प्रज्ञातिशय ३४ २३
प्रतिज्ञा [illegible] २ देखो पक्षप्रयोग
प्रतिदृष्टान्तसम (जाति) ११६. २९

प्रतिवादी ११८ १०
प्रतिषेध १०६ २१
प्रतिसन्धान ४१ ६ १३५ ३
प्रत्यक्ष २६ २१ ११८ ७, १२७ १५
प्रत्यक्ष
सिद्धसेनोक्त स्वार्थ-परार्थरूप द्वैविध्य ८० १८
प्राचीनवाङ्मयिक साहित्य में सिर्फ जन्यप्रत्यक्ष का लक्षण ११२ ७
प्राचीन साहित्य में ईश्वर और उसके नित्य ज्ञान की चर्चा नहीं ११२ १५
लौकिक और अलौकिक ११३ १
बौद्ध और शाङ्कर वेदान्तसम्मत अलौकिक की निर्विकल्पकता ११३ ११
रामानुजसम्मत अलौकिक की सविकल्पकता ११३ २१
न्यायवैशेषिकजैनसम्मत अलौकिक की उभयरूपता ११३ २५
प्रत्यक्षलक्षण निर्माणक्रम ११४ ८
बौद्धसंमत निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता ११४ १९
जन्यनित्यसाधारण लक्षण—भासर्वज्ञ २७ २१
धारिक्रम ११४ १९
सिद्धसेन का लक्षण ११५ ९
अकलङ्ककृत संशोधन ११५ १
हेमचन्द्र ११५ १५
प्रत्यक्षप्रमाण
वैशेषिकप्रत्यक्षसूत्र की व्याख्या में टीकाकारों का मतभेद ५१ १०
जैमिनीय प्रत्यक्षके खण्डनकार ५२ १
सांख्य की तीन परम्पराएँ ५२ १९
सांख्यलक्षणों के खण्डनकार ५२ २१
प्रत्यक्षलक्षण
दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का मतभेद ५० १
शान्तरक्षित का समन्वय ५० १
बौद्धलक्षणों का खण्डन ५० २५
सिद्धसेन के लक्षण की तुलना ५० ३१
प्रत्यक्षस्वरूप
बौद्धसम्मत निर्विकल्पकमात्र ५६ १२
न्यायवैशेषिकसम्मत निर्विकल्पक सविकल्पक
सांख्य-योग-जैनसम्मत प्रमाणरूप से सविकल्पक ५६ १७
प्रत्यभिज्ञान
प्रामाण्य के विषय में बौद्ध बौद्धेतरों के मतभेद का रहस्य ७४ ३
स्वरूप के विषय में बौद्धों का मन्तव्य ७५ १४
वाचस्पति और जयन्त ७५ २२
जैनाचार्य अकलङ्क का मत ७६ १
जैनों के द्वारा उपमानका समावेश ७६ ९
प्रत्यय (प्रत्ययाः) ७४ २
प्रमा १२७ २९
प्रमाण ५६ ७; ११६ ८
प्रमाणचैतन्य ११४ १०
प्रमाणज्येष्ठप्रज्येष्ठत्व
न्याय-सांख्यसम्मत प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व २४ १०
पूर्वोत्तरमीमांसासम्मत आगम का ज्येष्ठत्व २४ १५
बौद्धसम्मत प्रत्यक्षानुमान का समबलत्व २४ ११
अकलङ्क विद्यानन्दसम्मत प्रत्यक्ष का ज्येष्ठत्व २४ १८
जैनाचार्यासम्मत प्रत्यक्ष-परोक्षका समबलत्व २५ १
प्रमाणद्वित्व
हेमचन्द्रवादिदेव और सिद्धर्षि के अनुसार बौद्धसम्मत २६ १३
प्रमाणद्वित्व
प्रशस्तपादसम्मत २६ ८
प्रमाणनिरुक्ति
वात्स्यायन वाचस्पति हेमचन्द्र तथा प्रभाचन्द्र आदि ३ ११
प्रमाणमीमांसा ४ २१
प्रमाणफल
आध्यात्मिक दृष्टि प्राचीन कथा ६६ ७
तर्कयुगीन व्यावहारिक दृष्टि कथा ६६ ११
भेदाभेदके बारे में वैदिक बौद्ध और जैन ६६ २१
फल के स्वरूप के विषय में नैयायिक वैशेषिक मीमांसक और सांख्य का ऐकमत्य ६७ ३
फल के स्वरूप के विषय में दो बौद्ध परम्पराएँ ६७ १३
सिद्धसेन और समन्तभद्र ६८ ३

अकलङ्क और बाद के जैनाचार्यों के द्वारा
विकास ६८ १६
हेमचन्द्र की विशेषता ६८. ३
प्रमाणलक्षण
कणादकृत कारणशुद्धिमूलक सर्वप्रथम लक्षण ५ १
नैयायिकों का विकास ५ ३
कुमारिल और प्रभाकर के लक्षणों की परस्पर
और दर्शनान्तर के साथ तुलना ५ १८
दिङ्नाग धर्मकीर्ति शान्तरक्षित ६ ६
विज्ञानवाद ६ १०
जैनाचार्यों के लक्षणों की शब्दरचना के आधार
का ऐतिहासिक अवलोकन ६ २२
हेमचन्द्र का संशोधन ७ ११
प्रमाणान्तरसिद्धि
धर्मकीर्ति २५ ३
हेमचन्द्र सिद्धर्षि और वाचस्पति की युक्तियों
की तुलना २५ ७
प्रमाणाभास १२३ ८
प्रमाता
औपनिषद सांख्य बौद्ध जैन मीमांसक के मतानुसार आत्मनित्यानित्यता का विचार ७० ४
स्वाभासित्व–पराभासित्व के विषय में मीमांसक जैन और योगाचार का मन्तव्य ७० २३
जैनाभिमतदेहव्यापित्व ७१ ३
आत्मा और ज्ञानका अभेद मानने वालों के मतमें
आत्मा स्वप्रकाश ११७ २
कुमारिल ११७ ७
परप्रकाशवादी प्रभाकर ११७ १५
आत्मप्रकाश के विषय में नैयायिक वैशेषिकों का
मतभेद ११७ १७
प्रमात्व ५३ ७
प्रमिति ५३ ५
प्रमेय ३ ५; ५३ ७
प्रमेयसिद्धि ६५ २१
प्रमेयस्वरूप
का चिन्तन तत्त्वयुग से पहिले का ५३ ९
तर्कयुग ५३ १२
हेमचन्द्र ५३ २० तथा आगे
प्रमेयस्वरूपव्यवस्था
दार्शनिक क्षेत्र में युक्तिसिद्धार्थ अभिव्यक्ता का
परिणाम ५८ १
प्राचीन समय में बन्धमोक्षव्यवस्था कर्मफलसम्बन्ध आदि कसौटियों से वस्तुव्यवस्था ५८. १
बौद्धोद्भावित तत्त्वयुगीन अर्थक्रियाकारित्व की
कसौटी ५८ ३
जयन्त वाचस्पति और श्रीधर के द्वारा उस
कसौटी का आश्रय लेकर बौद्धों के एकान्त
अनित्यत्ववाद का खण्डन ५८ १५
उसी कसौटी से जैनाचार्य अकलङ्क के द्वारा
बौद्धों का खण्डन और स्वपक्षसमर्थन ५८. २२
प्रसङ्गापादनोपालम्भता (जाति) ११५. १५
प्रत्याख्यातोपालम्भत्व (जाति) ११४ १५
प्रसङ्ख्यान १२५ ३१
प्रसङ्गसम (जाति) ११६. १८
प्राकट्य १११ १७
प्राप्तिसम (जाति) ११६ २६
प्रामाण्य १६ ९
प्रामाण्याप्रामाण्य
स्वतः परतः की चर्चा का मूल वेदप्रामाण्य
समर्थन में १६ १८
वेदके प्रामाण्य और अप्रामाण्यवादी १६. २६
मीमांसक १७ ३
सांख्य १७ ७
सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार बौद्धमत १७ १९
शान्तरक्षित १७ २६
जैनपरम्परा १८ १
उत्पत्ति ज्ञप्ति प्रवृत्ति १८. ८
(फ)
फल १११ ८
फलसंवित्ति १११ २२
(ब)
बाह्यार्थवाद ६७. १८
बुद्धिवृत्ति १११ १८
बुद्धीन्द्रिय ४० २३
बौद्धिकसर्वज्ञत्व २३ ७
(भ)
भावेन्द्रिय ४० २१
भूत ८४ ७
भेदाभेद (जाति) ११४ १५
(म)
मति १९८ १२
मध्यमप्रतिपदा ६२ ८

मन ५० २१, ५३ २४;
मन
  स्वरूप और कारण ४२ १४
  धर्म और धर्मी ४३ ३
  स्थान ४३ १४
मनःपर्यायज्ञान ३७ ७
  आवश्यकनिर्युक्ति तथा तत्त्वार्थभाष्यका मन्तव्य ३७ १०
  विशेषावश्यकभाष्य ३७ १८
  दिगम्बरपरम्परा ३७ २१
  हेमचन्द्र ३७ २९
मनस्कार ४३ १८
मनुष्यसर्वज्ञत्ववादी २६ १४
मनुष्यसर्वज्ञवाद २६ २१
मानसप्रत्यक्ष ११७ २१
मर्मांश ३० १
मिथ्यादर्शन १२८ ९
मिथ्योत्तर १०६ ११
मीमांसा
  मानससिद्धिकृत व्याख्या ५. २१
  हेमचन्द्र ४ १४
मोक्ष २८. १

(य)

यतन ३२. १
योगिगतधारावाहिज्ञान २९. १२
योगिप्रत्यक्ष १११ ५
योगिज्ञान १११ ६
योगिसंवेदन १२१ ११
योग्यता (ज्ञानगत) १७ २१

(ल)

लक्षण ८. १०
लक्षणप्रयोजन
  न्यायवैशेषिक और बौद्धजैन ८ ६
लक्षणलक्षण
  हेमचन्द्र ४ १५
लक्षणा ६२ १५
लक्ष्यार्थ ८. १४
लक्ष्य ८. १४
लिङ्ग ८० ११ और १९
लिङ्ग (ज्ञायमान) ८९. ९ देखो हेतु
लिङ्गपरामर्श ११८. ७
लौकिकनिर्विकल्प १२६. ८
लौकिकप्रत्यक्ष १११ ७

(व)

वक्तृत्व ६७ १
वर्ण्यसम (जाति) ११३ ११
वाक्छल ११४. ३
वाद ११५ १९ देखो वादकथा
वादकथा
  न्यायदर्शन और चरक की तुलना ११५ ३
  बौद्ध-जैन ११६ १०
  न्याय और चरकका तत्त्वबुभुत्सु ११६ २१
  चरक और सिद्धसेनवर्णित विजिगीषु ११७ ६
  बौद्धसंमत अधिकारी ११७ १२
  जैन और नैयायिकके विजिगीषु की तुलना ११७ २
  कलाचार्यसंमत वीतरागकथा ११७ ३
  वादिदेवका संशोधन ११८ ८
  प्रयोजन ११८. १२
  चतुरङ्ग ११८. १०
  जल्प वितण्डाके कथान्तरत्वका निषेध ११८. २
वादी ११८. १०
वासना ४३ १२
विकल्प ११ १५; ७८. १
विकल्पसम (जाति) ११३ २०
विकल्पसिद्ध ८६ १७ तथा धर्मी
विगृह्यकथन ११६ १७
विगृह्यसंभाषा ११६ १
विजिगीषु ११७ ६
विजिगीषुकथा ११६ १; ११७ ३
विज्ञानवाद ६७. ९
वितण्डा ११६ ९
विपक्ष १४२ २७
विपक्षव्यावृत्तत्व ८१ १
विपर्यय
  हेमचन्द्रकृत लक्षण की कणाद योगसूत्रादि के साथ तुलना १५. ११
विप्रतिपत्ति ११६ ११
विभज्यवाद ६१ ७ देखो अनेकान्तवाद
विभज्यवादी ६१ १७
विरुद्ध (जाति) ११४ १०

विरुद्ध (हेत्वाभास)
  न्यायप्रवेश और वैशेषिक का मतभेद ८६ १५
  न्यायप्रवेश और माठरसंमत चार भेद ८६ ९
  न्यायबिन्दु में दो भेद ८६ २१
  इष्टविघातकृत् और धर्मविशेषविरुद्ध का ऐक्य ८६ २२
  न्यायसार और जनाश्रय १०० ५
विरुद्ध १४२, २१
विरुद्धाव्यभिचारी १०१ ७
विरुद्धोपलब्धि के उदाहरण ८७ १९
विरोध (दोष) ६५. १०, ६४ १
विरोधसंकरादिदोष
  अनेकान्तवाद पर किये गए दोषों की संख्या विषयक मिश्र १ श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय आचार्यों की परंपरा का अवलोकन ६५. ८
  देखो अनेकान्तवाद
विरोधी (लिङ्ग) ८३. २१
विवाद ११६. १८
विशद २३. १० १३२. ७ देखो प्रत्यक्ष
विशेष ६ १
विषयवैकल्य १३४ ११
विषयता ७६. २५
विषयसाकल्य ३० १९
विषयाविरति ३७. १९
विषयाविषम ३७ १२
वेद-अप्रामाण्यवादी १६ २१
वेदप्रामाण्यवादी १६ २०
वैधर्म्य (दृष्टान्ताभास) १ ४ ७
वैधर्म्यसम (जाति) ११३. १९
वैयधिकरण्य ६५ ११
वैयाकरणत्व
  आचार्य हेमचन्द्र का ६८. ७, १११ १
वैशद्य
  का मूल धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में २६. १०
  तीन प्रकार का निर्वचन २७ ३
वैशद्य १३५ १९
व्यञ्जनावग्रह १२६. १५
व्यतिकर ६५ १५
व्यतिरेक ८६ ९
व्यतिरेकी (हेतु) ८ ९
व्यभिचार १ ९ ; १ २ १२
व्यभिचारमुद्रा ७७. ९
व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव ६६ २१
व्याप्ति (जाति) ११४ ११
व्याप्ति ७८. ११; ८० ३
व्याप्ति
  अर्चटोक्त द्विविध व्याप्ति का स्पष्टीकरण ७८. १५
  घोष और अर्चट ७६ ११
व्याप्तिग्रह ७८. ३ १३८. ७
व्याप्तिज्ञान ७३ २२
व्यामोह ८० २५

(श)

शास्त्रप्रवृत्ति
  वात्स्यायन का त्रैविध्य ३ १०
  श्रीधर का उद्देश लक्षणरूप द्वैविध्य ३ १८
  हेमचन्द्र ४ ९
  विभाग का अपोद्धार और लक्षण के द्वारा उद्देश में समावेश ५. ११
शास्त्र-असाधारणत्व ११ २५
शुक्ल १२८. १९
श्रुतिमिश्र (जाति) ११५. १०
श्रुतिसम (जाति) ११४ १०

(स)

संकर ६४ १९, ६५. ११
सत्य १ ९
संयोगी (लिङ्ग) ८३ २१
संवित् ११७ १५
सत्त्व
  कणाद अक्षपाद, बौद्ध और जैनों के लक्षणों की तुलना ६४ २१; ६५. ३
सत्त्व ६४ १० ६५ १
संशयसम (जाति) ११४ ९
संस्कार ५७. १५ देखो धारणा
संस्कारोद्बोधकनिमित्त ७२ १२
संज्ञा २१ ७
सभा
  विविधकल्पनायें १२६. १९
सद्धर्मवाद ११६ १८
सन्तान ६ ९
  स्वरूप ६० २
  पञ्चकर्मी जैन और वैदिकदर्शन ६० १८

६ भाषाटिप्पणगत शब्दों और विषयों की सूची।

सन्दिग्ध १०० १७
सन्दिग्धोदाहरणाभास १०५ ३
सम्भवप्रमाण ११५ ११
सन्निकर्ष सम्बन्ध १३४ ११
सपक्ष १४९ १७
सपक्षसत्त्व ८१ १
सप्तभङ्गी ६४ २१ देखो अनेकान्तवाद
समापत्ति ११८ १७
सम्य ११८ १७
समवायी (लिङ्ग) ८३ २१
सम्भाव्य ११५ २१ देखो कारणता
समय १० १७
सम्यग्दर्शन १२८ ८
सर्वज्ञवाद
की प्राचीनता का निर्देश २७ १२
के विरोधी—चार्वाक अज्ञानवादी और मीमांसक २७ २१
के समर्थक—न्याय वैशेषिक सांख्ययोग वेदान्त बौद्ध और जैन २७ २१
विरोधियों का मन्तव्य २७ २७
बौद्ध-जैनों का दृष्टिबिन्दु २८ ८
न्यायवैशेषिकआदि वैदिकदर्शनों का दृष्टिबिन्दु २८ ११
सांख्य-योग-वेदान्त का दृष्टिबिन्दु २९ ३
धर्मज्ञवाद देवसर्वज्ञवाद और मनुष्यसर्वज्ञवाद का भेद व प्रामाण्य-अप्रामाण्यवाद से संबंध २९ १
धर्मज्ञवाद का मूल बौद्ध परंपरा में ३० ७
सर्वज्ञवादका मूल जैन-परंपरा में ३० १७
कुमारिलकृत सर्वज्ञवाद और धर्मज्ञवाद का खण्डन ३० २
शान्तरक्षितकृत धर्मज्ञवाद और सर्वज्ञवाद का समर्थन और बुद्ध ही में धर्मज्ञत्व और सर्वज्ञत्व की सिद्धि ३२ १
सांख्य जैन आदि का भी अपने ही आप्त में सर्वज्ञत्वसिद्धि का प्रयत्न ३२ ५
सहचारदर्शन १०८ ३
सविकल्पक ९३ १२ १२६, ३ १३३ २५
साध्याभाव १०० १२
साध्यविरोध ३६ २०
साम्प्रदायिक १६ १९ २२ ७ ३८. १६ १२७ ३
साम्प्रदायिकमतभेद १३३ १५
साधर्म्यसम (जाति) ११३ १८
साधारण १४३ २
साध्यसम (जाति) ११३ २५
साध्यसम (हेत्वाभास) ९८ १०
साध्याविनाभावी ८९ १
सामग्री १६ १
सामान्य ६ १
सारूप्य ३९ १
सामान्यलक्षण ११५ ३
सूक्ष्मकालकला ११ २७
स्तव ११५ २०
स्कन्ध ९६ १०; ११५ १४
स्मरण ७२ २ देखो स्मृति
स्मृति ११ १७ ९१ २
स्मृति
कणाद पतञ्जलि प्रशस्तपाद और जैनाचार्यों के लक्षणों की तुलना ७२ २
न्यायसूत्रगत संस्कारोद्बोधकनिमित्त ७२ १६
प्रामाण्य के विषय में जैन-जैनेतरों का मतभेद ७२ २१
स्मृतिप्रमाणका प्रामाण्य और अप्रामाण्य सुरक्षित पूर्वी मीमांसकों की व्यवस्था ७३ १
स्मृतिरूप ज्ञान में भी वही व्यवस्था ७३ ७
मीमांसकों का वैदिक दर्शनों पर असर ७३ ११
अप्रामाण्यमें दार्शनिकों की दुविधा ७३ १६
बौद्ध क्यों अप्रमाण मानता है? ७४ ७
जैनों का जवाब ७४ ११
अविसंवादित्व सर्वसम्मत ७४ १८
स्मृति (धारणा) ५३ १२
स्याद्वाद ६१ ७ ६४ २१ देखो अनेकान्तवाद
स्वतःपरतः (प्रामाण्य) १९ १८
देखो प्रामाण्य अप्रामाण्य
स्वनिर्णय ११ ८; १३० ७ देखो स्वप्रकाश
स्वपरप्रकाश १३० ८ देखो स्वप्रकाश
स्वपरव्यवसिति १८ २१
स्वप्रकाश
ज्ञानकी प्रत्यक्षता-परोक्षता १३० ११
स्वप्रकाश और परप्रकाशका अर्थ १३० १५
स्वप्रत्यक्ष का अर्थ १३० १९
विज्ञानवादी बौद्ध प्रभाकर वेदान्त और जैनों का